

श्री बाबा नगीनासिंह वेदी-कृत

वेदानुवचन

का

हिंदी-अनुवाद

परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्टशिष्य

श्रीमन्नारायण स्वामीजी द्वारा संशोधित



प्रकाशक

श्री रामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

द्वितीय आवृत्ति — नवंबर, १९३८.

मूल्य (बिना डाकखर्च)

विशेष संस्करण कपड़े की जिल्द २॥)

" " सुनहरी जिल्द ~~३)~~ ३॥)

मुद्रक

श्रीकेसरीदास सेठ

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

१९३४

श्री रामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग के ग्रंथ

हिंदी में

नं०	नाम पुस्तक	सा० सं०	वि० सं०
१	श्रीरामतीर्थ-ग्रंथावली २८ भाग में, पूरा सेट	१०)	१५)
	फुटकर भाग	॥)	॥।)
२	उक्त ग्रंथावली की संशोधित आवृत्ति के पहले नौ भाग, तीन जिल्दों में। प्रति जिल्द	१)	१॥)
३	दशादेश (राम बादशाह के १० हुक्मनामे)		१)
४	राम-वर्षा भाग १-२	१)	१॥)
५	राम पत्र (गुरुजी के नाम राम के पत्र)	१)	१॥)
६	बृहत् राम-जीवनी (उर्दू कुल्लियाते राम जिल्द २ का अनुवाद), पृष्ठ ६७२	२॥)	१) ३)
७	संक्षिप्त राम-जीवनी, पृष्ठ ६४	।)	
८	श्रीमद्भगवद्गीता, श्री० आर० एस० नारायण स्वामी कृत, व्याख्यासहित, दो जिल्दों में, पृष्ठ लगभग २०००	४)	६)
	प्रति जिल्द	२)	३)

आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह वेदी-कृत

नं०	नाम पुस्तक	सा० सं०	वि० सं०
९	वेदानुवचन, पृष्ठ लगभग ४५० प्रथम आवृत्ति	१॥)	
	द्वितीय आवृत्ति पृष्ठ-लगभग ७१०	२॥)	३)
१०	आत्मसाक्षात्कार की कसौटी, पृष्ठ १७२	॥)	॥।)
११	रिसाला अजायबुल इल्म अर्थात् भगवत्-ज्ञान के विचित्र रहस्य, पृष्ठ १६०	॥)	॥।)

उर्दू में

नं०	नाम पुस्तक	सा० सं०	वि० सं०
१	कुल्लियाते राम जिल्द १ (रिसाला अलिफ़ के एक वर्ष के १२ नंबर), पृष्ठ लगभग ५००	१॥)	२)
२	कुल्लियाते राम जिल्द २ (अर्थात् स्वामी राम की सविस्तर जीवनी), पृष्ठ लगभग ५००	१॥)	२)
३	राम-वर्षा, दोनों भाग, पृष्ठ लगभग ५२५	१)	१॥)

नं०	नाम पुस्तक	सा० सं०	वि० सं०
४	प्रस्तुते-राम (गुरजी के नाम राम के ग्वत) पृष्ठ २०८	॥)	॥।)
५	सक्षिप्त जीवनी, पृष्ठ लगभग ३३०	॥।)	१)
	आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह वेदी-कृत		
६	वेदानुवचन, पृष्ठ लगभग ५२०	१॥)	२)
७	मियारुल मिकाशफ़ा (छांदोग्य उप० के छठे प्रपाठक की व्याख्या), पृष्ठ लगभग १७०	॥)	१)
८	रिसाला अजायबुल-इल्म, पृष्ठ लगभग १२०	।=)	॥।)
९	जगजीत-प्रज्ञ (ईशावास्योपनिषद् की शांकर भाष्यानुसार व्याख्या, पृष्ठ लगभग १००	।=)	॥।)
	अंग्रेज़ी में		
१	स्वामी राम के समग्र अंग्रेज़ी उपदेश व लेख, आठ जिल्दों में, पूरा सेट	७)	१४)
	प्रति जिल्द	१)	२)
२	पैरेबल्स आफ़ राम (उक्त उपदेशों में स्वामी राम से वर्णित समग्र कहानियाँ), पृष्ठ लगभग ५००	२)	३)
३	स्वामी राम की नोटबुक्स, दो जिल्दों में	३)	४)
	प्रति जिल्द	१॥)	२)
४	हार्ट आफ़ राम	॥)	१)
५	पोइम्स् आफ़ राम	॥)	१)
६	संक्षिप्त राम-जीवनी सहित गणित पर व्याख्यान	॥)	
७	प्रैक्टीकल गीता (बा० नारायणस्वरूप-कृत)	।=)	
	स्वामी राम के छपे चित्र भिन्न-भिन्न आकृति		
	के १० चित्रों का एक सेट	॥)	
	प्रति चित्र	-)	
	तिरंगा चित्र बड़ा साइज़	।)	
	,, छोटा साइज़	=)	

मैनेजर—श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

निवेदन

ईश्वर का धन्यवाद है कि पूरे नौ वर्ष के बाद लीग को वेदानुवचन के हिंदी-अनुवाद की द्वितीय आवृत्ति प्रकाशित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस अनुवाद की पहली आवृत्ति सन् १९२५ में निकली थी, जो साधारण और विशेष दो प्रकार के संस्करणों में छापी गई थी। साधारण का मूल्य १।।) रु० और विशेष का २) रु० था। पर विशेष संस्करण साधारण की अपेक्षा अधिक सुन्दर होने से बहुत शीघ्र बिक गया था, जिससे कई वर्षों से साधारण संस्करण को ही कपड़े की जिल्द में विशेष संस्करण के नाम से २) रु० के स्थान पर १।।।) रु० से बेचना पड़ता था। किंतु इस अनमोल रत्न के कई एक ग्राहकों को यह ढंग पसंद नहीं आया। उनसे बार-बार प्रार्थनाएँ आने लगीं कि जिस प्रकार यह ग्रंथ अपने उपदेशों में सर्वोपरिश्रेष्ठ है, उसी प्रकार अत्युत्तम आकार वा वस्त्र में निकाला जाय, दाम चाहे कुछ भी हो, क्योंकि पुस्तक का आकर्षक रूप भी पाठकों की प्रवृत्ति और रुचि पुस्तक में शीघ्र कराता है। पर लीग तब श्री परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के अंग्रेजी उपदेशों की पाँचवीं आवृत्ति, हिंदी में बृहत् राम-जीवनी और इसी ग्रंथ के रचयिता बाबा नगीनासिंह साहब की चौथी रचना रिसाला अजायबुल-इल्म के हिंदी-अनुवाद के प्रकाशन में निरंतर प्रवृत्त थी, इसलिये उक्त प्रार्थनाओं की पूर्ति शीघ्र न की जा सकी। आज यह देखकर हर्ष हो रहा है कि उनकी प्रेरणाओं से लीग इस बृहत् कार्य के पूर्ण करने में सफल हुई है, जिससे वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

यह द्वितीय आवृत्ति पहली आवृत्ति से अनेक प्रकार से उत्तम की गई है। न केवल इसमें उत्तम कागज, स्याही व छपाई की विशेषता रक्खी गई है, किंतु स्वच्छ टाइप व प्रति पृष्ठ कम पंक्तियाँ रखकर उसकी शोभा बहुत ही बढ़ा दी गई है। इसके अतिरिक्त श्रीमन्नारायण स्वामीजी महाराज ने इस अनुवाद का संशोधन भी बहुत दत्तचित्त से किया है जिससे ग्रंथ पहले से और भी अधिक सुगम और सरल हो गया है। पर पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ कम रखने से इस आवृत्ति की पृष्ठ-संख्या पहली आवृत्ति की अपेक्षा डेढ़ सौ से भी अधिक बढ़ गई है। जिससे लाचार होकर लीग को २) रु० के स्थान पर २।।) रु० प्रति कापी दाम रखना पड़ा। और इस विशेष संस्करण की सुनहरी जिल्द भी बनाई गई है जिसका दाम ३) रु० प्रति है। और साधारण संस्करण की पहली आवृत्ति की कापियाँ अभी तक कुछ मौजूद हैं जो १।।) रु० प्रति से मिलती हैं। हमें आशा है कि पुस्तक के आकार, सौंदर्य और पृष्ठों की वृद्धि को देखते हुए दाम की अधिकता का पाठकगण ख़याल न करेंगे। और इसकी कापियों को शीघ्र वितरण करते हुए अपना और दूसरों का कल्याण करेंगे। ॐ इति।

सुर्जनलाल पांडेय
(उपनाम शांतिप्रकाश)
मंत्री
श्री रामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग,
लखनऊ

विषय-सूची

भूमिका (१—२८)

प्रस्तावना (२६—७४)

वेदानुवचन (७५—७०३)

पहली शिक्षा, कर्मकाड (८३—२००)

हिंदी की

द्वितीय आवृत्ति की भूमिका

(ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्टशिष्य श्रीमन्नारायण स्वामीजी की लेखनी से)

उर्दू वेदानुवचन की तृतीय आवृत्ति के बाद पाठकों से एकदम प्रार्थनाओं पर प्रार्थनाएँ आने लगीं कि इस अत्यंत उपयोगी और रहस्यपूर्ण पुस्तक का सरल हिंदी में अनुवाद अवश्य किया जाय जिससे हिंदी-भाषा-भाषी भी इस अमूल्य रत्न से लाभ उठा सकें। उक्त प्रार्थनाओं से विवश होकर सन् १६२५ में मुझे इसके हिंदी-अनुवाद की ओर वृत्ति देनी पड़ी। यद्यपि आरंभ में इसका अनुवाद श्रीयुत चन्द्रिकाप्रसाद गुप्त से कराया गया, पर पुस्तक की उर्दू-भाषा अति कठिन व गंभीर होने से वह संतोषजनक न हो सका जिससे आरंभ से अंत तक मुझे ही उसका संशोधन अथवा दूसरे शब्दों में नए रूप से अनुवाद करना पड़ा। तथापि उस अनुवाद के प्रकाशन व प्रूफ निरीक्षण में भी अनेक अशुद्धियाँ छप गई थीं, जो मेरे चित्त में बहुत खटकती थीं।

हिंदी की यह प्रथम आवृत्ति साधारण व विशेष दो प्रकार के संस्करणों में प्रकाशित हुई थी, पर हर्ष की बात है कि साधारण संस्करण की अपेक्षा विशेष संस्करण की कापियाँ बहुत शीघ्र बिक गईं और लगभग दो वर्ष से साधारण संस्करण ही कपड़े की जिल्द में बँधकर विशेष संस्करण के नाम से पहले से कम क़ीमत पर बिक रहा था। पर पाठकों की रुचि इस थोड़े दामवाले विशेष संस्करण पर न टिक सकी। उनकी ओर से आग्रह पर आग्रह होने लगा कि यह अनमोल रत्न अधिक उत्तम रूप से (चाहे मूल्य अधिक हो) पुनः संशोधन के साथ निकाला जाय।

इस पर इसका संशोधन-कार्य मुझे पुनः हाथ में लेना पड़ा। और मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता हो रही है कि इस बार संशोधन बड़े परिश्रम व ध्यान के साथ हुआ है और जो जो त्रुटियाँ पहली आवृत्ति में अनेक रूप से मेरे चित्त में खटका करती थीं, वे सब की सब दूर की गई हैं। यद्यपि इस आवृत्ति का दाम अत्युत्तम कागज़ व जिल्द के कारण लोग को बहुत बढ़ाना पड़ेगा, पर मुझे यह विश्वास है कि इस आवृत्ति की सर्वरूप से उत्तमता की अपेक्षा यह अधिक दाम अति तुच्छ होगा। और यह देखते हुए मेरे चित्त में आनंद उमड़ रहा है कि मूल पुस्तक की उर्दू-भाषा से हिंदी-अनुवाद बहुत सरल और आकर्षक हुआ है। और पूर्ण आशा है कि हिंदी के पाठकों को यह अमूल्य रत्न ध्यानपूर्वक पढ़ने से बहुत ही लाभ देगा।

पुस्तक की महिमा व उपमा को तो पाठक लोग उर्दू की द्वितीय व तृतीय आवृत्ति के अनुवाद में, जो इस भूमिका के बाद दिया गया है, विस्तार से पढ़ लेंगे। पर मुझे पुनः यह लिखते हुए किंचित् भी झिझक नहीं हो रही कि वेद या वेदांत की शिक्षा जिस उत्तम रीति से इस अनमोल रत्न में वर्णन हुई है, ऐसी रीति व शैली वे आजकल की किसी भी हिंदी पुस्तक में न पा सकेंगे। और पाठक लोग इसकी साक्षी अपने अनुभव से आप देंगे। ईश्वर करे जिस प्रकार उर्दू के पाठकों ने इस पुस्तक से लाभ उठाया है, वैसे हिंदी-भाषा-भाषी भी इससे लाभ उठायें और इसके अध्ययन से वे हमारे समान प्रफुल्लित चित्त और आनंद में निमग्न हों। तथास्तु।

सितंबर, सन् १९३४ आर० एस० नारायण स्वामी

उर्दू की

द्वितीय आवृत्ति की भूमिका

(ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्टशिष्य श्रीमन्नारायण स्वामीजी की लेखनी से)

लगभग दस वर्ष का समय हुआ कि जब स्वामी रामतीर्थजी महाराज को, जो उन दिनों गृहस्थ आश्रम में श्रीमान् गोस्वामी तीर्थराम एम्० ए० के नाम से विख्यात थे, इस ग्रंथ की प्रशंसा सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने पुस्तक की प्रशंसा चूँकि अपने एक शुद्धचित्त तथा सच्चे मित्र और भारतधर्म महामण्डल के सुप्रसिद्ध महोपदेशक (पं० दीनदयालजी शर्मा) के मुख से सुनी थी, इसलिये इस ग्रंथ के देखने की स्वामीजी महाराज को और भी अधिक जिज्ञासा हुई। जब इस तरह जिज्ञासाग्नि की ज्वाला प्रदीप्त हुई और स्वामीजी इस पुस्तक के ढूँढने और पढ़ने के लिये उत्सुक हुए, तो फिर पंडितजी ने ही, कि जिन्होंने इस ग्रंथ की हस्त लिखित प्रति को अपने पास दो तालों में सुरक्षित कर रक्खा था, बड़ी कठिनता से उसे अति अल्प समय के लिये अध्ययनार्थ दे दिया।

अभी यह पुस्तक आधी भी समाप्त न होने पाई थी कि उसके अध्ययन से स्वामीजी के अंतःकरण में सच्चे आनंद का समुद्र उमड़ने लगा, और मन में विश्व प्रेम उमंगें मारने लगा। उनसे न रहा गया कि वह अकेले ही इस अमूल्य रत्न से आनंदित हों और दूसरों को इससे वंचित रक्खें, वरन् मारे आनंद के उनका निमग्न चित्त बड़े वेग से यों लहराने लगा कि इस अमूल्य ग्रंथ को शीघ्र मुद्रित कराकर सब के जिज्ञासुओं की भेंट किया जाय।

निजानन्द में निमग्न चित्त यों तरंगें उठा ही रहा था कि झट ख़बर आई कि यह हस्त-लिखित प्रति फगवाड़ा में मिल सकती है। स्वामीजी केवल इस हस्त-लिखित प्रति के लिये फगवाड़ा नगर गए और वेदांत के सच्चे भक्त तथा कृपालु मित्र दीवान हरीचंद साहब बहादुर, भूतपूर्व कलेक्टर और वर्तमान मेम्बर कौंसिल रियासत कपूर्थला, से इसे प्रकाशित करने के लिये अपने साथ ले आए। उन्हीं दिनों स्वामीजी के करकमलों से उर्दू भाषा में वेदांत विषय पर एक मासिक पत्र 'अलिफ़' नाम का निकलता था, और उस पत्र के प्रबंध आदि की सेवा लेखक (भूतपूर्व नारायणदास वर्तमान नारायण स्वामी) के सुपुर्द थी। उस बीच इस हस्त-लिपि के भी पढ़ने का अवसर मिल गया।

अभी इस आनंदपूर्ण मासिक पत्र के तीन अंक भी छपने न पाए थे कि ज्ञान की लाली राम के अंतःकरण के भीतर समा न सकी, वरन् फूट-फूटकर बाहर लौ देने लगी, अर्थात् महाराज राम अब लिखने पढ़ने के बंधन से मुक्त हो गए और केवल दस गज़ धरती पर जमकर बैठना उनके लिये दूभर हो गया। इसलिये रँगे हुए चित्त से विवश हुए राम जंगलों को पधारे और नारायण को भी (मासिक पत्र) अलिफ़ का झंडा साथ लिए उनके सहगामी रहने की आज्ञा प्रदान हुई। अतः यह हस्त-लिखित पुस्तक नारायण या राम महाराज की उपस्थिति में न छप सकी, बल्कि बाबू हरलाल साहब कायस्थ लाहौर को प्रकाशनार्थ दी गई, जिन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इस कठिन काम को अपने ज़िम्मे ले लिया।

परंतु दुर्भाग्य से यह पुस्तक ऐसी संकीर्ण-हृदयता और असावधानी से छापी गई कि सहस्रों अशुद्धियों के अतिरिक्त आठ से अधिक पृष्ठों का मैटर छपने से रह गया। कातिब (लिपिकार) तथा प्रूफ़रीडर की असावधानी से कई वाक्य के

वाक्य कहीं-कहीं आधे, कहीं उलट पलट और कहीं बिलकुल अशुद्ध छप गये, और पुस्तक का कागज़ तथा लिखाई-छपाई भी ऐसी भद्दी कि किसी का मन भी उसके पढ़ने की ओर आकर्षित न हो। जब यह पुस्तक ऐसी दुर्दशा से छपी हुई स्वामी राम के पास भेट के स्वरूप में पहुँची, तो पुस्तक खोलते ही स्वामीजी के हृदय तल तक आघात पहुँचा।

दिल ही तो है, न कि संगो-खिश्त, दर्द से भर न आए क्या ?

जब व्यास आश्रम (बद्रीनारायण के मार्ग) में स्वामीजी को इस पुस्तक के दुबारा देखने और पढ़ने का संयोग हुआ, तो नारायण उस समय सेवा में उपस्थित था। लंबी आह (श्वास) भरकर स्वामीजी फ़रमाने लगे कि —"हाय! इस अमूल्य रत्न का कैसा बुरा हाल और मुँह काला कर दिया गया है।" अर्थात् इतनी उत्तम पुस्तक चार ऐसी अशुद्ध और भ्रष्ट छपाई से प्रकाशित हुई है कि प्रत्येक इसके अध्ययन से घृणा करने लग जाय, और इससे कुछ लाभ उठाने के स्थान पर पाठक उल्टा तंग आकर इसे वेस्ट पेपर बास्केट (रद्दी की टोकरे) में फेंक दे। ज्यों-ज्यों स्वामीजी इस छपी प्रति को पढ़ते गए, त्यों-त्यों (अशुद्ध) पृष्ठ और वाक्यों पर काली लकीरें मारते गए, और पृष्ठ के पृष्ठ बिलकुल अशुद्ध देखकर फाड़ते गए। अंतत जब अशुद्धियों पर लेखनी फेरते-फेरते थक गए या तंग आ गए, तो नारायण से यों सम्मुखीन हुए कि 'देखो, इस अत्यंत उपयोगी ग्रंथ का गला घोंटा गया है, और प्रमाद तथा असावधानी से मरणोन्मुख वा मरणप्राय कर दी गई है। क्या तुममें कोई या नारायण स्वयं इस बेचारी की फ़रियाद सुनेगा ?" राम की यह आज्ञा वा संकेत सुनते ही करबद्ध प्रार्थना की गई कि अवकाश पाकर नारायण इन सब शिकायतों को यथाशक्ति दूर कर देगा।

चूँकि इस आज्ञा के पाने के पश्चात् लेखक श्रीस्वामीजी महाराज की सेवा के लिये उनके साथ पहाड़ों में रहा, और फिर स्वामीजी के अपने सच्चे धाम में प्रस्थान करने के बाद भी बहुत काल तक जगलों में एकांत सेवा करता रहा। इसलिये पुनरावृत्ति के प्रकाशन की शीघ्र चेष्टा न हो सकी। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ का मुद्रण-अधिकार बाबू हरलाल ने अपने नाम पर रजिस्टर्ड करा रक्खा था और बिना उनकी आज्ञा के इसका छपाना अनुचित और नियम-विरुद्ध था, अतएव अनुमति के लिये पत्र-व्यवहार में भी कुछ समय लग गया। सौभाग्य से उक्त बाबू साहब ने बड़ी उदारतापूर्वक इसके पुनर्मुद्रण की आज्ञा दे दी, और यहाँ तक उत्साह बढ़ाया कि इस ग्रंथ की हस्त लिखित प्रति को, जो स्वामीजी ने मुद्रणार्थ उनको दे रक्खी थी, प्रसन्नता से पुस्तक का मिलान करने के लिये अपने पत्र के साथ भेज दिया, और भविष्य के लिये पुनर्प्रकाशन के सर्वप्रकार के अधिकारों से लेखबद्ध रूप से विरत हो गए।

जो हस्त-लिखित प्रति बाबू हरलाल साहब से प्राप्त हुई, वह पानी से भीग जाने के कारण खराब और स्थान-स्थान पर चिपकी हुई और फटी हुई थी, जिससे स्पष्ट पढ़ी नहीं जाती थी। अतः दीवान हरीचंद साहब, जिनको बाबा नगीनासिंह साहब की लगभग सब रचनाएँ स्वयं रचयिता महोदय से पढ़ने और सुनने का और उनकी जी भरकर संगत करने का गौरव प्राप्त था और जिनसे उपर्युक्त स्वामीजी महाराज को यह हस्त-लिखित प्रति प्रकाशनार्थ पहले मिली थी, उनसे एक नई साफ़ लिखी हुई कापी के लिये प्रार्थना की गई, जो तत्काल बड़े तपाक से स्वीकृत हुई, और दीवान साहब ने बड़े चाव वा उत्साह से अपने निज के अध्ययन की प्रति प्रदान की, वरन् यहाँ तक सहायता की कि

पुस्तक के प्रकाशित होने के पश्चात् संशोधन करना स्वीकार किया, ताकि यदि कोई अशुद्धि संयोगवश रह जाय, तो अलग शुद्धाऽशुद्धपत्र बनाकर उसमें लगा दिया जाय। इसके अतिरिक्त उक्त दीवान साहब ने संकेत किया कि बाबा नगीनासिंह साहब के अत्यंत सुयोग्य और वेदांत के पारदर्शी शिष्य, राय हरनारायण साहब, भूतपूर्व ऐक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर पंजाब और वर्तमान होममिनिस्टर रियासत कश्मीर, जो बाबा साहब की नियमानुसार संमति और शिक्षा से गौरवान्वित और सुशोभित थे, और इस ग्रंथ के तत्त्व से भली भाँति परिचित थे, उनसे इस ग्रंथ की भूमिका लिखवाई जाय। अतएव उनकी सेवा में प्रार्थना की गई, और राय साहब ने सर-आँखों से भूमिका लिखने का वादा कर लिया। परंतु राय साहब अपनी नौकरी के भारी काम में कुछ ऐसे व्यतिव्यस्त (प्रवृत्त) रहे कि अनेक बार प्रार्थना करने पर भी साल-भर तक आप भूमिका न लिख सके, और १९१० ई० के आरंभ में आपसे भूमिका और प्रस्तावना दोनों परिपूर्ण प्राप्त हुए।

इस ग्रंथ के संबंध में नारायण केवल इतना निवेदन कर देना चाहता है कि अभी तक सारे जीवन में नारायण ने उर्दू-भाषा में वेदांत की पुस्तक इससे बढ़कर या इसके समान नहीं देखी, और न किसी उर्दू पुस्तक में उपनिषदों के तात्पर्य और अर्थ की व्याख्या ऐसी युक्तिपूर्ण, स्पष्ट और सुगम पाई, वरन् अपने निजी अनुभव से यह कहने को भी प्रस्तुत हैं कि जिस स्पष्टता के साथ ग्रंथकर्ता ने उपनिषदों के कतिपय अध्यायों के अनुवाद की व्याख्या की है, ऐसी स्पष्ट और प्रस्फुटित व्याख्या कुछ स्थानों पर तो श्रीस्वामी शंकराचार्य के भाष्य में भी नहीं पाई गई।

इस ग्रंथ की भाषा यद्यपि पुरानी है और आजकल की प्रचलित देहलवी और लखनवी भाषा के तद्वत् (समान) नहीं, तो भी अपने ढंग की निराली है। और पंजाबी ढंग के उर्दू में अति उत्तम है।

चूँकि ग्रंथकार की अपनी भाषा और वर्णन-शैली को सुरक्षित रखना उसकी असली यादगार और भाषा के इतिहास को स्थिर करना है इसलिये इस ग्रंथ की भाषा में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया, वरन् उक्त हस्त-लिखित प्रति से, जो दीवान हरीचंद से प्राप्त हुई थी, एक-एक शब्द सावधानी के साथ मिलान करके और दो-तीन बार दृष्टिपात और शोधन के पश्चात् यह प्रति प्रकाशित की गई है। अलबत्ता जहाँ संस्कृत के शब्दों को केवल उर्दू में लिखे जाने से संदिग्ध और अशुद्ध पढ़े जाने की आशंका समझी गई, वहाँ उनको स्पष्ट करने के लिये उनके आगे संस्कृत अक्षरों में भी उन्हें अंकित कर दिया गया है, जिससे पढ़नेवालों के उद्देश्य की पूर्ति हो। यदि जनता ने इस अति उपयोगी रचना के द्विबारा प्रकाशन का अवसर दिया और सम्मति दी, तो आगामी संस्करण में जहाँ कहीं उर्दू अल्पबोध्य या दुरूह (वा अस्पष्ट) है, वहाँ स्पष्ट रीति से प्रस्फुटित और पल्लवित कर दी जायगी और भाषा में उचित परिवर्तन करने से किताब की शोभा को द्विगुणित किया जायगा। अभी तो पाठकों की सुविधा के लिये इस ग्रंथ की शब्दार्थ-सूची लगा दी गई है, और जो संस्कृत के उपनिषदों में यथेष्ट गति रखते हैं, उनके लिये जिस जिस उपनिषद् का और उसके जिस-जिस अध्याय का ग्रंथ-कर्त्ता ने इस ग्रंथ में अनुवाद किया है, नीचे टिप्पणी में उसका पता (ठिकाना) भी दे दिया है, जिससे पाठकों को किसी प्रकार की कठिनता प्रतीत न हो।

सर्वप्रकारेण ग्रंथ यथाशक्ति उत्तम तैयार हुआ है, और ग्रंथ के

विषय-प्रबंध अत्यंत ही मनोरंजक और देखने-योग्य है। विशेषतः द्वितीय कांड अर्थात् ज्ञानकांड तो माना मोतियों की एक लड़ी है, और यह बहुमूल्य मोती ग्रंथकर्त्ता ने अपने विचारों की तार में सिलसिलेवार ऐसे पिरोए हुए हैं कि एक से एक बढ़कर अपना रंग दिखाते और मन को प्रकाशित करते हुए पाठकों के अंतःकरण के तल तक अपना आतक (सिक्का) जमाते हैं, और जिज्ञासु को पूर्ण ज्ञानी तथा ज्ञानी को अपने निजानंद में निमग्न और लीन कर देते हैं। संक्षेप से यह कि यह ग्रंथ श्रवण, मनन और निदिध्यासन के लिये यथेष्ट सहायक और साधन है। जो इसे ध्यान देकर पढ़ेगा, अपने अनुभव में आप ही साक्षी देगा।

अंत में नारायण उन उपर्युक्त महानुभावों को कि जिन्होंने इस लाभदायक ग्रंथ के प्रकाशन में तन मन से सहायता दी है अंतःकरण से धन्यवाद अर्पण करता है, और आशीर्वाद देता है कि ऐसी उत्तम और लाभदायक पुस्तक फले-फूले, अर्थात् दिन दुगनी और रात चौगुनी उन्नति पावे। इसके पढ़नेवालों के हृदय हरे-भरे हों, इसके अध्ययन की सहायता से पढ़नेवालों के हृदय-कमल खिलें, और उनके व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव की प्रभावशालिनी गंध से हमारे लाभान्वित हों। तथास्तु।

दिसंबर, १९०९ आर० एस० नारायण स्वामी

इस परिशोधन के भारी काम में पहली सबसे बड़ी सहायता स्वर्गीय बाबा साहब के सुप्रसिद्ध और सुयोग्य शिष्य राय हरनारायण साहब भूतपूर्व होममिनिस्टर रियासत कश्मीर से मिली, कि जिन्होंने नारायण के साथ इस ग्रंथ को ध्यानपूर्वक पढ़ने के अतिरिक्त स्वयं एकांत में भी इसको बहुत मनोयोग-पूर्वक अध्ययन किया और जहाँ कहीं विचार-धारा और वर्णनशैली को विच्छिन्न और विश्रृंखलित पाया, वहाँ अत्यंत सावधानी और परिश्रम के साथ परिवर्तन किया। इस परिवर्तन अर्थात् विचारों की शैली और वर्णन के सौंदर्य में एक-दो स्थान पर उन्हें वाक्य के वाक्य बदलने पड़े। जैसे द्वितीय कांड के तीसरे अध्याय के पैराग्राफ़ १६ से २१ तक और २३ से २५ तक के पूर्व रूप में बिलकुल अंतर आ गया, जिसके उत्तरदाता उपर्युक्त राय साहब हैं। निःसंदेह इन (वाक्यों) की पहले की भाषा से कुछ और अर्थ निकलते थे, और वर्तमान भाषा से कुछ और, किंतु ग्रंथकर्ता के अंतिम तात्पर्य और उद्देश्य का यदि आरंभ से अंत तक सिंहावलोकन किया जाय, तो वर्तमान संशोधन बिलकुल ठीक और उपर्युक्त प्रतीत होता है, और उपनिषदों की शिक्षा के अनुकूल उतरता है। तो भी इस संशोधन के उत्तर-दाता राय साहब स्वयं अपने आपको ठहराते हैं। और इस उत्तरदातृत्व का उनको अधिकार भी प्राप्त है, क्योंकि उनके अपने लिखने के अनुसार ग्रंथकार ने इस ग्रंथ के भाषा-विन्यास आदि का काम (अपने जीवन ही में) उनको ही सौंपा था, जो दुर्भाग्य से उस समय न हो सका था, और आज ठीक २२ वर्ष के बाद उनकी ही लेखनी से हो गया। इस बड़े परिवर्तन के अतिरिक्त शेष सब परिवर्तन और परिवर्द्धन का [illegible] लेखक स्वयं है। जहाँ तक हो सका है, केवल शब्दों [illegible] क्रम

को ठीक किया गया है जिससे तात्पर्य और विचार साफ़ स्पष्ट हो जाय, और कहीं भी विचार श्रृंखला या तात्पर्य बिगड़ने न पाए, परंतु ग्रंथ लेखक के विचार या तात्पर्य में अपनी ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया, और न भाषा के शब्द ही बहुत घटाए-बढ़ाए गए हैं, अर्थात् केवल मोटी दुरुस्ती हुई है, महीन नहीं। हाँ, यदि सत्य के जिज्ञासुओं ने इस मोटे सुधार और भाषा विन्यास को पसंद किया और हार्दिक सहानुभूति की, तो आशा है कि भविष्य संस्करण में और भी अधिक साफ़ और सरल भाषा की जायगी, जिससे पढ़नेवाले को ग्रंथ के समझने में अधिक सुविधा मिल सके।

ग्रंथ के संशोधन का भारी काम समाप्त होने के पश्चात इसके छपवाने का विचार सिर पर सवार हुआ। पहली बार तो यह बिलकुल अप्रसिद्ध बरन् अज्ञात और हस्त-लिखित प्रति होने के कारण कोई अकेला प्यारा इसके छपवाने के व्यय का सारा भार अपने सिर पर लेने को तैयार नहीं होता था। इसलिये कुछ परिचित प्यारों के चंदे की सहायता से इसे प्रकाशित किया गया था। मगर अब तो यह हस्त लिखित प्रति लोगों के हाथों में पहुँच चुकी थी, और तत्व के जिज्ञासुओं को इसकी उपयोगिता ज्ञात हो चुकी थी, और सेकड़ों महाशयों की प्रार्थनाओं के उत्तर में यह स्पष्ट लिखा भी गया था कि ग्रंथ का संशोधन हो रहा है। इसके पूर्ण होने पर और किसी एक से इसके छपवाने का ख़र्च प्राप्त होने पर इसको फ़ौरन् प्रकाशित कर दिया जायगा। इसलिये ख़याल था कि कोई सच्चा प्रेमी और धनाढ्य प्यारा इस ग्रंथ के फ़ंड की अविद्यमानता सुनकर अपनी उदारता से इसके समस्त व्यय को उठाने के लिये स्वयं तैयार हो जायगा, और अपने उत्तम उदाहरण से लेखक को प्रोत्साहित करेगा।

परंतु जब संशोधन समाप्त होने तक किसी प्यारे से इस प्रकार का पत्र प्राप्त न हुआ और न कहीं से इस काम के लिये स्वयं कोई तैयार होता सुनाई दिया, तो विवश होकर लेखक को फिर फंड के लिये आवाज़ उठाने की सूझी। मगर दिल एक ग्रंथ के लिये बार-बार फंड की अपील या चंदा करने को तैयार नहीं होता था, इसलिये कुछ समय तक फंड के लिये मन में खूब खींच-तान होती रही। नारायण की इस मानसिक खींच-तान को स्वर्गीय मास्टर अमीरचंद ने भाँप कर स्वयं प्रार्थना की कि यदि फंड की कमी के कारण इस अनमोल ग्रंथ का प्रकाशन रुका हुआ है, तो आप तत्काल छपवाना आरंभ कर दीजिए, मैं समस्त व्यय का ज़िम्मेदार हो जाऊँगा। स्वर्गीय मास्टर साहब की उदारता और प्रोत्साहन से यह ग्रंथ तत्काल प्रेस में दिया गया, परंतु यह अभी छपना आरंभ भी न हुआ था कि दुर्भाग्य से मास्टर साहब एक आकस्मिक विपत्ति में फँस गए जिससे ग्रंथ का प्रकाशन चिर काल तक रुका रहा। किंतु जब उनसे पूर्ण रूप सहायता की आशा जाती रही और किसी दूसरी जगह से भी तत्काल सहायता प्राप्त न हुई तो विवश होकर स्वामी रामतीर्थ के उर्दू-पब्लिकेशन फंड से धन निकालकर इस संस्करण को पूर्ण कर दिया गया, ताकि इस ग्रंथ के लिये सत्य के जिज्ञासुओं का मन अधिक व्याकुल और प्रतीक्षा में लगा रहने न पाए। इस प्रकार यह ग्रंथ प्रेस में आने के पश्चात् भी पूरे दो वर्ष तक पूर्ण प्रकाशित न हो सका। अस्तु, संतोष का स्थान है कि इस संस्करण को पूर्ण करके लोगों के हाथों में पहुँचाने का अवसर तो प्राप्त हुआ।

इस प्रकरण में इतनी देरी का कारण जहाँ एक ओर धन की कमी हुई, वहाँ दूसरी ओर प्रेसमैनों का प्रेस में घड़ी-घड़ी

बदलना और लेखक का भी दूर पहाड़ में गंगोत्री यात्रा को चले जाना तथा तिब्बत प्रदेश में मानसरोवर की यात्रा करना हुआ। इस यात्रा के कारण भी पूरे एक वर्ष तक प्रकाशन बंद पड़ा रहा। अस्तु, इन समस्त कठिनाइयों के अतिरिक्त भी जितने परिश्रम, सच्ची हृदयता, सद्भाव और सहानुभूति से इस किताब के कातिब (लिपिकार) मियाँ सम्युद्दीन साहब और मेनेजर "मतबा आफ़ताब तिजारत दिल्ली" ने इस ग्रंथ के पूर्ण करने में परिश्रम किया है, उसका धन्यवाद लेखक की लेखनी नहीं दे सकती, मन ही अनुभव कर रहा है और जान सकता है। यदि यह सुहृदय महाशय हमारे इस काम में सहायक न होते, तो इस संस्करण का प्रकाशन पूर्ण रूप से होना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव सा हो जाता। इसलिये जितना ही इनको धन्यवाद दिया जाय, उतना ही थोड़ा है। ईश्वर इनको ऐसा ही सुचित्त और सज्जन बनाए रक्खे। इतनी ही नारायण की इनके लिये प्रार्थना वा आशीर्वाद है।

अन्त में नारायण उन महाशयों को धन्यवाद देता है कि जिन्होंने चाहे पत्र द्वारा और चाहे शब्दों द्वारा इस संस्करण के प्रकाशन में सहानुभूति प्रकट करके प्रोत्साहित किया है, और स्वर्गीय बाबा साहब के सुयोग्य शिष्य राय हरनारायण साहब, कि जिनकी विशेष अनुकृपा से यह ग्रंथ पहले से कहीं उत्तम और अत्यंत शुद्ध और स्पष्ट हो गया है, और जिनकी सहायता के बिना कदाचित् ऐसा उत्तम संशोधन न होता, उनको विशेष रूप से हृदयतल से धन्यवाद अर्पण करके इस भूमिका को नारायण समाप्त करता है, और आशीर्वाद देता है कि यह संस्करण पहले से भी अधिक फले फूले, और सत्य के जिज्ञासुओं की दिन दूनी रात चौगुनी निजानंद की प्राप्ति में सहायक हो।

जून, १९१९ आर० एम० नारायण स्व

उर्दू की

चतुर्थ आवृत्ति की भूमिका

(ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्टशिष्य
श्रीमन्नारायण स्वामीजी की लेखनी से)

यह हर्ष की बात है कि इस पुस्तक की चतुर्थ आवृत्ति की भी भूमिका लिखने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। यद्यपि द्वितीय, तृतीय आवृत्ति पर सविस्तर भूमिकाएँ मैं पहले लिख चुका था। पर इस अमोल रत्न की उपमा में जितना भी कोई लिखे, वह थोड़ा है। और इसकी पुनः पुनः आवृत्ति में जितना भी परिश्रम व चित्त लगाया जाय, उसे थोड़ा ही समझना चाहिए। क्योंकि जिस खूबी व योग्यता से पुस्तक के रचयिता ने अपनी इस अनमोल रचना में उपनिषदों के विषयों को मोतियों की लड़ी के समान अपने विचार की तार से क्रमशः परोया है और जिस उत्तम शैली से वेदों के गंभीर रहस्यों व सिद्धांतों को सरल व स्पष्ट रूप से दर्शाया है, उसकी अपेक्षा इसके विषय शाब्दिक स्तुति व सर्व प्रकार का परिश्रम तुच्छ है। वस्तुतः तो यों है कि जो भी कोई इस पुस्तक को विचारपूर्वक पढ़ते-पढ़ते लेखक के चित्त व मस्तिष्क में उत्तर आता है या दूसरे शब्दों में स्वयं लेखक-रूप हो जाता है, वही वास्तव में इस पुस्तक की ठीक क़दर (मान-प्रतिष्ठा) मान कर सकता है, वही इसकी ठीक उपमा कर सकता है, और वही इसकी खूबी (विलक्षणता) से ठीक जानकार व प्रसन्न हो सकता है, अन्य नहीं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि पहले पहल १९०९ में इस ग्रंथ की प्रथम आवृत्ति तो लाहौर के स्वर्गवासी बाबू हरलाल भूतपूर्व नाज़िर ज़िला से प्रकाशित हुई थी, जो

भूमिका

यद्यपि स्वामी रामजी की रुचि के अनुसार न हो सकी था, तथापि उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं गया था। यह वास्तव में उनके ही परिश्रम का फल था कि स्वामीजी को इसके भी उत्तम इसकी दूसरी आवृत्ति शीघ्र प्रकाशन कराने की सूझा, जिसके लिये मुझे आदेश दिया गया और जिस आदेशानुसार इसकी दूसरी आवृत्ति स्वामीजी की रुचि के अनुसार सन् १९१० में छपाई गई थी। यह आवृत्ति अपनी उत्तम लिखाई, छपाई, सफाई, शुद्धता व सुन्दरता के कारण यद्यपि हाथों हाथ शीघ्र बिक गई और ज्ञानपिपासुओं ने अपने अपने ज्ञान की रुचि के अनुसार कापियाँ प्राप्त करके इन्हें लागत कीमत पर तत्काल अधिकारी पुरुषों में बाँट दिया था, परन्तु धनाभाव के कारण इसकी तीसरी आवृत्ति कई वर्षों तक रुकी रही। अन्त में पाठकों व जिज्ञासुओं की बार बार प्रार्थनाओं से विवश होकर [illegible] देहली के विख्यात [illegible] अपनी [illegible] से इस शुभ कार्य में पहले के कुछ [illegible] [illegible] और धन [illegible] लिया था कि इसकी तीसरी आवृत्ति [illegible] सन् १९१६ में छप सका, जो यद्यपि दूसरी आवृत्ति के [illegible] सुन्दर व आकर्षक रूप में न थी, तथापि भाषा की [illegible] शुद्धि के कारण पाठकों को खूब पसन्द आई।

यह तीसरी आवृत्ति भी बहुत काल से समाप्त है [illegible] परन्तु स्वामी रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग (जिसके [illegible] स्वामी राम की उर्दू रचनाओं की प्रथम [illegible] और वह [illegible] रामपत्र प्रकाशित किये गये थे [illegible]) [illegible] निकाली गई थी [illegible] सन् १९१८ में श्रीरामतीर्थ [illegible] था और लीग ने इसके [illegible]

लेखों को क्रमश छपवाने का कार्य हाथ में लिया, जो लगभग सात वर्ष के निरंतर परिश्रम के बाद पूर्ण हुआ । इसलिये इस पुस्तक की चौथी आवृत्ति शीघ्र हाथ में न ली जा सकी । केवल गत वर्ष से लीग ने जब स्वामी राम के उपदेशों व लेखों को उर्दू में पुन छपवाने का कार्य हाथ में लिया तो उसी समय से वेदानुवचन के रचयिता की रचनाओं के प्रकाशन का काम भी हाथ म ले लिया था । उक्त रचयिता की सबसे पहले ये रचनाएं प्रकाशित की गईं कि जिनकी कई वर्षों से माँग हो रही थी । उदाहरणार्थ मियारुल मिकाशफा जो सबसे पहले सन् १६०० में थोडी सी सख्या में प्रकाशित हुई थी और तब से आज तक उसका पता तक नहीं मिलता था, उसे प्रकाशित किया गया । "रिसाला अजायबुल इल्म" की रचना जो अभी तक लेखरूप में थी और सन् १६१० में बहुत अशुद्ध व खराब दशा में प्रकाशित हुई थी जिससे उसका पुन प्रकाशन आवश्यक था, इसलिये उसे अत्युत्तम रूप, आकार और शुद्ध दशा में प्रकाशित किया गया । तत्पश्चात् इस ग्रंथ की चौथी आवृत्ति की बारी आई, जो आठ मास के निरंतर परिश्रम के बाद सपूर्ण प्रकाशित हो सकी । अब मुझे दृढ आशा है कि यदि राम प्यारों व वेदांत के जिज्ञासुओं ने उक्त लीग की तन मन धन से सहायता करना अपना कर्तव्य बना लिया तो ये अनमोल रचनाएँ केवल प्रकाशनार्थ इतने काल तक रुकने न पाएँगी और ऐसी दशा में लीग भी इन बहुमूल्य ग्रंथों के प्रकाशन को रुकते न देख सकेगी । ईश्वर करे लीग अपने शुभ उद्देश्यों में सफल हो और जिज्ञासुओं की सेवा में दिन-प्रतिदिन उत्सुक, ताज़ा और सर्वप्रकारेण प्रवृत्त रहे, और जनता भी इसकी सेवा से दिन-प्रतिदिन लाभान्वित हो ।

यह चौथी आवृत्ति पहली आवृत्तियों से सब प्रकार से बढ़-चढ़

पर निकाली गई है। इस बार न केवल लिखाई, छपाई व सफाई ही का अधिक ख्याल किया गया है, बल्कि कागज़ व जिल्दबंदी का भी। फलतः सर्वप्रकारेण यह आवृत्ति उत्तम रूप में प्रकाशित की गई है। सन् १९१० की अपेक्षा सब वस्तुओं का दाम बहुत बढ़ गया है, इसलिये इस आवृत्ति का दाम पहले से अधिक कर दिया गया है। जो साधारण संस्करण की कापी पहले १) रुपया पर दी जाती थी, उसका मूल्य १॥) रुपया और जो विशेष संस्करण की कापी १॥) पर दी जाती थी, उसका मूल्य २) रुपया रक्खा गया है। आशा है, सत्य के जिज्ञासु इसे खुशी से स्वीकार करेंगे।

अंत में हम पुस्तक के प्रकाशकों, लिपिकार, प्रिंटर और उनके साथ-साथ लीग को मैं अंतःहृदय से धन्यवाद देता हूँ कि जिनकी दिली उमंगों, उत्साह और परिश्रम से यह चौथी आवृत्ति पूर्ण होकर जनता तक पहुँच सकी। ईश्वर करे हम सबके दिल इसी प्रकार आत्मज्ञान के पाने और फैलाने में उमंगें मारते रहें, और इस शुभ कार्य में सर्वप्रकारेण अपने को लगाते रहें, जिससे अपना और दूसरों का कल्याण होता रहे। तथास्तु।

अक्टूबर, १९३० आर० एस० नारायण स्वामी

उर्दू की

द्वितीयावृत्ति की भूमिका

(आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब के योग्य व प्रसिद्ध शिष्य राय हरनारायण साहब होम मिनिस्टर रियासत कश्मीर की लेखनी से)

मुझको इस बात का अभिमान प्राप्त है कि मैंने इस ग्रंथ के लेखक बाबा नगीनासिंह साहब आत्मदर्शी के चरणों में बैठकर उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त की थी। बाबा साहब रियासत कपूर्थला के फगवाड़ा ग्राम में वेदी खत्रियों के वंश में, सिक्ख-धर्म के प्रवर्तक गुरु नानकजी की तेरहवीं पीढ़ी में, सं० १८६१ विक्रमी में उत्पन्न हुए और आश्विन सं० १६५८ विक्रमी तदनुसार अक्तूबर १६०२ ई० में पंचभौतिक शरीर को त्यागकर अपने आत्मस्वरूप में स्थित हुए। आरंभिक आयु में उनके पूज्य पिताजी ने उनको फ़ारसी और अरबी-विद्या की शिक्षा के वास्ते उन्हें एक मौलवी साहब के सुपुर्द किया। तीव्र बुद्धि के कारण छोटी आयु में ही कुराने-मजीद और उसकी तफसीर (भाष्य) को भली भाँति अध्ययन किया। चूँकि मौलवी साहब ने इस्लाम धर्म के सिद्धांतों को बाबा साहब के दिल में पूरी तरह से जमा दिया और मूर्ति-पूजा की ओर उनके हृदय में घृणा उत्पन्न करा दी थी, बाबाजी को पूर्ण निश्चय हो गया कि हिंदू-धर्म ईश्वर-प्राप्ति कराने में असपूर्ण (दोषयुक्त) है, और बिना मोहम्मद साहब की सिफ़ारिश (अनुग्रह) के मुक्ति का मिलना असंभव है। इसलिये वह शिक्षा-काल में ही मौलवी साहब के वश में आ गये, और इस्लाम-धर्म के अनुयायी होकर मौलवी साहब के साथ अपने घर से निकल गये। मौलवी साहब ने कुछ दिनों तक उन्हें एक

दूसरे नगर में छिपा कर रक्खा। बाबा साहब के पूज्य पिता ने उनके खो जाने की सूचना पाकर उनकी खोज कराई और फिर उनको पाकर घर में लौटा लाये, और चाहा कि बाबा साहब से प्रायश्चित्त कराकर उन्हें फिर अपने वंश में मिला लें, परंतु बाबा साहब ने हिंदू-धर्म को दुबारा ग्रहण करना स्वीकार न किया, और इस बात पर आग्रह किया कि हिंदू-धर्म झूठा है और इस्लाम-धर्म का अनुमोदन किया। उन्होंने यह भी कहा कि "जब तक युक्तियों व तर्क से सिद्ध न करा दिया जाय कि हिंदू-धर्म मुक्ति-पथप्रदर्शक है, मैं कदापि हिंदू-धर्म में लौटकर आना नहीं चाहता"। और यह भी कहा कि "यदि मुझको बलपूर्वक मिलाया जायगा, तो मैं फिर इस्लाम-धर्म को ग्रहण कर लूँगा।" उन दिनों फगवाड़ा में एक महात्मा संन्यासी साधु विद्यमान थे, जिनके पास बाबा साहब के पूज्य पिता आया जाया करते थे। वह बाबा साहब को लेकर स्वामीजी के चरणकमलों में उपस्थित हुए, और उनकी सेवा में समस्त वृत्तांत निवेदन कर दिया। स्वामीजी ने अत्यंत स्नेह और प्रेम के साथ बाबा साहब को वेदांत-दर्शन के सिद्धांत सुनाये। परंतु वेदांत-दर्शन की अनभिज्ञता के कारण स्वामीजी के उपदेश का बाबाजी पर कुछ प्रभाव न हुआ, और उन्होंने अपने हठ को न छोड़ा, अंत में बहुत तर्क-वितर्क के पश्चात् स्वामीजी के साथ बाबाजी ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि वह उनको हिंदू-धर्म की सत्यता के संबंध में पूर्ण विश्वास करा देंगे, तो उस दशा में वह अपना आग्रह त्याग कर फिर अपने धर्म को स्वीकार कर लेंगे। स्वामीजी ने बाबा साहब के पिताजी से कहा कि यदि वह बाबाजी को उनके पास कुछ काल के लिये छोड़ दें, तो आशा है कि वह बाबा साहब को नियमानुसार शास्त्रीय शिक्षा देकर धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार

वेदों को सिखला देंगे। स्वामीजी ने यह भी कहा कि यदि इसके बाद भी बाबा साहब अपना हठ (आग्रह) न छोड़ेंगे, तो उस दशा में उनको तंग करना उचित न होगा, वरन् उनको महम्मदीय धर्म ग्रहण करने की आज्ञा देनी उचित होगी। बाबा साहब के पूज्य पिताजी ने इस बात को स्वीकार करके उनको स्वामीजी के सुपुर्द कर दिया, और स्वामीजी ने वात्सल्यभाव से बाबाजी को अपने पास रखकर पहले संस्कृत के अक्षर सिखलाए, फिर थोड़ा-सा व्याकरण पढ़ाकर उपनिषदों का अभ्यास कराना आरंभ किया। बाबा साहब की तीव्र बुद्धि की प्रशंसा पहले ही की जा चुकी है कि वह बड़े समझदार, सूक्ष्मदर्शी, और तीक्ष्ण बुद्धि थे। पूर्वजन्म के संस्कार उनके बलवान् थे और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में केवल क्षणिक आवरण शेष था जो थोड़े ही काल की शिक्षा से दूर हो गया, विवेक की शक्ति बढ़ गई, और स्वामीजी की कृपा से वह तत्त्ववेत्ता हो गये। अब जो विचार वैदिक धर्म के विरुद्ध उनको घेरे हुए थे, वे उपनिषदों के वेदांत-दर्शन की आँधी के आगे धुएँ के बादलों की तरह उड़ गये, और बाबा साहब ने उन विरोधी विचारों का खंडन स्वयं करना आरंभ कर दिया। इसके बाद स्वामीजी ने बाबा साहब को उनके पूज्य पिताजी के पास भेज दिया, जिन्होंने शास्त्रीय पद्धति के अनुसार बाबा साहब का प्रायश्चित्त कराकर उनको अपने परिवार में सम्मिलित कर लिया। दीवान रामजस साहब सी० एस० आई० रियासत कपूर्थला के प्रधान सचिव ने उनको अपनी अधीनता में [illegible] और इस नौकरी के अवसर में बाबा साहब को [illegible] विशेष प्रोत्साहित किया। कुछ दिनों में बाबा [illegible] और उनके धार्मिक [illegible] लोगों में [illegible]। अब महाराजा [illegible] (वर्तमान [illegible] सिंह

साहब, जी० सी० आई० ई० और के० सी० एस० आई० कपूर्थला नरेश के प्रपितामह) की चित्त वृत्ति का झुकाव, कुछ ईसाई मिशनरियों के संसर्ग के कारण, ईसाई धर्म की ओर हुआ, तो दीवान रामजस साहब ने बाबा साहब को दलील करने के लिये आज्ञा दी। बाबा साहब ने समस्त इंजील और अन्य ईसाई ग्रंथों का भली भाँति अध्ययन करके उनमें पर्याप्त अभ्यास प्राप्त कर लिया, और महाराजा रणधीरसिंहजी के सामने पादरियों के साथ बहस करके महाराजा साहब को पूर्ण निश्चय करा दिया कि ईसाई धर्म की अपेक्षा हिंदू-धर्म और सिक्ख धर्म का बाबा नानक साहब की वाणी के अनुसार, जैसा कि ग्रंथ साहब में लिखा है, श्रेष्ठत्व प्राप्त है। अतएव महाराजा साहब ईसाई-धर्म का ख़याल त्यागकर पूर्ववत् हिंदू और सिक्ख धर्म के अनुयायी रहे। बहुत समय तक बाबा साहब रियासत कपूर्थला कमिश्नरी जालंधर के वकालत पद पर काम करते रहे, और उसी पद पर पेंशन प्राप्त होने तक काम करते रहे। चूँकि इस पद पर भिन्न-भिन्न धर्मों के ग्रंथ और वेदांत-दर्शन के अध्ययन करने के लिये उनको यथेष्ट अवकाश मिलता था, इसलिये उन्होंने किसी और पद पर जाने की कभी इच्छा प्रकट नहीं की। सारे पंजाब और हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों में उनकी विद्या की पूर्णता की प्रसिद्धि हो गई, और दूर-दूर से बड़े-बड़े विद्वान् साधु-महात्मा और मौलवी लोग उनके पास बहस (वाद-विवाद) के लिये और उनकी बोध पूर्ण वक्तृता सुनने के लिये आया करते थे। यदि उनके समस्त भाषणों को एकत्रित किया जाय, तो कई जिल्दों में भी उनका लेखनी बद्ध होना कठिन प्रतीत होता है। बाबा साहब के रचित कतिपय ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनसे उनकी योग्यता और वर्णन शक्ति का परिचय मिल सकता है। बाबा साहब

वेदांत शास्त्र के पूर्ण आचार्य थे, और उपनिषदों के रहस्य के पूर्ण ज्ञाता थे। वेदांत-शास्त्र को पढ़ाने की उनमें विशेष योग्यता थी। जिस समय वह अपने शिष्यों को उपनिषदों की शिक्षा देते थे, उस समय उनके हृदयोद्वेग और विचारागमन (ख़याल के बहाव) की एक विचित्र दशा होती थी। कठिन से कठिन रहस्य को भी वह अत्यंत सरल शैली से या कथा-कहानी के रूप में वर्णन करके शिष्यों के हृदय में पूर्ण रूप से उसका चित्र अंकित कर देते थे। बाबा साहब ने सन् १८६१ ई० में मुझको इस "वेदानुवचन" के पढ़ने के लिये आज्ञा दी थी, और इच्छा प्रकट की थी कि इसकी भाषा को छपने से पूर्व देख लिया जाय। परंतु शोक कि उस समय सरकारी नौकरी के कामों की अधिकता के कारण मैं उनकी आज्ञा का पालन न कर सका। पहली बार इस ग्रंथ का प्रकाशन बाबू हरलाल साहब ने लाहौर में करने का इरादा किया, और लाला हरीचंद साहब रियासत कपूर्थला के दीवान ने, जो कि बाबा साहब के अनुयायी थे, मुझको इसकी प्रस्तावना लिखने को कहा था, किंतु बिना प्रस्तावना की प्रतीक्षा किये बाबू हरलाल ने इस अनमोल ग्रंथ को संस्कृत-भाषा के शब्दों की शुद्धि के बिना ही (जो कि उर्दू में लिखे जाने से ठीक पढ़े नहीं जा सकते थे) छपवा दिया। अब श्रीनारायण स्वामीजी साहब ने इसको दुबारा शुद्ध करके प्रकाशन करना अपने ज़िम्मे लिया है, और स्वामी साहब ने दीवान हरीचंद साहब की फ़रमायश के अनुसार मुझको इस वेदानुवचन की प्रस्तावना लिखने के लिये विवश किया है। मैं स्वामीजी साहब का अत्यंत कृतज्ञ हूँ कि उनकी प्रेरणाओं के कारण मैं अपने गुरुजी महाराज बाबा नगीनासिंह साहब की सेवा कर सकूँगा और प्रयत्न करूँगा कि इस प्रस्तावना में बाबा

साहब की शिक्षा का संक्षेप वर्णन करूँ, जिससे आत्म तत्त्व के जिज्ञासुओं को इस वेदानुवचन के समझने में सुगमता प्राप्त हो।

२६ दिसंबर, १६०६ हरनारायण



उर्दू की

तृतीयावृत्ति की भूमिका

(आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहब के सुयोग्य शिष्य राय हरनारायण साहब भूतपूर्व होम मिनिस्टर रियासत कश्मीर और वर्तमान ऐक्सट्रा असिस्टेंट कमिश्नर पंजाब की लेखनी से)

अत्यंत हर्ष का स्थान है कि "वेदानुवचन" का दूसरा संस्करण *हाथोंहाथ बिक गया और तीसरे संस्करण की बड़ी आवश्यकता* भान (महसूस) हो रही है। यद्यपि दूसरे संस्करण में श्रीस्वामी नारायणजी ने ग्रंथ की अशुद्धियों के सुधार करने का बड़ा प्रयत्न और परिश्रम किया, तो भी अशुद्धियाँ बहुत रह गईं, और कुछ वाक्य निरर्थक तथा अस्पष्ट प्रतीत होते थे, क्योंकि कुछ शब्द या तो लिखने में रह गए थे या प्राप्त हस्त-लिखित प्रति में अशुद्ध नकल किए हुए थे। स्वामी नारायणजी ने इस ग्रंथ के संशोधन का भार मुझे दिया और उनकी आज्ञा के अनुसार स्वर्गीय बाबा साहब के पुत्र बाबा देवराजजी से प्रार्थना की गई कि वह बाबा साहब के कर-कमलों से लिखे हुए कागज़ों की खोज करें जिससे वेदानुवचन की मौलिक-प्रति, जो बाबा साहब के कर-कमलों से लिखी गई हो, प्राप्त हो जाय। पाठकों को यह ज्ञात करके आनंद होगा कि इस प्रयत्न में कुछ सफलता हुई। बाबा देवराज और उनकी माताजी को धन्यवाद अर्पण किया जाता है कि उन्होंने असल लेख मेरे सुपुर्द कर दिये और उनमें एक भाग वेदानुवचन का भी बाबा साहब की लेखनी का मिल गया। इस हस्त-लिखित कापी की सहायता से बहुत-सी अशुद्धियाँ ठीक की गईं, और स्वर्गीय बाबा सा०

उन्होंने अपने जीवन में इस ग्रंथ के संशोधन करने के लिए मुझको दे रक्खी थीं, कुछ स्थलों पर कुछ शब्द, जो पुराने मुहावरे के अनुसार लिखे गये थे, उन्हें प्रचलित मुहावरे के अनुसार कर दिया गया है। और एक-दो स्थान पर अस्पष्ट भाषा को स्पष्ट कर दिया गया है। आशा है कि अब पढ़नेवालों को समझने में बहुत सुविधा होगी और कोई कठिनता सामने न आएगी।

मैं स्वामी नारायणजी का अंतःहृदय से कृतज्ञ हूँ कि उनकी बदौलत मैं उस सेवा को, जो बाबा साहब ने अपने जीवन में मेरे ज़िम्मे लगाई थी, पूर्ण करके गुरु ऋण से मुक्त हुआ हूँ। और जो दोष पुस्तक की प्रतिलिपि में अशुद्धियों के कारण प्रतीत होते थे, दूर हो गये। अब जब अवसर मिलेगा, मैं बाबा साहब की शेष रचनाओं को, जो अब तक अमुद्रित हैं और मेरे पास अस्तव्यस्त दशा में पहुँची हैं, अवलिखित करके प्रकाशन के लिये स्वामी नारायण के पास भेज दूँगा।

बाबा साहब की पहली प्रकाशित रचनाएँ, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी भिन्न भिन्न पुस्तकों में किया है, निम्नलिखित हैं—(१) जगत्-जीतप्रश्न, (२) मेयार-उल-मकाशफ़ा, (३) मजमुआ ए-ब्रह्मविद्या अथवा मरातुल मारफ़त, (४) रिसाला अजायबुल इल्म। और लगभग प्रत्येक रचना को उन्होंने आशीर्वाद से समाप्त किया है। विशेषतः रिसाला अजायबुल इल्म को वह यों समाप्त करते हैं कि "अब मैं रिसाला अजायबुल इल्म को समाप्त करता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ कि श्री ज्ञानदेव आप लोगों को अपने स्वरूप और प्रकाश में निमग्न कर दें और मुक्ति प्रदान करें। मुझको भी आशीर्वाद-पूर्वक स्मरण किया करना। शुभमस्तु। ॐ सच्चिदानंद परमात्मने

नम ।" आशा है कि बाबा साहब की रचनाएँ और आशीर्वादें अपना लाभदायक प्रभाव उत्पन्न किए बिना नहीं रहेंगी। ओशम्।

जालंधर
२३ अप्रैल, १६१३

हरनारायण

नोट—चूँकि सन् १६३० से पहले पहले राय हरनारायण साहब ने अपना भौतिक देह त्याग दिया था, इसलिए उर्दू पुस्तक की चौथी आवृत्ति पर उनकी लेखनी से भूमिका न लिखी जा सकी और न प्रकाशित हो सकी, केवल श्री आर० एस० नारायण स्वामी की ही लेखनी से इसकी चतुर्थ आवृत्ति पर भूमिका लिखी गई थी, जिसका अनुवाद इस आवृत्ति में दे दिया गया है।

प्रस्तावना

संस्कृत-भाषा में "वेद" शब्द के अर्थ हैं "वह जिससे जाना जाय" अर्थात् वह विद्या जिससे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो। परमात्मा का ज्ञान और साथ ही ज्ञान-प्राप्ति की विधि ऐसी बातें है कि जिनको मनुष्य अपनी बुद्धि से नहीं जान सकता। क्योंकि आत्मा कोई ऐसी वस्तु नहीं जो ज्ञानेंद्रियों या मन, बुद्धि का विषय होकर ख्याल में आ सके। आत्म-ज्ञान के प्राप्त करने में तीन प्रतिबंधक हैं—(१) पाप जिसको संस्कृत में 'मल' और उर्दू में कसाफत कहा करते हैं, (२) चित्त की चञ्चलता अर्थात् स्थिर होकर न रहना जिसको संस्कृतमें 'विक्षेप' और उर्दू में इतिशारे-तबीअत कहते हैं, और (३) अज्ञान का परदा जो आत्म-दर्शन अर्थात् ज्ञान में रुकावट करता है, इसको संस्कृत में 'आवरण' और उर्दू में हजाब कहते हैं। साधक को पहले मल का दूर करना आवश्यक है और उसके दूर करने का द्वार कर्म-कांड अर्थात् शुभ कर्म हैं। चूंकि मल तमोगुण का परिणाम है, अतः इसका दूर करना सतोगुण से ही हो सकता है। आत्म-दर्शन और ज्ञान का दूसरा प्रतिबंधक चित्त की चञ्चलता है। उसका उपाय यह है कि चित्त अर्थात् मन को रोक कर एक ख्याल पर लगाया जाय और क्रमशः ख्याल (वृत्ति) को बिलकुल रोका जाय, जिसको निर्विकल्प समाधि कहते है।

इस उपाय को संस्कृत मे उपासना भी कहते हैं। जब किसी व्यक्ति के पाप अर्थात् उसके मन की मलिनता दूर हो जाय, और उसका चित्त चंचल न हो, वरन् एकाग्र हो, अथवा विना किसी विचार के स्थिर रह सके, तो उस दशा में जो आत्मा से भिन्न अर्थात् अज्ञान का अनादि परदा पड़ा हुआ है, गुरु के वाक्य से दूर हो जाता है और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का हेतु होता है। उसका उदाहरण बुद्धिमान् लोग इस प्रकार देते हैं कि जैसे एक कलईदार मैला शीशा आपके सम्मुख पड़ा है, परन्तु मलिन होने के कारण आप उसमें अपना मुख नहीं देख सकते। परंतु यदि किसी प्रकार से उस मैल को उतार दिया जाय, तो फिर स्वच्छ दर्पण चेहरे के प्रतिबिंब को दिखलाने के योग्य हो जाता है, किंतु साथ ही इसके यदि इस स्वच्छ दर्पण को निरंतर हिलाया वा चेष्टावान् किया जाय और मुख के आगे ठहरने न दिया जाय, तो उसमें स्पष्ट प्रतिबिंब नहीं पड़ता, और मनुष्य अपने मुखचिह्न को स्पष्ट नहीं देख सकता। पर जब स्वच्छ दर्पण को चेहरे के सामने बिना हिलाये-डुलाये के रख दिया जाय, तो उसमें चेहरा साफ दिखाई देता है। तो भी अज्ञान के कारण इस बात का विश्वास नहीं होता कि जो प्रतिबिंब शीशे में दिखाई दे रहा है, वह देखनेवाले का ही ठीक स्वरूप है। ऐसे अवसर पर बुद्धिमान् पुरुष उस नासमझ को, जो अपना ही प्रतिबिंब देखकर आश्चर्यवान् हो रहा है और

उसको अन्य समझना है, इस प्रकार प्रबोध (आगाह) करता है कि जो कुछ दर्पण में तू देख रहा है, वह तेरा ही स्वरूप है तुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं, और उसके एक-एक मुखचिह्नों और गतियों को उस प्रतिबिंब में दिखाकर यह पूर्ण निश्चय करा देता है कि उस प्रतिबिंब और तेरे स्वरूप में कोई अंतर नहीं, वरन् ये दोनों वास्तव में एक ही हैं। तब तो समझी का परदा दूर हो जाता है और वह व्यक्ति कहने लगता है कि "हाँ, मैं अब समझ गया कि जो प्रतिबिंब मुझको दर्पण में दिखाई देता है, वह स्वयं मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न नहीं।" और फिर बच्चे की तरह प्रतिबिंबरूप को अन्य समझकर न तो प्रेम प्रकट करता है, और न उसको मारने दौड़ता है। इसी को संस्कृत में आत्मा का ज्ञान बोलते हैं। वेद भगवान में इन उपायों वा प्रक्रियाओं के वर्णन करने के लिये तीन विभिन्न भाग हैं। प्रथम भाग का नाम कर्मकांड है, दूसरे का नाम उपासनाकांड है, तीसरे का नाम ज्ञानकांड है। कर्मकांड की शिक्षा पर चलने से पाप दूर हो जाते हैं, और उपासना करने से अंतःकरण का विक्षेप अर्थात् मन की चंचलता दूर हो जाती है, और आचार्य के श्रीमुख से महावाक्य (कलामे-अजीम) को सुनने से मनुष्य ज्ञानवान् होकर "अहं ब्रह्मास्मि" का दावा करता है, और कहता है कि "ब्रह्म अर्थात् आत्मा से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं, मुझमें और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं।" वेद भगवान् चूँकि इस बात

की शिक्षा, जो कि मानवीय बुद्धि के अनुमान से बाहर है, देता है, इसलिये वेद के वाक्य को मानवीय रचना नहीं कहा जाता, वरन् ईश्वरीय वाणी के नाम से प्रसिद्ध किया जाता है। आज तक किसी ने इस बात का दावा नहीं किया कि वह वेद या वेद के किसी मंत्र का रचयिता है। प्रजापति जिसने संसार के आदि में पूर्ण ज्ञान द्वारा वेदों का प्रकाश किया, वह स्वयं कहते थे कि हमने इस वेद को ज्यों का त्यों (हूबहू) इसी तरह से उन ज्ञानवान् पुरुषो से सुना था जिन्होंने उनको पूर्व जन्म में इसकी शिक्षा दी थी। इससे सिद्ध होता है कि वेद को सदैव सुनते चले आये हैं, और कभी किसी ने इसके आविष्कर्त्ता होने का दावा नहीं किया। यही कारण है कि वेद के वाक्य को श्रुति अर्थात सुना गया वाक्य कहते हैं, और अन्य विद्वानों की रचनाओं को स्मृति कहते हैं, क्योंकि वे स्मरणशक्ति से लिखी गई हैं। मोटे तौर पर वेद के दो भाग गिने जाते हैं, एक कर्मकाड, दूसरा ज्ञानकाड, क्योंकि उपासनाकाड ज्ञानकाड के भीतर ही समझा जाता है। वेद और उपनिषदों में प्रथम कर्मकाड का वर्णन किया गया है, और अंतिम भाग में ज्ञान का। चूंकि ज्ञान का उपदेश प्राय वेदों के अतिम भाग में है, इसलिये ज्ञानकांड को वेदान्त अर्थात् वेद का अतिम भाग भी कहा जाता है।

वेदों की शिक्षा के अनुसार बाबा नगीनासिंह साहब

आत्मदर्शी ने अपनी इस पुस्तक "वेदानुवचन" में पहले इल्मे-मुआमला अर्थात् कर्मकांड की शिक्षा दी है और बाद में इल्मे-मुकाशफा अर्थात् ज्ञान का उपदेश दिया है। कर्मकांड में दिखलाया गया है कि मनुष्य किस प्रकार उत्पन्न होता है, और किन शुभकर्मों के करने से देवता बन जाता है, और किन कुकर्मों या पापों के कारण नरक से नाता करता है। उपनिषदों में जिनका अनुवाद राजा साहब ने वेदानुवचन में किया है, इस प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है कि मनुष्य अपनी रुचि और भावना के अनुसार कर्मों को करता है, मृत्यु के समय जीवात्मा मानवीय शरीर को जो उसका निवास-स्थान था, त्याग देता है। किंतु यह त्याग पूर्ण त्याग नहीं होता। जीवन में जीवात्मा अपने को शरीर से पृथक् नहीं समझता और शरीर के भीतर अपना विशेष संबंध मस्तिष्क से रखता है। मस्तिष्क इसका सिंहासन है जहाँ यह विराजमान होकर सब प्रकार का प्रबंध करता है। जिस समय मनुष्य के प्राणों का वियोग होता है और प्राणों का गमनागमन बंद हो जाता है, उस समय संसार के लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति मर गया, किंतु जीवात्मा उस देह से, जिसको जीवन में न केवल अपना निवास-स्थान वरन् अपना आप समझता था, बिलकुल संबंध नहीं त्यागता, और उदानवायु पर सवार हुआ उसके चारों ओर विद्यमान रहता है। वेद

के जाननेवाले ब्राह्मण इस जीवात्मा का देह से संबंध त्याग कराने की इच्छा से इस देह को अग्नि में जला देते हैं। उस समय इस देह के तीन भाग हो जाते हैं। प्रथम धुआँ, दूसरा जलती हुई अग्नि अर्थात् ज्वाला, तीसरा भस्म। पहले तो जीवात्मा अपना संबंध सारी देह से रखता था, परंतु अब इस देह के तीन भाग हो गए और वह बिलकुल पृथक्-पृथक्। इसलिये जिस भाग के साथ उसकी विशेष अभिरुचि होती है, उसके साथ संबंध उत्पन्न कर लेता है, और शेष दो भागों से विच्छेद करता है। यदि जीवात्मा कर्मकांडी रहा है, और सतोगुण का अंश उसमें अधिक है, तो वह अपना संबंध ज्वाला अर्थात् प्रज्वलित अग्नि से कर लेता है। यदि उसके कर्म जीवन-काल में उत्तम नहीं थे और वह पितृ आदि कर्म करता रहा था, तो धुएँ के साथ संबंध उत्पन्न कर लेता है। किंतु यदि उसके कर्म स्थूल तमोगुणवाले थे, तो वह अपना संबंध भस्म से उत्पन्न करता है। देह के जलाते समय भिन्न-भिन्न जीवात्मा का मार्ग भिन्न-भिन्न हो जाता है, और इस स्थान से जीवात्मा की गति आरंभ होती है। यदि जीवात्मा ऊर्ध्वगमन करता है, तो उसको ऊर्ध्वगति कहते हैं, यदि वह नीचे गिरता है, तो उसको अधोगति कहते हैं। धुएँ से संबंध उत्पन्न करने से उसकी गति धुएँ के साथ होती है। धुआँ पानी अर्थात् तरी वा रस से उत्पन्न होता है, और रसों का

देवता चंद्रमा है। तो जीवात्मा धुएँ से बादल और बादल से चंद्रलोक को पहुँचकर भोगों को भोगता है। परन्तु यदि इसी तरह से जब जीवात्मा अपना संबंध ज्वाला के साथ उत्पन्न करता है, तो ज्वाला से दिन और दिन से सूर्यलोक में प्राप्त होता है, और सूर्यलोक में देवता बनकर अपरिमित काल तक देवलोक के सुख भोगता है। किंतु जब तमोगुण के कारण जीवात्मा ऊर्ध्वगमन नहीं कर सकता है, तो अपना संबंध भस्म वा धूलि से उत्पन्न करता है। धूलि धरती पर वायु के द्वारा फैलकर नाना प्रकार की वनस्पति की वृद्धि का कारण होती है। इनको कच्ची या पक्की दशा में सृष्टि के नाना जीव-जंतु खाते हैं, और जीवात्मा उनसे संबंध पा जाता है। मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति इत्यादि को उपनिषदों में पंचाग्नि-विद्या के नाम से भी प्रकट किया गया है। और वह इस प्रकार वर्णन करते हैं कि पहले मनुष्य अन्न को खाता है, उससे वीर्य उत्पन्न होता है, और उस रेतस् (वीर्य) को मनुष्य स्त्री के गर्भाशय में आहुति के समान डालता है, जिससे बच्चा उत्पन्न होता है। जब यह मनुष्य मर जाता है, तो उसे अग्नि में जलाया जाता है, जो कि अग्नि में दूसरी आहुति है। फिर जीवात्मा चन्द्रलोक में आहुति होकर चंद्रवदन हो जाता है, और इसी तरह सूर्यलोक में आहुति होकर सूर्यवंश हो जाता है। इन दोनों लोकों में अपने कर्मों का फल भोगकर बादलों में लौटकर धरती में वर्षा के द्वारा

आहुति किया जाता है। इसका नाम पंचाग्नि-विद्या है, अर्थात् पहले वर्षा के द्वारा पृथ्वी-रूप अग्नि में आहुति, दूसरे वीर्य बनकर माता-रूपी अग्नि में आहुति होता है, तीसरे सामान्य अग्नि में देह की आहुति होता है, चौथे चंद्रलोक में और पाँचवें सूर्यलोक-रूपी अग्नि में आहुति किया जाता है। आवागमन का यह क्रम सदैव से जारी है, और संसार के अस्तित्व का कारण हो रहा है। कर्मकांड की शिक्षा से मनुष्य चद्रलोक और सूर्यलोक के सुखों की प्राप्ति कर सकते हैं, और सूर्यलोक से प्रजापति तक पहुँच सकते हैं। वहाँ प्रजापति के ज्ञानोपदेश करने से जन्म-मरण का बंधन कटकर मुक्ति प्राप्त हो सकती है। दूसरा लाभ कर्मकांड से यह मिलता है कि मनुष्यों के मन अर्थात् अंतःकरण का मल दूर होकर अंतःकरण शुद्ध (स्वच्छ) हो जाता है, और उपासना के द्वारा मन की स्थिरता लाभ करके ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो जाता है। इसलिये प्रथम भाग में वेद-शास्त्र की आज्ञानुसार शुभ कर्म करने की शिक्षा दी गई है। और यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विद्या भी बहुत भारी है। इसकी प्राप्ति से अपरिमित काल के लिये सुख और भोग मिलते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति को इस विद्या के प्राप्त करने में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि भोग और मुक्ति दोनों का यही एक द्वार है।

दूसरा भाग ज्ञानकांड

उपनिषदों में ब्रह्मविद्या (इल्मे-इलाही) विविध भाँति से (व)र्णन की गई है। जिनमें से कुछ एक विधियाँ बाबा नगीना-(सिं)ह साहब ने वेदानुवचन में बड़ी स्पष्टता के साथ वर्णन (क)ी हैं। परन्तु प्रत्येक उपनिषद् में एक विशेष बात (दृ)ष्टि में रक्खी गई है कि ज्ञान का उपदेश अधिकारी व्यक्ति (क)ो किया गया है। जिस-जिस योग्यता के शिष्य ब्रह्मविद्या (क)ः सीखने के लिये आचार्य के सम्मुख आये, उनको उनकी (ध)ारणा और समझ के अनुसार आचार्य ने उपदेश किया। (क)ठोपनिषद् में नचिकेता और यम का आख्यान वर्णन किया (ग)या है, जहाँ यमराज उपदेश करनेवाले थे और नचिकेता (ए)क छोटा लड़का, सरल स्वभाव, श्रद्धा से भरा हुआ और (मु)क्ति का इच्छुक था। केनोपनिषद् में देवताओं को, उमा-(रू)पी आचार्य ने यक्ष के उदाहरण से उपदेश किया। मुण्डको-(प)निषद् में आचार्य प्रजापति की ओर से उपदेश किया गया। (औ)र छांदोग्य तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में विविध अधि-(क)ारियों का उल्लेख किया गया है। 'नारद' ने जो विद्वान् (हो)ते हुए भी सनकादिक ऋषियों से उपदेश चाहा, तो (उ)न्होंने नारद से पूछा कि तुमने पहले कौन-कौन विद्या (सी)खी है। और इस बात से परिचित होकर कि नारद क्या (क्य)ा शिक्षा पा चुका था और अब क्या आवश्यकता शेष

थी, उसको उपदेश किया। याज्ञवल्क्य और राजा जनक के उपाख्यान में दिखलाया गया है कि राजा जनक को अपनी विद्या का अभिमान था, और याज्ञवल्क्य ने उसको उपदेश किया। राजा इंद्र और विरोचन की कहानी में दिखलाया है कि प्रजापति ने विरोचन को उसकी मूर्खता के कारण ब्रह्मविद्या का उपदेश करना व्यर्थ समझा, और इंद्र को बार बार करके १०१ वर्ष में ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। कहीं पर दिखलाया गया है कि आकाशवाणी से ज्ञान का उपदेश हो गया, या अग्नि शब्द से या बैल की आवाज से अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मविद्या प्राप्त हो गई। एक स्थान पर घमडी और अहंकारी पुत्र को पिता ने उपदेश किया, और एक अवसर पर याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को उपदेश किया है। कहीं-कहीं सीखनेवाले की योग्यता पर, बिना इस खयाल के कि वह किस जाति का है, उपदेश किया गया है। और श्वेताश्वतरोपनिषद् में उल्लेख है कि ब्रह्मवादी परस्पर बैठकर तर्क-वितर्क करने लगे, और बहस करते-करते अभीष्ट परिणाम पर पहुँच गए। दूसरे स्थान पर उल्लेख है कि ब्रह्मवादी ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास ब्रह्म को सीखने के लिये गए और उनके उपदेश से ब्रह्मवेत्ता हो गए। तात्पर्य यह कि ब्रह्मविद्या के अधिकारी प्रत्येक आयु के व्यक्ति बिना स्त्रीलिंग व पुलिंग के विवेक के और बिना इस बात के विचार के कि वे मनुष्य थे या देवता, ऋषि-मुनि

थे या गृहस्थ, या संन्यासी, सब विना वर्णाश्रम के विचार के समझे गए हैं। और अधिकारी के सिवा किसी और को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना नितांत वर्जित किया गया है। और कहीं-कहीं यह कहा गया है कि सिवाय पुत्र के या किसी ऐसे शिष्य के कि जो गुरु को पिता के तुल्य समझता हो, इस विद्या को प्रकट न करना चाहिए। और इस विद्या को प्राय गुप्त रहस्य कहा गया है। और जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, इस विद्या के उपदेश के लिये आचार्य लोग विविध शैलियाँ ग्रहण करते रहे हैं।

इससे प्रथम कि ब्रह्मज्ञान के विषय में सविस्तर कुछ लिखा जाय, कुछ बातें संसार और मनुष्य की उत्पत्ति के संबंध में वेदशास्त्रों के अनुसार वर्णन करना आवश्यक है, जिनको विस्तार-सहित बाबा साहब ने उपनिषदों के लेखानुसार वेदानुवचन में अंकित किया है।

संसार और मनुष्य की उत्पत्ति

संसार की सृष्टि को यदि ध्यान से देखा जाय, तो विदित होगा कि प्रत्येक वस्तु जड़ या चेतन अर्थात् वनस्पति-वर्ग, धातुवर्ग व प्राणिवर्ग सब मिश्रित अर्थात् विविध तत्त्वों से बनी हुई है। इन तत्त्वों को यदि सूक्ष्म दृष्टि से छाँटा जाय, तो केवल पाँच तत्त्व ही रह जाते हैं—(१) पृथ्वी अर्थात् स्थूल या जड़तत्त्व, (२) जल अर्थात् बहने-

थी, उसको उपदेश किया। याज्ञवल्क्य और राजा जनक के उपाख्यान में दिखलाया गया है कि राजा जनक को अपनी विद्या का अभिमान था, और याज्ञवल्क्य ने उसको उपदेश किया। राजा इन्द्र और विरोचन की कहानी में दिखलाया है कि प्रजापति ने विरोचन को उसकी मूर्खता के कारण ब्रह्मविद्या का उपदेश करना व्यर्थ समझा, और इंद्र को चार बार करके १०१ वर्ष में ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। कहीं पर दिखलाया गया है कि आकाशवाणी से ज्ञान का उपदेश हो गया, या अग्नि शब्द से या बैल की आवाज से अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मविद्या प्राप्त हो गई। एक स्थान पर घमंडी और अहंकारी पुत्र को पिता ने उपदेश किया, और एक अवसर पर याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को उपदेश किया है। कहीं-कहीं सीखनेवाले की योग्यता पर, बिना इस ख़याल के कि वह किस जाति का है, उपदेश किया गया है। और श्वेताश्वतरोपनिषद् में उल्लेख है कि ब्रह्मवादी परस्पर बैठकर तर्क-वितर्क करने लगे, और बहस करते-करते अभीष्ट परिणाम पर पहुँच गए। दूसरे स्थान पर उल्लेख है कि ब्रह्मवादी ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास ब्रह्म को सीखने के लिये गए और उनके उपदेश से ब्रह्मवेत्ता हो गए। तात्पर्य यह कि ब्रह्मविद्या के अधिकारी प्रत्येक आयु के व्यक्ति बिना स्त्रीलिंग व पुलिंग के विवेक के और बिना इस बात के विचार के कि वे मनुष्य थे या देवता, ऋषि-मुनि

थे या गृहस्थ, या संन्यासी, सब बिना वर्णाश्रम के विचार के समझे गए हैं। और अधिकारी के सिवा किसी और को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना नितांत वर्जित किया गया है। और कहीं-कहीं यह कहा गया है कि सिवाय पुत्र के या किसी ऐसे शिष्य के कि जो गुरु को पिता के तुल्य समझता हो, इस विद्या को प्रकट न करना चाहिए। और इस विद्या को प्राय गुप्त रहस्य कहा गया है। और जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, इस विद्या के उपदेश के लिये आचार्य लोग विविध शैलियाँ ग्रहण करते रहे हैं।

इससे प्रथम कि ब्रह्मज्ञान के विषय में सविस्तर कुछ लिखा जाय, कुछ बातें ससार और मनुष्य की उत्पत्ति के सबध में वेदशास्त्रों के अनुसार वर्णन करना आवश्यक है, जिनको विस्तार-सहित बाबा साहब ने उपनिषदों के लेखानुसार वेदानुवचन में अंकित किया है।

संसार और मनुष्य की उत्पत्ति

ससार की सृष्टि को यदि ध्यान से देखा जाय, तो विदित होगा कि प्रत्येक वस्तु जड या चेतन अर्थात् वनस्पति-वर्ग, धातुवर्ग व प्राणिवर्ग सब मिश्रित अर्थात् विविध तत्त्वों से बनी हुई है। इन तत्त्वों को यदि सूक्ष्म दृष्टि से छाँटा जाय, तो केवल पाँच तत्त्व ही रह जाते हैं—(१) पृथ्वी अर्थात् स्थूल या जडतत्त्व, (२) जल अर्थात् बहने-

वाला द्रवतत्त्व, (३) अग्नि अर्थात् उष्णता, (४) वायु अर्थात् उड़नेवाला तत्त्व, (५) आकाश अर्थात् पोलापन जिसमें समस्त वस्तुओं को स्थान या निवास मिलता है। मिश्र होना ही इस बात का प्रमाण है कि किसी समय इसके परमाणु अमिश्रित अवस्था में पृथक् थे। अत इससे परिणाम निकलता है कि भौतिक जगत् में तत्त्वो का मिश्रित रूप प्रकट होने से पहले उनके परमाणु अमिश्रित अवस्था में विद्यमान थे। उस अवस्था का नाम विविध रूप से वर्णन किया गया है। वेदों में इसके संबंध में कथा है कि ईश्वर पहले एकमेवाद्वितीयम् (वाहदुलाशरीक), निर्विकार, निरवयव अर्थात् क्यों कव से रहित अवस्था में, सारे ससार के उपादान को अपने में लय किए हुए, जैसा कि मनुष्य सुषुप्ति की दशा में होता है, स्थित था। उस अवस्था से उठने के साथ ही इच्छा हुई कि "मै एक हूँ, अनेक हो जाऊँ।" यहाँ 'इच्छा' शब्द का अर्थ (तात्पर्य) स्वाभाविक प्रवृत्ति है, न कि ऐसी इच्छाएँ जो आवश्यकता के कारण मनुष्य के मन मे उत्पन्न हुआ करती हैं।

जैसे जलाना अग्नि का स्वाभाविक धर्म है, इसी तरह मोती का चमकना, तारों का दमकना और सूर्य का प्रकाशित होना स्वाभाविक है। तो भी कहा जाता है कि सूर्य प्रकाश दे रहा है, अग्नि जला रही है, मोती चमक रहा है। जो गुण स्वाभाविक होता है, वह अपने स्पष्ट होने में किसी

दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु चूँकि गुण क
स्थिरता गुणी में होती है, इसलिये गुण चाहे गुणी का तद्रू
ही हो, तो भी गुणी को बातचीत में उस गुण का स्वामी य
कर्त्ता कहा जाता है। इसलिये यद्यपि ईश्वर के स्वरूप मे
यह गुण स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान है कि
जिसमें एक समय संसार लय होकर रहे और दूसरे समय
प्रकट हो जाय—जैसे कि एक समय मकड़ी अपने भीतर से
जाले को निकालती है और दूसरे समय उस जाले को
निगलकर अपने में लय कर लेती है—तो भी उस ईश्वर
को, जिसका यह स्वाभाविक गुण है, उत्पत्तिकर्त्ता और
प्रलयकर्त्ता के नाम से उपमा दी जाती या वर्णन किया जाता
है। इसी तरह सांसारिक प्रकृति (तत्त्व) के विकास को
उत्पत्ति और उसके लय को प्रलय कहते हैं। अब जब
उत्पत्ति का समय आया, तो अहंकार उत्पन्न हुआ जिसे
उर्दू में अनानियत कहते हैं। इस अहंकार ने सामूहिक रूप
से सांसारिक प्रकृति के अस्तित्व को स्थिर कर दिखाया है।
अब इच्छा यह थी कि "एक से अनेक हो जाऊँ", तो इस
सामूहिक तत्त्व या समष्टि प्रकृति में, जिसमें नाना भेदों की
कोई पहचान न थी, भेद उत्पन्न हुआ, अर्थात् विवेक बुद्धि
उत्पन्न हुई। इसने सामूहिक या समष्टि अवस्था को भंग
कर दिया और परिणाम यह हुआ कि इसमें से आकाश
प्रकट हुआ। आकाश में वायु गति रूप होकर चलने लगा,

चलने की गति से उष्णता उत्पन्न हुई, और उष्णता के विद्यमान होने से जो वायु में तरावट या नमी का तत्त्व था, पानी होकर बह गया। और पानी जब ठहर गया, तो इसमें से पृथ्वी तत्त्व अर्थात् जड़ पदार्थ की उत्पत्ति हुई। अब भी हम देखते हैं कि जड़ पदार्थ, जैसे वृक्ष या अन्य वनस्पतियाँ जिनसे अन्न उत्पन्न होता है, वर्षा और जल से उत्पन्न होते हैं, जल के बिना ये स्थूल पदार्थ स्थिर नही रह सकते, और जल के नष्ट होने पर स्थूल वस्तुएँ शुष्क होकर विकीर्ण और विलुप्त हो जाती हैं। जल की स्थिरता उष्णता पर अवलंबित है। जब उष्णता पूर्णानुमान पर होती है, तो आकाश से विविध रूप में वर्षा होती है। अग्नि की उत्पत्ति और स्थिति वायु से है, क्योंकि वायु के बिना अग्नि नहीं जलती। और यदि वायु को अग्नि से पृथक् किया जाय, तो अग्नि तत्काल बुझ जाती है। अत सिद्ध हुआ कि वायु से ही अग्नि की उत्पत्ति है। हवा की स्थिति आकाश में है, क्योंकि यदि आकाश विद्यमान न हो, तो वायु गति नहीं कर सकती। जब ये पाँच तत्त्व पृथक् हुए, तो उनकी पारस्परिक रचना या उत्पत्ति आरंभ हुई, जिसको संस्कृत में पंचीकरण कहते हैं। अर्थात् पृथ्वी में आधा भाग पृथ्वी-तत्त्व का और आधा शेष चारों तत्त्वों का है, इसी तरह से जल में आधा भाग जल-तत्त्व का और शेष आधा चारों तत्त्वों का है, इसी तरह अन्य तत्त्वों की दशा है। इस रचना

या प्रक्रिया से ये पाँच सूक्ष्म तत्त्व स्थूल हो गए और उनका रूप प्रकट हो गया, अन्यथा वे सूक्ष्म अवस्था में दिखने में नहीं आ सकते थे। पृथ्वी तत्त्व से सूँघने का करण (साधन) अर्थात् नासिका उत्पन्न हुई, जल से रस अर्थात् स्वाद, अग्नि से रूप, वायु से स्पर्श और आकाश से शब्द उत्पन्न हुआ। शब्द से कान, स्पर्श से त्वचा, रूप से चक्षु, रस से जिह्वा और गंध से नाक बने। इनको पंचज्ञानेंद्रियाँ (हवासे-ख़मसा) कहते हैं। फिर इनसे पाँच स्थूल इंद्रियाँ अर्थात् कर्मेंद्रियाँ उत्पन्न हुईं, अर्थात् पाँव चलने के लिये, गुदा मल-त्याग के लिये, जननेंद्रिय मूत्र और वीर्य गिराने के लिये, हाथ काम-धंधा करने के लिये, और मुँह खाने के लिये बने, ये कर्मेंद्रियाँ कहलाती हैं। इन ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों की स्थापना के लिये देवताओं की आवश्यकता हुई, जिनके बिना ये अपने काम को नहीं कर सकतीं। तत्त्वों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक के तीन-तीन गुण हैं जिनको सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण कहा जाता है। सतोगुण का स्वभाव प्रकाशमय और हल्कापन है, रजोगुण का स्वभाव गतिशील होना है और तमोगुण का स्वभाव अंधकार या आवरणरूप और भारीपन है। इन पाँचों तत्त्वों के सतोगुण अंश से अंतःकरण की उत्पत्ति वर्णन की जाती है, और तमोगुण अंश से स्थूल देह की। रजोगुण अंश दोनों गुणों को गतिशील करनेवाला है। वायु जिसके अर्थ

चलना है, वह प्राण-रूप होकर पाँच प्रकार मे विभक्त हुआ है। अन् शब्द का अर्थ संस्कृत में चलना है और प्राण शब्द का अर्थ भली भाँति चलना। जो नाक और मुँह में चलता है, उसको प्राण कहते हैं, जो भोजन को नीचे पक्वाशय में ले जाकर मल बाहर गिराता है, उसको अपान कहते हैं, और जो भोजन को पचाकर देह का अंश बनाता है, उसको समान कहते हैं, जिसकी विद्यमानता से विविध अंग गतिशील होते हैं, उसको व्यान, और मरने पर जीवात्मा जिसके साथ उड़ता है, उसको उदान कहते हैं। अंत करण चार भागों में विभक्त हुआ है, अर्थात् उसके चार रूप दिखाई देते हैं। एक मन जो ज्ञानेंद्रियों के द्वारा अनुभव की गई वस्तुओं का खयाल करता है, दूसरी बुद्धि, जो उन वस्तुओं और पूर्व ख़यालों व संकल्पों में भले-बुरे का विवेक करती है, तीसरे चित्त जो बाह्य करणों (साधनों) की अनुपस्थिति में पहली देखी-सुनी वस्तुओं को स्मरण करता है, चौथे अहकार, जिसकी विद्यमानता में अत करण अपना कार्य करता है। अंत करण वास्तव में पंचतत्वों का एक दिव्य वा प्रकाशमय पुतला है, जिसमें आत्मा का प्रकाश देदीप्यमान होता है। उसको सस्कृत म प्रतिबिंब (अक्स) बोलते हैं, और इसी को जीवात्मा कहते हैं। बिंब अर्थात् प्रतिबिंब का स्वामी आत्मा है। वेद में आख्यान है कि आरभ मं प्रजापति इस प्रकार प्रकट हुआ जैसे चने का दाना होता है, अर्थात् दो

फाँकें जुदी हुईं। उसने अपने आपको देखा और कहा कि "मैं हूँ", इसलिये उसका नाम "अहं" अर्थात् "मैं" हो गया। अब भी जब कोई मनुष्य दूसरे को पुकारता है और पूछता है कि तू कौन है, तो वह उत्तर देता है कि "मैं हूँ"। फिर प्रजापति को अकेला होने के कारण भय उत्पन्न हुआ। अब भी जब मनुष्य अकेला होता है, तो भयभीत हो जाता है। फिर प्रजापति ने विचार किया कि सिवाय मेरे दूसरा कोई नहीं, और भय सदैव दूसरे से होता है, अतः भय दूर हो गया। अब भी जब भय होने पर मनुष्य खयाल करता है कि दूसरा कोई नहीं, तो भय दूर हो जाता है। फिर प्रजापति ने कहा कि मुझ अकेले को कोई धंधा नहीं, दूसरे के बिना कोई धंधा सुख या प्रमोद का कारण नहीं। अब भी मनुष्य का स्वभाव यही है कि जब अकेला होता है, तो उदास होता है। इस विचार के उत्पन्न होने के साथ प्रजापति के दो भाग हो गए। एक भाग पुरुष जिसको मनु कहते हैं, और दूसरा स्त्री जिसको शतरूपा कहते हैं। ये दोनों प्रकट हुए। इस पुरुष ने स्त्री के साथ भोग किया, जिससे मानवीय संतति उत्पन्न हुई। ये पुरुष और स्त्री अर्थात् मनु और शतरूपा चूँकि प्रजापति से प्रकट हुए थे और गत जन्मों के पुण्य कर्मों के फलों से संपन्न होकर पूर्ण समर्थवान् थे। इसलिये शतरूपा ने भोग के इस निरंतर कर्म से खिन्न होकर चाहा कि किसी प्रकार मनु उसका पीछा छोड़

दे। तब उसने अपने स्वरूप को बदलकर गाय, घोड़ी आदि विविध स्त्री-शरीरों को धारण किया। परंतु मनु जो विषय-कामना से विवश हुआ था, उसने उसका पीछा न छोड़ा, और जिस-जिस पशु-पक्षी की आकृति शतरूपा धारण करती गई, मनु उसके नर-रूप को धारण करता गया। इस प्रकार नाना जीवों की उत्पत्ति होती गई। अंतत शतरूपा ने स्त्री के रूप को ग्रहण किया और मनु ने पुरुष के रूप को। उस समय थककर मनु के मन में सोच-विचार उत्पन्न हुआ कि वह क्या था और उसने क्या कर्म किए, और किस लिये उसका जन्म हुआ था। तब उसने यज्ञ रचा, और विधिपूर्वक अर्थात् नियमानुसार विवाह करके संतान उत्पन्न की। उपनिषदों और पुराणों में संसार, मनुष्य तथा पशुओं की उत्पत्ति विविध भाँति से वर्णन की गई है। परतु परिणाम सबका एक ही है, कि एक समय ऐसा था कि जब दुनिया वर्तमान रूप में न थी, पश्चात् क्रमश' उत्पत्ति मिश्रित रूप की हुई, और वृद्धि-पुष्टि होती गई। और वृद्धि वा अभ्युदय हो जाने के पश्चात् फिर पतन होकर एक दिन आएगा कि फिर समस्त मिश्रित तत्त्व वियुक्त होकर पृथक्-पृथक् हो जायँगे, वर्तमान रूप नष्ट हो जायगा, जिसको प्रलय कहते हैं, और इसी ढंग से वह सिलसिला चलता रहेगा। मानो यह ईश्वर का स्वाभाविक गुण है, जैसा कि तारों की डगमगाहट होती है, अर्थात् एक बार फैलना,

दूसरी बार सुकड़ना, या जैसे सूर्य का उदय और अस्त, या मनुष्य का सोना और जागना। इसी प्रकार ईश्वर में एक बार जगत् का प्रादुर्भाव और दूसरी बार उसका लोप होना सदैव होता रहता है और होता रहेगा।

ब्रह्मज्ञान

जैसे पहले वर्णन हो चुका है कि उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का उपदेश विविध अधिकारियों को विविध रीतियों से किया गया है। इस उपदेश का तात्पर्य आत्मा की पहचान है। आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप है और शेष समस्त वस्तुएँ, जो आत्मा से अन्य (विलक्षण) हैं, जड़ या अनात्मा कहलाती हैं। जो व्यक्ति आत्मा और अनात्मा के भेद को जानता है, उसी को आत्मज्ञानी या ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। जो सर्वव्यापक हो और वस्तु का तत्त्व (असली स्वरूप) हो, उसको आत्मा कहते हैं। वह चूँकि सर्वव्यापक है, इसलिये वह सर्वत्र विद्यमान है, अतः खोजने से वह प्रत्येक स्थान और प्रत्येक अवसर पर मिल सकता है। इसलिये उसकी खोज की सर्वश्रेष्ठ विधि अपने तन में ही हो सकती है। मानवीय शरीर में जो भाग स्थूल, ठोस और जड़ दिखाई देता है, उसको अन्नमय कोश कहते हैं। यह मानवीय शरीर में पहला आवरण (कोश) आत्मा पर है, और यह आत्मा इस अन्नमय कोश में व्यापक है, और इसी कोश की स्थिति का

कारण है। इस अन्नमय कोश के भीतर हम देखते हैं कि प्राणों का गमनागमन है। यह प्राण सारे अन्नमय कोश के भीतर फैले हुए हैं। देह के जिस भाग में प्राण की गति नहीं रहती, वह भाग जड़ या मृतक हो जाता है। देह में जितनी चेष्टा या गति होती है, उस सबका कारण प्राणमय कोश है। इसी की बदौलत खून चलता है और देह में गति होती है। यह दूसरा आवरण प्राणमय कोश के नाम से प्रसिद्ध है। आत्मा इसमें व्यापक है। और यह (प्राणमय कोश) स्वयं अन्नमय कोश में व्यापक है। इन कोशों के भीतर एक और आवरण वा कोश देह में विद्यमान है, जो इनसे बढ़कर है, और जिसको मनोमय कोश कहते हैं। क्योंकि मन के अधीन ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ काम करती हैं। पूर्व कोशों के अनुसार इसमें भी आत्मा व्यापक है। और यह तीसरा आवरण आत्मा को ढाँपे हुए इस तन में विद्यमान है। और यह स्वयं पहले दो कोशों अर्थात् अन्नमय कोश और प्राणमय कोश में व्यापक है। इसके भीतर एक चौथा आवरण विद्यमान है, जो इनसे उत्तमतर है, और जिसको विज्ञानमय कोश कहते हैं। इसके अधीन मनोमय और प्राणमय कोश हैं, क्योंकि जिस व्यक्ति में विज्ञान बलवान् है, वह मन और प्राणों की गति को रोक सकता है। आत्मा इसमें व्यापक है, और आत्मा की विद्यमानता से इसकी स्थिति है। और, यह स्वय पहले तीन कोशों में

व्यापक है। इसके भीतर यह पांचवां आवरण है, जिसको आनन्दमय कोश कहते हैं। जिस समय स्वप्नरहित नींद में मनुष्य होता है, तो जागकर वर्णन करता है कि मैं बड़े आनन्द में था। उस दशा में जब कि समस्त गति और गति को वश में (अर्थात्) दूसरे चारों कोश निवृत्त थे, तो इस आनन्दमय कोश के आधार से इस शरीर की स्थिति थी। आत्मा इस कोश में व्यापक है, और उसकी बदौलत इस कोश की स्थिति है। यह कोश शेष चार कोशों में व्यापक और उनकी स्थिति का हेतु है। इन कोशों में व्यापक होता हुआ भी आत्मा इन कोशों से असंग और निःसंबंध है। इसका व्यक्तिगत उदाहरण यह हो सकता है कि किसी बहुमूल्य वस्तु के ऊपर पांच गिलाफ (आवरण) चढ़े हुए हों, तो यद्यपि ये आवरण अपनी विद्यमानता और स्थिति में उस वस्तुविशेष के अधीन होते हैं, किंतु उस वस्तु को अपने अस्तित्व के लिये आवरणों की अधीनता नहीं होती, और न आवरणों के कारण वह वस्तु उनके साथ कोई ऐसा संबंध उत्पन्न करती है कि उनकी पृथक्ता से उसमें कोई दोष उत्पन्न हो जाय।

इसी प्रकार आत्मा को माण्डूक्योपनिषद् में जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं से असंग अर्थात् निःसंबंध बड़ी स्पष्टता से दिखलाया है। देखो, जब मनुष्य जागता है, जीवात्मा जाग्रत् का द्रष्टा होता है, जब जाग्रत्

की जगह स्वप्न की अवस्था होती है, तो उस दशा में स्वप्न की दशा का साक्षी होता है, और जब गहरी अर्थात् स्वप्नहीन निद्रा की दशा होती है, तो आनंद और बेखबरी का साक्षी होता है, अर्थात् जाग्रत् की दशा में जीवात्मा स्वप्नवाली और स्वप्नहीन निद्रा की अवस्थाओं के अधीन नहीं होता। जब सोया हुआ स्वप्न देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्नरहित निद्रा की दशाओं के अधीन नहीं होता। और जब स्वप्नरहित निद्रा की दशा को देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्न की दशाओं के अधीन नहीं होता। अत सिद्ध हुआ कि यह आत्मा प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक तीनों दशाओं से पृथक् तथा नि संबंध और निराश्रय या स्वाधीन है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अपनी स्थिति और विद्यमानता के लिये जीवात्मा के अधीन हैं, किंतु जीवात्मा अपने अस्तित्व की स्थिति के लिये किसी अवस्था के अधीन नहीं। यह सत्य है कि जीवात्मा को इन अवस्थाओं से पृथक् हमने कभी नहीं देखा, जब देखा, तो किसी न किसी अवस्था में विद्यमान देखा, तो भी यह भली भाँति सिद्ध है कि जीवात्मा, जो एक समय केवल अपनी एक अवस्था में विद्यमान होता है, उस अन्य दो अवस्थाओं से बिलकुल असग होता है। इसी तरह जब दूसरी अवस्था मे विद्यमान होता है, उस समय पहली और तीसरी अवस्था से असग होता है, और जब तीसरी

अवस्था म विद्यमान होता है, तो पहली और दूसरी अवस्था से असग होता है। अत प्रत्येक अवस्था म वह असग और स्वत स्थित रहता है। इस जीवात्मा में कोई परिवर्तन या विकार उत्पन्न नही होता, अवस्थाओं म परिवर्तन होता है। जैसे एक प्रोफेसर एक कमरे में बैठकर शिक्षा देता है, और चार विभिन्न श्रेणियाँ विभिन्न समयो पर उससे शिक्षा पाती हैं, एक समय पहली श्रेणी उससे शिक्षा प्राप्त करती है, फिर वह चली जाती है और दूसरी श्रेणी उस कमरे में प्रोफेसर के सम्मुख आ उपस्थित होती है, और कहा जाता है कि प्रोफेसर शिक्षा दे रहा है, इसी तरह से तीसरी और चौथी श्रेणी एक के बाद दूसरी (आती और शिक्षा पाती है)। चारों श्रेणियों के परिवर्तन-काल में प्रोफेसर ज्यों का त्यों अपने कमरे में स्थित बैठता है, परन्तु विभिन्न श्रेणियाँ उसके सम्मुख आती है और उनमें से किसी न किसी श्रेणी के साथ उसका सबध वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार से जीवात्मा सदैव असग विद्यमान रहता है और उसके सम्मुख जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक अवस्था के साथ उसका क्षणिक सबध वर्णन किया जाता है, यद्यपि वास्तव में आत्मा असग और नि सबध होता है। आत्मा की यह खोज मानवीय देह में की गई है, और आत्मा को देह से पृथक् करके दिखलाया है। इसी ढंग पर यदि शेष वस्तुओं

की जगह स्वप्न की अवस्था होती है, तो उस दशा में स्वप्न की दशा का साक्षी होता है, और जब गहरी अर्थात् स्वप्नहीन निद्रा की दशा होती है, तो आनन्द और वेखवरी का साक्षी होता है, अर्थात् जाग्रत् की दशा में जीवात्मा स्वप्नवाली और स्वप्नहीन निद्रा की अवस्थाओं के अधीन नहीं होता। जब सोया हुआ स्वप्न देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्नरहित निद्रा की दशाओं के अधीन नहीं होता। और जब स्वप्नरहित निद्रा की दशा को देखता है, तो जाग्रत् और स्वप्न की दशाओं के अधीन नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि यह आत्मा प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक तीनों दशाओं से पृथक् तथा निःसंबंध और निराश्रय वा स्वाधीन है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाएँ अपनी स्थिति और विद्यमानता के लिये जीवात्मा के अधीन हैं, किंतु जीवात्मा अपने अस्तित्व की स्थिति के लिये किसी अवस्था के अधीन नहीं। यह सत्य है कि जीवात्मा को इन अवस्थाओं से पृथक् हमने कभी नहीं देखा, जब देखा, तो किसी न किसी अवस्था में विद्यमान देखा, तो भी यह भली भाँति सिद्ध है कि जीवात्मा, जो एक समय केवल अपनी एक अवस्था में विद्यमान होता है, उस अन्य दो अवस्थाओं से बिलकुल असंग होता है। इसी तरह जब दूसरी अवस्था में विद्यमान होता है, उस समय पहली और तीसरी अवस्था से असंग होता है, और जब तीसरी

अवस्था में विद्यमान होता है, तो पहली और दूसरी अवस्था से असग होता है। अत प्रत्येक अवस्था में वह असग और स्वत स्थित रहता है। इस जीवात्मा मे कोई परिवर्तन या विकार उत्पन्न नहीं होता, अवस्थाओं मे परिवर्तन होता है। जैसे एक प्रोफेसर एक कमरे में बैठकर शिक्षा देता है, और चार विभिन्न श्रेणियाँ विभिन्न समयों पर उससे शिक्षा पाती हैं, एक समय पहली श्रेणी उससे शिक्षा प्राप्त करती है, फिर वह चली जाती है और दूसरी श्रेणी उस कमरे में प्रोफेसर के सम्मुख आ उपस्थित होती है, और कहा जाता है कि प्रोफेसर शिक्षा दे रहा है, इसी तरह से तीसरी और चौथी श्रेणी एक के बाद दूसरी (आती और शिक्षा पाती है)। चारों श्रेणियों के परिवर्तन-काल मे प्रोफेसर ज्यों का त्यों अपने कमरे में स्थित बैठता है, परतु विभिन्न श्रेणियाँ उसके सम्मुख आती है और उनमें से किसी न किसी श्रेणी के साथ उसका सबध वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार से जीवात्मा सदैव असग विद्यमान रहता है, और उसके सम्मुख जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के परिवर्तन होते रहते है। प्रत्येक अवस्था के साथ उसका क्षणिक सबध वर्णन किया जाता है, यद्यपि वास्तव में आत्मा असग और नि सबध होता है। आत्मा की खोज मानवीय देह में की गई है, और आत्मा को पृथक् करके दिखलाया है। इसी ढग पर यदि शेष

की खोज (जाँच-पड़ताल) करें, तो परिणाम ऐसा ही हाथ लगेगा। दृष्टांत-रूप से जैसे हम एक लाठी या एक पत्थर के टुकड़े की परीक्षा करें, तो ज्ञात होगा कि लाठी का जो रूप आँख के द्वारा दिखाई देता है, वह लाठी के ऐसे गुण हैं जो नेत्र के ज्ञान में आ सकते हैं। इसी तरह जो गुण शब्द इत्यादि कानों से सुने जाते हैं, वह कान के ज्ञान में आने-वाले हैं, जो स्वाद से संबंध रखते हैं, वह जिह्वा से जाने जा सकते हैं, वैसे ही जो नाक से जाने जा सकते हैं और जो त्वक् से ज्ञात हो सकते हैं, वह सब लाठी के गुण हैं, (पर वे) लाठी नहीं हैं। क्योंकि जो कुछ हमने आँखों से देखा, वह रंग और रूप था, जो कानों से सुना, वह उसका शब्द था, जो जिह्वा से अनुभव किया, वह उसका स्वाद था, जो त्वक् से ज्ञात किया, वह उसकी कोमलता और कठोरता इत्यादि गुण थे। जो नाक से सूँघा गया, वह उसकी गंध थी। अत जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात हुआ, वह सब लाठी के गुण थे, लाठी नहीं थी। इसी तरह जो लाठी के गुण मन के द्वारा ज्ञात हुए, वह भी सब लाठी के गुण हैं, लाठी नहीं हैं, इसी तरह जो गुण अभी तक प्रकट नहीं हो चुके हैं और अप्रकट हैं, वह भी गुण ही हैं, लाठी नहीं हैं। अतएव जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात हुआ या मन के द्वारा जाना गया, या जो अभी तक अप्रकट हैं, वह सब गुण ही हैं, लाठी नहीं हैं। असल लाठी अर्थात् आत्मा तो मन

और वाणी से परे है, इसलिये जाना नहीं जा सकता। जो कुछ जाना गया वे केवल गुण हैं, वस्तु की लंबाई-चौड़ाई हैं, वस्तु स्वयं नहीं हैं, गुण-मात्र हैं, वास्तविक वस्तु नहीं हैं, और अपनी विद्यमानता में वे लाठी के अस्तित्व के अधीन हैं, किंतु लाठी उन गुणों के अधीन नहीं है, क्योंकि जब वृक्ष उत्पन्न नहीं हुआ था, और केवल बीज ही विद्यमान था, तो जो गुण लाठी के हमने ज्ञानेंद्रियों और मन के द्वारा मालूम किए, वे विद्यमान नहीं थे। और जब बीज से वृक्ष उत्पन्न होकर लाठी के गुण विद्यमान हुए, तो लाठी उन गुणों की, जो बीज की दशा में अप्रकट थे, अधीन न रही, और जब फिर लाठी को जला दिया जाय, तो दोनों पूर्व के गुण लुप्त हो जाते हैं, तो भी लाठी का अस्तित्व अर्थात् स्वरूप स्थित रहता है, और वह उन गुणों के अधीन नहीं होती। अतः लाठी का स्वरूप उसका ठीक आत्मा ही है जो अपने अस्तित्व में स्वतः स्थित है, और किसी अन्य वस्तु के अधीन नहीं है। परंतु इस लाठी के आश्रय जो गुण हमने परिवर्तन होनेवाले देखे, वह स्वतः स्थित नहीं, वरन् परस्थित और परिवर्तनशील ज्ञात हुए। इसी तरह यदि समस्त सृष्टि की छानबीन की जाय, तो जो कुछ दृश्य में आ रहा है, उस सबका तत्त्व केवल नाम और रूप ही निकलेगा, और जो नाम और रूप का अधिष्ठान आत्मा है, वह मन और वाणी से परे पाया जायगा।

(इसलिये उसकी चिंता करने का प्रयास निरर्थक है।) जो कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह सब नाम और रूप में है, और जो इनसे परे है, उसमें वाणी की गति नहीं। इसलिये निर्विकार, निरवयव प्रत्येक स्थान और प्रत्येक महल (आधार) में एक ही प्रकार का है, क्योंकर भिन्नता या नानात्व या द्वैत का उल्लेख उसमें हो सकता है। अत प्रत्येक वस्तु जो नाम-रूप रखती है, सबका आत्मा एक ही है, जिसमें किसी प्रकार के अतर व भेद की जगह नहीं। यह आत्मा चूंकि सर्वत्र है, इसलिये सर्वव्यापक है, चूंकि सबका आश्रय है, इसलिये सबका अधिष्ठान है, समस्त चेष्टाएँ और गतियाँ उसके आश्रय होती हैं, इसलिये वह कर्त्ता माना गया है, चूंकि नाम-रूप से असंग और नि संबंध भी है, इसलिये इसी को अकर्त्ता भी बोलते हैं।

पाँच कोश और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था की व्याख्या और लाठी के उदाहरण से सिद्ध है कि आत्मा पाँच कोशों से ढका हुआ, सबमें व्यापक, सबका आधार, और सबसे निराला तथा असग है। माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षी वर्णन किया है जो कि अवस्थाओं के परिवर्तन का द्रष्टा है, और उनके परिवर्तनों से स्वय परिवर्तित नहीं होता, वरन् सदैव एक रस साक्षीरूप से अपने स्वरूप में स्थित रहता है। लाठी के उदाहरण से दिखलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु जो नाम-

रूप रखती है, उसमें जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञान होता है, या जो कुछ मन के द्वारा जाना जाता है, या जो कुछ अभी जाना नहीं गया और भविष्य में जाना जा सकता है, वे सब गुण हैं, परिवर्तनशील हैं, और वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं हैं। जो वस्तु का वास्तविक स्वरूप है, वह मन और ज्ञानेंद्रियों से परे है। और ज्ञात तथा अज्ञात वस्तुओं का आधार आत्मा है, जो इसी कारण से कि मन और ज्ञानेंद्रियों की उस तक पहुँच नहीं, मन वाणी से परे अथवा निर्विकार, निरवयव और अनुपम कहा जाता है। अत जब यह आत्मा सर्वतोभावेन नाम-रूप से अलग और उनका अधीन नहीं, तो किसी प्रकार भी यह कर्त्ता नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा क्योंकर कर्त्ता होकर दिखलाई देता है, और मनुष्य-शरीर में कौन कर्त्ता है? हम पहले मनुष्य-शरीर की जाँच कर चुके हैं और हमने देखा है कि बाह्य स्थूल आवरण अन्नमय कोश रूपवाला है जो तीन रूपवाले तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल और अग्नि से बना हुआ है, दूसरा आवरण प्राणमय कोश है जिसमें वायु की प्रधानता है, तीसरा मनोमय कोश है जिसको अंत करण भी कहते हैं, और अंत करण तत्त्वों के सतोगुण अंश अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वों से बना हुआ है। इस अंत करण के सूक्ष्म अंश का नाम विज्ञानमय कोश है। और इस शरीर में यही विज्ञानमय कोश कर्त्ता, जाननेवाला, निर्णय करनेवाला माना

(इसलिये उसकी चिंता करने का प्रयास निरर्थक है।) जो कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह सब नाम और रूप में है, और जो इनसे परे है, उसमें वाणी की गति नहीं। इसलिये निर्विकार, निरवयव प्रत्येक स्थान और प्रत्येक महल (आधार) में एक ही प्रकार का है, क्योंकर भिन्नता या नानात्व या द्वैत का उल्लेख उसमें हो सकता है। अत प्रत्येक वस्तु जो नाम-रूप रखती है, सबका आत्मा एक ही है, जिसमें किसी प्रकार के अंतर व भेद की जगह नहीं। यह आत्मा चूंकि सर्वत्र है, इसलिये सर्वव्यापक है, चूंकि सबका आश्रय है, इसलिये सबका अधिष्ठान है, समस्त चेष्टाएँ और गतियाँ उसके आश्रय होती हैं, इसलिये वह कर्त्ता माना गया है, चूंकि नाम-रूप से असंग और नि सबध भी है, इसलिये इसी को अकर्त्ता भी बोलते हैं।

पाँच कोश और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था की व्याख्या और लाठी के उदाहरण से सिद्ध है कि आत्मा पाँच कोशों से ढका हुआ, सबमें व्यापक, सबका आधार, और सबसे निराला तथा असग है। माडूक्योपनिषद् में आत्मा को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का साक्षी वर्णन किया है जो कि अवस्थाओं के परिवर्तन का द्रष्टा है, और उनके परिवर्तनों से स्वयं परिवर्तित नहीं होता, वरन् सदैव एक रस साक्षीरूप से अपने स्वरूप में स्थित रहता है। लाठी के उदाहरण से दिखलाया गया है कि प्रत्येक वस्तु जो नाम-

रूप रखती है, उसमें जो कुछ ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञात होता है, या जो कुछ मन के द्वारा जाना जाता है, या जो कुछ अभी जाना नहीं गया और भविष्य में जाना जा सकता है, वे सब गुण हैं, परिवर्तनशील हैं, और वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं है। जो वस्तु का वास्तविक स्वरूप है, वह मन और ज्ञानेंद्रियों से परे है। और ज्ञात तथा अज्ञात वस्तुओं का आधार आत्मा है, जो इसी कारण से कि मन और ज्ञानेंद्रियों की उस तक पहुँच नहीं, मन वाणी से परे अथवा निर्विकार, निरवयव और अनुपम कहा जाता है। अत जब यह आत्मा सर्वतोभावेन नाम रूप से अलग और उनका अधीन नहीं, तो किसी प्रकार भी यह कर्त्ता नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा क्योंकर कर्त्ता होकर दिखलाई देता है, और मनुष्य-शरीर में कौन कर्त्ता है? हम पहले मनुष्य-शरीर की जाँच कर चुके हैं और हमने देखा है कि बाह्य स्थूल आवरण अन्नमय कोश रूपवाला है जो तीन रूपवाले तत्वों अर्थात् पृथ्वी, जल और अग्नि से बना हुआ है, दूसरा आवरण प्राणमय कोश है जिसमें वायु की प्रधानता है, तीसरा मनोमय कोश है जिसको अंत करण भी कहते हैं, और अत करण तत्वों के सतोगुण अंश अर्थात् सूक्ष्म तत्वों से बना हुआ है। इस अत करण के सूक्ष्म अंश का नाम विज्ञानमय कोश है। और इस शरीर में यही विज्ञानमय कोश कर्त्ता, जाननेवाला, निर्णय करनेवाला

गया है। अंत करण चूँकि पंचतत्त्वों का सूक्ष्म अंश है, इसलिये निर्मल है। पत्थर में मनुष्य के रूप का प्रतिबिंब नहीं पड़ सकता, परंतु दर्पण में, जो पत्थर के उत्तम (शुद्ध) अंशों से बनाया जाता है, प्रतिबिंब पड़ता है। इसी तरह समस्त तत्त्वों के स्थूल अंश में आत्मा का आभास वा प्रतिबिंब नहीं होता, परतु उसके सूक्ष्म और निर्मल अंश में आत्मा का आभास होता है। इस आभास को आनंदमय कोश या जीवात्मा कहते हैं। जब तक अंत'करण का अस्तित्व स्थिर रहता है, इस आभास का अस्तित्व आत्मा से भिन्न होकर ज्ञात होता रहता है। हम पहले जतला चुके हैं कि दर्पण में जो रूप दिखाई देता है, वह असली स्वरूप से, जिसका वह प्रतिबिंब है, पृथक् नहीं होता, वरन् वही होता है। और मैंने अपनी अँगरेजी पुस्तक "वैदिक फिलासफी" में विस्तारपूर्वक दिखलाया है कि रूप दर्शानेवाल दर्पण में जो प्रतिबिंब दिखलाई देता है, वह साइंस के नियमों के अनुसार असल ही प्रतिबिंबित होकर दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि जो सिद्धात सूर्य या अन्य प्रकाशों की किरणों के प्रतिबिंबित होने के संबंध में है, वही सिद्धात दृष्टि की किरणों के संबंध में है। सूर्य विराट् स्वरूप का नेत्र है, उसी तरह मानवीय देह में दृष्टि का जो करण (साधन) है, वह नेत्र है। दोनों अर्थात् सूर्य और मनुष्य का नेत्र एक ही तत्त्व के बने हुए हैं, केवल अंतर बड़े और

छोटे या स्थूल और सूक्ष्म होने का है। सिद्धांत यह है कि जब किरणें किसी स्वच्छ वस्तु पर पड़ें और उसमें से रुकावट के कारण वेधकर आगे न जा सकें (जिस तरह शीशे की पीठ पर कलई चढ़ाने से रुकावट पैदा की जाती है), तो



वे लौट आती हैं। जैसे द——व——ज। अब किरण व द तल पर पड़कर अ-व-द कोण बनाती है, मगर अ-व किरण लौटते समय अ-व-द कोण को समान-रेखा में काटकर व-ह की रेखा में लौटती है। और यह जो वस्तुएँ 'ह' स्थान पर विद्यमान हों, उनको दिखाती है। क्योंकि नियम यह है कि लौटते समय जो किरण के किसी निर्मल तल पर पड़ने से कोण उत्पन्न होता है, प्रतिबिंबित किरण उस कोण को समान काटकर लौटती है, और उस लौटने में जिस जगह पर जाकर रुकती है, उसको दिखाती है। देखी गई वस्तु वास्तव में आँख की उस किरण ने जो आँख से निकलकर गई थी (परन्तु कलई की रुकावट के कारण, जो दर्पण के पीछे है, लौट आई है) देखी है, दर्पण में कोई रूप दिखाई नहीं दिया। यदि दर्पण में कोई आकृति उत्पन्न होती, तो बहुत-सी आकृतियों के उत्पन्न होने से दर्पण मैला हो जाता या बहुत मनुष्य एक ही दर्पण को सामने रखकर नानारूपों को न देख सकते, और संभव नहीं था कि एक छोटे-से

दर्पण के टुकड़े में मनुष्य समस्त आकाश या बड़े-बड़े पहाड़ या दृश्यों का परिदर्शन कर सकता। देखने का तत्त्वज्ञान यह है कि मन दृष्टि-किरणों के द्वारा बाहर निकलकर जिस वस्तु के साथ टकराता है, उसकी आकृति में तदाकार हो जाता है, और इस मन की आकृति से विज्ञान आत्मा परिचित हो जाता है, और ये रूप विज्ञानमय कोश से होकर जब आनंदमय कोश में प्रविष्ट होते हैं तो वहाँ चूँकि मन और बुद्धि की गति नहीं है, इसलिये वे एक समष्टि रूप में विद्यमान रहते हैं। परंतु मन का किसी वस्तु के साथ टकराना मन को गतिशील (चंचल) और तरंगायित करता है, और इस मौज (तरंग) को वृत्ति कहते हैं। जब वह वृत्ति आनंदमय कोश में चली जाती है, तो उसको संस्कार बोलते हैं। प्राकृतिक सिद्धांतों के अनुसार गति जब एक बार उत्पन्न हो जाती है, तो कभी बंद नहीं होती, वरन् निरंतर जारी रहती है। परंतु जब सम्मुख कोई विरोधी वस्तु विद्यमान हो तो टकराती है, और यदि विरोधी वस्तु को वह गतिशील न कर सके, तो प्रत्यावर्तित (वापस) होती है। यहाँ गति-प्राप्त वस्तु ख़याल या मन की वृत्ति है। वह आनंदमय कोश में गई हुई अविदित-सी हो जाती है, परंतु नष्ट नहीं हो जाती। क्योंकि हम देखते हैं कि जब मन को खयाल से रोका जाय और हम समाधि करने के उद्देश्य से अलग एकांत में बैठ जायँ और

समस्त ज्ञानेंद्रियों को रोक लें, तो बिना किसी कामना के, वरन् रोकने की कामना की विद्यमानता में भी वह वृत्तियाँ मन में आकर विद्यमान होती हैं जो चिर काल से विस्मृत हो चुकी थीं। इनका आगमन उस समय बलात्कारपूर्वक ज्ञात होता है, इसलिये पाया जाता है कि जो वृत्तियाँ संस्कार-रूप होकर आनंदमय कोश में गई थीं, वे किसी विरोधी वस्तु से टकरा कर प्रत्यावर्तित (वापस) हुई हैं। जो कुछ नेत्रों के द्वारा उत्पन्न वृत्तियों और संस्कारों के प्रत्यावर्तन के विषय में उल्लेख किया गया है, वह अविशिष्ट ज्ञानेंद्रियों से उत्पन्न वृत्तियों और संस्कारों के संबंध में भी समझना चाहिए। इस वर्णन से स्पष्ट सिद्ध है कि वास्तव में मालूम करने का करण (साधन) मन है, और वह (मन) चक्षु-वृत्ति अर्थात् दृष्टि के द्वारा बाह्य वस्तुओं के रूप को धारण करता है। अतः दर्पण केवल दृष्टि की किरणों को प्रतिबिंबित करने का एक द्वार है और वास्तव में असली वस्तु जिसको आँख अपने आप से नहीं देख सकती, दर्पण के द्वारा देखती है। दर्पण में एक गुण यह भी है कि बड़े को छोटा और सीधे को उल्टा करके दिखाता है। पानी में हम देखते हैं कि वृक्ष की चोटी नीचे और जड़ का स्थान ऊपर को दिखाई देता है। दर्पण में हमारा मुख दर्पण की ओर होता है, परंतु जो प्रतिबिंब दर्पण में है, क्योंकि दृष्टि की किरणें टकरा कर वापस अपने मुखमंडल पर

बिंब आत्मा सदैव असंग और स्वतंत्र और अलग रहते हैं। परन्तु जिस तरह अनजान लोग आकाश को, जिसका कोई रूप नहीं है, नीला या आँधी के कारण गरदीला (मैला) कहते हैं, उसी तरह अज्ञानी लोग अंतःकरण की गति को जीवात्मा में स्थापित करके उसको कर्त्ता-भोक्ता, पाप-पुण्य और भले-बुरे से विशिष्ट करते है, अर्थात् अंतःकरण के गुण जीवात्मा के गुण वर्णन किए जाते हैं। परन्तु जब यह अज्ञान दूर हो जाता है, तो फिर स्पष्ट होता है कि जीवात्मा असंग साक्षी-रूप है। संभव है कि अब यह प्रश्न उत्पन्न हो कि इस संसार के उत्पन्न करने का प्रेरक कौन है? और अंतःकरण और अन्य वस्तुओं में गति किस प्रकार होती है, और कौन इसका हेतु है? हम पहले वर्णन कर चुके है कि सांसारिक प्रकृति एक गुणमयी प्रकृति है। जिस तरह मनुष्य की परछाईं मनुष्य के साथ रहती है, इसी तरह से यह तत्त्व, जिसको माया या अविद्या या प्रकृति बोलते हैं, आत्मा के साथ छाया-रूप से स्थित रहता है। जिस तरह से लाठी के गुण लाठी में छाया-रूप से स्थिर रहते हैं, लाठी से अलग नहीं रह सकते, जिस तरह तारों का डगमगाना तारों से भिन्न नहीं है, इसी तरह यह छाया आत्मा से अलग नहीं [illegible] खुलना [illegible]
उत्पत्ति है, इसका सकुच [illegible] प्रलय है [illegible]
आत्मा [illegible] है [illegible]

की छाया मनुष्य में। इसलिये इस छाया में चूँकि यह सर्व-व्यापक नहीं, कल्पित गति का भान होता है। इस प्रकृति अर्थात् छाया के विषय में हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि यह तीन गुणों का समूह है, और इन तीन गुणों में रजोगुण शुद्ध गति-रूप है, अत हिलना इसका स्वाभाविक गुण है, और हिलने की क्रिया आत्मा की महिमा है। और हिलने का प्रत्यावर्तन (वापस लौटने की क्रिया) जो वह भी एक प्रकार की गति है, जिसको प्रलय कहते हैं, आत्मा की दूसरी महिमा है। ये दोनों महिमायें अपने अस्तित्व और विकास के लिये आत्मा की अपेक्षा रखती हैं, आत्मा इनकी अपेक्षा नहीं रखता। समस्त प्रकृति का एक अंश गति-रूप है, इसलिये प्रत्येक वस्तु में गति का आविर्भाव पाया जाता है, और गति सदैव चेतन से भिन्न पदार्थ में होती है। चेतन साक्षी सदैव एक रस रहता है। अत करण जो सांसारिक प्रकृति का सत्व-अंश है, उसमें बहुत स्पष्ट रूप से गति का आविर्भाव प्रतीत होता रहता है। इसमें सिवाय निर्विकल्प समाधि या सुषुप्ति के ऐसा कोई समय नहीं कि जब गति मालूम न हो। अन्य भौतिक वस्तुओं में मलिनता या तमोगुण के कारण, जैसे पत्थर में, स्थूल दृष्टि से गति का दर्शन या आविर्भाव ज्ञात नहीं होता, परंतु विज्ञान की दृष्टि से सबको मालूम है कि गति प्रत्येक वस्तु में हर समय जारी रहती है। और यही कारण हर वस्तु के पतन और

अभ्युदय के होने का है। इस सिद्धात को दृष्टि में रखकर भारतवर्ष के तत्त्ववेत्ताओं ने दृष्टि-सृष्टिवाद के सिद्धात को वर्णन किया है। वह कहते हैं कि प्रत्येक क्षण में नई सृष्टि उत्पन्न होती है, क्योंकि गति के कारण उसमें प्रत्येक क्षण में परिवर्तन होता रहता है। इस बात के वर्णन में अधिक विस्तार की आवश्यकता नही प्रतीत होती, क्योंकि बुद्धिमान् लोग जानते है कि गति भौतिक प्रकृति का स्वाभाविक गुण है, और यह सदैव होती है और होती रहेगी। इसकी गति को अनजान लोग चेतन-आत्मा और जीवात्मा की गति वर्णन करते हैं, जो बिलकुल गलत और सिद्धात के विरुद्ध है। यह दृष्टि उनकी वैसी ही है जैसा कि कोई दर्पण की गति को प्रतिबिंब या बिंब की गति खयाल करे। इसी तरह से कुछ लोग अंत करण के धर्मों को जीवात्मा के धर्म मान लेते हैं। जैसे बालक चंद्रमा के ऊपर बादलों को चलते हुए देखकर कहते हैं कि चद्रमा दौड़ता चला जाता है, या रेल में बैठे हुए हम स्वय दौड़े चले जाते, इधर-उधर की स्थिर चीजों को दौड़ते हुए देखते हैं। इसी तरह असंग और अकर्त्ता आत्मा को अनजान लोग संगी और कर्त्ता कहते हैं, वास्तव में गति और माया की क्रिया तथा उसके कार्य ज्ञानेंद्रियों और अत करण आदि के धर्म है।

मुक्ति

'मुक्ति' शब्द के अर्थ हैं बधन से स्वतत्रता प्राप्त करना।

अब प्रश्न यह है कि किसको स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, और वह बंधन, जिससे मुक्ति प्राप्त करनी है, किस प्रकार का है ? हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि आत्मा पूर्ण स्वतंत्र है और सर्वप्रकार से परिपूर्ण है। इसलिये वह किसी प्रकार से भी बद्ध नहीं हो सकता। अब रहा जीवात्मा। जीवात्मा की खोज हम कर चुके हैं। आत्मा का अंतःकरण में जो भान या आविर्भाव हो रहा है, उस आविर्भाव या आभास को जीवात्मा कहते हैं। जब तक अंतःकरण का अस्तित्व स्थिर रहता है, उसमें आत्मा के सत् - चित् - आनंद-स्वरूप का आभास बराबर बना रहता है, अंतःकरण की विद्यमानता के कारण आत्मा से वह पृथक् होकर दिखाई देता है, और व्यक्तिगत-रूप से आत्मा से भिन्न अस्तित्व रखता प्रतीत होता है। इसका उदाहरण ब्रह्मविद्या का रहस्य जाननेवाले गुरु अपने विशेष सुयोग्य और प्रिय शिष्यों को रहस्य-विद् करने के लिये कह दिया करते हैं कि सूर्य की धूप दिन में एक मकान की दीवार पर पड़कर उसको प्रकाशित करती है, या एक कमरे में एक मोमबत्ती चारों दीवारों को प्रकाशित करती है। परंतु यदि सूर्य या मोमबत्ती के सामने एक स्वच्छ कलईदार दर्पण रख दिया जाय, तो दर्पणों के परिमाण के अनुसार एक दूसरा प्रकाशमय टुकड़ा सूर्य या मोमबत्ती के प्रकाश से प्रकाशित दीवार पर प्रकट होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यदि दर्पण को हिलाओ, तो यह

पुण्य या पापवाला, उत्साहवाला या अनुत्साहवाला होने का भान कराता है। आत्मा का इन गुणों या दोषों से कोई संबंध नहीं, वह ज्यों का त्यों अपने स्वरूप में स्थित रहता है। अब हम देखते हैं कि जब तक अंतःकरण का दर्पण स्थिर रहता है, तब तक जीवात्मा बँधा हुआ कर्त्ता-भोक्ता के समान मालूम होता है, ऐसे ही जन्मता-मरता तथा आवागमन-चक्र में भ्रमता मालूम होता है।

आवागमन का कारण कर्मों की गति के संस्कार हैं, जो मरने के समय आनंदमय कोश अर्थात् जीवात्मा में बीज के रूप में रहते हैं। जिस तरह बीज को उपजाऊ भूमि में डालने से उसकी उत्पत्ति होती है, उसी तरह जब ये संस्कार अन्तःकरण में प्रत्यावर्तित या पुनरावर्तित होते हैं, तो भोग दिलाने योग्य देह को उत्पन्न करके इच्छाओं को पूरा करते हुए और नवीन कर्मों को कराते हुए भविष्य संस्कारों का भंडार बढ़ाते हुए संसार में जीवात्मा को भ्रमाते रहते हैं। जब परमात्मा की कृपा से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, मैल दूर हो जाता है, उपासना तथा ध्यान से अन्तःकरण का विक्षेप दूर होकर स्थिर दर्पण की भाँति वृत्तियाँ रुक जाती हैं, और उसका विज्ञान बलिष्ठ हो जाता है, तथा मन उसके अधीन हो जाता अर्थात् वश में आ जाता है, तब निर्विकल्प समाधि-अवस्था में मन का वेग स्थिर हो जाता है, और जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता

है। जिस तरह स्वप्नरहित नींद अर्थात् सुषुप्ति से जाग्रत् होकर उस अवस्था के आनंद का अनुभव करता हुआ उसकी गवाही (साक्षी वा शहादत) देता है, उसी तरह से अज्ञानरूपी नींद से जागा हुआ और समाधि से उठकर विज्ञान-आत्मा निर्विकल्प समाधि में स्थित रहनेवाले आत्मा को सच्चिदानंद स्वरूप से वर्णन करता है। जब विज्ञान-आत्मा इस तरह से आत्मद्रष्टा हो जाता है, तो फिर उसको रुचिकर वा प्रिय पदार्थों के प्राप्त करने की या अरुचिकर वा अप्रिय पदार्थों के दूर करने की इच्छा नहीं रहती। फिर न उसका कोई शत्रु होता है, न मित्र। जब कि यह अपने आपको स्वयं सबका आत्मा देखता है, तो फिर किससे प्रेम करे और किससे द्वेष ? जब यह अवस्था होती है, तो विविध पदार्थों में इसकी लालसा नहीं रहती, इसीलिये भविष्य के लिये कोई नए विचार उत्पन्न नहीं करता, और जो कुछ करता है विवश की तरह करता है, चाव से नहीं करता। अतः जो चेष्टाएँ इसके कर्म से उत्पन्न होती हैं वह अत्यंत दुर्बल होती है, वरन् इस सीमा तक कि ज्ञानेंद्रियों की चेष्टाओं से मन भी प्रभावित या गति-शील नहीं होता, और यदि मन में तरंग उत्पन्न हो भी जाय, तो विज्ञान की सुदृढ़ दीवार से टक्कर खाकर वापस होती है। विज्ञानरूपी शासक ऐसी गतियों को आनंदमय कोश में जाने की कदापि आज्ञा नहीं देता। जिस प्र

प्रकाशित और शक्तिमान् हुआ ज्ञानी पुरुष का विज्ञान बाह्य विचारों के भीतर आने को बाधक होता है, उसी तरह उन संस्कारों को, जो आनंदमय कोश में अनेक जन्मों से संचित हैं, अंतःकरण में (जो संस्कारों के विकास पाने की भूमि है) प्रत्यावर्तन के लिये बाधक होता है। क्योंकि अब उसको भविष्य की आवश्यकताओं के सोचने की आवश्यकता नहीं रहती, और ना ही कोई इच्छाओं को पूरा करने का संकल्प ही शेष रहता है। जो प्रारब्ध से प्राप्त हुए शुभ या अशुभ कर्मों के फल अर्थात् भोग उसको मिलते हैं, विना किसी द्वेष या प्रीति के उनको भोगता है, और सबसे अलग और उदासीन रहता है। अब उसको न कोई दुःख का कारण है और न सुख का। न उसको कोई पतन का भय है और न सांसारिक सुखों की प्राप्ति का आनंद। न उसका कोई शत्रु है न मित्र। न उसका कोई संबंधी है, न वह किसी का बंधु है। माता और पिता, लाज-शरम से परे। ऐसा सपन्न (लापरवाह), जिसको कोई जरूरत शेष नहीं, ज्येष्ठ से ज्येष्ठ और लघु से लघु, पवित्र से पवित्र और मैले से मैला, ऊँचे से ऊँचा और अधम से अधम, बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा, तात्पर्य [illegible] कुछ उसको प्राप्त हो जाता है, सबमें सब कुछ [illegible] है, [illegible] यापन ([illegible] है। अवस्था [illegible] जीवन में [illegible]

की दृष्टि से वह जीवन्मुक्त कहलाता है। मरने पर उसकी कोई गति नहीं होती। उसके प्राण वायु में, उसकी उष्णता अग्नि म, पानी पानी में और पृथ्वी पृथ्वी मे समा जाते हैं। अंत करण उसका असभव (ऊसर या बजर) भूमि की तरह हो जाता है, जिसमें न तो खाद डाली जाती है, न कोई बीज बोया जाता है। और 'विज्ञान' ने जब जीवात्मा को कल्पित बंधन से छुटकारा दिलाया, तो स्वय उसको भी अब कोई काम करना शेष न रहा। जिस प्रकार अग्नि जगल से उत्पन्न होकर जगल को जलाकर स्वय लुप्त हो जाती है, जिस प्रकार फिटकरी आदि वस्तुयें मैले पानी में डालने से मैल-सहित नीचे बैठ जाती हैं, उसी तरह माया के सतोगुण अंश से उत्पन्न हुआ ज्ञान भेद-भावना के आवरण को, जो जीवात्मा और परमात्मा का कल्पित भेद था, दूर करके स्वय भी विराट् के विज्ञानमय कोश में समा जाता है। इसी तरह अंत करण के अन्य अंश विराट् के अंत करण में समा जाते हैं। अंत करणरूपी दर्पण के अंश पृथक्-पृथक् होने से दर्पण लुप्त हो जाता है। दर्पण के दूर होने से जो बिंब उसमें चेतनाभास-रूप होकर दिखलाई देता था, स्वय ही दूर हो जाता है, और कहा जाता है कि जीवात्मा मुक्त हो गया, अर्थात् जो द्विगुण ब्रह्म अंत करण के दर्पण के कारण से था, वह दूर हो गया। जैसे दीवार पर जो दर्पण के कारण से दूसरा प्रकाश पड़ता है, दर्पण के दूर करने से

दूर हो जाता है। इसी तरह से जीवात्मा जो अपने असल अर्थात् ब्रह्म से पृथक् होकर दिखलाई देता था, अब अंत करण के नष्ट होने से दिखलाई नहीं देता। यही मुक्ति है। संस्कृत के तत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि संसार में वस्तु के प्राप्त करने के दो उपाय हैं। प्रथम यह कि यदि किसी के पास कोई वस्तु न होवे और वह उसको मिल जाय, उसको अप्राप्त की प्राप्ति कहते हैं, दूसरे वह कि इष्ट वस्तु पास मौजूद हो, परंतु भूल के कारण स्मरण न रही हो और जब याद आ जाय तो कहता है कि "जिस वस्तु की मैं खोज में था, वह मुझको मिल गई", उसको प्राप्त की प्राप्ति कहते हैं। यही हाल मुक्ति का है। कोई नई वस्तु प्राप्त नहीं की गई। आत्मा सदैव मुक्त और असंग था और रहेगा। यही दशा उसके प्रतिबिंब की है। जो असल का तद्रूप है। परतु अज्ञान के कारण अपने आपको पृथक् मानकर सुखी-दुखी होता हुआ मालूम होता था, जब अज्ञान दूर हुआ, तो समझता है कि मुक्ति प्राप्त हुई। वास्तव में कोई नई वस्तु नहीं मिली। प्राप्त वस्तु तो पहले ही से मौजूद थी। इस लाभ को प्राप्त की प्राप्ति कहते हैं।

ज्ञानवान् के मरने पर कहा गया है कि उसके देह के तत्त्व विराट् के तत्त्वों में और उसका अंत करण विराट् के अंत'करण में समा जाता है। जो आकार वा व्यक्तित्व सूक्ष्म शरीर का था, वह टूट जाता है, और जो अंत करण के

यक्तित्व के कारण जन्म-मरण होता था, वह नहीं होता, रतु जो संचित कर्म संस्कार-रूप से आनंदमय कोश में यमान थे और जिनको विज्ञानमय कोश ने अंतःकरण में पस लौटने से रोक रक्खा था, उनके विषय में वर्णन हीं किया गया कि उनकी क्या दशा हुई। ये संस्कार भाशुभ कर्मों का परिणाम होते हैं, आनंदमय कोश और त करण जिनके साथ इनका संबंध था, इन दोनों के नाश ोने पर ये निराश्रय (निराधार) हो जाते हैं। परंतु प्रकृति Natuie) के भीतर हम देखते हैं कि एक ही प्रकार की स्तुएँ परस्पर एक दूसरे की ओर आकर्षित होती हैं, ौर इस विषय को संक्षेप से इस प्रकार वर्णन किया गया कि "कुनद हमजिंस या हमजिंस परवाज" एक समान क्ति के सज्जन एकत्र उड़ा करते हैं, अत जो लोग ज्ञानवान् क्ति के देह के नाश होने पर उसके बुरे कर्मों का स्मरण रते हैं, तो बुरे संस्कार अपना संबंध ऐसे लोगों के साथ ्पन्न कर लेते हैं, और जो व्यक्ति उसके शुभ कर्मों को रण करते हैं, शुभ कर्मों के संस्कार उनके साथ संबंध दा कर लेते हैं। इस कारण सामान्य लोग जब किसी तक को मरघट पर ले जाते हैं, तो कहा करते हैं कि मरे र के शुभ कर्मों को स्मरण करना चाहिए, उसके अशुभ कर्मों ी चर्चा न करनी चाहिए। और सामान्य रीति से सब ोई उपदेश करते हैं कि मृतक के बुरे कर्मों को मत स्मरण

करो। वास्तव में उसका कारण यही है कि सब लोग नहीं जान सकते कि जो व्यक्ति मरता है, वह ज्ञानवान् था या अज्ञानी। अत. वह डरते हैं कि यदि वह व्यक्ति जो मर गया है ज्ञानवान् था, तो उसके संचित कर्मों के संस्कार निराधार हुए याद करनेवाले व्यक्ति के साथ संबंध उत्पन्न न कर लेवें, और मृतक के पापों का फल उसके दुष्कर्मों को स्मरण करनेवालों को भोगना पड़े। और शुभ कर्मों को इसलिये स्मरण करने की शिक्षा देते हैं कि इस रीति से मृतक के पुण्य कर्मों का फल उनको प्राप्त हो जाय।

मै आशा करता हूँ कि इस प्रस्तावना के पढ़नेवालों को ब्रह्मज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में सहायता मिलेगी। जो लोग "वेदानुवचन" को ध्यान देकर पढ़ेंगे, और बार-बार पढ़कर समझने का प्रयत्न करेंगे, उनके अज्ञान का आवरण अवश्य दूर हो जायगा। उनको मुक्ति प्राप्त होगी, और इस संसार में जीवन्मुक्ति का सुख पावेंगे।

ॐ शांति, शांति, शांति, शांति।

जनवरी, १६१०

हरनारायण

होममिनिस्टर रियासत कश्मीर

वेदानुवचन

भूमिका

(श्री बाबा नगीनासिंह वेदी आत्मदर्शी कृत)

(१) बाबा नगीनासिंह वेदी ऋषि-मुनि का यह सम्र केवल वेद भगवान की शिक्षा के लिये अलग किया गय है और भाषा जाननेवाले महाशयों के मिलाप के लि अच्छा वकील बनाया गया है। अत जो कोई उसकी सुनत है, वह उन्हें समझ का एक पदक प्रदान करता है जिस वह बिना रोक-टोक द्युलोक में, जो ब्रह्मलोक है, चल जाता है और प्रजापति से मेल पा जाता है।

(२) उसकी शिक्षा वास्तव में मानुषी नहीं वरन् वह दैवी है जो परमेष्ठी आदिक ऋषियों ने स्वय ब्रह्मा से पा है और दो वश के ऋषियों के द्वारा--जो एक पुरुष-वश दूसरा स्त्री-वश है--हम तक चली आई है।

(३) अब मैं घोषणा करता, वरन् तुम्हें शुभसवा सुनाता हूँ कि वेद भगवान के द्वारा हमको मालूम हुआ है कि तुम्हारे मिलाप के लिये देव ने एक अनादि नियम ठहराया है जिसके कारण तुम ब्रह्मलोक में प्रविष्ट हो सकते हो और मुक्ति-भुक्ति पा सकते हो।

(४) वह उसी प्रकार का नियम है जैसा कि यहा गवर्नमेंट का वादा है कि जो ससार की विद्याओं का

सर्टिफिकेट प्राप्त कर लेता है और अच्छे आचरण का होता है, वही सरकारी सेवा के योग्य समझा जाता है और शासकों के दरबार में स्थान पाता है।

(५) मैं सच कहता हूँ कि जिस प्रकार सांसारिक या व्यावहारिक विद्या की बदौलत तुम संसार की संपत्ति कमाते हो और यहाँ के शासकों के सम्मुख तुम्हें कुरसी मिलती और सम्मानित किए जाते हो, उसी प्रकार इस ईश्वरीय शिक्षा के कारण तुमको ब्रह्मलोक के भोग मिल सकते हैं और उसके धामविशेष या दरबार खास में उच्च आसन पा सकते और सम्मानित किए जा सकते हो।

(६) वरन् जिस प्रकार यहाँ अपनी-अपनी योग्यता के कारण सरकारी नौकरियाँ मिलती हैं और अधिकार भी प्रदान किए जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मलोक में भी अपनी-अपनी करनी और करतूत के अनुसार तुम्हें ब्रह्मलोक की सेवाएँ मिल सकती और आत्मिक अधिकार प्राप्त हो सकते हैं।

(७) यहाँ की विद्याओं में यद्यपि तुम उत्तीर्ण हो जाते हो, किंतु जब तक जगह खाली नहीं होती, तब तक तुमको प्रतीक्षा करनी पड़ती है और फिर भी नियत पद तक उन्नति हो सकती है, स्वयं गवर्नमेंट या सम्राट् नहीं हो जाते, किंतु इस दैवी शिक्षा में यह भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, और इसमें उन्नति यहाँ तक है कि तुम प्रजापति से मेल पाकर स्वयं प्रजापति हो जाते हो।

(८) इस उन्नति का लाभ यह है कि तुम सत्यसंकल्प और सत्यकाम हो जाते हो और जो इष्ट पदार्थ यहाँ परिश्रम से भी नहीं मिलते, वहाँ संकल्प से पा लेते हो। जैसे यहाँ सुंदर स्त्रियाँ कठिनता से मिलती हैं, अथवा माता-पिता भ्राता-पुत्र, जो मर गए हैं, किसी प्रकार भी नहीं मिल सकते, वहाँ ये सब संकल्प से ही मिल जाते हैं।

(९) जब चाहो कि सुंदर स्त्रियाँ मिलें तो संकल्प से स्त्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, और जब चाहो कि माता-पिता भ्राता-पुत्र हमको मिलें, तो वे भी संकल्प से ही पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार सुस्वादु भोजन, सुंदर वस्त्र, और उत्तम भवन, निदान जो कुछ चाहो बाग-बगीचा, नहरें, सब संकल्प से प्राप्त हो जाते हैं, और यही ब्रह्मलोक है।

(१०) अत आओ, मेरी सुनो और मुझ पर भरोसा करो। मैं तुम्हारे मिलाप के लिये अच्छा वकील अथवा उत्तम द्वार बनकर आया हूँ। मैं तुम्हें उन पदार्थों को दिलाऊँगा जिन्हें आँखें नहीं देखतीं, और कान नहीं सुनते, तथा सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने जिन्हें तुम्हारे लिये ब्रह्मलोक में तैयार किया है। और उसके मिलाप का आनंद एक विशेष सुख है जिसे परमानंद कहते हैं, और जिसे पाकर मनुष्य मुक्त हो जाता है।

(११) कदाचित् कोई कहे कि यह क्योंकर हो सकता है? यह तो कठिन बल्कि असंभव है, क्योंकि ये बातें

केवल कथनमात्र हैं, संभव नहीं, कल्पित है, निश्चित नहीं, शाब्दिक हैं, प्रामाणिक नहीं, तो मैं समझाए देता हूँ कि ईश्वरीय नियम में कुछ भी कठिन नहीं, वरन् सब संभव है। इसलिये मैं उन सिद्धांतों का वेद भगवान् से संग्रह करके अनुवाद करता हूँ कि जिससे तुम्हें इसका विश्वास आ जाय।

(१२) क्योंकि जब तक सुनता नहीं तब तक जानता नहीं, जब तक जानता नहीं तब तक विश्वास नहीं करता, जब तक विश्वास नहीं करता तब तक चलता नहीं। अतएव पहले सुनता है, फिर जानता है, फिर विश्वास करता है, और फिर आचरण करता है।

(१३) वेदों का सार-तत्त्व यह है कि मनुष्य अंत में देवता हो जाता है और प्रजापति से मेल पा जाता है। इस मिलाप के लिये केवल दो मार्ग वा साधन हैं--एक तो कर्मकांड है, दूसरा ज्ञानकांड। समस्त वेद इन्हीं दो मार्गों या साधनों की विशद शिक्षा देते हैं।

(१४) कर्मकांड वास्तव में एक ईश्वरीय रसायन (या Spiritual chemistry) है जिसके कारण मनुष्य अपना भौतिक शरीर बदलकर दिव्य शरीर धारण करता है, और ज्ञानकांड वास्तव में उस भेद की पहचान है, जिसके कारण मनुष्य सबमें सब कुछ हो जाता है और परमात्मा के विशेष सुख में, जो परमानंद है, पहुँच जाता है।

(१५) पहले मार्ग से या तो मनुष्य ब्रह्म के गुणों और शक्ति में राह पाता है, और जो चाहता है कर सकता है, किंतु उसके स्वरूप और उसके आनद में प्रविष्ट नही होता, और इस दूसरे मार्ग से तो उसमें भी प्रवेश पाता है, और वही हो जाता है।

(१६) फिर चूँकि पहले मार्ग में बड़ी बडी शास्त्रीय कठिनाइयाँ तथा तप एव व्रत की तकलीफें होती हैं और उनका फल भी अत में कृत्रिम या बनावटी होता है, जो विविध और नाशवान् है, इस कारण दु ख और शोक से नितात रहित नहीं, किंतु दूसरे मार्ग में शास्त्रीय कष्ट कुछ भी नहीं होते, वरन् स्वतत्रता है। और उसका फल भी अकृत्रिम या असली और नित्य है, विविध नहीं, वरन् एक है, अतएव शुद्ध है, उसमें कुछ भी दु ख-शोक नहीं।

(१७) यह भी है कि पहले मार्ग में जैसा करता है वैसा पाता है, क्योंकि मजदूरी मजदूर का हक है, इसलिये यह पद न्याय का है, किंतु दूसरे में जो कुछ मिलता है, मुफ्त या नकद मिलता है, कुछ भी करना नहीं पडता, इसलिये यह प्रसाद (फजल) का पद है।

(१८) यद्यपि यह प्रसाद का पद बहुत बडा है जिसके सब इच्छुक हैं, किंतु इसका मिलना एक विशेष भेद की पहचान पर निर्भर है, इसलिये वही इसका अधिकारी होता है कि जो निर्मल बुद्धि और पवित्र हृदय रखता है। और

यह भी स्पष्ट है कि अंतःकरण और बुद्धि की शुद्धि कर्म के बिना नहीं हो सकती, इसलिये प्रसाद के अभिलाषियों का पहला साधन कर्म है, फिर ज्ञान।

(१६) इसी कारण वेदों में कर्मकांड का वर्णन पहले किया जाता है और ज्ञान को अंत मे सिखाया जाता है। हम भी इस शिक्षा में पहले कर्मकांड के सिद्धांत और फिर ज्ञानकांड के सिद्धांतों का अनुवाद करेंगे, किंतु उतना ही जितना कि भाषा जाननेवाले महाशयो के लिये उपयुक्त समझा गया है। जिन्हें सबकी चाह हो, वे स्वय वेद भगवान् से जानें।

(२०) अब हम अपने ईश्वर-परमात्मा का दृढ विश्वास के साथ मंगलाचरण करते हैं कि हमने जो कुछ प्रतिज्ञा की है, उसे हम पूरा करें और जो कुछ हम लिखें, वेद के अनुकूल हो, और हमारे शिष्य जो श्रद्धा और भक्ति से उसे पढ़ें, प्रसाद का साक्षात्कार पावें, जिसके कि हम सब अभिलाषी हैं।

(२१) चूँकि यह शिक्षा हमारी कल्पित नहीं वरन् वेदों से ली गई है, जो ईश्वरीय है, अत इसका नाम भी "ईश्वरीय शिक्षा" कहा जाता है। यद्यपि यह भाषा में अनुवादित कर दी गई है, तो भी अर्थ की दृष्टि से यह सम्पूर्ण वेदों का अनुवचन अर्थात् ईश्वरीय वाणी है।



श्री वेदानुवचन

पहली शिक्षा

अर्थात्

कर्मकांड

अध्याय पहला

(१) कर्मकाड-शास्त्र वेदों में एक मनोरंजक शास्त्र है, जिसके द्वारा भौतिक मनुष्य तेजोमय देवता बन सकता है। लेकिन अनजान मनुष्य ख़याल करता है कि यह किस प्रकार हो सकता है? यदि वह विचार करे, तो दैवी नियम (कानूने-कुदरत) में कुछ भी कठिनता नहीं है,

क्योंकि वह अल्प विचार से जान सकता है कि जब तक वह मनुष्य नहीं बना था, तो क्या था और कहाँ था ?

(२) बल्कि वह तत्काल निश्चय कर सकता है कि वह एक अपवित्र जलबिंदु था, जो पिता के वीर्य-स्रोत में रक्खा हुआ था। लेकिन जब समय आया, तो प्रकृति ने उसे माता के गर्भ में, जो गर्भाशय है, सींचा। फिर वहाँ वह प्राकृतिक परिपाक के अनुसार लोथड़ा, बुद्बुद, कलकल, निकट-प्रसव-बालक (जनयन) हो गया, और नियत समय पर मनुष्य के रूप में प्रकट हुआ, तथा जीवित प्राणी हो गया। इस कारण वह निश्चयपूर्वक जान सकता है कि वह पानी से बनाया गया है।

(३) अभी और अधिक विचार करना चाहिए कि जब तक वह पिता के वीर्य-स्रोत में वीर्य नहीं बना था, तो कहाँ था, और क्या था ? मै विश्वास करता हूँ कि वह अल्प विचार से तत्काल जान लेगा कि इससे पहले वह केवल अन्न था, जिसे उसके पिता ने खाया। फिर वह पिता के पक्वाशय में पचा, उसका रस यकृत् में गया और रक्त हुआ। फिर रक्त होकर प्रत्येक अंग में आहार हुआ, और उनसे निचोड़ की तरह उसका सार वीर्य के स्रोत में आया, फिर वह वीर्य के रूप में गर्भाशय में गया।

(४) अन्न की असलियत एक घास-पात है, जो धरती से निकलती है। इससे मालूम हुआ कि वह किसी

समय धरती के गर्भ में था, और उसने उसको वनस्पति रूप में जना, तत्पश्चात् वह मनुष्य के पिता का आहार हुआ। इस तरह की सोच-विचार से वह निश्चय कर सकता है कि वह आरम्भ में मिट्टी था और मिट्टी से निकल कर, दैवी-प्रकृति द्वारा रूप बदलता हुआ, मनुष्य हो गया।

(५) अभी इसको यहीं पर ही नहीं ठहरना चाहिए वरन् देखना चाहिए कि वह अब सदैव इसी मनुष्य-चोले में नहीं रहेगा। बल्कि प्रकृति के तले पड़ा खाता पहले बालक, फिर जवान, फिर बूढ़ा होता हुआ अंत में एक नियत समय पर वह मर जाता है, और फिर धरती में गर्भित होकर मिट्टी हो जाता है। उस समय निश्चय होता है कि जहाँ से आया था, वहीं फिर चला गया।

(६) यह न समझ लेना चाहिए कि अब फिर वह धरती से नहीं निकलेगा, बल्कि वह फिर घास पात के रूप में निकलेगा, क्योंकि दैवी विधान यही है कि जो गर्भ में आता है, वह जन्म अवश्य पाता है, और जो बोया जाता है, वह अंत में उगता है। फिर यह भी समझ नहीं कि वह सदैव मनुष्य का ही आहार हुआ करे, बल्कि हो सकता है कि वह पशु पक्षियों या कीट-पतगों का आहार बने। ऐसी दशा में वह उनके नर-नारियों से निकलता पशु पक्षी या कीट-पतगा हो जाता है।

(७) अत मालूम हुआ कि मनुष्य प्राकृतिक नियमों

के अंतर्गत विचित्र पल्टे खाता हुआ कुछ का कुछ हो जाता है। जिसमें अनजान मनुष्य की बुद्धि आरंभ में चकित हो जाती है, पर बुद्धिमान् अंत मे निश्चय कर सकता है कि वह कभी मनुष्य, कभी पशु हो जाता है, कभी पशु-पक्षी वनकर चरता और उड़ता है, और कभी ऊँट-गधा वनकर लादा जाता तथा मार खाता है। इसी तरह ऐ भाइयो! तुम प्रत्येक चोले और प्रत्येक रूप में सैर करते कभी मिट्टी होते हो, कभी वनस्पति, और कभी जीती जान अर्थात् जीवित प्राणी हो जाते हो। यह वही अद्भुत चक्कर है, जिसको वेदविद् ब्राह्मण जन्म-मरण का संसार-चक्र कहते हैं।

(८) यह न समझ लेना चाहिए कि वह इसी तरह सदैव भूलोक में चकराता है, वरन् सभव है कि उसका वास्तविक रस (रतूवत अर्थात् द्रव वा सत्त), जो विविध मूर्तियों का कारण है, सूर्य के प्रभाव से वाष्प-रूप में आकाश को उड़े और वादल वन जाय। फिर वादल (मेघ) से विजली और विजली से तेज वनकर किरणों में जा मिले, और किरणों द्वारा सूर्य-गर्भ में गर्भित हो जाय। सूर्य में इसी तरह घास-पात के रूप में पैदा होता हुआ द्युलोक-निवासियों का, जिन्हें देवता कहते हैं, आहार वनता है, और वहाँ उसी नियम से नर-नारी देवताओं में भ्रमण करता हुआ देवता ही हो जाता है। इसी तरह हम निश्चय करते हैं कि भूलोक

का प्राणी द्युलोक का प्राणी अथवा मनुष्य देवता हो सकता है। दैवी-विधान में यह कुछ भी कठिन नहीं है।

अध्याय दूसरा

(१) अब वेद भगवान् द्वारा हमको मालूम हुआ है कि पृथ्वी, सूर्य, चद्रमा वरन् समस्त नक्षत्र वसुदेवता हैं, अर्थात् देवताओं की बस्तियाँ हैं। अत जिस प्रकार पृथ्वी पर सृष्टि बसी हुई है, उसी तरह सूर्य, चद्रमा और समस्त नक्षत्रों में भी सृष्टि है। इसी कारण कर्मकाड-वेत्ता ब्राह्मण पृथ्वी को "भूलोक", सूर्य को "सुरलोक" और चद्रमा को "सोमलोक" कहते हैं।

(२) जिस तरह पृथ्वी पर की सृष्टि पृथ्वी से निकलती खाकी (मृतिकामयी) और अधकारमयी होती है, उसी तरह चद्रमा की सृष्टि चद्रमा से निकलती चद्रवदन अर्थात् प्रकाशमयी तथा सूर्य की सृष्टि सूर्य से निकलती सूर्यवदन अर्थात् ज्योतिर्मयी होती है, और उसी को विद्वान् लोग परलोक या द्युलोक बोलते हैं। यह एक भिन्न परलोकीय चक्र उसी प्रकार चलता है, जैसा कि पृथ्वी-चक्र में सकेत किया गया है। देखो, चद्रमा पृथ्वी की अपेक्षा शीतल, शात और प्रकाशमय ग्रह है, अत उसकी सृष्टि के प्राणी भी शीतल, शात और प्रकाशमय होते हैं।

(३) यहाँ की नारियाँ भौतिक शरीर रखती हैं, वहाँ की नारियाँ चंद्रवदनी होती हैं, और अधिक सुंदर, अधिक सुकोमल एव अधिक मनोहर हाव-भाववाली होती हैं। उन्हीं को स्वर्ग की सुंदरियाँ अथवा अप्सरा कहते हैं, और नरो को, जो चन्द्रवदन होते हैं, यक्ष या गंधर्व बोलते हैं। यही चंद्रलोक वास्तव में स्वर्ग (बिहिश्त) है।

(४) चूँकि फिर यहाँ के खाने-पीने और पहनने की वस्तुएँ भी चाँदनी (चमकीली) होती हैं, इसलिये बड़ी शीतल, बड़ी सुहावनी, सुस्वादु, और सुखकर होती हैं, वरन् ऐसी विचित्र होती हैं कि भौतिक प्राणियों के खयाल में भी नहीं आतीं। इसी कारण ब्राह्मण यहाँ के निकृष्ट भोग छोड़कर चंद्रलोक के भोगों की अभिलाषा में व्रत और तप करते हैं।

(५) पार्थिव पहनावा (तनु) तमोमय है, इस कारण आत्मा के चमत्कार इसमें पूर्णतया प्रकट नही होते, वरन् निकृष्टतया होते हैं। उस लोक मे शारीरिक पहनावा (देह) प्रकाशमय है, इसी कारण आत्मिक चमत्कार शुद्धतर प्रकट होते हैं। यही कारण है कि वहाँ के प्राणी अपने-अपने मनोरथों के पाने में समर्थ और स्वच्छंद होते हैं।

(६) सूर्य सब नक्षत्रों की अपेक्षा अधिक प्रकाशमय है। यहाँ की सृष्टि सौर और संकल्पमय तन रखती है। शरीर-भाव की वहाँ गति नहीं, और यह सबसे सुंदर तथा शोभाय-

मान है। यहाँ के भोग और सुख सबसे बढ़कर ह। क्योंकि उनके सौर-तन जितने ही शुद्ध हे, आत्मिक बल वा प्रभाव उतने ही अधिक पूर्ण और प्रभावशाली होते हैं। इसी कारण यहाँ की सृष्टि सत्य-काम और सत्य-सकल्प होती है, और यही लोक सुर-लोक और यहाँ की सृष्टि (जनता) सुरदेवता कहलाती है जिसको सूफी लोग करूँबी फिरिश्ता कहते हैं।

(७) वेद की श्रुतियाँ सूर्य को अमृत का एक रूप समझती ह, और देवताओं को मधु-मक्खिका की भाँति ख़याल करती है, जो इस अमृत को खाते ह। और सर्वोपरि श्रेष्ठ इसमें परमेश्वर-दर्शन का आनद है कि यहाँ वे प्रजापति का दर्शन भी पा सकते हैं।

अध्याय तीसरा

(१) कर्मकाड-वेत्ता ब्राह्मण कहते ह कि समस्त ससार, क्या लोक, क्या परलोक, समष्टि-रूप से अग्नि का एक दैवी कारख़ाना हे, जिसमें पाँच बडे-बडे इजन अर्थात् अग्निकुड जल रहे हैं। मनुष्य इसी कारख़ाने में रूप पर रूप बदलता हुआ कभी पार्थिव, कभी चाद्र और कभी सौर मूर्तियाँ धारण करता रहता है। पहला इजन सूर्य है, दूसरा इजन बादल (मेघ) है, तीसरा इजन पृथ्वी है, चौथा इजन नर है, पाँचवाँ इजन नारी है।

(२) जब परलोक में यह मरता है, तो उसे सौर-इंजन में झोंकते हैं और वहाँ से वह मेघ-इंजन में आता है, फिर बादलों से बरसता हुआ पृथ्वी-इजन में गर्भित होता है। पृथ्वी से घास-पात होकर नर-इंजन में खाया जाता है। नर-इंजन से फिर नारी-इंजन में गिराया जाता है। इस तरह स्वर्गीय पार्थिव और दिव्य पुरुष मृन्मय (खाकी) हो जाता है।

(३) जब यह भौतिक प्राणी यहाँ मरता है, तो पहले भौतिक अग्नि में जलाया जाता है, और भौतिक अग्नि से बादल-इंजन में, और बादल-इंजन से सूर्य-इजन में चढ़ता है, और वहाँ के नर-नारी में होता हुआ फिर दिव्य देवता हो जाता है।

(४) प्रवाहण * राजा ने, जिसे जैवली भी कहते हैं, जब उद्दालक मुनि को इस विद्या की शिक्षा दी, तो इन पंचविध व्यवस्थाओं या विधान को इंजन से नहीं, वरन् होम की अग्नि से उपमा दी है। यह उपमा इंजन की अपेक्षा उचित भी है, क्योंकि इनमें मानवी-गति भी उसी विधि से होती है

---

* देखो, छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ५ खंड ३ से १० तक, और कुछ अंतर से यही वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ६ ब्राह्मण २ में भी है। इसी प्रकार का विषय शतपथ ब्राह्मण १४।८।१६ में भी सविस्तर वर्णित है।

जो होम कहलाती है। हम इसको आध्यात्मिक रसायन (Spiritual chemistry) कहते हैं।

(५) प्रवाहण ने कहा—हे गौतम, वह द्युलोक होम की प्रथम अग्नि है। उसमें सूर्य को जलती लकड़ियों के समान समझ जो कि होम की अग्नि में जलती हैं, और सूर्य की किरणें मानो धुआँ-सा निकलता है। दिन मानों अग्नि की ज्वाला है, चंद्रमा उसका अंगार है, और तारे मानों उसकी चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में जब देवता (दिव्य शक्तियाँ) श्रद्धा * को होम करते हैं, तो यह (जीव) सोमराज अर्थात् चंद्रलोकवासी हो जाता है।

(६) दूसरी अग्नि होम की मेघ अर्थात् बादल है। वायु माना उसमें जलती-सी लकड़ियाँ हैं, धुंध मानों उसमें धुआँ-सा निकलता है, बिजली उसमें ज्वाला-सी है, बिजली का गिरना या ओलों का बरसना मानो उसके अंगार हैं, बिजली की कड़क चिनगारियाँ-सी हैं। जब देवता (दिव्य शक्तियाँ) चंद्रलोकवासी सोमराज को उसमें होम करते हैं, तो वह वर्षा होकर बरसता है।

(७) होम की तीसरी अग्नि पृथ्वी अर्थात् भूलोक है।

---

* यहाँ श्रद्धा से अभिप्राय वह भावनारूप आहुतियाँ हैं, जो यजमान ने प्रथमाग्नि में होमी हुई हैं और अब वासनारूप में यजमान के साथ हैं।

संवत्सर उसकी जलती-सी लकड़ियाँ हैं, आकाश मानों उसमें धुआँ-सा उठता है, अँधेरी रात उसकी ज्वाला है, दिशाएँ मानो अंगार हैं और अवान्तर दिशाएँ मानों उसकी चिनगारियाँ है। जब देवता वर्षा को उसमें होम करते हैं, तो वह अन्न बन जाता है।

(८) फिर नर मानों होम की चौथी आग है। उसकी वाणी या खुला हुआ मुँह मानो जलती-सी लकड़ियाँ हैं, साँस का निकलना मानों धुआँ का निकलना है, जिह्वा मानों ज्वाला है, आँखें मानों अंगार हैं, इंद्रियाँ मानों चिनगारियाँ हैं। जब देवता अन्न को उसमें होम करते हैं, तो वह वीर्य होता है।

(९) फिर इसी तरह नारी मानों होम की पाँचवीं अग्नि है। उसका उपस्थ (काम-मंदिर) मानो जलती-सी लकड़ियाँ हैं, उसके समिल्लोम (मिलाप-प्रेरणा) मानों धुआँ-सा निकलता है, उसकी योनि मानो ज्वाला है, और उसमें भीतर-प्रवेश मानों अंगार हैं, और जो उसमें विषयानंद है, वही मानों चिनगारियाँ है। जब देवता * वीर्य को उसमें होम करते हैं, तो वह मनुष्य हो जाता है।

(१०) फिर बताया कि संसार-चक्र में पृथ्वी, सूर्य,

---

* यहाँ देवता से तात्पर्य प्राण है, जो अधिदैवत में इन्द्रादिक देवता है, वही अध्यात्म में प्राण आदि इन्द्रिय है।

चद्र, वरन् सब नक्षत्र विश्राम-स्थान या मार्ग निवास (पड़ावों) की भाँति हैं, जिनमें जीवात्मा एक मार्ग निवास से दूसरे मार्ग-निवास (पड़ावों) तक यात्रा करता हुआ यात्री-सा समझा जाता है, परतु जिस प्रकार पृथ्वी में मनुष्य तक पहले वनस्पति फिर रक्त, फिर वीर्य, फिर लोथड़ा, फिर बुदबुद और निकट-प्रसव बालक होता हुआ मार्ग समाप्त करता है, उसी तरह हरएक मार्ग-निवास से दूसरे मार्ग-निवास तक नियमानुसार क्रम विशेष है, जिनमें एक रूप से दूसरे रूप में पलटता जाता है, और इन क्रम-विशेषों को कर्मकांड-वेत्ता ब्राह्मण सड़कें (पथ या मार्ग) समझते हैं।

(११) ऊर्ध्व और अधोगतियों की सख्या करना कठिन है, इसलिये इन सड़कों की भी सख्या करना जो इनमें विद्यमान है, अवश्य कठिन-सा है। तो भी सूर्य, जो ससार का केंद्र है, वास्तव में द्युलोक की राजधानी है, और समस्त तारे तथा पृथ्वी, जो उसके चारों ओर चक्कर खाते हैं, उसके देश और शासनाधीन हैं।

(१२) फिर प्रत्येक नक्षत्र के चारों ओर उसके विशेष चद्र चक्कर देते हैं, इसलिये एक सड़क तो वह है जो पृथ्वी से सीधी सूर्य को, जो ससार का केंद्र है, जाती है, और दूसरी सड़क वह है जो चद्रमा को जाती है, फिर चद्रमा से वह प्रत्येक नक्षत्र में जाती है। और तीसरी सड़क वही है

जो पृथ्वी को आती है। ये तीनों सड़कें या अंधकारमयी हैं या प्रकाशमयी। क्योंकि जिन सड़कों में जीवात्मा को तमोमय रूप प्राप्त होते हैं और वह सुषुप्ति अवस्था में अचेत-सा रहता है, वे तो तमोमयी सड़कें कहलाती हैं, परंतु जिन सड़कों में जीवात्मा को ज्योतिर्मय रूप मिलते हैं, और वह स्वप्न की दशा में सचेत-सा यात्रा करता है, वे प्रकाशमयी सड़कें कहलाती हैं।

(१३) जो सड़क सूर्य को जाती है, जो प्रजापति की मुख्य राजधानी है, वह प्रकाशमयी सड़क है। यहाँ ब्रह्मलोकवासी देवता जो सुरदेवता (करूँवी फिरिश्ता) कहलाते हैं, उनका बसेरा है, इसलिये इस सड़क को (जो देवलोक को जाती है) 'देवयान'-मार्ग बोलते हैं। परंतु शेष दो सड़कें, जो चद्रमा और पृथ्वी को जाती हैं, तमोमयी हैं। किंतु उस सड़क को, जो चद्रलोक को जाती है, पितृयाण-मार्ग कहा करते हैं, क्योंकि प्राणी जब चंद्रमा को जाता है, तो पहले पितृलोक में जाता है, जो सोमलोक के निकट का मार्ग-निवास अर्थात् सोमलोक के पास की मंजिल है।

(१४) चूँकि देवयान की सड़क बाईं ओर से और पितृयाण की सड़क दाहिनी ओर से जाती है, जैसा कि अभी ही मालूम होगा और फिर उसका आरंभ अग्नि की ज्वाला से और इसका आरंभ धूम्र से होता है, इसलिये उसको उत्तरायण या अर्चिमार्ग और इसको दक्षिणायन या धूम्रमार्ग कहा करते हैं।

(१५) ये दोनों सड़कें, जो देवयान और पितृयाण हैं, वास्तव में ऊर्ध्वमार्ग हैं, और वह अकेली सड़क, जो पृथ्वी को जाती है, अधोमार्ग है। और वह वही है, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है कि धरती से वनस्पति, वनस्पति से रक्त, रक्त से वीर्य और वीर्य से मनुष्य हो जाता है।

(१६) यह सड़क बिलकुल तमोमयी है। इसमें जीवात्मा घन सुषुप्ति में अचेत-सा चला जाता है। परंतु जब वह गर्भ में ठीक जन्म लेने के निकट होता है, तो स्वप्न की तरह वह स्वप्न संसार में खुलता है, और पहले जन्म-जन्मांतर के वृत्तांतों को प्रत्यक्ष देखता है। फिर जब वह गर्भ से बाहर आ जाता है, तो जागता-सा हो जाता है, और वह देखा हुआ स्वप्न-संसार स्वप्न वा कल्पनामात्र हो जाता है, और उस समय इंद्रियों के अभी पूर्ण शक्तियुक्त न होने से उसकी स्मृति भी जाती रहती है।

(१७) स्मरण रहे कि इन तीनों सड़कों का रास्ता आग से फटता है। क्योंकि जब शव को उसके उत्तराधिकारी भौतिक अग्नि में अंतिम होम करते हैं, तो वह तीन रूपों से ख़ाली नहीं होता। या तो उसका असली सार, जो मूर्तियों का तत्त्व वा कारण है, जलकर अग्नि की ज्वाला हो जाता है, या धुआँ या भस्म।

(१८) जब वह ज्वाला होता है, तो उसे अर्चिमार्ग के प्रारंभ का अवसर मिलता है कि जो सूर्य को जाता है

और जिस पर यात्रा करके वह देवलोक को जाता है। परंतु जब वह धुएँ के रूप में उड़ता है, तो उसे उस सड़क के आरंभ करने का अवसर मिलता है कि जो चद्रमा को जाती है, और जिस पर यात्रा करके वह पितृलोक को गमन करता है। किंतु जब वह भस्म होकर धरती में गिर जाता है, तो उसे उस सड़क के आरंभ करने का अवसर मिलता है कि जो अधोमार्ग है, और जिस पर चलता हुआ वह कीट-पतंग आदि योनियों को पाता है।

(१६) जब उपर्युक्त नियमानुसार वह ज्वाला हो जाता है, तो ज्वाला से दिन और दिन से शुक्ल-पक्ष और शुक्ल-पक्ष से बाईं ओर की छमाही, जो उत्तरायण में सूर्य के रहने से तय होती है, हो जाता है। इस छमाही से फिर वह संवत्सर हो जाता है, और संवत्सर से सूर्य में मेल पा जाता है, जो मुख्य द्वार देवलोक का है, जिसे फारसी में आलमे-मलकूत कहते हैं।

(२०) परंतु जब वह धुआँ होकर उड़ता है, तो धुआँ से अँधेरी रात और अँधेरी रात से कृष्ण-पक्ष और कृष्ण-पक्ष से दाहिनी ओर की छमाही, जिसमें सूर्य दक्षिणायन में रहता है, हो जाता है। वहाँ से यमलोक में जाता है, जो पितृलोक भी कहलाता है। यमलोक से चंद्रमा में जाकर सोमराज हो जाता है, और स्वर्गवासी कहलाता है।

(२१) फिर चूँकि यह ऊर्ध्वमार्ग भी तमोमयी है, इस-

लिये जीवात्मा इसमें भी सुषुप्ति में निमग्न रहता अचेत-सा चला जाता है, जैसा कि वनस्पति से लेकर निकट-जन्म-मृत्यु तक यात्रा होती है। तो भी जब वह यमलोक में जाता है, जो सोमराज की उत्पत्ति के निकट स्थान है, तो स्वप्न के समान खुलता है, और वहाँ एक साम्राज्य देखता है जिसमें मृतकों का न्याय होता है। यहाँ एक मैजिस्ट्रेट भी दिखाई देता है, जो यमराज कहलाता है।

(२२) पाप और पुण्य के हिसाब किताब भी सब यहीं पर देखे जाते हैं। हरएक के लिये उसके पापों के अनुसार नरक की कोठरियाँ नियत हैं। नियत समय तक जीव वहाँ दुःख पाता है। तौक़ और जंजीर (बेड़ियाँ और साँकल) जो कुछ शास्त्र में विस्तृत रूप से वर्णित हैं, यहाँ सब सच हैं। दुःख भोग चुकने पर वह फिर चन्द्रलोक को जाता है, और सोमराज हो जाता है। जो बिलकुल निष्पाप है, वह यहाँ (यमलोक में) नहीं ठहरता। वह उसको तत्काल पार करके चन्द्रलोक को चला जाता है, जो सोमलोक है।

(२३) देवयान-सड़क पर जो चलता है, वह बराबर स्वप्न-जगत् में खुला चला जाता है, क्योंकि यह प्रकाशमयी सड़क है। वहाँ वह ऐसी घटना देखता है जैसे कि एक राजकुमार यात्रा से आकर साम्राज्य को जाता है, और स्थान-स्थान पर देवगण उसके स्वागत को आते हैं। और

ऐसे अतिथि-सत्कार और उत्सव देखता है कि जो मृतलोक-निवासी जीवों की कल्पना में भी नहीं आते।

(२४) इस सड़क में उसको हिसाब-किताब या दुःख पीड़ा नहीं है। बल्कि स्वयं अग्निदेवता उसका यहाँ चारण (चोबदार) होता है, और उसे उसी तरह सम्मानपूर्वक ले जाता है जैसे प्रधान राजमंत्री राजकुमार को अपनी राजधानी में ले जाता है और पिता से मिलता है।

(२५) सूर्यलोक में शरीर यद्यपि भौतिक नहीं हैं, वरन् दिव्य संकल्पमय हैं, तो भी उनके पदों में अंतर है। कुछ का अंतर ऐसा है, जैसा प्रजा का राजा से, कुछ का अंतर ऐसा है, जैसा राज-सभासद् का राजा से, और कुछ का अंतर ऐसा है, जैसा अंग का अंगी से होता है। परंतु अंतिम पद यहाँ मिलाप का है, जिससे स्वयं वही हो जाता है।

(२६) पहले पद को सालोक्य-मुक्ति, दूसरे पद को सामीप्य-मुक्ति, तीसरे पद को सायुज्य-मुक्ति और चौथे पद को सारूप्य-मुक्ति कहा करते हैं। कर्मकाड की यह अंतिम उन्नति है।

(२७) अंतिम उन्नति में उसका निवास सूर्य में नहीं होता, वरन् वहाँ से वह उस चंद्रलोक को जाता है, जो स्वयं सूर्य का चद्र है। वहाँ से भी वह उसके मेघलोक और विद्युल्लोक में चढ़ जाता है। यहाँ एक मुख्य देवदूत ब्रह्मलोक से आता है

और उसे ब्रह्मलोक में ले जाता है, जहाँ वह प्रजापति से आत्मिक मिलाप पाता है।

(२८) हे गौतम ! जो इसप्रकार इस पंचाग्नि विद्या को तत्त्वतः जानते हैं, और संसार-त्यागी होकर वनों में सत्य का पालन करते हैं, वे देवयान-सड़क पर चलते हैं, और उनका इस संसार में फिर-फिर आगमन नहीं होता। परन्तु जो यज्ञ-दान से केवल जप तप का पालन करते हैं, और इस प्रकार जानते नहीं हैं, वे पितृयाण-सड़क पर चलते सोमराज हो जाते हैं, और फिर-फिर आते हैं। और, जो इन सड़कों को नहीं जानते तथा न सत्य का पालन करते हैं, और न यज्ञ-दान, तप आदि करते हैं, वे इसी अधोमार्ग पर अग्रसर होते, कीट-पतंग-योनियों को पाते, बार-बार मरते और पैदा होते हैं। उन्हीं के लिये श्रुति कहती है—"जम जम मर, मर मर जम।" यही देव-आज्ञा है। प्रवाहन ने उद्दालक मुनि को ऐसी शिक्षा दी।

अध्याय चौथा

(१) नवच्छात्र को यहाँ आश्चर्य न करना चाहिए कि हम किस प्रकार मरने के पश्चात् ज्वाला, फिर दिन और फिर शुक्ल-पक्ष हो जाते हैं ? क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष विचार करके जान सकता है कि जो लकड़ी अग्नि में जलाई

है, वास्तव में वह अग्नि बनती जाती है, इसलिये कि ज्यों ज्यों लकड़ी अधिक लगाई जाती है, ज्वाला भी अधिक होती जाती है। इससे ज्ञात हो सकता है कि लकड़ी ज्वाला बन जाती है।

(२) फिर ज्वाला भी इसी तरह प्रकाश बनती जाती है, क्योंकि ज्यों-ज्यों ज्वाला अधिक होती जाती है, प्रकाश भी अधिक होता जाता है। यही प्रकाश वास्तव में दिन की असलियत है। दिन का अनुरूप (तकरार) शुक्ल-पक्ष और शुक्ल-पक्ष का अनुरूप मास व छमाही (उत्तरायण) और संवत्सर है। संवत्सर वास्तव में सूर्य की नियत परिक्रमा है जो उससे भिन्न नहीं।

(३) दैवी विधान के द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि जलती लकड़ियों में जो चिकनाई है वह तो ज्वाला बन जाती है और उसका तरल भाग धुआँ बन जाता है, और उसका स्थूल अंश, जो मल है, भस्म बन जाता है। यही एक ईश्वरी रसायन है, जिसको फारसी में कीम्या-ए-कुदरती कहते हैं।

(४) हम भी जब मृतक-संस्कार में जलाए जाते हैं, तो इसी तरह अग्नि, धुआँ और भस्म बनते जाते है। लेकिन हममें जो चिकनाई का अंश है, वह तो अग्नि, अग्नि से ज्वाला, ज्वाला से प्रकाश, प्रकाश से दिन, दिन से शुक्ल-पक्ष, शुक्ल-पक्ष से छमाही (उत्तरायण), छमाही से संवत्सर और संवत्सर से सूर्य हो जाते हैं, जो दैव-योनि है।

(५) परंतु हममें तरल भाग जलकर धुआँ बन जाता है, और धुआँ से अंधकार। अंधकार ही वास्तव में अँधेरी रात की असलियत है। अँधेरी रात का अनुरूप (तकरार) कृष्ण-पक्ष है और उसी का अनुरूप दक्षिणायन है, और वही संवत्सर है। यह संवत्सर चंद्रमा की एक नियत परिक्रमा है, जो उससे पृथक् नहीं। देवतागण (दिव्य शक्तियाँ) जब हमको उस समय चिकनाई भाग में संबंध देते हैं, तो पितृयाण-सड़क पर एक रूप के पश्चात् दूसरे रूप में गति होती है। यह संबंध हमारे कर्मों के कारण से होता है, इसलिये कर्म वास्तव में परलोकगति का मुख्य साधन है।

(६) वह कर्म, जो इस प्रकार की परलोकगति का मुख्य कारण है, वास्तव में ईश्वरीय रसायन है, जो संस्कृत में होम कहलाता है। चूँकि यह ईश्वरीय रसायन अग्नि द्वारा होती है, इसलिये अग्नि में होम करना वस्तुतः ईश्वरीय रसायन का अनुष्ठान करना है। इसका विशेष विधान ब्राह्मणों को ज्ञात है। ब्राह्मण रासायनिक (कीमियागर) हैं जो अग्नि द्वारा आप रसायन-क्रिया करते, हमसे भी रसायन-क्रिया कराते हैं, और आप आकाश पर चढ़ते अर्थात् परलोक-गमन करते, हमको भी आकाश पर ले जाते, अर्थात् परलोकगति कराते हैं। इस प्रकार परलोकगति के लिए अग्नि और ब्राह्मण हमारे द्वार और ईश्वरीय दूत या अग्रणी हैं। अतः जो व्यक्ति

अग्नि और ब्राह्मण इन दो द्वारों के बिना परलोकगति की इच्छा करता है, वह भ्रांति और घमंड में है।

(७) यह रासायनिक कर्म भी समष्टि-रूप से दो प्रकार का है, या तो देव-कर्म है या पितृ-कर्म। देव-कर्म में तो अग्नि मुख्य होती है और पितृ-कर्म में ब्राह्मण। देव-कर्म में अग्नि को मुख्य समझकर उसमें आहुति दी जाती है, और पितृ-कर्म में ब्राह्मण को मुख्य समझकर उसके मुख में आहुति दी जाती है।

(८) जब तक हम प्रसाद (फज़ल) की ओर नहीं बुलाए जाते, तब तक उक्त दो प्रकार का कर्म करते रहना हमारा कर्तव्य है, और मृत्यु तक भी उक्त दो प्रकार का कर्म करते हुए हमारी अंतिम आहुति उसी अग्नि में होती है जो हमारा द्वार और पूज्य है, तथा उसी के द्वारा हम आकाश पर चढ़ते सोमराज या देवता हो सकते हैं।

(९) परंतु जब हम प्रसाद की ओर बुलाए जाते हैं और ज्ञान (आत्मानुभव) प्राप्त करते हैं, तो कर्मकांड के कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं, और हम स्वतंत्र होते हैं। परलोकगति (स्वर्गीय उन्नति) हमें मुफ्त में मिल जाती है, हम किसी का भी सहारा नहीं पकड़ते। जिसका वर्णन हम दूसरी शिक्षा में करेंगे।

(१०) शायद कोई प्रश्न करे कि पितर क्या हैं ? और देवता क्या हैं ? तो हम संक्षेप से उनका तत्त्व भी वर्णन कर

देते हैं। पितर का अर्थ संस्कृत में माता-पिता (वाल्दैन) है, और देवता का अर्थ जानने और कर्म करने की इन्द्रियाँ (दिव्य शक्तियाँ) हैं। जिनके द्वारा हम जन्म पाते हैं, वही पितर ह। जिनके द्वारा हम तत्त्व-विवेक प्राप्त करते और गतिशील होते हैं, वही देवता हैं।

(११) यह न समझ लेना चाहिए कि शारीरिक माता-पिता ही केवल पितर हैं, अपितु दिव्य तत्त्व भी, जो हमारे जन्म में कारण-रूप हैं, दिव्य पितर हैं। क्योंकि कर्मकाड के द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि उन सङ्कों पर, जो आकृतियाँ हमें मिलती हैं, सचमुच वे माता पिता के समान परस्पर जोड़ा स्वरूप होती हैं, और उन्ही से वास्तव में हम जन्म पाते हैं, और मृत्यु के बाद हम उन्हीं में मेल पा जाते ह। इसी कारण मृत्यु के पश्चात् मृतक का पितृ-कर्म होता है।

(१२) पहला पितर सूर्य और चद्रमा का जोडा है, जो उष्णता और तरलता से मिलाप पा रहा है, दूसरा पितर सवत्सर है, जो उत्तरायण और दक्षिणायन से मिलाप पा रहा है, तीसरा पितर मास है जो शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष दोनों से मिलाप पा रहा है, चौथा पितर दिन-रात है, जो प्रकाश और अधकार से मिलाप पाता है, पाँचवाँ पितर अन्न है, जो वीर्य और रज से उपति हुआ है।

(१३) पहले पितर में सूर्य पिता और चद्रमा माता है, दूसरे पितर में उत्तरायण पिता और दक्षिणायन माता है,

तीसरे पितर में शुक्ल-पक्ष पिता और कृष्ण-पक्ष माता है, चौथे पितर में दिन पिता और रात माता है, पाँचवें पितर में वीर्य पिता और रज माता है। उत्तरायण में सूर्य से लेकर दिन तक पिताओं की पाँति है और दक्षिणायन में चंद्रमा से लेकर रात तक माताओं की पाँति है।

(१४) जो पाँति पिताओं की है, वह वास्तव में ठीक प्राण अर्थात् प्रजापति की आध्यात्मिक असलियत है। जो पाँति माताओं की है, वह वास्तव में ठीक रयि, अर्थात् प्रजापति की शारीरिक असलियत है, जो बदलती रहती है। अत: जो व्यक्ति पितृयाण-सड़क पर चलता है, वास्तव में सोमराज होता शारीरिक ऊर्ध्वगति पाता है। जो व्यक्ति देवयान सड़क पर चलता है, वह आध्यात्मिक ऊर्ध्वगति पाता है, जो नित्य (शाश्वत) है।

(१५) ये पिता और माताएँ हमारी उत्पत्ति में कारण वा हेतु हैं। जैसे माता-पिता बच्चे को गोद में लेकर पालते-पोसते हैं, उसी तरह हमको मृत्यु के बाद उनकी गोद में जाना होता है, और उन्हीं में गर्भित होकर ऊर्ध्वगति व स्वर्ग-प्राप्ति होती है। ये सब पितर प्रजापति के पुत्र प्रजापति-रूप हैं, जो (प्रजापति) हमारा आदि पिता है। संस्कृत में इन पितरों को दिव्य पितर बोलते हैं। परंतु वे पितर, जो अग्नि में जलकर इनमें मेल पाते हैं, अग्निष्वाता कहलाते हैं। क्योंकि जो अग्नि में अन्न होकर इनसे मेल पाता है,

वही अग्निष्वाता होता है। उन्हीं के नाम से पितृ-दान होता है।

(१६) ये बातें * जो ऊपर वर्णन की गई हैं, हमी नहीं कहते, वरन् पिप्पलाद मुनि ने कात्यायन ऋषि को भी इसी पर संकेत किया है, जब कि कात्यायन ऋषि ने ऐसा प्रश्न किया कि "हे भगवन् ! हम कहाँ से उत्पन्न होते हैं और कौन हमारा जनक है ?"

(१७) मुनि ने उत्तर दिया कि प्रजाकामी प्रजापति को इच्छा हुई कि मैं प्रजावाला हो जाऊँ। तब उसने एक जोड़ा उत्पन्न किया जो प्राण (force) और रयि (matter) है, और विचार किया कि यह जोड़ा मेरी प्रजा को बढ़ा देगा। सूर्य वास्तव में प्राण (force) है और चन्द्रमा रयि (matter)। और यह जो मूर्त-अमूर्त है, सब रयि (मादा) है, उनमें जो वास्तविक शक्ति है, वही उनका प्राण है।

(१८) सूर्य जब पूर्व में चढ़ता है, तो उसकी प्रकाशमान किरणें पूर्वीय भाग में फैलती हैं, और जो लोग पूर्वीय भाग में बसे होते हैं, उन पर व्यापक होती उनमें प्रविष्ट होती हैं, और उनके प्राणों की रक्षा और पालन करती हैं। इसी तरह दक्षिण और उत्तर, पश्चिम और पूर्व, ऊपर-नीचे, तथा सब दिशाओं में भी ये किरणें फैलती हैं। उनमें, जो वहाँ रहते हैं,

---

* देखो प्रश्नोपनिषद्, पहला प्रश्न।

प्रविष्ट होकर प्राणों और निरोगता को लाभ पहुँचाती है।

(१६) अत यह सूर्य, वैश्वानर-विश्वरूप-अग्नि, सबका प्राण-रूप उदय होता है। वेद-मंत्र भी इस पर अपनी पूरी साक्षी देता है। क्योंकि वेद का कथन है कि यही स्वर्णमयी किरणोंवाला विश्व-रूप सूर्य, जो सबका नेत्र और प्राण है, अपनी सहस्रों किरणों से अनेक प्रकार फैलता हुआ मानो हमारा प्राण उदय होता है।

(२०) चद्रमा भी इसी प्रकार चढ़ता हुआ प्रत्येक में रयि (मूर्तियों का मादा) प्रदान करता है, सूर्य तो जीवन-दायिनी उष्णता (प्राण-स्रोत) प्रदान करता है, और चंद्रमा रयि (मूर्तियों का मादा) बख़्शता है। प्राण कर्त्ता है और रयि कर्म है। ये दोनों शक्तियाँ, जो प्रजापति की सतति हैं, मिलकर ससार में काम कर रही है। प्राण (शक्ति) प्रभाव डालता है, और रयि (मादा) प्रभावित होती या बदलती है। इसी तरह हरएक वस्तु की उत्पत्ति और मृत्यु होती है।

(२१) यदि प्राण और रयि—जो सूर्य और चद्रमा की असलियत है—न होते, तो कुछ भी न होता। इसलिये यह चद्र-सूर्य का जोड़ा प्रजापति की संतान, प्रजापति-रूप हमारा प्रथम पितर है। दूसरा पितर सवत्सर है, क्योंकि सवत्सर वास्तव में सूर्य और चद्र की परिक्रमा से उत्पन्न होता है। सूर्य की वार्षिक गति से सक्रांति-रूप सवत्सर उत्पन्न होता है और चंद्रमा की गति से तिथि-रूप वर्ष उत्पन्न होता है।

(७२) संवत्सर चूँकि वस्तुत पहले पितर की नियत परिक्रमा है, और उन (सूर्य-चंद्र) की सत्ता से भिन्न नहीं, इसलिये यह दूसरा पितर भी प्रजापति-रूप है और उसी की संतान है, जो उत्तरायण और दक्षिणायन के जोड से उत्पन्न हुआ है। क्योंकि सूर्य और चंद्र वार्षिक गति में जो वृत्त बनाते हैं, उस महान् वृत्त से कटकर यह पितर उत्तरीय और दक्षिणीय दो वृत्त-खंड उत्पन्न करता है। उत्तरीय वृत्त-खंड को उत्तरायण और दक्षिणीय वृत्त-खंड को दक्षिणायन कहा करते हैं। यह उत्तरीय वृत्त-खंड नर है और दक्षिणीय वृत्त-खंड नारी। दोनों के जोड से यह पितर भी स्पष्ट दिखाई देता है।

(७३) यदि यह संवत्सर, जो दूसरा पितर है, न होता, तब भी कुछ न होता। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति और विनाश नियत काल पर निर्भर दिखाई देते हैं। इसलिये काल भी माता-पिता का दूसरा जोडा है। जब यह सूर्य और चंद्र छ महीने उत्तरीय वृत्त-खंड में भ्रमण करते हैं, जो उत्तरायण है, तो उनके लिये, जो तप और यज्ञादि कर्म करते हैं, यह काल देवयान मार्ग का पालन करता है, और अपनी प्रिय संतान को, उनकी मृत्यु के पश्चात्, गोद में लेकर देव-लोक में ले जाता है, और देवता के रूप में उत्पन्न करता है, और द्युलोक के दिव्य पदार्थों को दिलाता है।

(७४) परंतु जब यह सूर्य और चंद्र दक्षिणीय वृत्त खंड

मे नियत छ मास तक भ्रमण करते हैं, तो यह काल दक्षिणायन में लाभ पहुँचाता है, और उनके लिये, जो केवल कर्म (पितृ-तर्पणादि कर्म) करते है, यह काल पितृयाण-मार्ग का पालन करता है, उनको गोद में लेकर सोमलोक मे ले जाता है और सोमराज बनाता तथा स्वर्ग के भोग दिलाता है, जो कि सुंदर अप्सराएँ और सुखमय प्रासाद (महल) हैं। ये भोग चूँकि शारीरिक कर्मों से बनाए गए हैं, इसलिये अंत में क्षीण हो जाते हैं। और, वहाँ से वह प्राणी फिर यहाँ (इसी भूलोक मे) लौट आता है।

(२५) परंतु वह जो जप-तप तथा ब्रह्मचर्य करते हैं, और "मैं ईश्वर की सतान हूँ, देह नहीं हूँ", "प्रजापति की संतान प्रजापति-रूप हूँ" ऐसा अटल विश्वास करते हैं, इस निश्चय और विवेक के कारण पैतृक अधिकार (विरसा-ए-पिदरी) पाते हैं, और प्रजापति की गोद में जा बैठते हैं। और उसी से मेल पाकर द्युलोक के सिंहासन पर विराजमान होते हैं। यही अमृत है। यहाँ से उनकी तरह जो माता की गोद में जाते हैं, फिर नहीं लौटते।

(२६) संवत्सर का टुकड़ा महीना है, जो उसी की संतान तीसरा पितर है। उसमें शुक्ल-पक्ष तो पिता है और कृष्ण-पक्ष माता। इन दोनों के जोड़ से मास पूर्ण होता है, जो प्रजापति की सतान प्रजापति-रूप है। जो ब्राह्मण अपने आपको आत्मा और प्राण समझता है, शरीर

ा देह नहीं जानता, वह कृष्ण-पक्ष में भी यज्ञ करता हुआ मानों शुक्ल-पक्ष में ही यज्ञ करता है। और जो ब्राह्मण अपने आपको आत्मा तथा प्राण निश्चय नहीं करता वरन् केवल शरीर और दास जानता है, वह शुक्ल-पक्ष में भी यज्ञ करता हुआ वास्तव में कृष्ण-पक्ष में करता है।

(२७) दिन-रात भी मास का अंश, उसी का आत्मज, चौथा पितर है। उसमें दिन तो पिता है और रात माता। इन दोनों के मेल से यह चौथा पितर भी पूर्ण होता है, और प्रजापति की संतान प्रजापति-रूप है। जो व्यक्ति दिन को अपनी स्त्री से मैथुन करता है, वास्तव में प्राण की हानि करता है। किंतु वह जो रात को मैथुन करते हैं, भोग करते हुए भी ब्रह्मचर्य से रहित नहीं होते, यद्यपि प्रत्यक्ष में वे मैथुन करते दिखाई देते हैं।

(२८) अन्न भी दिन-रात की संतान दिन-रात का रूप है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी नियत समय पर होती है, जो दिन-रात से प्राप्त होता है। इसलिये अन्न भी वास्तव में पंचम पितर है, जो प्रजापति की संतान प्रजापति-रूप है। और यह अन्न (रूपी संतान) भी वीर्य और रज का जोड़ा है, क्योंकि भोजन किया हुआ अन्न ही पिता में वीर्य-रूप से और माता में रज-रूप से प्रकट होता है। जब वीर्य और रज गर्भाशय में मिलाप पाते हैं, तो इस मिलाप से मनुष्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रजापति हमको इन पितरों

के द्वारा जन्म देता है। और प्रजापति वास्तव में हमारा आदिपिता है। हम भी उसी की संतान उसी का रूप हैं और उसी के पैतृक अधिकार (विरसा) के अधिकारी हैं।

(२६) जो व्यक्ति प्रजापति का अनुकरण करता हुआ स्त्री-पुरुष का जोड़ा होकर प्रजापति का व्रत धारण करता है, वह भी लड़का-लड़की जनता प्रजापति के समान संतानवाला होता है। और जो जोड़ा पाकर (विवाहित होकर) भी ब्रह्मचर्य करते और सत् का पालन करते हैं, वही सोमलोक भी पाते हैं। किंतु जिनमें छल-छिद्र का लेश नहीं, वे तो ब्रह्मलोक में जाकर द्युलोक के अधिकारी होते हैं।

(३०) इस प्रकार यह पितर प्रजापति की संतान, हमारे माता-पिता, हमारी उत्पत्ति वा नाश में कारण होते हैं। उन्हीं के द्वारा हम लोक-परलोक में गमनागमन करते हैं और ये ही हमारे पालनहार हैं। इसी कारण ये सब हमारे पालनकर्त्ता कहलाते हैं। और प्रजापति, जो आदिपिता है, पालनकर्त्ताओं का स्वामी अर्थात् विश्वभर कहलाता है। उसका अनुकरण वास्तव में कर्मकाड है जो होमकर्म कहलाता है, और उसकी विधि विस्तारपूर्वक वेद भगवान् में दर्ज है। इसलिये जो वेद भगवान् के विरुद्ध आचरण करता है, कदापि पारलौकिक उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता।

(३१) दिन-रात पितर, जो वास्तव में चौथा पितर है,

उसमें दिन तो सूर्य की एक छाया वा प्रकाश है और रात धरती की छाया। इसलिये सूर्य और धरती का जोड़ा मानों साक्षात् पितर दिखाई देता है। इसमें धरती माता और सूर्य पिता है, क्योंकि सूर्य के अत्यंत ताप से जल बरसता है और उसके प्रभाव और ताप से धरती फलती-फूलती है। और यह धरती और सूर्य मिलकर प्रजापति का एक विराट् शरीर है, और शेष पितर नस-नाड़ी के समान उसी के अंग हैं। और यह सब समष्टि-रूप से एक जीवित पुरुष है, जिसको हम विराट् बोलते हैं। और पश्चिमीय भाषा (अरबी फारसी) में यही 'रहमान' कहलाता है।

(३२) देवलोक उस विराट् पुरुष का शिर है, सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ हाथ हैं, धरती पैर हैं, समुद्र मूत्राशय है, अंतरिक्ष उसका तन है, वायु उसकी श्वास है, अग्नि उसका मुख है, मनुष्य उसकी संतान उसी की आकृति पर उत्पन्न हुआ है। जिस तरह हमारे अंग और नस-नाड़ी में प्राण और इंद्रियाँ हैं, उसी तरह इन पितरों में भी, जो विराट् के अंग और नस-नाड़ीवत् हैं, प्राण और इंद्रियाँ हैं, और यही देवता कहलाते हैं।

(३३) जिस तरह हमारे अंगों और इंद्रियों को हमारे हृदय और मस्तिष्क से शक्ति प्रदान होती है, और इन्हीं प्रधान अंगों के शक्ति प्रदान से प्राकृतिक इंद्रियाँ और प्राण शक्ति पाते जीवित हो रहे हैं, उसी तरह ये पितर भी

देवलोक तथा सोमलोक से शक्ति पाते जीवित हो रहे हैं, और हमको जनते तथा पालन करते हैं। जिस तरह हमारे मुँह से खाया हुआ अन्न पहले आमाशय में जाता है, फिर यकृत् या पक्काशय (जिगर) में, फिर नस-नाडी द्वारा फिरता हुआ हृदय और मस्तिष्क में जाकर प्राण और इंद्रियों में मिलाप पाता है, उसी तरह हम भी मृत्यु-संस्कार के समय अग्नि में दिए हुए उस विराट् का आहार होते हैं, और उसकी नस-नाड़ियो के द्वारा, जो पितर हैं, उस क्रम से जो सड़कों के उदाहरण से वर्णन किया गया है, देवलोक और सोमलोक में चढ़ते देवता और सोमराज हो जाते हैं।

(३४) यह स्पष्ट है कि मनुष्य में खाया हुआ अन्न जब पचता है, तो उसका सूक्ष्मांश कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय से परिवर्तित होता हुआ कर्मेंद्रिय और ज्ञानेंद्रिय में मेल पाता है। और उस अन्न का स्थूलांश अंगों और अस्थियों में परिवर्तित होता हुआ उनसे मिलाप खाता है। क्योंकि जब हम अन्न नहीं खाते, तो जैसे मांस और त्वचा में दुर्बलता आ जाती है, वैसे ही ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय में भी दुर्बलता आ जाती है। परंतु जब हम खाते हैं, तो शरीर से हृष्ट-पुष्ट होते हैं और ज्ञानेंद्रिय एवं कर्मेंद्रिय में शक्ति पाते हैं। अत ज्ञात हुआ कि अन्न के सूक्ष्मांश से तो इंद्रिय बनते हैं और से मांस और चर्म।

(३५) इसी प्रकार विराट् में अन्न होकर हम भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते, पाचन के बाद पाचन होते, देवलोक में देवता और सोमलोक में सोमराज हो जाते हैं, और प्रजापति से मेल पा जाते हैं। यह कुछ भी कठिन नहीं है, वरन् जिस प्रकार (व्यष्टिगत) उदान प्राण अन्न को हमारे प्रत्येक अग में पचाता, उसी का रूप बनाता, और उससे मेल दिलाता है, उसी तरह (समष्टि गत) उदान प्राण हर पितर में हम (अन्नरूप) को पचाता, उसी का रूप बनाता और उसी में मेल दिलाता है। और, फिर उनसे निचोड के रूप में पृथक् करता, उसी तरह देवलोक और सोमलोक में ले जाता है, जिस तरह हमारे अगों से भी निचोड़ करके पिता के वीर्य-स्रोत में और माता के गर्भ में ले जाता है।

अध्याय पाँचवाँ

(१) हम ऊपर के अध्याय में पितरों का स्वरूप रूप से लिख आए हैं, और फिर यह भी सकेत कर कि वे सब जीवित हैं, उनमें जो जीवन-शक्ति या प्राण देवता कहलाती है। जिस प्रकार मनुष्यों में जो ज है, बिना उनके शरीर और आकृति की अपेक्षा कहलाती है, उसी प्रकार पितरों में भी जो जी

उनके शरीर और आकृति की अपेक्षा विना देवता कहलाती है। जैसे अग्नि में जो जीवन-शक्ति है, वह अग्नि-देवता, दिन में जो जीवन-शक्ति है, वह दिन का देवता, शुक्ल-पक्ष में जो जीवन-शक्ति है, वह शुक्ल-पक्ष का देवता, उत्तरायण में जो जान है, वह संवत्सर का देवता, और सूर्य में जो जान है, वह सूर्य का देवता कहलाती है। और यही पिताओं की पाँति है, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

(२) इसी तरह दूसरी माताओं की पाँति मे भी अँधेरी रात की जान (जीवन-शक्ति) रात का देवता, कृष्ण-पक्ष की जान कृष्ण-पक्ष का देवता, एवं दक्षिणायन की जान दक्षिणायन का देवता, और चंद्रमा की जान चंद्रमा का देवता है।

(३) तात्पर्य यह कि छानवीन करने से सिद्ध हुआ कि क्या भौतिक और क्या आध्यात्मिक प्रत्येक वस्तु प्रजापति का अंग और उसी का अंश है। और प्रत्येक उसी तरह जीवित है, जिस तरह हमारे अंग जान रखते हैं। और वही जान उसी का देवता कहलाती है। ये सूक्ष्म-स्थूल वस्तुएँ चूँकि असंख्य हैं, इसलिये उनके प्राण और इंद्रियाँ भी असंख्य हैं, उन्हीं का अनुवाद सूफी-संप्रदाय के महात्मा लोग 'मवक्कल' (निगहबानी, पालक वा संरक्षक) करते हैं।

(४) वस्तुएँ भी कुछ समष्टि हैं और कुछ व्यष्टि, अतः समष्टि की इंद्रियाँ समष्टि-देवता हैं, उन्हीं को समष्टि के

पालक वा सरक्षक कहा करते है, और व्यष्टि की इद्रियाँ व्यष्टि-देवता हैं, उन्ही को वह व्यष्टि के पालक वा सरक्षक कहा करते हैं। और ये व्यष्टि-पालक उत्पत्ति-नाशवाले है और वे समष्टि-पालक देवता विश्वभर वा अविनाशी हैं, इसी कारण पूज्य और उपास्य हैं।

(५) यद्यपि समष्टि-देवताओं की गणना भी असख्य है, तो भी जाति-भेद से वैश्वदेव-शास्त्र में इनकी गिनती होती है, और उनमें भी उत्तम जाति-भेद के नियम से सब ३३ गिनती में होते हैं। जिनमें ८ वसु-देवता हैं, ११ रुद्र-देवता हैं, १२ आदित्य-देवता है, १ इद्र है, और १ प्रजापति है।

(६) समस्त वसु-देवता पृथ्वी, अग्नि, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, देवलोक, सोमलोक और नक्षत्र हैं। सस्कृत मे वसु का अर्थ बस्ती है। चूँकि उसमें प्राणी बसते हैं, इसलिये वेदविद् ब्राह्मण उन्हें वसु देवता कहते हैं। पचभूतों के सयोग से प्रत्येक देह का आकार नियत हुआ है, और हम उन आकारों वा शरीरों में तब तक बसे हुए हैं, जब तक हमारे कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो लेता।

(७) वसु-देवता हमारे कर्मों के भोग देने के लिये विकृत और मिश्रित होकर एक शारीरिक घर उसी तरह बनाते हैं, जिस तरह लकडी, लोहा, ईंट, गारा मिलकर लोग एक महल तैयार करते हैं, और हमको उसी तरह अपने में बसाते हैं, जैसे प्रासाद (महल) हमको

जिस तरह वह महल हमारा वासस्थान या घर कहलाता है, उसी तरह ये देवता भी हमारे वसु-देवता कहलाते हैं।

(८) अतिरिक्त इसके पृथ्वी तो पार्थिवों के लिये, वायु वायव्यो के लिये, अग्नि आग्नेयों के लिये, जल जल-जंतुओं के लिये, आकाश गंधर्वों के लिये, सूर्य सौरों के लिये, चंद्र चाद्रों के लिये, एवं समस्त नक्षत्र अपनी-अपनी सृष्टि के लिये उनका शरीर बनाते और फिर उसी का बिछौना होते आराम और सुख देते हैं। इस कारण इन सब देवताओं के हम आभारी हैं।

(९) जब हम बालक होते हैं, तो जैसे माता की गोद में मल त्यागते, उसकी छातियाँ चूसते और उसी के पार्श्व (बगल) में निवास करते हैं, उसी तरह हम पृथ्वी के बालक पृथ्वी पर मल त्यागते, उसी की उपज के फल, शाक, अन्न आदि खाते, उसी पर चलते-फिरते, और उसी में आराम करते हैं। यह माता से भी बढ़कर कृपालु देवता हमारे किसी काम से भी दु खित नहीं होता, वरन् माता की भाँति हम पर मातृछाया करके हमारे सब अपराधों को क्षमा करता है।

(१०) ज्ञानेंद्रिय जो जानने के साधन (यंत्र) हैं, कर्मेंद्रिय जो गति के साधन वा यंत्र हैं, और मन जो सोचता-समझता है, ये ग्यारह रुद्र-देवता हैं। पाँच ज्ञानेंद्रिय और पाँच कर्मेंद्रिय मिलकर सब दस होते हैं। और ये सब देवता

हमारे कर्मों के भोग देने के लिये यंत्रों और साधनों के रूप में हमारे शरीर में एकत्रित हुए हैं।

(११) आँख के द्वारा हम देखते हैं, कान के द्वारा हम सुनते हैं, जिह्वा के द्वारा हम स्वाद लेते हैं, त्वचा के द्वारा हम स्पर्श करते हैं, नासिका के द्वारा हम सूँघते हैं। इसी प्रकार वाणी के द्वारा हम बातचीत करते, हाथों के द्वारा हम पकड़ते, पाँवों के द्वारा चलते, पायु (गुदा) के द्वारा हम मल त्यागते और उपस्थ के द्वारा हम आनंद लाभ करते हैं। मन के द्वारा हम सोचते-समझते हैं। समस्त देवता हमारे भोग के लिये साधन रूप होकर हमारे इस छोटे से महल में एकत्रित हुए हैं, और उसी तरह हमारे सहचर तथा अधीन हैं जैसे ब्रह्मलोक के देवता हमारे पिता प्रजापति के सहचर (मुसाहिब) और अधीन हैं।

(१२) जिस तरह हमारा पिता प्रजापति समस्त ब्रह्मांड में राज्य करता है, उसी तरह हम भी उसके राजकुमार इस संक्षिप्त पिंड में राज्य करते हैं। जिस तरह ब्रह्मांड प्रजापति की राजधानी है, उसी तरह यह संक्षिप्त शरीर भी हमारी छोटी-सी राजधानी है।

(१३) देखो, बुद्धि हमारा विचारशील मंत्री है, मन दीवाने ख़ास अर्थात् मुख्य अधिकारी है, ज्ञानेंद्रियाँ दूत हैं, क्योंकि नेत्र दृश्य-जगत् में दौड़ता है, कान शब्द-संसार में सिधारता है, नाक सुगंध और दुर्गंध की ख़बर लाती है,

जिह्वा मिठाई और खटाई की लहरें दिखाती है, त्वचा शील और उष्ण के प्रमाण पेश करती है, मन दीवाने-ख़ास होकर इन सबके संदेशे मालूम करता स्मरण रखता है, और समय-समय पर हमारी सामान्य सभा (इजलासे-आम) में उपस्थित करता है, बुद्धि उसमें भले-बुरे की छाँट करती है और स्वीकृत-अस्वीकृत की सम्मति देती है।

(१४) काम तहसीलदार है, क्रोध कोतवाल है, बल जनरल है, मन की वृत्तियाँ असंख्य सेना हैं। इसी तरह यदि ध्यान किया जाय और एक-एक देवता की गणना की जाय, तो असंख्य सेना, असंख्य कर्मचारी और असंख्य पदाधिकारी हैं, और सब मनुष्य (राजकुमार) के लिये प्रजापति की आज्ञा से न्याय और धर्मपूर्वक हमारे भोग दिलाने के लिये एकत्रित हो रहे हैं, और अपने-अपने कार्य-विशेष में निमग्न हैं। हमको चाहिए कि प्रजापति पिता का अनुसरण करके हम भी अपने सिंहासन पर आसीन होकर प्रत्येक काम की देखभाल करें, और न्याय तथा धर्मपूर्वक उनसे वर्ताव करें। क्योंकि काम-रूपी तहसीलदार यदि प्रजापति के नियम के विरुद्ध कुछ भोग चाहे, तो चाहिए कि बुद्धि-रूपी मंत्री की मन्त्रणा के अनुसार क्रोध-रूपी कोतवाल को उस पर चढ़ावें, ताकि वह उसे दंड देकर वा बुरा-भला कहकर संयम के नियम की ओर बुलावे। और यदि क्रोध-रूपी कोतवाल भी इसी भाँति नियमोल्लंघन करे, तो काम-रूपी तहसीलदार

को उस पर उठावें, जिससे वह उस घमडी को तप-व्रत दुर्बल करके धर्म पर आरूढ़ करे। यदि ऐसा हम नह करते, तो पिता का पदानुसरण करने से भागते औ कृतघ्नता करते हैं।

(१५) फलत, ये ग्यारह देवता अपनी असरय सेना साथ हमारे सहचर (मुसाहिब), पूर्ण अधीन, भोग के साधन भोग-रूप हैं, और हम भी उनके भोक्ता हैं। जब तक हमारे कर्म (भोग) का अंत नहीं होता, तब तक उसी तरह भोग दे इस सक्षिप्त राजधानी में काम करते हैं। और जब हमारे पुण्य समाप्त होते हैं, तो ये चल देते है। और इस यात्रा के कारण वे सब मित्र-कुटुम्बियों को रुलाते और चिल्लवाते ह इसी कारण इनका नाम रुद्र-देवता है, क्योंकि जो रुलाता और क्रदन कराता (चिल्लवाता) है, उसी को रुद्र कहते हैं। और यह स्पष्ट है कि इन्हीं के प्रस्थान (कूच) के कारण मृत्यु होती है, और कुटुम्बीजन रोते तथा चिल्लाते हैं।

(१६) चैत्र से लेकर फाल्गुन तक बारह मास बारह आदित्य-देवता हैं, क्योंकि ये बारह देवता बार-बार भ्रमण करते हमारे कर्मो के भोग देने और समाप्त करने के लिये प्रत्यावर्तन करते है। इन्हीं के परिभ्रमण के कारण नियत समय पर हमारे कर्म अपने भोग देने के लिये हम पर प्रभाव-शाली होते है। वसु-देवता क्रमश परिवर्तित होकर भौतिक शरीर के रूप में हमारे भोग की हवेली बनते हैं, और रुद्र-

देवता भोग के साधन-रूप इसमें जमा होते हैं, और बालक से युवा तथा युवा से बूढ़े होते हैं, अंत में इन्हीं के भ्रमण के कारण नियत समयों पर हमारे कर्म समाप्त होते हैं और मृत्यु आती है। चूँकि ये देवता हमारे कर्मों की रक्षा, बर्ताव और अंत के लिये एक न्याय की माप वा तुला हैं, इसलिये इनको आदित्य-देवता कहते हैं, क्योंकि जिस प्रकार तराजू एक-एक वस्तु को न्यायत लेता-देता है, उसी तरह ये बारह देवता भी न्याय और धर्म से हमारे भोग लेते-देते हैं। संस्कृत-कोष में जो इस प्रकार लेता-देता है, उसको आदित्य बोलते हैं। और यही आदित्य न्याय की तुला है।

(१७) बत्तीसवाँ देवता प्रत्यक्ष रूप से आकाश में बिजली देवता है, जो शक्ति और बल-रूप से हमारे संक्षिप्त शरीर में प्रकट हुआ है, और यही इंद्र है। इसी के कारण हम कुश्ती करते और युद्ध-विग्रह करते हैं, तथा शत्रुओं पर विजय लाभ करते हैं। और, यही देवता द्यावापृथिवी अर्थात् द्यु और पृथ्वी पर प्रजापति का पुत्र, देवताओं का सेनानायक और हमारी सेना का भी प्रधान सेनापति है। और इसी से हम हर काम में सहायता माँगते हैं। और यही हमारा पूज्य और आराधना करने योग्य है। और यही देवलोक में देवराज कहलाता है।

(१८) तैंतीसवाँ देवता प्रत्यक्ष प्राण-देवता है, जो महाप्राण वा महादेव है, और यही प्रजापति है, और यही

समस्त देवताओं की माता है, इसी कारण इसको अदिति कहते हैं। और यही इन सबका पिता है, इसी कारण इसको प्रजापति बोलते हैं। और यही सबका मूल है। क्या देवता, क्या पितर, क्या पुत्र, इसी की शाखाएँ और इसी की डालियाँ हैं। यह एक ही अनेक प्रकार का होकर समस्त संसार में फैला हुआ सब में सब कुछ करता है। यही वसु-देवता का रूप होकर सबके भोगों का घर अर्थात् पिंड और ब्रह्मांड-रूप हो रहा है। और यही ग्यारह रुद्र-रूप (देवता) होकर सबके भोग का साधन और यंत्र (करण) है। यही बारह आदित्य होकर प्रत्येक के भोग के देन-लेन में न्याय की तुला है। यही सब में बल-रूप होकर देवराज इंद्र है। यही हम में प्राण-रूप होकर हमारा जीवन हमारा पिता है, और हम इसी के पुत्र इसी के रूप हैं। इस प्रकार यह एक ही महाप्राण-रूप परमेश्वर तैंतीस देवता-रूप और पाँच पितर-रूप होकर वैश्वानर विराट् भगवान् देखने में आता है, जो "रहमान" कहलाता है।

(१६) इन देवताओं का विवरण, जो ऊपर वर्णन किया गया है, हमारी अपनी कपोलकल्पना नहीं, वरन् याज्ञवल्क्य मुनि ने, जो उच्चकोटि का वेदवेत्ता है, शाकल ब्राह्मण के प्रश्न में उसे स्पष्ट किया है। क्योंकि हम सुनते हैं कि राजा जनक की सार्वजनिक सभा में शाकल ब्राह्मण ने, जो द्वेष और क्रोध से दग्ध था, याज्ञवल्क्य से देवताओं का सूक्ष्म

प्रश्न किया था, और याज्ञवल्क्य मुनि ने इस गुप्त रहस्य को सार्वजनिक सभा में प्रकट कर दिखाया था।

(२०) * भीतर से जले-भुने शाकल ने कहा कि ऐ याज्ञवल्क्य! देवता कितने हैं? मुनिजी ने कहा, जितने वैश्वदेव की निविद् में कहे गये हैं, उतने ही देवता हैं। निविद् शास्त्र में उन मन्त्रों के समुदाय को बोलते हैं, जो देवताओं के नाम वैश्वदेव शास्त्र में नियत करते हैं।

(२१) फिर उसने कहा, संक्षेप से कहो। कहा, संक्षेप से तेंतीस देवता हैं। कहा, और भी संक्षेप करो। कहा, छः हैं। कहा, और भी संक्षिप्त करो। कहा, तीन हैं। कहा, और भी संक्षिप्त करो। कहा, दो हैं। कहा, और भी संक्षिप्त करो। कहा, डेढ़ है। कहा, और भी संक्षिप्त करो। कहा, एक है। कहा, निविद्-गणना में कौन-कौन हैं? कहा, ये सब इन्हीं तेंतीस की विभूतियाँ हैं। कहा, तेंतीस कौन-से हैं? कहा, आठ वसु-देवता हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं, एक इंद्र है, और एक प्रजापति है।

(२२) कहा, आठ वसु कौन-से हैं? कहा, अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, सूर्य, चंद्र, देवलोक और नक्षत्र हैं। इन्हीं में सब बसे हैं, इस कारण से वसु-देवता कहलाते हैं। कहा, ग्यारह रुद्र कौन-से हैं? कहा, दस इंद्रियाँ हैं जो

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ३, ब्राह्मण ६।

मनुष्य में ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय के रूप में प्रकट हो रही हैं, और ग्यारहवाँ मन है। जब ये देह से चल वसते है, तो रुलाते हैं, इसलिये रुद्र कहलाते है।

(२३) कहा, आदित्य कौन से हैं? कहा, यही बारह महीने है। यही सबकी आयु को लेते-देते हैं इसलिये आदित्य कहलाते हैं। कहा, इंद्र कौन है? कहा, जो गरजता है, वही इंद्र है। कहा, गरजता कौन है? कहा, जो चमकता है और बरसता है। कहा, प्रजापति कौन है? कहा, यज्ञिय। कहा, यज्ञिय कौन है? कहा, जो प्राणी हैं, वही यज्ञिय है।

(२४) कहा, छ देवता कौन-से हैं जो इनका भी सक्षेप है? कहा, अग्नि, पृथ्वी, वायु, अतरिक्ष, सूर्य और देवलोक है। कहा, इनका भी सक्षेप तीन कौन हैं? कहा, तीन लोक है। देवलोक और सूर्यलोक मिलकर परलोक है, और पृथ्वी तथा अग्नि मिलाकर इह (नीचे का) लोक है। अतरिक्ष और वायु मिलकर मध्यलोक है, और समस्त देवता इन्हीं का तेज वा प्रकाश हैं।

(२५) कहा, दो सक्षेपपूर्वक कौन-से देवता हैं? कहा, प्राण और रयि (अन्न)। कहा, डेढ़ कौन है? कहा, जो चलता है। कहा, क्यों डेढ़ है? कहा, जो आप बेपरवा (स्वच्छंद) हो और दूसरों के लिये दाता हो, वही डेढ़ होता है। प्रत्येक श्वास, जो भीतर जाता है, जीवन का सहायक है। प्रत्येक श्वास, जो बाहर निकलता है, स्वत आनददायक

है। इसलिये यह वायु ही दाता है और यही डेढ़ है। यदि यह न हो, तो कुछ भी जीवित न हो। कहा, एक कौन है? कहा, प्राण है। यही ब्रह्म है। यही अदृष्ट परमेश्वर है। इसी को संस्कृत में त्यद् बोलते हैं।

अध्याय छठा

(१) अब यों समझो कि देवता की असलियत वास्तव में प्राण है, जिसको फारसी-भाषा में रूह कहते हैं। अत एक ही महान् प्राण फैलता हुआ अनेक प्राण हो जाता है। इन्हीं को देवता बोलते हैं, और इनकी खास मूर्तियाँ देवलोक में विद्यमान हैं, परंतु इनकी विभूतियाँ समस्त संसार में फैलती सबमें सब कुछ करती है। इनकी मूर्तियों की उपमा सूर्य के समान है, और इनकी विभूतियों की उपमा किरणों के समान है, जो सूर्य से निकलती और संसार मे फैलती हैं।

(२) जिस प्रकार सूर्य की खास मूर्ति आकाश में मौजूद है, उसी प्रकार देवताओं की खास मूर्तियाँ देवलोक में मौजूद हैं, और प्रत्येक की शास्त्रीय आकृति शास्त्र में अंकित है। परंतु जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों में विकीर्ण होता संसार में फैलता है, उसी प्रकार यह देव-मूर्तियाँ भी विकीर्ण होती प्राण-रूप संसार मे व्यापक हो रही हैं।

(३) महान् प्राण की फैलावट, जो महान् देव है, दो

प्रकार की है। पहली फैलावट उसकी जो सामान्य है, पाँच प्रकार की होती है। क्योंकि इस फैलावट में या तो वह (प्राण) खींचता है, या निकालता है, या रोकता है, या पचाता है, या बनाता है। जब वह खींचता है, तो प्राण, जब निकालता है, तो अपान, जब रोकता है, तो व्यान, जब पचाता है, तो समान, और जब बनाता है, तो उदान कहलाता है। फारसी में प्राण को रूहे-जाजबा, अपान को रूहे-दाफिया, व्यान को रूहे-मासिका, समान को रूहे-हाजिमा और उदान को रूहे-गाजिया कहते हैं। इन्हीं को पचप्राण कहते हैं और ये पचप्राण ही सारे ससार में क्या खनिजवर्ग, क्या वनस्पतिवर्ग, क्या प्राणिवर्ग, क्या आकाशीय, क्या पार्थिव, सबमें सब कुछ करते हैं।

(४) देखो, जब हम भोजन करते हैं, तो उसे प्राण निगलता है, और उस निगले हुए भोजन को व्यान आमाशय में रोकता है, और समान उसको पकाता है, और अपान उसके मल को बाहर निकालता है, और उदान उसके शुद्ध अश को रक्त, मास, त्वचा बनाता हमारे रक्त और मास-त्वचा में मिलाप दिलाता है।

(५) फिर चूँकि हममे श्वास क्षण-क्षण में चलते हैं, इसलिये वह जो भीतर को श्वास खींचता है, प्राण है, वह जो बाहर निकालता है, अपान है। किंतु हम नियत समय तक श्वास को रोक सकते हैं, अत वह जो रोकता है,

व्यान है। और यह स्पष्ट है कि श्वास के द्वारा हम वायु भक्षण करते हैं, अत वह जो उसको शुद्ध करता है, समान है, वह जो खिलाता है, उदान है। दूसरी तरह से भी स्पष्ट है कि नाड़ियाँ हमारी बराबर चलती हैं। जब वे खुलती हैं, तो अपान का काम करती हैं, जब वह मिलती हैं, तो प्राण का काम करती हैं। और, यह स्पष्ट है कि जब कभी हम बल से काम करते हैं, तो न वह खुलती हैं, न मिलती हैं, उस समय व्यान काम करता है। जैसे जब कठोर धनुष को हम बलपूर्वक खींचते हैं, तो उस समय श्वास और नाड़ियाँ बंद हो जाती हैं। वह जो उनको बंद करता है, वही व्यान है। और यह भी स्पष्ट है कि रक्त जो नाड़ियों में चलता है, उन्हीं में हज़म होता है। वह जो इस प्रकार रक्त को पकाता या पचाता है, समान है। फिर पचे हुए रक्त को जो नाड़ियों और प्रत्येक अग में उन्हीं का रूप बनाता है, वही उदान है। मल, मूत्र, पसीना को जो दूर करता है, वह अपान है।

(६) वनस्पतियाँ भी हमारी भाँति आहार करती, हवा खाती, और बढ़ती-फलती हैं। यदि उनमें पंचप्राण न होते, तो कैसे खातीं और किस प्रकार बढ़तीं या फैलतीं। देखो, पौदों में खाद और पानी जितना अधिक दिया जाता है, उतना ही वह अधिक फलते-फूलते हैं। फिर चूँकि धरती में जो वस्तु तोप दी जाती है, धरती उसको खा जाती है और उसको मिट्टी बनाती, अपने में मेल दिलाती है। इसी

तरह अग्नि में होम की वस्तु भी जलती अग्नि हो जाती है, पानी में गिराई हुई गलती, और हवा में शुष्क हो जाती है। इस प्रकार विचार करने से मालूम हो सकता है कि ये पचप्राण सबमें सब कुछ करते ह।

(७) यद्यपि विद्वानों ने विशेष-विशेष कामों के कारण उनके पृथक् पृथक् नाम नियत किए हैं। जैसे उदान को, जो हमारे शरीर में काम करता है, उदान प्राण (रूहे-गाजिया) नाम दिया है, और यही जब वीर्य को गर्भ म अलक (बुदबुद या जमा हुआ रक्त), मुज़ग्गा (लोथड़ा व स्पष्ट शरीर) और जनयन (निकट-प्रसव बालक) बनाता है, तो जनानेवाला (जन्म देनेवाला प्राण या रूहे मौलदा) नाम उसका किया है, और यही जब मृत्यु में मन को उड़ा ले जाता है और उन सबकों पर जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, एक के बाद दूसरा रूप बनाता पितरों से मेल दिलाता है, यमराज (मल्कुलमौत या हालिका) नाम पाता है। तो भी संस्कृत में उसको उदान-प्राण कहा जाता है।

(८) यही उदान-प्राण भोजन को हमारे अग-अग में ले जाता, अग-रूप बनाता है और फिर उनसे निचोड़ करता वीर्य बनाता है। और फिर यही नियत समय पर गर्भाशय में वीर्य को ले जाता है, और वहाँ लोथडा, बुदबुद, कलकल बनाता दसवें महीने में मनुष्य बनाता है, और मनुष्यलोक के भोग दिलाता है। परतु जब उसके यहाँ के भोग समाप्त

हो जाते हैं, तो यही उदान उसको यहाँ से उड़ा ले जा
है। या तो धरती में मेल दिलाता है, और धरती से वनस्पि
वनस्पति से अन्न, अन्न से रक्त, रक्त से वीर्य, और ना
जाति के नर-नारी में निकालता हुआ कीट-पतंग अथ
पशु-पक्षी की योनियाँ दिलाता है।

(६) फिर जब हमारे स्वर्गीय भोग उदय होते हैं, त
यही उदान-प्राण हमको अग्नि बनाता है। अग्नि से दि
और दिन से शुक्ल-पक्ष, इस तरह देवयान-सड़क प
देवलोक में ले जाता है, और देवता बनाता है, और इस
तरह पितृयाण-सड़क पर ले जाता सोमलोक में सोमरा
बनाता है। अत यही उदान (प्राण) स्रष्टा, पोषक, हर
और कर्त्ता है, और यही हमारा इष्ट फल है। इसी के चुंग
में हम अपने कर्मों के कारण कुछ के कुछ बन जाते हैं
कभी हम पृथ्वी पर पशु होकर चरते हैं, कभी पक्षी होक
उड़ते हैं, कभी गधा-ऊँट होकर लादे जाते हैं, और मा
खाते हैं। कभी हम स्वर्गलोक में क्रमोन्नति करते सत्य
संकल्प देवता होते और दिव्य परिधान (वस्त्र या कोप
पहनते सारे संसार के मालिक बनते हैं। जितनी संसार
विचित्रता है इसी उदान-प्राण की विचित्रता है, और इस
के काम वास्तव में ईश्वरीय काम कहलाते हैं। और य
एक ही महान् देव पंचप्रकार के नामों से संसार में व्याप
हुआ ससार का राज करता है।

(१०) यद्यपि यह अकेला ही महाप्राण पाँच नामों से ससार में व्यापक हुआ सबमें सब कुछ करता है, तो भी विद्वानों ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक स्थिति वा दृष्टि से इसी को तीन भागों में विभक्त किया है। क्योंकि जितना भाग इसका शरीरों और मनों वा व्यक्तियों में प्रविष्ट है, उसे आध्यात्मिक प्राण (कहे अनफ्सी) कहा करते हैं, जितना अश इसका देवलोक अर्थात् देव मूर्तियों में प्रविष्ट है, उसे आधिदैविक (कहे-अलाही) बोला करते है, और जितना भाग इसका ससार में प्रविष्ट है, उसे आधिभौतिक प्राण (कहे-आफाकी) कहा करते हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकार के प्राण हुए।

(११) आध्यात्मिक प्राणों के पचविध नाम शरीरों और व्यक्तियों में व्यापक समझे जाते है, और आधिभौतिक प्राणों के नाम ससार में व्याप्त हैं, और आधिदैविक प्राणों के नाम देवताओं में विस्तृत हैं। परन्तु कुछ उनमें प्रकट हैं और कुछ गुप्त। अत जहाँ-जहाँ प्रकट हैं, वहीं वहीं उनके मुख्य स्थान नियत किए गए हैं। जैसे अध्यात्म प्राण का मुख्य स्थान मुख और नासिका है, अपान का स्थान गुदा, समान का स्थान पक्वाशय (मेदा), ... का स्थान नस और नाड़ी, और उदान का स्थान वह नाड़ी है जो ऊपर मस्तिष्क को ... जिसे सस्कृत में सुषुम्ना-नाड़ी बोलते हैं।

(१२) इस तरह आधिभौतिक प्राण भी यद्यपि सारे संसार में फैले हुए है, तो भी प्राण का मुख्य स्थान सूर्य है। क्योंकि वही संसार का केंद्र है और सब उसी की आकर्षण-शक्ति से खिंचे हुए अपने-अपने स्थान पर चक्कर खाते हैं। और, वही देवता नेत्र पर कृपा करता, उसे देखने में सहायता देता है।

(१३) पृथ्वी में जो आकर्षणशक्ति है, वही महा-अपान है, क्योंकि वही पार्थिव (वा पृथ्वी-निवासियों) को सूर्य की ओर जाने से अपनी ओर बुलाती है, और सूर्य की ओर से हटाती है। और इसी महाअपान में आध्यात्मिक अपान उसी तरह सहायता पाता है, जिस तरह एक खेमे की लकड़ियों को चारों ओर की डोरियाँ स्थिर रखती हैं, और हवा की चोट से रोकती हैं।

(१४) यह स्पष्ट है कि भूमि चारों ओर से बराबर हमको उसी तरह खींचती है, जिस तरह डोरियाँ खेमे की लकड़ियों को बाहर से बराबर खीचती हैं, और इस भूमि-देवता की कृपा से आध्यात्मिक अपान उसी तरह गुरुत्वा-कर्षण (Law of Gravitation) पैदा करता है, जिस तरह खेमा की लकड़ी उन डोरियों के खिंचाव में सीधी खड़ी होती है। और उसी गुरुत्वाकर्षण में हम भूमि पर चलते हैं।

(१५) यदि आध्यात्मिक और आधिभौतिक अपान इस

तरह गुरुत्वाकर्षण न बनाता, तो निःसंदेह हम भी पृथ्वी में उसी तरह गिरकर चिमट जाते, जैसा कि एक पत्थर गिरता हुआ पृथ्वी में लिपट जाता है। अतः यही पृथ्वी की शक्ति पृथ्वी की विचवानी है। इसी को संस्कृत में पृथ्वी का देवता बोलते हैं।

(१६) पृथ्वी और सूर्य के बीच में जो अंतरिक्ष या आकाश है, वही आधिभौतिक समान का मुख्य स्थान है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु का पकना इसी आकाश में होता है। और, जो इसमें वायु है, वही व्यान का मुख्य स्थान है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की रोक वायु से होती है। और, जो इसमें उष्णता है, वही महान् उदान का मुख्य स्थान है। इसी कारण प्रत्येक वस्तु का पालन-पोषण उष्णता से होता है।

(१७) ये बातें जो ऊपर वर्णन हुई हैं, हम ही नहीं कहते वरन् पिप्पलाद मुनि ने आश्वलायन ऋषि के प्रश्न पर इसी तरह उत्तर दिया है। * आश्वलायन ऋषि ने पिप्पलाद से पूछा कि भगवन्! यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है, किस प्रकार शरीर में आ जाता है, किस तरह फैलता हुआ एक से अनेक (प्राण) हो जाता है, किस तरह निकल जाता है, और किस तरह अध्यात्म और अधिभूत में विभक्त होता है?

(१८) मुनिजी ने उससे कहा कि तुम गंभीर रहस्यों को

* देखो प्रश्नोपनिषद्, तीसरा प्रश्न।

जानना चाहते हो। हर कोई यह रहस्य नहीं समझ सकता। परंतु तुम भी रहस्यविदों में समझे जाते हो, इसलिये मैं उस बड़े रहस्य का दिग्दर्शन कराता हूँ। आत्मा से यह महाप्राण प्रकट होता है। इसके प्रकट होने में छाया का उदाहरण है। जिस प्रकार मनुष्य की छाया मनुष्य से निकलती है और तुच्छ होती है, उसी तरह यह प्राण आत्मा से निकलता और तुच्छ होता है।

(१६) अपने-अपने कर्मों के फलों के बंधन में अपने संकल्प से यह शरीर में आ जाता है, और उससे संबंध पाता है। और जिस तरह एक ही सम्राट् अपने-अपने प्रांतों में अनेक शासक भिन्न-भिन्न अधिकारों से नियुक्त करता है कि अमुक-अमुक शासक अमुक-अमुक भवन में इजलास (शासन) करे और इतने-इतने इलाके में यह काम करे, इसी तरह यह महाप्राण अन्य प्राणों को विशेष-विशेष अंगों में इजलास देता है और विशेष-विशेष स्थान में विशेष-विशेष काम करने की आज्ञा करता है।

(२०) जैसे अपान को मुख्य करके गुदा और उपस्थ में विठाता है, आँख, कान, नाक, मुँह में प्राण को विठाता है, आमाशय में समान को विठाता है जिससे कि वह (भोजन) पचावे। यही है जो अन्न को पकाता है, इसी से आध्यात्मिक प्राण वा ज्ञानेंद्रियाँ किरणों की भाँति मस्तिष्क में निकलती हैं, और ज्ञान तथा चेष्टा की शक्ति

का कारण होती हैं, और यही इंद्रियाँ मिलकर सूक्ष्म-शरीर (लतीफा-ए-नफसानी) है, जो मनुष्य-देह की असलियत है।

(२१) * हृदय-कमल से, जो मांस का टुकड़ा है और जीवात्मा की मुख्य राजधानी है, एक सौ एक (१०१) नाड़ियाँ निकलती हैं, और हरएक नाड़ी में फिर महीन नाड़ियाँ शाखाओं की भाँति सौ-सौ निकलती हैं, और हरएक शाखा में अति सूक्ष्म नाड़ियाँ शाखा-प्रतिशाखा की भाँति बहत्तर-बहत्तर हजार निकलती और फैलती हैं।

---

* एक सौ एक नाड़ियाँ तो मौलिक हैं, शेष उनकी शाखाएँ हैं। इस एक एक मौलिक नाड़ी की एक-एक सौ शाखाएँ हैं। अर्थात् इन १०१ असल नाड़ियों की दस हज़ार एक सौ (१०१००) शाखाएँ हैं, और इन शाखा-रूपी नाड़ियों में से प्रत्येक शाखा की बहत्तर हज़ार (७२०००) नाड़ियाँ हैं, अर्थात् १०१०० × ७२००० = ७२७२०००००० शाखा-प्रतिशाखा नाड़ियाँ है। यदि इनमें मौलिक और शाखाएँ रूप नाड़ियाँ मिलाई जायँ, तो १०१+१०१००+७२७२०००००= ७२७२१०२०१ अथात् बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हज़ार और दो सौ एक सब नाड़ियाँ होती हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् २–१–१९ और ४–३–२०। कठोपनिषद् ६–१६ और कौषीतकी उपनिषद् ४–२० में भी इन नाड़ियों का ब्योरेवार वर्णन आया है, यद्यपि परस्पर कुछ भिन्नता है।

और ये नाड़ियाँ धमनी और शिराओं से बनाई गई हैं, उनमें व्यान रहता है।

(२२) इन नाड़ियों और नसों से जो एक नाड़ी (सुषुम्ना) ऊपर को जाती है और मस्तिष्क तथा हृदय में मिली है, उसमें उदान रहता है। जब कर्म के भोग इस शरीर में समाप्त होते हैं, तो समस्त आध्यात्मिक इन्द्रियाँ पहले सूक्ष्म शरीर में जो मन है, लीन होती हैं, और फिर मन को यह उदान-प्राण उस तरह शिकार करके ले जाता है जिस तरह बाज-पक्षी चिड़ियों को शिकार करके ले जाता है। और फिर उसी के पुण्य के अनुसार पुण्यलोक में देवता या सोमराज बनाता है, और उसी के पाप के अनुसार पापलोक में कीट-पतंग के रूप में उठाता है, और पाप-पुण्य की समानता से मानवी चोला पिन्हाता है।

(२३) सूर्य वास्तव में बाहर का प्राण है। नेत्रों पर कृपा करता हुआ यही प्राण उदय होता है। पृथ्वी में जो देवता है, मनुष्य के अपान को सम्हालता हुआ बाहर का अपान है। यह जो आकाश है, यही समान है, यह जो हवा है, यही बाहर का व्यान है, यह जो उष्णता है, यही उदान है।

(२४) यही कारण है कि जब मनुष्य में प्राण-शक्ति बुझने लगती है। तो यह उदान लौटता है अर्थात् गमन करता है। पहले ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय मन में

हैं, और फिर मन प्राण में लय होता है, और प्राण उदान में लय होता है। और यह उदान जैसा मनुष्य का निश्चय और कर्म होता है, उस (भोक्ता) को लिए हुए उन्हीं तीन सड़कों में से एक सड़क पर, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, एक के बाद दूसरा रूप बनाता, उसी की इच्छा और विश्वास के अनुसार तीन लोक में से एक लोक को ले जाता है और नए भोगों के लिये उठाता है।

(२५) जो व्यक्ति इस प्राण की इस प्रकार उत्पत्ति को, इसके मुख्य स्थानों को, इसकी इन विचित्रताओं को, और पचविध, द्विविध विभाग को जानता है, नि सदेह वह अमृत होता है, और प्रजापति से मेल पाता है, ऐसा वेद के मत्र साक्षी देते है।

अध्याय सातवाँ

(१) इस महाप्राण की दूसरी फैलावट सोच समझ रूप होती है। जब यह महाप्राण हृदय-कमल में इस फैलावट से खुलता है, तो इसी को मन अर्थात् दिल कहा करते हैं। और मन चूँकि उस पचविध प्राण का पुत्र है, उसी की आकृति पर उत्पन्न किया गया है। क्योंकि जो जिससे जना जाता है, उसी की आकृति पर होता है, और वह पचविध प्राण वास्तव में प्रजापति का स्वरूप है,

और यह मन (अंत करण) मनुष्य की असलियत है।

(२) जिस प्रकार प्रजापति फैलता हुआ अनेक प्राण हो जाता है, उसी प्रकार यह मन भी फैलता हुआ अनेक संकल्प और वृत्तिरूप होता है। जिस तरह देवलोक में प्रजापति से अनेक प्राण वा दिव्य शक्तियाँ निकलती, जुदा-जुदा विशेष मूर्तियाँ धारण करती हैं और प्रजापति में एक होती हैं, उसी तरह मन की वृत्तियाँ भी मन से निकलती जुदा-जुदा सकल्पमय रूप धारण करती मन से एक होती हैं।

(३) जब यह मन मस्तिष्क में फैलता है, तो यह दो प्रकार से विभक्त होता है, या तो यह ज्ञान (इंद्राक) में विभक्त होता है या कर्म (हरकत) में। और हरएक विभाग फिर पंचविध होता है। ज्ञान (बोध) के विभाग में या तो वह देखता है, या सुनता है, या छूता है, या चखता है, या सूँघता है। जब वह देखता है, तो उसी का नाम चक्षु होता है, जब सुनता है, तो श्रोत्र, जब छूता है, तो त्वक्, जब चखता है, तो रसना, और जब सूँघता है, तो घ्राण कहलाता है। फारसी-भाषा मे चक्षु को बासरह, श्रोत्र को साम्य, त्वक् को लाम्स', रसना को जायिक़ और घ्राण को शाम्म कहते हैं।

(४) यही पंच प्रकार की इद्रियाँ ज्ञान वा बोध के साधन या करण कहलाती हैं, और इन्ही को संस्कृत में पंच-ज्ञानेंद्रियाँ कहते हैं।

(५) दूसरे (कर्म के) विभाग में या तो वह (मन) बोलता है, या पकड़ता है, या चलता है, या छोडता है, या आराम पाता है। जब वह बोलता है, तो वाक्, जब वह पकड़ता है, तो पाणि, जब वह चलता है, तो पाद, जब वह (मल) त्यागता है, तो पायु, और जब वह आनद करता है, तो उपस्थ कहलाता है। फारसी-भाषा में वाक् को कलाम, पाणि को कबूल, पाद को रफ्तार, पायु को तर्क और उपस्थ को आराम कहते हैं।

(६) यही पच प्रकार की इंद्रियाँ चेष्टा या कर्म का साधन या करण कहलाती हैं, और इन्ही को सस्कृत में पच-कर्मेंद्रियाँ कहते हैं।

(७) चक्षु-इद्रिय का मुख्य स्थान नेत्र है, श्रोत्र का कान है, त्वक् का त्वचा और मास है, रसना का जिह्वा है, घ्राण का नासिका है, वाणी का स्थान मुख है, पाणि का हाथ है, पाद का पैर है, पायु का गुदा, और उपस्थ का लिंग है। इसी कारण आँख से देखता, कान से सुनता, जिह्वा से चखता, मास-त्वचा से स्पर्श करता, नाक से सूघता, मुँह से बोलता, हाथों से पकड़ता, पाँवो से चलता, गुदा से मल त्यागता और लिंग से विषयानद करता है।

(८) यद्यपि यह मन प्रजापति का पुत्र प्रजापति की तरह फैलकर पचज्ञानेंद्रियाँ और पचकर्मेंद्रियाँ का रूप हुआ है और भिन्न भिन्न स्थानों में इजलास करना विशेष-विशेष

काम करता है, तो भी आप प्रजापति की भाँति हृदय-कमल में सिंहासनासीन होकर सबके ज्ञान और कर्म में सोच-विचार करता सबका शासक सब पर आज्ञा करता है। जब यह चाहता है तो आँख खुलती है और देखती है, जब यह चाहता है, तो वाणी बोलती है। इसी तरह प्रजापति की भाँति सब इसके अधिकार में और इसके आज्ञानुवर्ती हैं।

(९) इसकी कर्मेन्द्रियाँ रूप फैलावट उसी फैलावट पर है जो पंचविध प्राण में प्रकट की गई है, और यह फैलावट जो ज्ञानेंद्रियाँ रूप है, प्रजापति की विज्ञानमय इंद्रियों पर है, जिसका अभी उल्लेख नहीं हुआ। इसी कारण यह पुत्र भी पिता की आकृति पर उत्पन्न हुआ उसी का राजकुमार उसी तरह इस पिंड में राज करता है, जिस तरह प्रजापति ब्रह्मांड में राज करता है।

(१०) जिस तरह मनुष्य का मन हृदय-कमल में खुलता सोच-विचार रूप होता है, उसी तरह प्रजापति का मन भी उस चंद्र में, जो सूर्य के चारों ओर फिरता है, सोच-विचार रूप खुलता है। जिस तरह हृदय-कमल में आकाश है, जो हृदयाकाश कहलाता है, उसी तरह चंद्रमा में भी आकाश है, जो प्रजापति का सिंहासन वा देवलोक कहलाता है, जिसे फारसी में अर्श कहते हैं। जैसा हृदयाकाश मानवी सोच-विचार का मुख्य स्थान है, उसी तरह देवलोक (अर्श) भी प्रजापति के सोच-विचार का मुख्य स्थान (महल) है।

(११) जिस तरह हृदय कमल से लेकर मस्तिष्क और आँख तक जो आकाश है, मन का दरबार है, उसी तरह उस चन्द्रमा से लेकर सूर्य तक जो आकाश है, वह कुरसी कहलाता है, और संस्कृत में उसे देवलोक कहते हैं। प्रजापति का मन यहाँ फैलना उसी तरह काम करता है, जैसा कि हमारा मन मस्तिष्क (दिमाग) में फैलता काम करता है।

(१२) यहाँ देवलोक में प्रजापति भी या देखता है, या सुनता है, या छूता है, या चखता है, या सूँघता है। जब वह देखता है, तो उसी का नाम आदित्य-देवता होता है, जब सुनता है, तो उसी को दिक् देवता बोलते हैं, जब छूता है, तो उसी को मरुत् देवता बोलते हैं, जब चखता है, तो उसी को वरुण-देवता बोलते हैं, जब वह सूँघता है, तो उसी को अश्विनीकुमार बोलते हैं। जिस तरह चक्षु का मुख्य स्थान नेत्र है, उसी तरह आदित्य का मुख्य स्थान सूर्य है, दिक् का मुख्य स्थान दिशाएँ हैं, मरुत् का मुख्य स्थान वायु है, वरुण का मुख्य स्थान जल है, और अश्विनीकुमार का मुख्य स्थान (लोक) अश्विनीकुमार (पृथ्वी) है।

(१३) फिर जिस तरह हमारा मन आँख, नाक, कान में, जो इंद्रियाँ हैं, एकता का संबंध रखता है, उसी तरह प्रजापति का मन हमारे समस्त व्यष्टि मनों से एकता का

संबंध रखता है। क्योंकि जब हम चक्षु से देखते हैं, तो उसी देखी हुई वस्तु को मन से स्मरण करते हैं, और जब हम सुनते हैं, तो उसी सुनी हुई वस्तु को मन से पूर्ववत् स्मरण करते हैं। और यह स्पष्ट है कि जो देखता है, वही स्मरण करता है, और जो सुनता है, वही याद करता है। यद्यपि चक्षु-इंद्रिय देखती है सुनती नहीं, यद्यपि कान सुनता है देखता नहीं, तो भी मन चक्षु की देखी वस्तु को देखता और कान से सुनी वस्तु को सुनता है, इसलिये एक ही मन ज्ञानेंद्रियों में एकता का संबंध रखता है और उन्हीं का तद्रूप है, यद्यपि इंद्रियाँ अपने-अपने रूप से तो पृथक्-पृथक् हैं।

(१४) प्रजापति का मन भी हमारे मनों के सोच में सोच करता है और हमारे मनों के विचार में विचार करता है। यद्यपि देवदत्त का मन यज्ञदत्त के मन से सोच-विचार नहीं करता और यज्ञदत्त का मन देवदत्त के मन से सोच-विचार नहीं करता, तो भी प्रजापति का मन सबके मनों से समस्त सोच-विचार पाता है। इसी कारण वह सबके मनों की बातें जानता है, और अपना मुख्य सोच-विचार देवलोक में करता है।

(१५) जिस प्रकार आँख का देखना मन का देखना है, और कान का सुनना मन का सुनना है, उसी तरह ब्रह्मदत्त, यज्ञदत्त और देवदत्त का सोचना प्रजापति का सोचना है,

और इंद्र, वरुण, यम देवता का सोचना भी प्रजापति का सोचना है। इस तरह क्या मनुष्य और क्या देवता, क्या पशु और क्या पक्षी, सबके मन वास्तव में अलग-अलग हैं, और प्रजापति का मन उन सब अलग-अलग मनों की समष्टि है। और, यह स्पष्ट है कि समष्टि प्रत्येक व्यष्टि की तद्रूप होती है, अतएव प्रजापति का मन हरएक मन का तद्रूप होता है।

(१६) जब कि उसका मन प्रत्येक मन का तद्रूप है और प्रत्येक का मन प्रत्येक की इंद्रियों का तद्रूप है, तो प्रजापति का मन प्रत्येक की इंद्रियों का भी तद्रूप है। इसी कारण जो हम देखते या सुनते हैं, वास्तव में प्रजापति देखता या सुनता है, और जो बोलते या चलते हैं, वास्तव में प्रजापति बोलता या चलता है। और जिस प्रकार हमारे मन और ज्ञानेंद्रियों को, वरन् कर्मेंद्रियों को भी हमारे एक शरीर में एकता का संबंध है, उसी तरह प्रजापति की ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों को भी हमारे शरीरों से एकता का संबंध है। यद्यपि हमारा शिर एक है, परंतु समस्त शिर प्रजापति के हैं, यद्यपि हमारी आँखें दो हैं, परंतु समस्त आँखें प्रजापति की हैं, यद्यपि हमारे कान दो हैं, परंतु समस्त कान प्रजापति के हैं। इसीलिये वेद के मंत्र उसकी स्तुति करते हैं कि हजारों उसके शिर हैं, हजारों उसकी आँखें हैं, और हजारों उसके कान हैं, और हजारों उसके पाँव हैं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
(श्वेताश्वतर, ३, १४)

(१७) इसी तरह क्या मनुष्य और क्या देवता, क्या पशु-पक्षी, क्या भूत और क्या भूत-समूह, क्या पृथ्वी और क्या आकाश, सबमें सब रूप प्रजापति है, और यही संसार समष्टि-रूप से उसका विराट्-शरीर है, और यही महान् प्राण उसमें तद्रूप हुआ उसी का प्राण है। इसी कारण वही प्रत्यक्ष विराट् भगवान् के रूप में हमें नेत्रों से दिखलाई देता है। यह पितर और देवता जो ऊपर वर्णन हुए हैं, उसी के अंग, उसी के व्यष्टि-रूप हैं, और वह सबमें व्यापक, सर्व-रूप, एकमेव विराट् पुरुष है।

(१८) देवलोक उसका असली सिर है, सूर्य उसकी आँख है, दिशाएँ उसके कान हैं, धरती उसके पाँव हैं, समुद्र उसका मूत्राशय है, अग्नि उसका मुख है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु उसी का अंग, उसी का अंश है, और वही समष्टि-रूप, सबका पिता, सबका पालनहार, जगत्-रूप, शारीरिक आकृति में प्रकट हुआ है। हम सब उसी के पुत्र, उसी के अंश हैं, और उसी के उत्तराधिकारी हैं।

(१९) चन्द्रलोक में वह स्वयं सोच-विचार करता हुआ हमारे मनों में भी तद्रूप हुआ सोच-विचार करता है। सूर्य में बैठकर सबको देखता हुआ भी हमारे नेत्रों में देखता है।

हमारा देखना उसी का देखना है, और उसका देखना हमारा देखना है। हमारे भोग उसी के भोग हैं, हमारे सुख उसी के सुख हैं, हमारे पुण्य उसी के पुण्य हैं। परतु हमारे पाप से वह आलेप नहीं पाता, अर्थात् हमारे पाप से उसका कोई सपर्क नहीं होता, और इसीलिये हमारे दु खों से वह दु खी नहीं होता, क्योंकि उसने पहले कल्प में अपने सुकृत कर्मों से यहाँ प्रजापति का पद पाया है, और उन्ही सुकृत कर्मों के कारण अब समष्टि-रूप में वह उठा है। इसी कारण समस्त सुख और ऐश्वर्य के लिए वह सबका तद्रूप हुआ है, ताकि वह सबके पुण्य और सुख का भोक्ता होवे। हमारे दुष्कर्मों के फल दु खों के रूप में हमको पीडित करते हैं, परतु उस प्रजापति पर प्रभाव नहीं डालते। यही विधान या निर्देश है।

(७०) पचप्राण और देवता भी, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है, यद्यपि प्रजापति की तरह एक-एक काम के लिये सारे ससार में पहले सब कामों का तद्रूप ह, तो भी वे समस्त देवलोक में विशेष मूर्तियाँ पुण्य-रूप धारण करके अपने-अपने पद के अनुसार अपने पुण्य भोगते ह, और उन्हीं पुण्यों के कारण हमारे पुण्य और सुखों के अधिकार भी प्रजापति की भाँति पाते हैं। इसी कारण लिखा है कि देवता पुण्यलोक में प्राप्त होते पुण्य के भागी हैं, और पापमय योनियाँ केवल पाप की भागी हैं। परतु मनुष्य

जो समान पुण्य-पाप से बनाया गया है, सुख और दुःख दोनों को पाता है।

(२१) इन देवताओं की मूर्तियाँ जो देवलोक में मौजूद हैं, उनके लिखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हिंदी-भाषा जाननेवाला पुराणों में उन्हें मालूम कर सकता है। उन मूर्तियों के संबध के कारण वे (पंचप्राण या देवता) उसी तरह वर्ताव करते हैं, जिस तरह हम भी शरीर के संबंध के कारण इस लोक में वर्ताव करते हैं। और चूँकि वे अपने-अपने उत्तम पुण्य के कारण पुण्यलोक को पाते हैं और हमारे भोग और उन्नति के लिये साधन या द्वार हैं, इसी कारण आराधनीय और पूज्य हैं, और उसी शास्त्रीय मूर्ति से, जो देवलोक में वे रखते हैं, ध्यान किए जाने के योग्य हैं।

(२२) जिस तरह प्रजापति की चित्त-वृत्तियाँ हमारी चित्त-वृत्तियों की तद्रूप हैं, और जिस तरह उसकी इंद्रियाँ हमारी इंद्रियों की तद्रूप हैं, उसी तरह पंचप्राण भी हमारी कर्मेंद्रियों के तद्रूप हैं। और यही पंचप्राण भी उसी की समष्टि कर्मेंद्रियाँ हैं। जिस तरह हमारी कर्मेंद्रियाँ इस पृथक्-पृथक् मन के अधीन हैं, उसी तरह यह पचप्राण भी उस समष्टि मन के अधीन हैं। क्योंकि जिस तरह हमारा संकल्प होता है, उसी तरह ये कर्मेंद्रियाँ काम करती हैं, उसी तरह जैसा-जैसा देवलोक में प्रजापति संकल्प करता है, यह पंचप्राण भी काम करते हैं। और जिस तरह यह हमारी

परिमित वा परिच्छिन्न देह हमारा शरीर है, उसी तरह यह महान् शरीर, जो विराट् है, प्रजापति की देह और उस.. भोग का साधन है। और जिस तरह हमारा अलग-अलग मन ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों से मिलकर समुदायरूप से सूक्ष्म शरीर या अंतःकरण कहलाता है, उसी तरह यह समष्टि मन समस्त देवताओं से मिलकर हिरण्यगर्भ कहलाता है।

(२३) प्रजापति जिस तरह अपने विराट् शरीर और हिरण्यगर्भ से मिलाप पाया हुआ जीवित पुरुष है, हम भी अंतःकरण और सूक्ष्म शरीर से मेल पाए हुए जीवित पुरुष या जीती-जागती जान हैं। जिस तरह यह ब्रह्मांड में प्रविष्ट हुआ राज्य करता है, हम भी उसी की आकृति पर इस संक्षिप्त पिंड में (प्रविष्ट हुए) राज्य करते हैं।

(२४) देखो, जब हम चाहते हैं कि एक ओंकार लिखें, तो पहले हमारे हृदय-कमल में संकल्प उठता है, और फिर मस्तिष्क में उसकी आकृति का ध्यान होता है, फिर कर्मेंद्रियों और ज्ञानेंद्रियों के द्वारा वही ध्यान की हुई ओंकार की आकृति लेखनी और स्याही से बाहर कागज पर बनाते हैं।

(२५) प्रजापति भी जब कोई वस्तु बनाया चाहता है, तो पहले उसका संकल्प चंद्रलोक में, जो देवलोक (स्वर्ग) है, उठता है, और उसकी आकृति का ध्यान देवलोक में

होता है, फिर देवताओं और नक्षत्रों के द्वारा उसी नियम से भूलोक में गति होती और वाह्य आकृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार समग्र वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, और समस्त देवता, पितर तथा समस्त नर-नारी उसी के कारण और करण (साधन) हैं, क्योंकि कुछ वस्तुयें तो केवल देवताओं की विचवानी से अर्थात् देवताओं के वसीले बनती हैं और कुछ मनुष्य की विचवानी (वसीले) से। इसी कारण वह प्रजापति कारणों का कारण कहलाता है।

(२६) प्रजापति का संकल्प अपने भोग और ऐश्वर्य के लिये अपने पुण्य कर्मों के बंधन में है, परन्तु दूसरों के भोग के लिये उन्हीं के कर्मों के बंधन में है। जैसे-जैसे उनके कर्म होते हैं, वैसे-वैसे उसके संकल्प उनके दु ख या सुख के भोग के लिये उठते हैं। और उसी तरह होता है। इसी कारण वह सत्यसकल्प और न्यायकारी भी है। और यही कारण है कि कर्मकाड वास्तव में न्याय की विद्या है। जैसा कोई करता है, वैसा पाता है। और यही हेतु है कि वेद-वेत्ता ब्राह्मण कर्मकाड-शास्त्र में कर्मों कोप्रथम समझते हैं, क्योंकि ईश्वरीय विधान में यद्यपि ईश्वर, देवता, काल, पितर और कर्म मिलकर कारण हैं, तो भी उनमें हरएक के कर्म मुख्य हैं। अत ऐ भाइयो ! यदि बुरा करते हो तो अपने लिये, और यदि अच्छा करते हो तो अपने लिये। परतु बुद्धिमान् मनुष्य कब कुएँ में छलांग मारता है? और क्यों गढ़े में

गिरता है ? वरन् वही जो अधा और मूढ़ होता है (गिरता है)। तुमको भी जब हमने प्रत्यक्ष दिखा दिया कि मृत्यु के बाद क्या होगा और क्योंकर होगा, फिर क्या जान-बूझकर बुराई करते हो और क्यों झूठ और छल का व्यवसाय करते हो ?

(२७) पाश्चात्य शिक्षा से, जो केवल ससार की शिक्षा है, तुमको भ्राति होती है, और परलोक की विद्या से वह विमुख करती है, और यही चकमा दिलाती है कि मरा सो गया। हा शोक ! परन्तु यह ऐसा नहीं सुझाती कि तुम मृत्यु के कारण चोला बदलते हो, मरते नहीं। यदि मरते तो छूट जाते। यह देखो, नरक तुम्हारे सामने खड़ा है, और उसी तरह खींचता है जैसे चुम्बक लोहे को खींचता है। और, लोहे में यह गुण है कि चुम्बक की ओर खिंचा जाता है, इसी तरह तुममें भी पाप हैं, जिनसे नरक की ओर खींचे जाओगे और यमलोक में फल पाओगे।

(२८) पर वह जो पुण्य करते हैं, लोभ को त्यागकर सत्य का पालन करते हैं, इस अचिरस्थायी (क्षणभगुर) ससार को तुच्छ जानते हैं, और अपने अधिकार पर सतुष्ट होकर भलाई से बर्ताव करते हैं, उनके लिये सोमलोक, जो स्वर्ग है, बुलाता है। और यह भौतिक शरीर छोड़ते ही सोमराज होते स्वर्ग के सुख भोगते हैं, तथा अप्सरा व प्रासाद और भाँति-भाँति के सुस्वादु भोजन और प्रमाद

(नेमतें) पाते हैं। अत आओ और समझो, संसार का धोखा मत खाओ, और पाश्चात्य विद्या की चमक-दमक पर लट्टू मत रहो। गया समय फिर हाथ नहीं आता। खबरदार हो जाओ।

अध्याय आठवाँ

(१) पंचप्राण की असलियत एक धुकती अग्नि है, और मन अर्थात् अंत करण की असलियत एक जलती आग है। जिस तरह धुकती आग में फूँक से आग जल उठती है और लपट मारती है, उसी तरह प्राणों में फूँक से मन पैदा होता है और लपटें मारता है, दिमाग तक फैलता है, और उसी तरह आँख, कान, नाक, मुँह में निकलता है, जिस तरह जलती आग भी अँगीठी के पाँचों ओर के छेदों में से निकलती है।

(२) यह स्पष्ट है कि जब अग्नि में कुछ ईंधन दिया जाता है और उसमें फूँक मारी जाती है, तो विशेष रीति से वह आग जल उठती है और प्रकाश देती है। इसी तरह प्राण में जब अन्न दिया जाता है और विशेष विधि से प्रजापति फूँकता है, तो उसमें मन भी जाग उठता है, सोच-समझ का प्रकाश देता है, और ज्ञानेंद्रिय होकर मस्तिष्क में फैलता है।

(३) विशेष विधि यह है कि जब अन्न रक्त होकर यकृत् से हृदय कमल म जाता है और वहाँ पचता है, तो बाहर की श्वास से फूँक पहुँचती है । उससे सोच समझ रूप वृत्ति (इंद्रिय) उत्पन्न होती है, मस्तिष्क तक लपटें मारती है, और आँख, कान, नाक, मुँह में पञ्च प्रकार हो जाती है। फिर जिस तरह जलती अग्नि उस धुकती अग्नि में बुझ जाती है, उसी तरह यह मन भी उन्हीं प्राणों में लीन होता हुआ सो जाता है।

(४) चूँकि धुकती आग पिता (कारण) है और जलती आग उसका पुत्र (कार्य) है, इसी तरह प्राण पिता है, मन पुत्र है। जिस तरह बालक अपने बाप की गोद में खेलता और आराम पाता है, उसी तरह मन भी प्राण की गोद में जागता और सोता है। स्मरण रहे कि जैसा बालक बाप की गोद में लेटा हुआ हाथ बढाकर बर्ताव करता है, इसी तरह मन भी प्राणों की गोद में लेटा हुआ आँख, कान, नाक, मुँह में फैलता हुआ धरती और आकाश के तद्रूप हो जाता है, और उसका भान करता है।

(५) नन्हा बच्चा गोद में जब कोई बाहर का आघात देखता है, तो भागकर बाप की बगल में छिप जाता है, इसी तरह यदि मस्तिष्क या दूसरे अग में चोट लगती है, तो मन तत्काल भागकर प्राण-पिता की बगल में छिप जाता है। इसी को सामान्य मनुष्य मूर्च्छा बोलते हं । और

जब अंग उस चोट से अच्छा होता है, तो फिर बगल से निकलता उन्हीं में आ जाता है और बर्ताव करता है। परंतु जब कोई इन अंगों को अधिक खराब कर दे, तो प्राण-पिता भी इस नन्हें बच्चे को गोद में लेकर इस शरीर-रूपी महल से ले उड़ता है, और दूसरा महल तैयार करके उसको उसी रूप से उठाता है।

(६) पिता ने इस नन्हें बच्चे के लिये शरीर को उसी तरह तैयार किया है, जिस तरह उसने अपने बसने के लिये ब्रह्मांड को तैयार किया है। हृदय-कमल एक विशेष आराम का बँगला बनाया है, जिसमें यह मनो-राज करता है। इस बँगले में दो उत्तम द्वार लगाए गए हैं, जो हृदय के कान कहलाते हैं, और उस पर उत्तम चिक डाली है जो हृदय का परदा कहलाती है। और, उसके ऊपर एक पंखा हिलता है जिसको फेफड़ा बोलते हैं। यह पंखा उसके आराम के लिये हर समय हिलता है, और उसकी प्रफुल्लता के लिये प्रतिक्षण हवा पहुँचाता है।

(७) इस हृदय-कमल से दो नींद लानेवाली नाड़ियाँ निकलती हैं, जो मस्तिष्क को जाती हैं। और ये नाड़ियाँ उसकी वह दो सड़कें हैं जो देवयान और पितृयाण की भाँति बनाई गई हैं। और मस्तिष्क उसका मुख्य सार्वजनिक सभा-भवन है, जहाँ बैठकर वह सारे संसार वरन् पिता के ब्रह्मांड की सैर करता है। जब वह भीतरी बँगले से उन

सड़कों द्वारा बाहरी बँगले (मस्तिष्क) में आता है, ज्ञानेन्द्रियों के रूप में फैलता हुआ बाहर की सैर करता और जो कुछ देखता या सुनता है, उसकी मात्रा को ले उन्हीं सड़कों के द्वारा फिर भीतरी बँगले में आ जाता है, उसी मात्रा के अनुसार फैलता हुआ अपने भीतरी बँगले एक विचित्र ब्रह्माड प्रजापति के ब्रह्माड के समान बनाता जिससे सिद्ध होता है कि यह प्रजापति का राजकुमार व चमत्कार कराता है, जो उसके बाप के ह।

(८) जब यह मस्तिष्क में इजलास करता अपने पि के ब्रह्माड की आकृति पर फैलता है, तो साधारण लो उसको जाग्रत् बोलते हैं। और, जब यह जाग्रत्-अवस की मात्रा लेकर भीतर ही भीतर एक नया ससार बनाता तो उसे स्वप्न नाम कहा करते हैं। और, जाग्रत् में भी य वक्ष स्थल के भीतर कुछ वृत्तियों से तरगित होता है, जि क्रोध, काम, पवित्रता और बुद्धिमत्ता कहते हैं।

(६) जब वह किसी वस्तु की इच्छा करता है, तो उ लालच कहा करते हैं, जब वह किसी प्रतिकूल के दमन उत्तेजित होता है, तो उसे क्रोध कहते हैं, जब वह किस बात से लज्जित होता है, तो उसी को लज्जा कहते हैं। इस तरह प्रत्येक वृत्ति में बदलता हुआ उसी वृत्ति का रू होता है। इसी कारण श्रुति-भगवती समर्थन करती कि क्या काम, क्या सोच, क्या शोक, क्या क्षोभ, क्य

संतोष, क्या लज्जा, क्या क्रोध, क्या बुद्धि समस्त मन ही है।

(१०) यद्यपि उसके परिवर्तन और तरंगें असंख्य हैं, तो भी विद्वानों ने उन्हें समुदाय रूप (समष्टि-रूप) से चार अवस्थाओं में परिगणित (शुमार वा विभक्त) किया है। क्योंकि जब वह किसी ठीक बात की खोज करके उस पर विश्वास करता है, तो उसे बुद्धि (अक्ल) कहते हैं, जब वह किसी बात का विचार करता है और नहीं जान सकता कि ठीक है या नहीं, तो उसी को मन बोलते हैं, जब वह किसी देखी या सुनी वस्तु को स्मरण करता है, तो ब्राह्मण उसी को चित्त कहते हैं, और जब वह अपनी अहंता को प्रकट करता है, तो उसी को अहंकार नाम देते हैं।

(११) इसी तरह एक ही अंत करण वृत्तियों के भेद से मन, बुद्धि, चित्, अहंकार बोला जाता है, और शेष वृत्तियाँ उनकी अधीनता में असंख्य हैं जिनके नाम नहीं रख सकते। तो भी उसकी समस्त संकल्प या वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, या तो भली होती है या बुरी। वह जो अच्छी (पुण्य-रूप) वृत्तियाँ हैं, उनको देवता और वह जो बुरी (पाप-रूपी) वृत्तियाँ हैं, उनको असुर कहते हैं। इस प्रकार एक ही मन (अंत करण) अनेक देवता और असुर-रूप होकर हृदय के भीतर प्राण-रूपी तार से बंदी (कैदी) होकर बसता है, और इस तार की गिरह उसी के कर्म हैं, जो उसके भोग देने के लिये उदय होते हैं।

(१२) जब तक यह अपने भोग भोग नहीं लेता, तब तक उन्ही कर्मों की जजीर में फँसा हुआ कभी दु ख, कभी सुख की दशाओं में बदलता दु ख सुख पाता है। जब कभी उसके कर्म सुख के उठते हैं तो सुखी होता है, और जब कभी उसके कर्म दु ख के उठते हैं तो दु खी होता है।

(१३) * गार्ग्य ऋषि ने पिप्पलाद मुनि से पूछा कि हे भगवन्! इस मनुष्य में कौन-कौन से देवता सो जाते हैं और कौन-कौन-से जागते रहते हैं? कौन-सा देवता स्वप्नों को देखता है, और निद्रा का आराम किसको होता है? और उस समय किसमें ये सब लय हो जाते हैं?

(१४) पिप्पलाद मुनि ने उत्तर दिया ऐ गार्ग्य! जैसे सूर्य की किरणें सूर्यास्त के समय सूर्य में लय हो जाती हैं और उसी से एक होती हैं तथा फिर बार-बार उदय के समय उसी से निकलती हैं, उसी तरह समस्त इन्द्रियाँ क्या ज्ञानेंद्रियाँ क्या कर्मेंद्रियाँ, उसी महान् देव मन (अत करण) में एक हो जाती हैं। इसी कारण यह मनुष्य उस समय न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न छूता है, न पकड़ता है, न आनन्द लेता है। उस समय निश्चय होता है कि सोता है।

(१५) परन्तु प्राण रूप आग इस शरीर में जागती

---

* देखो प्रश्नोपनिषद्, चौथा प्रश्न।

रहती है, अपने-अपने काम से निवृत्त (दूर) नहीं होती है, वरन् अपान-रूप अग्नि घर की अग्नि की भाँति है, और व्यान-रूपी अग्नि उस अग्नि के समान है जिस पर होम की वस्तुएँ पकाई जाती हैं, और प्राण-रूपी अग्नि होम की अग्नि के समान है जो घर की अग्नि से होम के लिये अलग निकाल ली जाती है। और श्वासों का आना-जाना मानों दो आहुतियाँ हैं। वह जो आहुति करता है समान है, मन मानों यजमान है, उदान इस होम का प्राप्तव्य फल है, क्योंकि वह नित्य इस यजमान को ब्रह्मलोक ले जाता है, जो सुषुप्ति है।

(१६) उस समय यह देव स्वप्न में अपनी महानता और तेज को देखता है, वरन् जो देखा या नहीं देखा, उसे देखता है, जो सुना या नहीं सुना, उसे सुनता है, देश और दिशाएँ जो जानी या नहीं जानी हैं, उन्हें जानता है। क्या देखी क्या अनदेखी, क्या सुनी क्या अनसुनी, क्या जानी क्या अनजानी, सब देखता है, और सब हुआ देखता है।

(१७) पर जब यह उदान की कृपा से सुषुप्ति में जाता है, जहाँ न कुछ स्वप्न देखता है न कुछ जानता है, उस समय अपने बाप के खास आराम में, जो इसका परमानंद है, मिल जाता है। और यही उसका परम ब्रह्मलोक है। उस वक्त जैसे चिड़ियाँ अपने बसेरे के समय एक

एकत्रित होकर सो जाती है, उसी तरह यह सब परमात्मा में निमग्न वा लीन हो जाते हैं।

(१८) क्या पृथ्वी क्या पृथ्वी की मात्रा, क्या पानी क्या पानी की मात्रा, क्या अग्नि क्या अग्नि की मात्रा, क्या वायु क्या वायु की मात्रा, क्या आकाश क्या आकाश की मात्रा, क्या दृष्टि क्या द्रष्टव्य, क्या श्रोत्र क्या श्रोतव्य, क्या सूँघना क्या सूँघ, क्या चखना क्या चाख, क्या स्वाद लेना क्या स्वाद, क्या छूना क्या छूत, क्या वाणी क्या अर्थ, क्या पकड़ना क्या पकड़, क्या त्याग क्या ग्रहण, क्या गमन क्या गति, क्या मन क्या सोच, क्या बुद्धि क्या बुद्धिमत्ता, क्या स्मरण क्या स्मृति, क्या अहकार क्या अहता, क्या प्राण क्या जीवन, सब परमात्मा में लीन हो जाते हैं।

(१९) उस समय यह निश्चय होता है कि वह वादानुवाद वा तर्क-वितर्क से रहित अर्थात् निर्विकार व निरवयव समस्त गुणों से परे है, देखता नहीं किंतु दृष्टिस्वरूप है, सुनता नहीं किंतु श्रवणस्वरूप है, सूँघता नहीं किंतु घ्राणस्वरूप है। अत जो उसे जानता है, जो कि विना छाया, शरीर और रग के है, वही सर्वज्ञ और वही सर्व रूप होता है।

(२०) इस प्रकार के वैदिक प्रमाण से सिद्ध होता है कि स्वप्नावस्था ठीक देवलोक का आविर्भाव है, और सुषुप्ति अवस्था ठीक ब्रह्मलोक की असलियत वा अवस्था

रहती है, अपने-अपने काम से निवृत्त (दूर) नहीं होती है, वरन् अपान-रूप अग्नि घर की अग्नि की भाँति है, और व्यान-रूपी अग्नि उस अग्नि के समान है जिस पर होम की वस्तुएँ पकाई जाती हैं, और प्राण-रूपी अग्नि होम की अग्नि के समान है जो घर की अग्नि से होम के लिये अलग निकाल ली जाती है। और श्वासों का आना-जाना मानों दो आहुतियाँ हैं। वह जो आहुति करता है समान है, मन मानों यजमान है, उदान इस होम का प्राप्तव्य फल है, क्योंकि वह नित्य इस यजमान को ब्रह्मलोक ले जाता है, जो सुषुप्ति है।

(१६) उस समय यह देव स्वप्न में अपनी महानता और तेज को देखता है, वरन् जो देखा या नहीं देखा, उसे देखता है, जो सुना या नहीं सुना, उसे सुनता है, देश और दिशाएँ जो जानी या नहीं जानी हैं, उन्हें जानता है। क्या देखी क्या अनदेखी, क्या सुनी क्या अनसुनी, क्या जानी क्या अनजानी, सब देखता है, और सब हुआ देखता है।

(१७) पर जब यह उदान की कृपा से सुषुप्ति में जाता है, जहाँ न कुछ स्वप्न देखता है न कुछ जानता है, उस समय अपने बाप के खास आराम में, जो इसका परमानद है, मिल जाता है। और यही उसका परम ब्रह्मलोक है। उस वक़्त जैसे चिड़ियाँ अपने बसेरे के समय एक वृक्ष में

सुंदर स्त्रियाँ मिलें, तत्काल मिल जाती हैं। जब हम उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र उत्तम सवारियाँ माँगें, सकल्प से सब उपस्थित हो जाती हैं। यही द्युलोक के सिंहासन की सम्पत्ति (विरासत) है और इसी को वेद-वेत्ता ब्राह्मण सुषुप्ति बोलते हैं।

(२३) यह न समझ लेना चाहिए कि यह छोटा-सा मन क्योंकर प्रजापति में मन से तद्रूप हो जाता है, बल्कि यह जान लेना चाहिए कि यद्यपि यह मन अपने कर्मों के बंधन से छोटे-से पिंड में बंद हुआ छोटा-सा मालूम होता है, परन्तु यह वह योग्यता रखता है कि प्रत्येक के तद्रूप हो जाता है। देखो, जब यह [illegible] बदलता च्यूँटी या मच्छर की योनि में कैद होता है, तो च्यूँटी या मच्छर के समान हो जाता है, और जब यह हाथी या सिंह की योनियों में जाता है, तो हाथी और सिंह के समान हो जाता है और उन्हीं की शक्ति के काम करता है। जब यह देवताओं और द्युलोक-निवासियों की योनि में जाता है, तो उन्हीं के तद्रूप हो जाता है और उन्हीं के काम करता है। अधिक क्या कहें, यह सबके समान हो जाता है, वरन प्रजापति में मेल पाता प्रजापति हो जाता है, और सबमें सब कुछ हो जाता है।

(२४) इस समय भी यद्यपि कर्मों के भोग में फँसा हुआ है, तो भी आँख-कान से निकलता, धरती और आकाश और जो कुछ उसके बीच में है, सबका तद्रूप

है। और, उदान प्राण नित्य इसको देवलोक और ब्रह्मलोक में ले जाता है। परंतु वह चूँकि अपने कर्मों की कैद में बद्ध है, फिर जाग्रदावस्था में आ जाता और दुःख-सुख पाता है।

(२१) परंतु जब यह शास्त्र-नियमानुसार कर्मों को करता रहता है, तो मृत्यु के बाद वही उदान उसको देवयान-सड़क पर रूप-प्रतिरूप में पलटता हुआ सूर्य में ले जाता है, और वहाँ से देवलोक में पहुँचाता है, जहाँ सत्यसंकल्प हो जाता है। वरन् जिस प्रकार मस्तिष्क से हृदय-कमल में वह नित्य जाता है, उसी तरह देवलोक से उस चंद्रलोक को, जो प्रजापति का मुख्य हृदय है, जाता है और उसके बराबर हो जाता है, और प्रजापति में एक हो जाता है। यही कर्मकांड की अंतिम उन्नति है।

(२२) जब वह इस लोक में प्रविष्ट होकर पुण्यलोक में पहुँचता है, तो यही उदान-प्राण उसी तरह उस मन के अधीन होता है, जिस तरह कि कर्मेंद्रियाँ यहाँ उसके वश में हैं। और यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार मन संकल्प करता है, उसी तरह कर्मेंद्रियाँ काम करती हे। पुण्यलोक में जब ये पंचप्राण मन के अधीन हो जाते हैं, फिर जो हम चाहते हैं, करते हैं। जब हम चाहें कि हम बाग-बगीचा देखें, तो उसी समय उदान-प्राण बाग-बगीचा एक आँख की झपक में तैयार कर देता है, जब हम चाहते हैं कि

मानुषी बुद्धि को दूर करके शास्त्रीय विश्वास तथा कर्मों को दृढ़ करो, अन्यथा मनुष्य की भाँति मरोगे और राजकुमारों में से एक के समान गिर जाओगे।

अध्याय नवाँ

(१) अब पिछले अध्यायों के पढ़ने से निश्चय हो सकता है कि मानव शरीर यद्यपि भौतिक है, परन्तु इस कारण से कि उसमें देवता (अरवाहे-इलाही) बसे हुए हैं, वास्तव में एक ठाकुरद्वारा या ईश्वरीय मूर्ति है। क्योंकि क्या ज्ञानेंद्रियाँ और क्या कर्मेंद्रियाँ, क्या मन और क्या प्राण, सब दिव्य शक्तियाँ वा प्राण हैं, जो देवता (अरवाह) कहलाते हैं, और जो हमारे पिछले कर्मों के भोग के लिये इसमें बसे हैं। और यद्यपि हरएक देवता अपने बड़े-बड़े लोकों पर अधिकार रखता है, तो भी नीति और न्याय से उतना ही भोग देता है जितना कि हमारे लिये उचित है।

(२) आँख वास्तव में समस्त विविध वर्णात्मक जगत् की सैर करनेवाली है, और प्रत्येक रंग के ज्ञान में मालिक और बिचवानी (वसीला) है, तो भी हमें उतना ही दिखाती है, जितना कि हमें चाहिए। और कान समस्त शब्द सुन सकता है, और शब्द जगत् का बिचवानी (वसीला) है, पर हमको सब नहीं सुनाता, वरन उतना ही सुनाता है

होता सबको देखता है। स्वप्न में जाता हुआ ऐसी नाड़ी से, जिसका अत्यंत सूक्ष्म छिद्र है, ब्रह्माड-रूप में फैलता है और सब रूप होता है। इस प्रकार के अनुभवों से बुद्धिमान् मनुष्य जान सकता है कि वह भूलोक (मरलोक) से नहीं अपितु अमरलोक से है, और प्रजापति का पुत्र प्रजापति-रूप है। अपने कर्मों के भोग से मानवी रूप में आया कुछ दु ख भोगता है, और उसी तरह वेद-शास्त्र की शिक्षा में दिया जाता है जिस तरह एक राजकुमार भी जब तक युवक नहीं होता, शिक्षकों के बंधन में रक्खा रहता है।

(२५) फिर जब समय आता है, राज्य की शिक्षा पाता है, और पिता का उत्तराधिकार पाता है, तो फिर राजगुरुओं के हाथ में नहीं रहता। इसी तरह यह मन भी जब तक कर्म-भोग के बंधन में है, वेद-शास्त्र और ब्राह्मणों के बधन में शिक्षा पाता है। परतु जब यह शास्त्रीय सिद्धातों की शिक्षा पाता है और सत्कर्मों, तथा शास्त्राज्ञाओं पर चलता है, तो मृत्यु के पश्चात् देवयान-सड़क पर चलता द्युलोक के सिंहासन का स्वामी हो जाता है, और सत्यसकल्प हो जाता है। जितने सुख के भोग है, उसको मिलते हैं, दु ख को स्मरण भी नही करना, वरन् वे नितात विलुप्त हो जाते हैं।

ऐ भाइयो! क्यों अधिकारी होकर उस सिंहासन की इच्छा नहीं करते, वरिक अपने कर्मों को ठीक करो और

मानुषी बुद्धि को दूर करके शास्त्रीय विश्वास तथा कर्मों को दृढ़ करो, अन्यथा मनुष्य की भाँति मरोगे और राजकुमारों में से एक के समान गिर जाओगे।

अध्याय नवाँ

(१) अब पिछले अध्यायों के पढ़ने से निश्चय हो सकता है कि मानव शरीर यद्यपि भौतिक है, परन्तु इस कारण से कि उसमें देवता (अरवाहे-इलाही) बसे हुए हैं, वास्तव में एक ठाकुरद्वारा या ईश्वरीय मूर्ति है। क्योंकि क्या ज्ञानेंद्रियाँ और क्या कर्मेंद्रियाँ, क्या मन और क्या प्राण, सब दिव्य शक्तियाँ या प्राण हैं, जो देवता (अरवाह) कहलाते हैं, और जो हमारे पिछले कर्मों के भोग के लिये इसमें बसे हैं। और यद्यपि हरएक देवता अपने बड़े-बड़े लोकों पर अधिकार रखता है, तो भी नीति और न्याय से उतना ही भोग देता है जितना कि हमारे लिये उचित है।

(२) आँख वास्तव में समस्त विविध वर्णात्मक जगत् की सैर करनेवाली है, और प्रत्येक रंग के ज्ञान में मालिक और बिचवानी (वसीला) है, तो भी हमें उतना ही दिखाती है, जितना कि हमें चाहिए। और कान समस्त शब्द सुन सकता है, और शब्द जगत् का बिचवानी (वसीला) है, पर हमको सब नहीं सुनाता, वरन् उतना ही सुनाता

जितना उचित है। इसी तरह वाणी समस्त वाक् या वचन पर अधिकार प्राप्त हुए है, पर सब नहीं बोलती, वरन् उतना ही बोलती है, जितना कि उचित है।

(३) जो लोग इन देवताओं (इंद्रियों वा प्राणों) के महत्त्व और तेज को नहीं जानते, और भौतिक शरीर में देहाध्यास रखते हैं, वे उनको भोग के साधन जानते हुए स्वेच्छानुसार उनके साथ वर्ताव करते हैं, और क्या अच्छा, क्या बुरा जो प्राप्त होता है, उसी में पूर्ण सुख देखते उनका वर्ताव करते हैं। यद्यपि वे (इंद्रियाँ वा प्राण) बुरे कामों से घृणा करते और दु खी होते हैं, तो भी न्याय से विवश हुए वे इनकार नहीं करते, वरन् ऐसे वर्ताव करते हैं जैसा कि एक नौकर वर्ताव करता है , बल्कि नौकर इच्छानुसार नहीं चलता, ये तो इच्छा की दासता भी करते हैं।

(४) जब वह अनजान इन इंद्रियों को बुरे कामों में लगाकर भोग पाता है, तो ये उसे भोग तो स्वभावानुसार देती हैं, परंतु उसके लिये एक पाप उत्पन्न करती हैं, जिससे वह दुरात्मा हो जाता है। और जब वह इनको अच्छे कामों में लगाकर भोग पाता है, तो ये उसे भोग भी देती हैं और साथ ही पुण्य भी पैदा करती हैं, जिससे वह पुण्यात्मा वा भाग्यवान् हो जाता है।

(५) पर जो इनकी असलियत और महत्त्व को जानते हैं, और इनकी महिमा तथा शक्तियों से परिचित हैं, वे

इनको बुरे कामों में नहीं लगाते, वरन् अच्छे कामों में वर्ताव करते हुए भी उनको महान् और पूज्य समझते हैं। इसलिये वे इन्हीं के द्वारा मुक्ति का मार्ग भी पाते हैं।

(६) ये बातें कि किस तरह ये सब उपास्य किये जाते हैं, और किस तरह इनकी उपासना होती है, कर्मकाड में सूक्ष्म बातें हैं। प्रत्येक भाषाविद् इन्हें नहीं समझ सकता। तो भी हम संक्षेप से सकेत करते हैं, और उस बड़ी उपासना पर सकेत करते हैं जिसमें सबके भीतर के परिणाम समा जाते हैं।

(७) वाणी या आँख या कान को जो पूज्य मानकर पुण्य कर्म करते हैं, सक्षिप्त और विशिष्ट फल पाते हैं। परन्तु वे जो प्राण की उपासना करते हैं, समस्त कर्मों के फल पा जाते हैं, और देवयान-सड़क पर चलते ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होते प्रजापति से मेल पा जाते हैं।

(८) कदाचित् कोई यह कहे कि यह किस प्रकार हो सकता है कि एक प्राण की उपासना से सब देवताओं की उपासना का फल प्राप्त हो जाता है ? तो उसे हम एक वैदिक आख्यान (कहानी) से दिग्दर्शन कराते हैं। क्योंकि विद्या के बल पर यदि जतलावें, तो भाषा जाननेवालों को वह सुगमतापूर्वक हृदयगम न हो सकेगा। बल्कि उचित भी यही है कि जहाँ तक समझने में सहल हो, वहाँ तक गूढ़ या कठिन शैली से न समझाया जाय।

(६) * हम सुनते हैं कि देवलोक में एक वार इन इंद्रियों मे झगड़ा हुआ। वाणी ने कहा, मै वडी हूँ। आँख ने कहा, मै वड़ी हूँ। कान ने कहा, यह सव मेरी वडाई है। मन ने कहा, यह सव मेरी महिमा है। वीर्य ने कहा, क्यों वकवक करते हो, मै वड़ा हूँ, जो सवको जनता हूँ। प्राण ने कहा, तुम सव डीग मारते हो, वैल भी अपने चरने पर डकारता है, विचार करो तो मै सवसे पलौठा (प्रथम) और अनोखा हूँ।

(१०) ये देवता इस तरह झगड़ते-झगड़ते प्रजापति के निकट गये, ताकि वह उनका न्याय करे। प्रजापति ने कहा कि तुममें से एक-एक होकर इस पिंड से निकल जाओ, जिसके निकलने से सव निकल जायँ और यह पिंड खराव हो जाय, वही तुममें से पलौठा (प्रथम) और ठाकुर है।

(११) पहले वाणी निकल गई और साल तक वाहर रही। जव वापस आई, तो पूछा कि मेरे विना तुम कैसे जीते रहे? तव उन्होंने कहा कि जैसे गूँगा नहीं वोलता, परतु नथनों से साँस लेता है, आँखों से देखता है, कानों से

---

* देखो छांदोग्योपनिषद् प्रपाठक ५, खंड पहला। और इसी तरह की कथा वृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय ६, ब्राह्मण पहले में भी पाई जाती है।

सुनता है, मन से समझता है, वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब वाणी ने कहा, हाँ ठीक है, और (उस पिंड में) प्रविष्ट हो गई।

(१२) फिर आँख निकल गई और साल तक बाहर रही। जब वापस आई, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा कि जैसे अंधा आँखों से नहीं देखता, लेकिन नथनों से साँस लेता है, वाणी से बोलता है, कानों से सुनता है, मन से समझता है और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब आँख ने कहा, ठीक है, और (शरीर में) प्रविष्ट हो गई।

(१३) फिर कान निकल गया साल तक बाहर रहा। जब वापस आया, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? उन्होंने कहा कि जैसे बहरा (बोला पुरुष) नहीं सुनता, लेकिन नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता है, आँखों से देखता है, मन से समझता है और वीर्य से जनता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब कान ने कहा, ठीक है, और (देह में) प्रविष्ट हो गया।

(१४) फिर मन निकल गया और साल तक बाहर रहा। जब वापस आया, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा, जैसे मतवाला मन से नहीं समझता, परंतु नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता, आँखों से देखता, कानों से सुनता और वीर्य से जनता है।

उसी तरह हम जीते रहे। तब मन ने कहा, ठीक है, और (तन में) प्रविष्ट हो गया।

(१५) फिर वीर्य निकल गया और साल तक बाहर रहा। जब वापस आया, तो पूछा कि मेरे बिना तुम कैसे जीते रहे? तब उन्होंने कहा, जैसे नपुंसक नहीं जनता, परंतु नथनों से साँस लेता है, वाणी से बातचीत करता, आँखों से देखता, कानों से सुनता और मन से समझता है। उसी तरह हम जीते रहे। तब वीर्य ने कहा, ठीक है, और (शरीर में) प्रविष्ट हो गया।

(१६) अब प्राण ने भी परीक्षार्थ निकलना चाहा, तो जिस तरह बड़ा बलशाली अश्व उछलता है, तब अगाड़ी-पिछाड़ी की सब मेखें उखड़ जाती हैं, ऐसे सब इन्द्रिय-देवता साथ उखड़ गये। उन्होंने कहा, भगवन्! ठहरो, मत निकलो। मालूम हो गया, तुम्हारे बिना हम नहीं जी सकते। तुम हम में बड़े हो। तुम ही हमारी आत्मा हो, और तुम ही हमारे पूज्य हो। हमको चाहिए कि तुम्हारी उपासना करें, और तुम्हारे में स्थित हों। हम तभी फल लाते हैं, जब तुम में स्थिर होते हैं, जैसे शाखाएँ जब अंकुर में स्थित होती है, तो फल लाती हैं।

(१७) तब से वाणी ने निश्चय किया कि मैं प्राण की संतान प्राण-रूप हूँ। इसी तरह चक्षु ने निश्चय किया कि मैं प्राण की संतान प्राण-रूप हूँ। और इसी तरह कान मन

श्रौर वीर्य ने विश्वास किया कि हम सब उसी के रूप है।

(१८) इस प्रकार की कहानियों से सुगमतापूर्वक समझा जाता है कि क्या कर्मेंद्रिय, क्या ज्ञानेंद्रिय, क्या मन, सब प्राण की सतान प्राण रूप है, और यही निश्चय प्राण-देवता की उपासना है। अत वह जो इस पर आचरण करता है और इसी पर विश्वास लाता है, वही शास्त्रीय कर्म का अधिकारी होता है। जब तक कि वह इस प्रकार के निश्चय को नहीं पाता, प्राण से नहीं जना जाता, बल्कि शरीर से जना जाता है। वह जो शरीर से जना जाता है, शरीर ही है, और जो प्राण से जना जाता है, प्राण ही है।

(१६) शास्त्रीय कर्म, जो वास्तव में कर्मकाड है, उसी के लिये है जो प्राणात्मा से जना जाता है, उनके लिये नहीं जो शरीर से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि प्राणात्मा तो अनादि, अनत, नित्य है, शरीर नश्वर, आदि, अतवान् है, और शास्त्र का फल मृत्यु के बाद परलोक में है, शरीर यहाँ मिट्टी हो जाता है। अत वह जो देह और देहाध्यासी है, उसके लिये शास्त्र व्यर्थ है, बल्कि कष्टकर है, किंतु वह जो प्राण या प्राणात्मा है, उसके लिये अमृत और आनद है।

(२०) यदि कर्मकाड देह और देहाध्यासी को भी लाभ-प्रद होता, तो पशुओं पर भी लागू होता। किंतु पशु योग्यता नहीं रखता कि अपने आपको प्राण या प्राणात्मा निश्चय करे। इसी तरह जो मनुष्य कि शास्त्रीय ढग से प्राणात्मा से

नहीं जना जाता, वास्तव में देह या देहाध्यासी है, यद्यपि मानवी रूप है, और पशु-प्रकृति में मिलता है, यद्यपि आकृति मनुष्य की रखे होता है।

(२१) वह जो शरीर या शरीर से अध्यास रखनेवाला है, उसी को शास्त्र में शूद्र कहते हैं, और उससे उसी तरह सेवा ली जाती है जिस तरह पशुओं से सेवा लेना आवश्यक है। परन्तु वह जो प्राणात्मा से दुवारा जने जाते हैं, शास्त्र मे द्विजन्मा कहलाते हैं, और वही कर्मकाण्ड के अधिकारी हैं।

(२२) आश्चर्य न करो कि दुवारा जन्म कैसे हो सकता है ? क्या फिर वह दुवारा माता के उदर से निकलता है ? नहीं, जब वह माँ के पेट से निकलता है, तो शरीर होता है। क्योंकि माँ का पेट भी शरीर है और जो उससे निकलता है, वह भी शरीर है, और यह पहला जन्म है। अतः इस तरह वह जो शरीर और पानी से उत्पन्न होता है, शूद्र है और पशुओं के वर्ग (श्रेणी) में मिलता है। वह शास्त्रीय कर्मों का अधिकार नहीं रखता। इसी कारण आठ वर्ष तक द्विजाति अपने लड़कों के उपनयन संस्कार नहीं करते, क्योंकि वह अभी प्राणात्मा के निश्चय की योग्यता नहीं रखते।

(२३) परन्तु आठवें वर्ष में जब वह प्रौढ़ अवस्था (बाल्यावस्था) को प्राप्त होता है, और इस निश्चय की योग्यता लाभ करता है, तो उसका उपनयन-संस्कार होता

है, और वाणी से दुबारा जना जाता है, फिर वह शरीर-भाव से उठ जाता है, और प्राणात्मा में स्थित होता है। उस समय उस पर शास्त्रीय नियम लागू होते हैं।

(२४) देखो, जब बालक माता के उदर से उत्पन्न होता है, तो उसी तरह अहकार का स्वाभाविक निश्चय (अध्यास) शरीर में रखता है, जैसा कि पशु अपने शरीर में अहता का ख़याल (भ्रम) रखता है, बल्कि यदि उसको अपनी वास्तविक प्रकृति पर छोड़ा जाय, तो युवावस्था प्राप्त होने पर भी यही धारणा रखता है कि "मै शरीर हूँ, और मिट्टी से निकला हूँ, और मिट्टी में जाऊँगा।" यद्यपि वह सुनता है कि शरीर में एक प्राणात्मा है, जिससे शरीर जीवित है और जानता व गति करता है, तो भी वह यह ज्ञान नहीं पाता कि "मै प्राणात्मा हूँ और शरीर मेरा पिड है। मै उसी तरह इस शरीर में बसता हूँ, जैसे यह देह इस घर में बसता है।"

(२५) इस प्रकार वह पिता के वीर्य और माता (रज आदि) के रक्त से बनाया गया है, जो स्वय शरीर है। पिता उसका नर-शरीर है और माँ उसकी मादा (नारी) शरीर है। और यही दशा पशु की है। खाना पीना भोग करना जैसा पशु का काम है, वैसा उसका काम है। जिस प्रकार पशु भी प्राण रखता और साँस लेता है, उसी तरह यह भी प्राण रखता और साँस लेता है। परतु पशु को मनुष्य

की सेवा करना कर्तव्य है, उसी में उसकी भलाई है, उसी तरह इस शूद्र की भी दशा है, द्विजातियों की सेवा करना इसका कर्तव्य है, और उसी में इसकी भलाई है।

(२६) पर वह जो वाणी से शिक्षा पाता है कि "तुम प्राणात्मा हो, देह नहीं" (क्योंकि देह तो वस्त्र की भाँति बदलता है, पर प्राणात्मा नहीं बदलता। यदि तुम देह होते, तो जब छोटा-सा देह जो माता के उदर से निकला था और घुलकर वा बदलकर जाता रहा था, और यह दूसरा देह जो युवावस्था की दशा में है, भोजन से देहधारी की तरह, उसी ढग और उसी युक्ति से धीरे-धीरे बदल गया है, जैसा कि पहनावा अर्थात् वस्त्र बदलता है, और फिर बुढापे में यह भी जाता रहेगा, तो तुम मे भी परिवर्तन अवश्य होता), तो वह इसी शिक्षा से निश्चय कर सकता है कि "मैं देह नहीं, जो प्रतिक्षण बदलता है, बल्कि मैं प्राणात्मा हूँ, जो नहीं बदलता।" तब उस समय वह देह से अलग होकर प्राणात्मा में अहंता का भाव पाता है, और प्राणात्मा तो प्राण की संतान प्राण-रूप है। इस कारण वह वाणी के द्वारा प्राणात्मा से जना जाता है, जो दूसरा जन्म है।

(२७) वह वाणी जो मनुष्य को प्राणात्मा से दुबारा उत्पन्न करती है, वास्तव में गायत्री-मंत्र है, जो द्विजातियों की आध्यात्मिक माता है, और वह [illegible] उसकी शिक्षा देता है, वास्तव में द्विजातियों का [illegible]

है। इस प्रकार आध्यात्मिक उत्पत्ति ब्राह्मण और वाणी से होती है। और वह नई उत्पत्ति में प्रविष्ट होता है, और देहाध्यासियों से पृथक् किया जाता है। जिस तरह वे जो पशुओं से अलग चुन लिए जाते हैं और सूत्र अर्थात् रस्सी से बाँध दिए जाते हैं कि उनको नई शिक्षा दें, उसी तरह ऐसे शिशु को जनेऊ से चुन लिया जाता है, और यज्ञोपवीत से शास्त्रीय बंधन में बाँध दिया जाता है ताकि वह द्युलोक में अवस्थान करने की शिक्षा पावे, और आध्यात्मिक कर्मों से देवयान या पितृयाण सड़क का मार्ग प्राप्त करे।

(७८) और वह जो इस तरह नई उत्पत्ति में प्रविष्ट नहीं होता, बल्कि देह में उसी प्रकार अभिमान की धारणा रखता है जैसा कि पशुओं में अहंता का भाव स्वाभाविक है बल्कि पाश्चात्य शिक्षा से उसको और भी परिपक्व कर लेता है, यहाँ तक कि यदि द्विजाति उसे सिखाये कि "तू देह नहीं, बल्कि प्राणात्मा है", तो वह त्राहि-त्राहि करता हुआ कहता है कि "राम राम ! प्राणात्मा तो परमेश्वर है, क्या मैं ईश्वर हूँ ? मैं तो मिट्टी की देह हूँ, और इस प्रकार का निश्चय नास्तिकता और ईश्वरीय दावा है", तो ऐसा मनुष्य पशुओं से भी गया बीता होता है, यद्यपि मानवीय आकृति रखता है। और उसको ऊर्ध्वगति लाभ नहीं हो सकती, चाहे कैसी ही मनमानी कोई विधि उसने मान रक्खी हो। क्योंकि जो मिट्टी से निकलता है, वह तो मिट्टी में

जायगा और जो द्युलोक से उतरा है, वह द्युलोक को जायगा। शरीर तो मिट्टी का है, और प्राणात्मा द्युलोक का। इस कारण देवयान और पितृयाण-मार्ग तो द्विजातियों और आत्माभिमानियों (प्राणात्मा के उपासकों) के लिये निसेनी है, शरीराभिमानी देहाध्यासी तो वही मिट्टी और समाधि (कब्र) का आहार है।

(२६) इस प्रकार की बातों से ज्ञात होता है कि आर्य-संतान को पहले यह निश्चय करना होता है कि "मैं प्राणात्मा हूँ और प्राणसे निकला हूँ, मिट्टी से नहीं", और प्राणात्मा की असलियत वह अग्नि है जो जीवन का आधार है। इस कारण वह अग्नि की संतान अग्नि-रूप ज्योति से निकला ठीक ज्योतिस्वरूप है, मिट्टी तो अंधकार है।

(३०) जब वह इस तरह निश्चयवान् होता हुआ जानता है कि शरीर एक पिंड है, जो यहाँ की वस्तु है, और प्राणात्मा जो मेरा अपना आप है, यहाँ की वस्तु नहीं, वरन् द्युलोक की वस्तु है, तो इच्छा करता है कि मै किसी तरह ऊर्ध्वगति लाभ करूँ, और जानना चाहता है कि "मैं किसलिये मिट्टी के पिंड में बंदी किया गया हूँ? किस प्रकार इस शरीर के बंधन से छुटकारा पाऊँगा? क्या कारण है कि द्युलोक में नही जा सकता? अब मुझे क्या करना चाहिए जिससे मै ऊँचे चढ़ूँ?" और ये बातें वेद की शिक्षा से ज्ञात हो सकती हैं। इसलिये इस निश्चय के पश्चात्

वेद की शिक्षा उसके लिये आवश्यक होती है, ब्रह्मचर्य के नियम पालन करना उसका कर्तव्य होता है, और वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

(३१) जब वह नियत समय तक वेद की शिक्षा पाता है, तो फिर वह प्राणात्मा के धर्म भली भाँति जानता है और पुण्य तथा पाप के प्रभावों (असलियत) से परिचित होता है। और, उस ईश्वरीय रसायन से, जिससे कि प्राणात्मा को ऊर्ध्वगति लाभ होती है, परिचित हो जाता है, और यह ईश्वरीय रसायन वास्तव में अग्नि कर्म है। तो उस समय यह अग्नि-कर्म उसका कर्तव्य होता है, और वह इसका अधिकारी होता है कि यज्ञादिक कर्म करे।

(३२) परतु वह जो जानता है कि उस यज्ञ मे प्रजापति का अनुकरण आवश्यक है, और प्रजापति ने नर-नारी होकर उस कर्म को पूर्ण किया है जिसके कारण उसे ऊर्ध्व-गति लाभ हुई है, इसलिये पहले पहल उसको एक अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करना आवश्यक होता है ताकि वह प्रजापति की तरह उससे दपति होकर इस अग्नि कर्म का आरभ करे और दपति की सत्यता वास्तव में आध्यात्मिक अभेदता है, जिससे पुरुष और स्त्री वेद मत्रा के द्वारा प्राणात्मा में एक हो जाते हैं।

(३३) यद्यपि उसके हेतु बहुत विस्तार से है कि क्यों नर-नारी एक होकर यज्ञ आदिक करते हैं, परतु मुख्य हेतु

यह है कि नर तो प्राण के स्थान पर है और नारी रयि के स्थान पर है। और यह हम वर्णन कर चुके हैं कि प्राण और रयि मिलकर प्रजापति का स्वरूप है, क्योंकि प्राण कर्त्ता है और रयि कर्म। इस कारण प्राण का प्रभुत्व नर में है और रयि का नारी में। और जब वह मिलकर रासायनिक कर्म करते हैं, तो मृत्यु के पश्चात् एक होकर उन सड़कों पर, जो देवयान और पितृयाण कहलाती हैं, चढ़ते हैं। इस दशा में वह ब्रह्मचर्य से निकलकर गृहस्थी कहलाता है, और पंचयज्ञ आदिक उस पर कर्तव्य हो जाते हैं।

(३४) जिस तरह दंपति के हेतु अतिसूक्ष्म हैं, उसी तरह यज्ञ के भी तरीके (विधियाँ) सूक्ष्म हैं, तो भी हम भाषा जाननेवालों के लिये संक्षेप से संकेत करते हैं कि यज्ञ वास्तव में महाप्राण का भोज है, जिसके उत्तराधिकार के अधिकारी आर्य-द्विजाति हैं, और उसमें प्रणव की पूजा होती है और प्रार्थनाएँ की जाती हैं, जिससे वह असत् से सत् को और तम से ज्योति को और मृत्यु से अमृत को प्राप्त होता है।

(३५) यज्ञ में चार ब्राह्मण चुन लिए जाते हैं, जो इस ईश्वरीय रसायन को कराते हैं। एक तो वह होता है जो ऋग्वेद को जानता है, दूसरा वह जो यजुर्वेद का विद्वान् है, तीसरा वह जो सामवेद का पंडित होता है, और चौथा

यह जो इन तीनों को जानता है, और इनके कामों की देखभाल कर सकता है।

(३६) ऋग्वेदी को 'होता' बोलते हैं, और यजुर्वेदी को 'अध्वर्यु' और सामवेदी को 'उद्गाता' कहा करते हैं, और यह जो उनके कामों की देखभाल करता है, 'ब्रह्मा' कहलाता है। 'होता' का काम होम है, 'अध्वर्यु' का काम आहुतियाँ तैयार करना है, 'उद्गाता' का काम साम गाना है, जिससे महाप्राण प्रसन्न होकर पुण्य उत्पन्न करता है। 'ब्रह्मा' का काम इन तीनों की देखभाल करना है।

(३७) हम इसकी असलियत को उदाहरण द्वारा अधिक सरल करते हैं। देखो, श्रीमानों के भोज में एक तो वह होता है जो भोजन पकाता है, जिसे पाचक (रसोइया) बोलते हैं, दूसरा वह होता है जो उन भोजन के पदार्थों को चुन-चुनकर आमन्त्रितों के आगे रखता है, एक वादित्रकुशल (बैंड-मास्टर) होता है, जो भोज के समय आनंद के गीत गाता है, और मांगलिक बाजे बजाता है। परंतु वह जो भोज का प्रबंधक होता है और वहाँ सबकी देखभाल करता है, भोज का अधिकारी (कार्याध्यक्ष) होता है, और जो भोज देता है निमंत्रक (यजमान) कहलाता है।

(३८) इसी प्रकार प्राण के भोज में 'होता' भंडारी के स्थान पर, 'अध्वर्यु' पाचक के स्थान पर, 'उद्गाता' बैंड-मास्टर के स्थान पर, और 'ब्रह्मा' भोज के मुख्याधिकारी के

स्थान पर होता है। और वह जो यज्ञ कराता है, यजमान कहलाता है, जो भोजदाता के स्थान पर है। उन चारों को अग बोला करते है और यह पंचम यजमान है। इस प्रकार अग्नि के द्वारा प्राणात्मा का भोज होता है, और प्रणव की पूजा की जाती है।

(३९) इसके पश्चात वह नियम कि किस प्रकार महाप्राण बुलाया जाता है,-और क्योंकर अग्नि में होम करने से वह खाता है, अति-सूक्ष्म हैं। यदि उसके नियम भी यहाँ लिखे जायँ, तो कदाचित् यह समस्त ग्रथ कर्मकाड-शास्त्र के लिये भी पर्याप्त न हो। इसलिये हम इतना ही लिखते हैं कि वैश्वानरी-विद्या में हम पर यह सिद्ध हुआ है कि अग्नि प्रजापति का मुख है। जिस तरह ब्राह्मण के मुख में दिया हुआ ग्रास उसका आहार होता है, उसी तरह अग्नि में दी हुई आहुति विराट् भगवान् का भोजन होती है।

(४०) यज्ञ में उद्गाता जो साम गाता है, बारह मंत्र होते हैं, और उसमें प्रार्थनाएँ गाई जाती हैं। तीन प्रार्थनाएँ तो यजमान के लिये होती हैं, और शेष प्रार्थनाएँ वह अपने लिये गाता है। और चूँकि यह ब्राह्मण सदाचरण के द्वारा शुद्ध अत करण होता है, इसलिये इसकी प्रार्थनाएँ स्वीकृत होती हैं, जो-जो अपने लिये या यजमान के लिये माँगता है, मिलता है।

(४१) यज्ञ करने का उद्देश्य यह होता है कि बुरे संकल्प,

जो मन में स्वभावत उठते हैं, परास्त हो जायँ और अच्छे सकल्प, जो शिक्षा से उठते है, विजयी हो जायँ। इन बुरे सकल्पों को सस्कृत में असुर बोलते ह, और अच्छे सकल्पों को देवता। क्योंकि सकल्प (खयाल) जो मन में उठते हैं, उनके लिये कोई कारण होता है, और वही कारण पिछले पाप और पुण्य के सस्कार हैं। परतु वह जो बुराई के कारण (पाप) हैं असुर हैं, और भलाई के कारण जो पुण्य ह देवता हैं। इसी कारण कुविचार आसुरी-सपदा और सुविचार दैवी-सपदा कहलाते हैं।

(४२) प्राणात्मा में विश्वासवाले मनुष्य को चाहिए कि जहाँ तक सभव हो, बुरे विचारों को रोके और अच्छे विचारों को उठावे। इसी में उसकी भलाई है। परतु इस कारण कि बुराई के विचार स्वाभाविक हैं, और पहले उत्पन्न होते हैं, और भलाई के विचार शिक्षा से आते हैं, इसलिये असुर तो बड़े हैं, और देवता छोटे। और यह स्पष्ट है कि जो पहले शरीर-रूपी दुर्ग में अधिकार पाते हैं, कठिनता से दूर होते ह। क्योंकि जब तक देवता और असुरों के बीच में एक भारी युद्ध न हो, तब तक असुर पराजित नहीं होते।

(४३) बुद्धिमान् मनुष्य से यह छिपा नहीं है कि जब वह अपने मन की वृत्तियों पर विचार करे, तो जान सकता है कि उसका मन एक दुर्ग के समान है जिस पर असुर

और देवताओं के आक्रमण होते हैं, और अच्छाई और बुराई के विचार उन बाणों के समान हैं जो हर ओर से आते हैं, और किसी समय भी अवकाश नहीं है कि मन उन विचारों से रिक्त हो। अत आश्चर्य है कि वह मनुष्य जिसके मन पर विविध सेनाएँ मनोराज की चढ़ आई हों, और उसे बार-बार लक्ष्य कर रही हों, निश्चित बैठा रहे, वरन् सांसारिक उन्नति और घर-बार की चिंता में लगा रहे।

(४४) मनुष्य को चाहिए कि वह आवश्यक सांसारिक कार्यों से छुट्टी पाकर सवेरे और शाम एकांत में बैठकर मन की वृत्तियों का विचार करे और उनको अपने मन से रोके। यदि न रुकें तो आवश्यक है कि बुराई के विचारों का दमन करे और भलाई के विचारों को आने दे, क्योंकि इसी ढंग से देवताओं की विजय और असुरों की हार हो जाती है। फिर उसका हृदय भी देवताओं का मंदिर हो जाता है और पारलौकिक उन्नति पाता है।

(४५) असुरों के चिह्न तो ये हैं कि वे शारीरिक लाभों को आगे करते हैं, और पारलौकिक लाभों की ओर से विमुख करते हैं। परंतु देवताओं के लक्षण ये हैं कि वे शारीरिक भोगों को तुच्छ कर दिखाते हैं, और पारलौकिक भोगों को, जो स्वर्ग के हैं, दृष्टिगोचर करते हैं।

(४६) वह जिस पर असुर का आक्रमण होता है,

ससार के वाह्य भोगों को पसद करता है और परलोक को शास्त्र का एक छल और ब्राह्मणों का ढकोसला जानता है, उन्हें पोप वरन् पोपों का शिकारी समझता है। इसलिये शास्त्र को सुनता हुआ भी नहीं सुनता, और उसे यों ही फिसाना अजायब की कहानी समझता है। यदि कभी-कभी सत्सग भी करता है, तो स्वय शास्त्र को अपनी बुद्धि से सशोधित किया चाहता है कि पूर्वजों की भूल है जो ऐसा लिखा है, इसमें तो हानि है, कुछ भी लाभ नहीं।

(४७) पर वह जिस पर देवताओं का प्रभाव होता है, ससार के प्रत्यक्ष भोगों को नाशवान् और तुच्छ जानता है, उनकी अधिक कामना नहीं करता, वरन् उतनी ही कि जितनी उसके जीवन और सुख के लिये यथेष्ट हैं, खोज करता है, और पारलौकिक भोगों की कामना अधिक करता है जो नित्य और अविनाशी हैं। वह शास्त्रीय आज्ञाओं पर चलता है, और पारलौकिक अर्थात् स्वर्गीय सम्पदा का अभिलाषी होता है, ताकि ब्रह्मलोक के राज्य में वह प्रविष्ट हो जाय, और अपने पिता प्रजापति का उत्तराधिकार लाभ करे।

(४८) यद्यपि इस सग्राम में बड़े बड़े शास्त्रीय और कर्म-सबंधी उपाय हैं जिनके द्वारा असुर तो परास्त और देवता विजयी होते हैं (इस शास्त्र को सदाचरण की मर्यादा-शास्त्र बोलते हैं, और सस्कृत में इसकी अनेक

बड़ी-बड़ी पुस्तकें हैं जो योग आदिक शास्त्र कहलाती हैं), तो भी मनोवृत्तियों का विजय करना ऐसा कठिन है जैसा कि एक निर्बल मनुष्य सारे संसार के विजय करने में असमर्थ होता है। इसलिये जब तक विशेष भगवत्कृपा और ईश्वरीय प्रसाद उसके सहायक न हों, विजयी नहीं हो सकता। किंतु वेदों में उसका मुख्य विधान ज्योतिष्टोम यज्ञ और प्राणों की उपासना है, जिसके कारण असुर दुर्बल हो जाते हैं और देवता विजयी होते हैं। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि शास्त्रीय नियमों से ज्योतिष्ट आदिक होम और प्राणोपासना करे। यही सुगम उपाय है। योग आदि शास्त्रों में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं, और फिर भी उससे उनकी पराजय अवश्यभावी नहीं।

(४६) ज्योतिष्ट आदिक होम का विधान जानना तो भाषाविदों के लिये आवश्यक नहीं, क्योंकि ब्राह्मण उसको करा सकते हैं, लेकिन प्राणोपासना जानना आवश्यक है, क्योंकि वह इसके विश्वास की बात है। वह यही निश्चय है कि "मैं प्राणात्मा हूँ, मिट्टी नहीं हूँ, मैं प्राण हूँ, देह नहीं हूँ।" जब यह विश्वास पक्का हो जाता है, तो असुर अपने आप भाग जाते हैं और हार जाते हैं, क्योंकि बुराई के विचार वास्तव में मिट्टी, देह और इन्द्रियों के हैं, प्राणात्मा के नहीं। प्राणात्मा तो शुद्ध वा निर्विकार है जो प्राण कहा जाता है। जब यह प्राणात्मा से जना जाता है

और प्राणात्मा हो जाता है, तो फिर उसी तरह बुराई के सकल्पों और कामों से निर्लेप रहता है, जसा कि आर्य-बच्चा मुसलमान के बावर्चीखाने (रसोई) में खाना पकता देखता है, पर खाने की इच्छा नहीं करता, वरन् देखकर भाग जाता और घृणा करता है।

(४०) इसी तरह वह द्विजन्मा भी जब प्राणात्मा से उत्पन्न होता है, तो बुरे कामों और बुराई के विचारों से घृणा करता है। अंततः ज्यों ज्यों वह प्राणात्मा के निश्चय में प्रौढ़ होता जाता है, त्यों त्यों उनकी ओर खयाल भी नहीं करता। इस कारण असुर प्राणोपासना से सुगमतापूर्वक परास्त हो जाते हैं। यही कारण है कि द्विजाति माताएँ अपने बच्चों को यही लोरियाँ देती हैं कि "बेटा! तू तो प्राणात्मा और द्विजाति है, तुझे देहाभिमानियों व देहाध्यासियों से मिलना और उनकी विद्याओं की शिक्षा पाना वास्तव में आत्माभिमानियों और द्विजातियों से गिर जाना है।" ज्यों-ज्यों द्विजाति बच्चा बढ़ता है, अन्य जाति अर्थात् देहाध्यासियों से खान-पान नहीं करता, और उनके निश्चयों तथा शास्त्रों को सुनता हुआ भी घृणा करता है, त्यों-त्यों अपनी प्राण की उपासना में वह युवा होता जाता है।

(४१) हा शोक! कि इस समय इसकी जगह आर्य बच्चा पाश्चात्य शिक्षा में दिया जाता है, और ब्रह्मचर्य तथा संस्कृत में वेदाध्ययन के स्थान पर देहाभिमानियों की विद्याओं

की शिक्षा पाता है, जो ससार की ओर अभिरुचि उत्पन्न करती और उसे शारीरिक ध्यान दिलाती है। यद्यपि वह नाम का द्विजाति और आर्य होता है, वास्तव में न तो वह प्राणात्मा से उत्पन्न होता है और न द्विजन्मा होता है, उसी तरह शरीर में अहंता का भाव पाता देहाभिमानियों की तरह देहाभिमानी हो जाता है, और साधारण व्यक्तियों की नाईं मरता है, और राजकुमारों में से एक की तरह गिर जाता है, ब्रह्मलोक के साम्राज्य में प्रविष्ट नहीं होता।

(४२) यह जो कुछ हमने वर्णन किया है, हमारी कपोल-कल्पना नहीं, वरन् उद्गीत ब्राह्मण में सिद्ध हुआ है कि स्वयं प्रजापति के अनुभव से निश्चय हो चुका है कि जब तक मनुष्य प्राणोपासना नहीं करता और उसी को उद्गाता नहीं बनाता, कदापि असुरों पर विजय-लाभ नहीं कर सकता। और यह अनुभव जो प्रजापति मे हुआ है, कहानी की भाँति उद्गीत-ब्राह्मण में अंकित है। हम भी भाषा जाननेवालों के विश्वास के लिये यहाँ सक्षेप से अनुवाद करते हैं।

(४३) * यजुर्वेद आरण्यकभाग उद्गीत-ब्राह्मण में यों लिखा है कि प्रजापति की संतान देवता और असुर दो

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय १, ब्राह्मण ३। छांदोग्योपनिषद् प्रपाठक १, खंड २।

सेनाएँ हैं जिनमें देवता तो छोटे हैं और असुर बड़े। और पहले कल्प में जब तक प्रजापति ने उस कल्प में प्रजापति का पद नहीं पाया था, वरन् नर-रूप में देहधारी था, उनका युद्ध हुआ।

(५४) असुरों ने उसे संसार के भोगों का प्रलोभन दिखाया और संसार की ओर लगाना चाहा, देवताओं ने उसे परलोक के भोग दिखाए और परलोक की ओर लगाना चाहा।

(५५) इसी प्रकार जब उनमें खूब युद्ध हुआ और दोनों ओर से विद्या और कर्म के उपाय सोचे गए, तो अंत में देवताओं ने यों सम्मति की कि आओ, हम ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गीत-कर्म से असुरों को पराजित करें।

(५६) तब उन्होंने वाणी को कहा कि हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये गायन किया। लेकिन जो वाणी के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए और सुन्दर वाणी अपने लिये गाई।

(५७) तब असुरों ने जाना कि ये अवश्य इस उद्गाता के कारण हमको 'जय' कर लेंगे, इसलिये उठे और वाणी को छुआ और अपवित्र कर दिया। इसी कारण वाणी वाच्य और अवाच्य बोलती है।

(५८) फिर उन्होंने नाक को कहा कि तुम हमारे लिए उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के

लिये उद्गायन किया। किंतु जो नाक के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो अच्छा सूँघना है, वह अपने लिये गाया।

(५९) तब असुरों ने जाना कि ये अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इसलिये उठे और नाक को छुआ और अपवित्र कर दिया। इसी से नाक अच्छा और बुरा सूँघती है।

(६०) फिर उन्होंने आँख को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो आँख के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो सुंदर देखना है, वह अपने लिये गाया।

(६१) तब असुरों ने जाना कि ये अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इसलिये उठे और आँख को लग गये और अपवित्र कर दिया। इसी कारण आँख अच्छा और बुरा देखती है।

(६२) फिर उन्होंने कान को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो कान के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो सुंदर सुनना है, वह अपने लिये गाया।

(६३) तब असुरों ने जाना कि ये अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इसलिये उठे और कान को लग गये, और अपवित्र कर दिया। इसी कारण कान अच्छा और बुरा सुनता है।

(६४) फिर उन्होंने मन को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने देवताओं के लिये उद्गायन किया। किंतु जो मन के भोग हैं, वह तो उनके लिये गाए, जो अच्छा सोचना है, वह अपने लिये गाया।

(६५) तब असुरों ने देखा कि अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें जय कर लेंगे, इसलिये उठे और मन को लग गये, और अपवित्र कर दिया। इसलिये मन भला और बुरा सोचता है। इसी तरह यज्ञ में जिन-जिन व्यक्तिगत इंद्रियों को उन्होंने उद्गाता या नेता बनाया, सबको असुरों ने पापी कर दिया, और आज तक भी उनमें भले और बुरे का प्रवेश स्पष्ट है।

(६६) अत में उन्होंने प्राण को, जो शुद्ध प्राणात्मा है, कहा कि तुम हमारे लिये उद्गायन करो। उसने कहा, अच्छा। तब उसने उनके लिये गाया। असुरों ने देखा कि अब अवश्य इस उद्गाता के कारण हमें ये जय कर लेंगे, इसलिये उठे और उससे लगे। किंतु लगते ही इस प्रकार टूट गए जिस तरह तेज बसूला एक कड़े पत्थर पर चलाया हुआ टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। इस प्रकार देवता विजयी हो गए और असुर पराजित हो गए।

(६७) इसी कारण जाना जाता है कि शुद्ध प्राण किसी तरह बुराई के योग्य नहीं। जब कि वह बुराई के योग्य

नहीं, असुर उसे कुछ नहीं कर सकते, वरन् उसे स्पर्श करते ही स्वयं मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अब जो कोई ऐसा जानता है, उसके द्वेषी पराजित हो जाते हैं।

(६८) फिर, उन देवताओं (इंद्रियों) ने कहा कि वह कौन है जिसको प्रथमासन देने से हमने असुरों पर सफलता प्राप्त की? निश्चय हो गया कि यही शुद्ध प्राण है और यही प्रत्येक का सार और आत्मा है। इसी कारण इसे आंगिरस बोलते हैं।

(६९) फिर कहा, यही देवता है जिसे दूर भी कहते हैं। क्योंकि मृत्यु और पाप इससे परे रहते हैं। और उससे भी मृत्यु और पाप दूर रहते हैं, जो इसमें अहंता रखता है।

(७०) इसी महाप्राण के निश्चय से इन इंद्रियों ने मृत्यु और पाप से निवृत्तिलाभ की, वरन् इनके पाप लेकर उसने उन देहाध्यासियों में फेंक दिए, जो मनुष्यों के वर्ग (श्रेणी) में मिलते हैं, अर्थात् वह देहाभिमानी जो प्राण तो रखते हैं, लेकिन इस प्राणात्मा में अहंभाव की जानकारी नहीं पाते। इसी कारण संस्कृत में उन्हें अंतज बोलते हैं, क्योंकि अंत का अर्थ संस्कृत में सीमा है, जो मानवी सीमा में उत्पन्न होते हैं, उन्हें अंतज बोलते हैं। जब प्रजापति ने अपने भारी पाप उनमें फेंक दिए हैं और वे पैतृक पापों में फँसे हुए हैं, द्विजातियों को उनके साथ खान-पान के

नहीं, असुर उसे कुछ नहीं कर सकते, वरन् उसे स्पर्श करते ही स्वयं मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अब जो कोई ऐसा जानता है, उसके द्वेषी पराजित हो जाते हैं।

(६८) फिर, उन देवताओं (इन्द्रियों) ने कहा कि वह कौन है जिसको प्रथमासन देने से हमने असुरों पर सफलता प्राप्त की ? निश्चय हो गया कि यही शुद्ध प्राण है और यही प्रत्येक का सार और आत्मा है। इसी कारण इसे आंगिरस बोलते हैं।

(६९) फिर कहा, यही देवता है जिसे दूर भी कहते हैं। क्योंकि मृत्यु और पाप इससे परे रहते हैं। और उससे भी मृत्यु और पाप दूर रहते हैं, जो इसमें अहंता रखता है।

(७०) इसी महाप्राण के निश्चय से इन इंद्रियों ने मृत्यु और पाप से निवृत्तिलाभ की, वरन् इनके पाप लेकर उसने उन देहाध्यासियों में फेंक दिए, जो मनुष्यों के वर्ग (श्रेणी) में मिलते हैं, अर्थात् वह देहाभिमानी जो प्राण तो रखते हैं, लेकिन इस प्राणात्मा में अहभाव की जानकारी नहीं पाते। इसी कारण संस्कृत में उन्हें अंतज बोलते हैं, क्योंकि अंत का अर्थ संस्कृत में सीमा है, जो मानवी सीमा में उत्पन्न होते हैं, उन्हें अंतज बोलते हैं। जब प्रजापति ने अपने भारी पाप उनमें फेंक दिए हैं और वे पैतृक पापों में फँसे हुए हैं, द्विजातियों को उनके साथ खान-पान के

प्रजापति-रूप हैं।" जब तक वह यह विश्वास नहीं पाता, नई उत्पत्ति में प्रविष्ट नहीं होता, वरन् शूद्र या देहाध्यासी होता है, और उसे वैदिक कर्मों का भी वास्तव में अधिकार नहीं होता, क्योंकि शरीर तो नाशवान् है, यहाँ जलाया जाता है, कर्मों का फल किसको होगा? परतु जो प्राणात्मा या जीवात्मा है, वह तो मरता नहीं, कर्मों का फल उसे अवश्य प्राप्त होगा। इसलिये प्राणात्मा या जीवात्मा का निश्चय वास्तव में कर्मों के अधिकार का प्रथम कारण है।

(६७) भाषा जाननेवालों को सबसे अधिक आवश्यकता इसी विश्वास की है। इसलिये हमने इसके सिद्धात विस्तार-पूर्वक लिख दिए हैं। परतु कर्मों का रूप वर्णन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण उसके स्वरूप को जानते हैं, और उनके द्वारा वह यज्ञादि कर्म कर सकता है।

(६८) वेदों का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण दूसरों के लिये दलाल का सबध रखता है। जिस तरह देहाती मनुष्य व्यापार नहीं कर सकता, बल्कि यदि वह खरीदना-बेचना चाहे, तो उसे चाहिए कि दलाल के द्वारा खरीदे-बेचे, तब नुक़सान नहीं उठावेगा।

(६९) जिस तरह दलाल की दृष्टि (विश्वास) पर देहाती आदमी का काम चलता है, उसी तरह यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण की दृष्टि (विश्वास) पर यजमान को फल होता है। और यह ब्राह्मण जिस प्रकार का शास्त्रीय निश्चय रखता है,

जो इस निश्चय का निषेध करते हैं, जीर्ण और मिथ्या है। और यह युक्ति-युक्त भी है कि जो कुछ मन में होता है, वही जिह्वा पर आता है। यदि कोई कहे कि मैं इसका विश्वास तो रखता हूँ, परन्तु वाणी से नहीं कहता हूँ, तो ज्ञात होता है कि अभी इसका विश्वास कच्चा है, और परलोक के कामों में फलप्रद नही।

(६५) वेदों का तात्पर्य यह है कि जब विश्वास और कर्म दृढ़ होते हैं, तो वही मृत्यु में फल देते हैं। और यह स्पष्ट है कि जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है। क्योंकि भंगी जब स्वप्न में जाता है, तो यद्यपि अपने ख़याल में धरती और आकाश, राजा और प्रजा सब कुछ रचता है, परन्तु आप अपने निश्चय के अनुसार भंगी के रूप में उठता है, और टट्टियों को साफ करता है। और, राजा जब अपने स्वप्न में जाता है, तो अपने राज-विचार के कारण राजा के रूप में उठता है, भंगी नही हो जाता।

(६६) इसी तरह जिसको पक्का विश्वास है कि "मै प्राणात्मा हूँ, और प्रजापति हूँ" वह मृत्यु में प्राणात्मा और प्रजापति के रूप में उठेगा। और जिसको विश्वास है कि "मै देह, अधम पापी पुरुष हूँ" वह शारीरिक बंधन में उसी तरह अधम अधीन उठेगा। इसलिये मुक्ति के इच्छुक (जिज्ञासु) को पहले पहल यही विश्वास पक्का करना चाहिए कि "मै प्राणात्मा हूँ और प्रजापति की सतान

रात के बंधन से छूटता है? मुनिजी ने उत्तर दिया कि जब 'अध्वर्यु' यजमान की आँख को सूर्य और अपने से एक देखता है, तो दिन-रात की उपाधि वा बंधन से छूट जाता है। उसकी दृष्टि यों होती है कि यजमान की आँख वास्तव में सूर्य है और यही यज्ञ का 'अध्वर्यु' है, और यही दृष्टि उसकी मुक्ति है।

(१०३) फिर उसने प्रश्न किया कि तिथि-रूप बंधन से यजमान की मुक्ति यज्ञ में किस तरह होती है? उत्तर दिया कि जब 'उद्गाता' यजमान के प्राण को महाप्राण और अपने से एक देखता है, तो तिथि-रूप काल की उपाधि से छूट जाता है। और उसकी दृष्टि यों होती है कि जो यह यजमान का प्राणात्मा है, वही प्रजापति का प्राणात्मा है, और यही 'उद्गाता' है। यही विश्वास उसकी मुक्ति है।

(१०४) फिर उसने प्रश्न किया कि यजमान इन कर्मों और विश्वास के कारण किसके आश्रय से मृत्यु के पश्चात् सुरलोक को जाता है? मुनिजी ने उत्तर दिया कि जो 'ब्रह्मा' इसके मन को चंद्रमा से एक देखता है, यही दृष्टि इसके कर्मों का आश्रय होती है। और वह दृष्टि इस तरह होती है कि यजमान का मन वास्तव में 'ब्रह्मा' है और वही चंद्रमा है, और वही मुक्ति है।

(१०५) इस प्रश्नोत्तर का तात्पर्य यह है कि यजमान की जो सविषय ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ हैं और अपने-

उसी के अनुसार प्राण यजमान में दृष्टि करता है और मुक्ति का हेतु हो जाता है।

(१००) * राजा जनक के दरबार में होताऽश्वल ब्राह्मण ने याज्ञवल्क्य ब्राह्मण मुनि से प्रश्न किया कि याज्ञवल्क्य ! यह जो उद्गीत-ब्राह्मण में मालूम हुआ है कि यजमान के इंद्रिय पापों के लग जाने के कारण मृत्यु से बद्ध हो रहे हैं, किस दृष्टि से मुक्त होते हैं? मुनिजी ने उत्तर दिया कि जब 'होता' यजमान की वाणी को अग्नि-देवता और अपने से एक करके देखता है, तो 'होता' की इस दृष्टि से यजमान के इंद्रिय मृत्यु के बंधन से छूट जाते हैं, और परिच्छिन्न गोलकों से मुक्त हुए अपने-अपने अपरिच्छिन्न अधिदेव में मिल जाते हैं।

(१०१) बुद्धिमान् 'होता' का यज्ञ में यह निश्चय वा ध्यान होता है कि यजमान की वाणी वास्तव में 'होता' है, और यही वाणी वास्तव में अग्नि है, और यही 'होता' है। अत उसकी यही दृष्टि (विश्वास) यजमान की मुक्ति है। जो ब्राह्मण इस प्रकार नहीं जानता और यज्ञ कराता है, अनजान है।

(१०२) फिर उसने प्रश्न किया कि काल बीतता जाता है, या तो तिथि-रूप है या दिन-रात-रूप है, और जीवन यजमान के काल पर निर्भर है, किस दृष्टि से यजमान दिन-

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ३, ब्राह्मण १।

सत्यसंकल्प नहीं हो जाता। वरन् पितृयाण-सड़क के मार्ग से चन्द्रलोक में जाता देवताओं का भोग होता है और लज्जित होता फिर गिरता है।

(१०७) अत ऐ भाइयो! हम तो शूद्र नहीं वरन् द्विजाति हैं, देहाभिमानी नहीं वरन् आत्माभिमानी हैं, सेवक नहीं वरन् ब्रह्मलोक के राजकुमार हैं, फिर क्यों दुबारा दासता के जुए के नीचे जुतते हो? हमारा काम दासता नहीं, वरन् उपासना है, बदी नहीं वरन् नेकी है। 'काम, क्रोध, शारीरिक भोग' शरीराभिमानियों (देहाध्यासियों) के कर्म हैं, भलाई और होम और पिता की प्रीति आत्माभिमानियों के कर्म हैं। सुपुत्र वही होता है जो पिता की मर्यादा सीखता है। और उसकी मर्यादा वही है जो होम आदिक कर्म हैं, और उसके सदाचरण वही हैं जो उपासना आदिक निश्चय हैं। वह पुत्र जो उन मर्यादाओं का पालन नहीं करता, उन सदाचरणों का आचरण नहीं करता, ब्रह्मलोक के उत्तराधिकार से गिर जाता है, और राजकुमारों में से एक की नाईं स्वर्गीय सिंहासन से वञ्चित रहता है।

(१०८) जब तक तुम बालक हो, यद्यपि उत्तराधिकारी हो, तो भी जिस तरह बालक राजकुमार सेवकों और गुरुओं के बंधन और शिक्षा में सेवकों की भाँति रहता है, रहते हो। फिर जब समय आता है और उत्तराधिकार पाता है, तो अंत में स्वामी नियत होता है। तुम भी

संसार में, जब तक शारीरिक बंधन है, ब्राह्मणों और शास्त्रों के बंधन में हो। तुम शिक्षा पाओ और प्रजापति की मर्यादा और सदाचरण से सुसभ्य हो जाओ। ब्रह्मलोक का साम्राज्य निकट है। देहाभिमानियों की शिक्षा और विचारों से बचे रहो, क्योंकि उनके विचार और विश्वास दासों के हैं, राजकुमारों के नहीं, भूलोकवालों के हैं, द्युलोकवासियों के नहीं।

(१०६) अब हम कर्मकांड-शास्त्र में भाषाविदों के लिये इतने ही सिद्धांत यथेष्ट ख़याल करते हैं, इससे अधिक सिद्धांत जिसे चाहिए हों, वह वेदभगवान् से, जो मूल है, प्राप्त करे। परन्तु हम चिता देते हैं कि कर्मकांड की यद्यपि बड़ी उन्नति है, किंतु अंत में वह भी नाशवान् है, नित्य नहीं। क्योंकि जो कर्मों से बनाया [illegible] में नाशवान् होता है। और पुण्यलोक [illegible] से बनाया जाता है, इसलिये स्वभावत अमृत [illegible]

प्रसाद का पथ है। यही कारण है कि वेदभगवान् अत में कर्मों की ओर प्रेरित नहीं करता, वरन् उनसे उपराम कराता है, ताकि आर्य-लोग न्याय (अदल) से उसके प्रसाद (फजल) में सम्मिलित हों, और वह जो पिता का मुख्य आनद है, उसमें भी प्रवेश पावें, जो परमानद कहलाता है।

(१११) इस विद्या में सबसे बडी महिमा यह है कि मुख्य आनंद जो निजस्वरूप का है, वह तो नकद यहीं मिल जाता है, और सत्यसकल्प और सत्यकाम आदिक प्रसाद तो मृत्यु के पश्चात् छाया की भाँति उसे यों ही प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये हम भी अब कर्मकाड को समाप्त करते हैं और अपने प्रिय शिष्यों को प्रसाद में बुलाते हैं। ईश्वर परमात्मा उन्हें जो पढ़ें, अपने प्रसाद (फजल) का प्रकाश प्रदान करे। तथास्तु।

ॐ ! ॐ !! ॐ !!!



दूसरी शिक्षा

अर्थात्

ज्ञानकांड

अध्याय पहला

(१) हम पिछली शिक्षा में इन्द्रियों की असलियत या स्वरूप भली भाँति लिख चुके हैं, और उनके विशेष-विशेष काम भी लिख आए हैं कि आँख देखती है, कान सुनता है, जिह्वा चखती है, मन सोचता-समझता है, हाथ पकड़ते हैं, पाँव चलते हैं, वाणी बोलती है, प्राण खींचता है, अपान निकालता है, व्यान रोकता है, समान पकाता है, उदान कुछ का कुछ बनाता है।

(२) ये इन्द्रियाँ मिलकर जब शरीर में काम करता

वरन् जिस विद्या के द्वारा हम आत्म-ज्योति की हमें पहचान मिलती है, वही ज्ञानकांड है, और यही ज्योति परमेश्वर का मुख्य आनंद है, और यही ज्ञानियों का परम धाम है। इसी को जानता हुआ वह प्रसाद में प्रविष्ट होता है। इसी की पहचान के कारण समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ यों ही (मुफ्त) प्राप्त हो जाती हैं।

(६) यह आत्म-ज्योति वास्तव में सबकी भीतरी ज्योति है, किंतु बाहरी ज्योतियों में छिपी हुई दिखाई नहीं देती। और बाहरी ज्योतियाँ बहुत हैं, जो इस ज्योति को छिपाए हुए हैं। अनजान मनुष्य बाहरी ज्योतियों को देखता हुआ इसको देखता हुआ भी नहीं देखता है। इसलिये इस बड़े भारी प्रसाद (फजल) से वंचित रहता है।

(७) बाहरी ज्योतियों में सबसे बड़ी और प्रसिद्ध ज्योति सूर्य है। क्योंकि जब सूर्य चढ़ता है, तो मनुष्य उठता है, बाजार में जाता है, अपने काम-धंधे करता है और लौट आता है। क्योंकि सूर्य में मनुष्य अपना पूरा काम धंधा भली भाँति करता है, इसलिये सूर्य मनुष्य की ज्योति है।

(८) जब सूर्य नहीं होता, तो चंद्र उसकी ज्योति होता है, क्योंकि फिर वह चंद्र में उसी तरह काम-धंधा करता है जिस तरह सूर्य में करता था। और जब चंद्रमा भी नहीं होता, तो दीपक उसकी ज्योति होता है, क्योंकि फिर

वह दीपक में भी अपना काम-धंधा उसी तरह कर लेता है। जब दीपक भी नहीं होता, तो वाणी उसकी ज्योति होती है, क्योंकि अँधेरी रात में जब कि हाथ पसारा भी नहीं दिखाई देता, तो जहाँ बुलाया जाता है वहाँ चला जाता है, या जहाँ कोई कुत्ता भौंकता है या गधा रेंकता है, तो वहाँ चला जाता है।

(९) यद्यपि वाणी ज्योति उसकी प्रसिद्ध नही है, किंतु ज्योति की असलियत उसमें पाई जाती है। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य या चन्द्र या दीपक उसके नेत्र में प्रकाश देते हुए हृदय को विवेक प्रदान करते, और उसे काम-धंधे मे उभारते हैं, उसी तरह वाणी भी उसके कान में तेज प्रदान करती हुई हृदय में विवेक देती और उसे काम-धंधे में उभारती है। इसी कारण वह भी उसकी ज्योति है।

(१०) अप्रसिद्ध ज्योति उसकी केवल वाणी ही नहीं, वरन् घ्राण, रसना और त्वचा भी उसकी ज्योतियाँ हैं। क्योंकि ये ज्योतियाँ भी नाक, जिह्वा और देह में प्रकाश करती हुई हृदय में विवेक उत्पन्न करती हैं, और उसे काम-धंधे के लिये उभारती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि जो वस्तु किसी कारण से मन में विवेक उत्पन्न करती हुई उसे काम-धंधे के लिये उभारती है, वही उसकी ज्योति होती है।

(११) जान लो कि ये सब ज्योतियाँ पहले किसी बाह्य इंद्रिय पर प्रकाश डालती मन को उभारती है, जो कि बाह्य

साधन या करण हैं, बिना उन बाह्य साधनों के मन को, जो अंतःकरण और विवेक का साधन है, नहीं उभारतीं, इसलिए ये बाह्य ज्योतियाँ हैं। परंतु स्मृति और सोच में जो मन अपने आप उठता है, वह इन ज्योतियों से नहीं उठता वरन् भीतरी ज्योति से, जो आत्म-ज्योति है, उठता है। क्योंकि जब हम चाहते हैं कि किसी वस्तु का ध्यान करें, तो हमारा मन आत्म-ज्योति से प्रकाश पाता, ध्यान के रूप में विवेक पाता है और भीतरी व्यापार करता है।

(१२) इस आंतरिक ज्योति का यथार्थ अनुभव स्वप्न में होता है, जब कि हम स्वप्न-संसार में सैर करते हैं। क्योंकि वहाँ नींद के कारण बाह्येंद्रियाँ तो निश्चेष्ट होती हैं, न तो वहाँ सूर्य चमकता है, न चंद्र, और न दीपक जलता है, वरन् वाणी आदि बाह्य ज्योतियाँ भी नहीं होतीं, तो भी अपनी आत्म-ज्योति में हम एक विचित्र स्वप्न-संसार देखते हैं, और उसमें उसी तरह का व्यापार करते हैं, जिस तरह जाग्रत् में बाहरी प्रकाशों के कारण व्यापार करते हैं।

(१३) हम यह निश्चित कर चुके हैं कि जिसमें मनुष्य उपर्युक्त नियमानुसार व्यापार करता है, वही उसकी ज्योति होता है, और स्वप्नावस्था में मनुष्य का व्यापार अपने आत्मा में स्वतः स्पष्ट होता है, इससे ज्ञात हुआ कि उसका आत्मा भी उसकी ज्योति है। और क्योंकि वह सब इंद्रियों के भीतर है, इसलिये अंतर-ज्योति कहलाता है।

(१४) स्वप्न में हमारी आत्म-ज्योति के प्रकाश से स्वप्न शरीर के पैर चलते हैं, हाथ पकड़ते हैं, आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, हम घोड़ों पर सवार होते दूर-दूर की यात्रा करते हैं, मित्रों से भेंट करते, बाजारों मे जाते, नाना व्यापार करते फिर लौट आते हैं, और सुन्दर स्त्रियों का आलिंगन करते छेड़-छाड़ करते हैं। यह सब बर्ताव आत्म-ज्योति में होता है जो मनुष्य की आंतरिक ज्योति है।

(१५) जब हम जागते हैं, तो भी इसी आत्म-ज्योति में बर्ताव करते हैं, और चंद्र और सूर्य तथा दीपक-रूप ज्योति तो उसकी सेवा करते हैं। क्योंकि जाग्रत् में आत्म-ज्योति न हो, तो फिर क्या सूर्य, क्या चाँद और क्या दीपक, एक समान अंधकार होते हैं। इसी कारण मृतक के लिये यह सब अँधेरा है। इससे ज्ञात हुआ कि वास्तव में ज्योति यही आत्मा है। यह बाहरी ज्योतियाँ वास्तव में ज्योति नहीं, वरन इंद्रियों के उभारने के साधन हैं, किंतु सामान्य लोग व्यावहारिक (लौकिक) दृष्टि से उनको भी ज्योति समझते हैं।

(१६) जब हमारा आत्मा नेत्र आदि में प्रकाश देता है, तो आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघती है, जबान चखती है और देह गर्म तथा सर्द पहचानती है। इसी को बुद्धिमान् लोग जाग्रत् बोलते हैं। बाह्य ज्योतियाँ तो उनके कुछ कामों में सहायक होती हैं। जैसे सूर्य या चाँद या

दीपक तो भौतिक अँधेरे को दूर करने की सेवा करते हैं, जिससे आँख अपना पूरा और ठीक-ठीक काम करे। इस कारण वह सब बाह्य ज्योतियाँ अपनी-अपनी सेवा में आत्म-ज्योति के अधीन हैं।

(१७) किंतु आत्म-ज्योति अपने प्रकाश में उनके अधीन नहीं, क्योंकि बिना आँखों के स्वप्न में वह देखता है बिना कानों के सुनता है, बिना पाँवों के चलता है, और बिना हाथों के पकड़ता है। बाहरी प्रकाश जो इंद्रियों के चाकर हैं, बहुत दूर रहते हैं, उससे कुछ भी संबंध नहीं पाते। इसलिये ज्ञात हुआ कि आत्म-ज्योति अपने स्वरूप में स्वतंत्र है, उनके अधीन नहीं।

(१८) बाहरी ज्योतियाँ यद्यपि इंद्रियों की सेवा करती हैं और उनमें प्रकाश डालती उन्हें उभारती हैं, किंतु वह न अपने आपको जानती और न इंद्रियों को जानती हैं, और न अपनी सेवा को जानती हैं, इसलिये जड़ हैं। आत्म-ज्योति मन को, मन के विचारों को, इंद्रियों को, और क्या सूर्य, क्या चाँद, क्या दीपक सबको जानती है, इसलिये स्वप्रकाश और ज्योतिषां ज्योति (ज्योतियों की ज्योति) है। इसी को संस्कृत में चेतन बोलते हैं।

(१९) बाहरी ज्योतियों में तो केवल इंद्रियों का उभारना है, देखना नहीं। आत्म-ज्योति में तो उभारने के अतिरिक्त देखना भी है, इसलिये बाह्य ज्योतियाँ दोषपूर्ण वा तुच्छ हैं, और

यह आत्म-ज्योति पूर्ण ज्योति है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रेरणा भी अल्प है, क्योंकि सूर्य, चद्र और दीपक तो केवल नेत्र में प्रेरणा करते हैं, कान या नाक में प्रेरणा नहीं रखते। आत्म-ज्योति तो क्या आँख, क्या नाक, क्या कान सबमें प्रेरणा करती है और उन्हें देखती है, इसलिये व्यापक है।

(२०) अन्य कारण से भी आत्म-ज्योति वाह्य ज्योतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वह यह कि वाह्य ज्योतियाँ यद्यपि किसी कारण से मनुष्य के वाह्य व्यापारों के हेतु हैं, तो भी उसके व्यापार में अभिमान नहीं करती हैं, आत्म-ज्योति का तो उसके व्यापार में किसी प्रकार का अभिमान भी पाया जाता है, क्योंकि जब तक इंद्रियों में इसका स्वाभाविक अभिमान नहीं होता, तब तक वे इंद्रियाँ सब की सब व्यर्थ और निकम्मी होती हैं।

(२१) देखो, जब यह आत्मा मन में और इंद्रियों में अभिमान करता है, तो जाग्रत् के व्यापार होते हैं, और जब इंद्रियों से अभिमान छोड़कर केवल मन में अभिमान रखता है, तो स्वप्न के व्यापार होते हैं, और स्वप्न संसार के भोग दिलाता है, और जब मन से भी अभिमान छोड़कर केवल पंचप्राण में अभिमान रखता है, तो सुषुप्ति हो जाती है, केवल पचप्राण व्यापार करते हैं, और जब उनसे भी अभिमान छोड़ता है, तो मृत्यु होती है।

(२२) इस प्रकार के विचार से ज्ञात होता है कि जब

आत्म-ज्योति का अभिमान उनमें होता है, तब वे कर्त्ता-भोक्ता होते हैं और अपने व्यापार करते हैं, किंतु बाहरी ज्योतियाँ उनमें अभिमान नहीं कर सकतीं, इस कारण से भी वे (ज्योतियाँ) दोषपूर्ण या तुच्छ हैं, और यह (आत्म-ज्योति) पूर्ण ज्योति है, और वे जड़ हैं, यह चेतन है।

(२३) यह न मान लेना चाहिए कि आत्म-ज्योति का अभिमान उसका स्वाभाविक है, नहीं, वरन् कल्पित है। क्योंकि जैसे जैसे मनुष्य के कर्म उसके भोग के लिये उदय होते हैं, वैसे-वैसे उसका स्वाभाविक अभिमान उनके बर्ताव के लिये होता है। जब वे कर्म समाप्त होते हैं, तो वह इस प्रकार के अभिमान से भी अपने स्वरूप में शुद्ध और पवित्र दिखाई देता है।

(२४) देखो, जब उसके कर्म जाग्रत् के भोगों के उदय कर्त्ता होते हैं, तो उसका अभिमान इंद्रियों में प्रकट होता है। जब वे समाप्त होते हैं, और स्वप्न के भोगों के कर्म उदय होते हैं, तो उसका अभिमान इंद्रियों में नहीं, वरन केवल मन में होता है। और जब जाग्रत् और स्वप्न के भोग भी समाप्त होते हैं, तो सुषुप्ति होती है, उस समय मन में भी वह अभिमान नहीं करता। बहुत क्या लिखें, जब जीवन के कर्म भी समाप्त हो जाते हैं, तो पंचप्राण में भी यह अभिमान नहीं करता, और मृत्यु होती है।

(२५) इस प्रकार के अवलोकन और अनुभव से ज्ञात

हो सकता है कि उसका अभिमान भी स्वाभाविक नहीं, वरन् कल्पित है, और यह कल्पना मनुष्य के कर्मों के कारण उसमें होती है। फलत, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के लिये नेत्रों का स्वस्थ होना आवश्यक है, उसी तरह उसके अभिमान के प्रकाश के लिये भी मनुष्य के भोग-कर्मों का होना आवश्यक है।

(२६) यह स्पष्ट है कि जब नेत्र स्वस्थ होते हैं, तब सूर्य उनमें प्रकाश करता उन्हें व्यापार के लिये उभारता है। इसी तरह जब मनुष्य के भोग के कर्म उदय होते हैं, तो आत्म-ज्योति भी उसमें अभिमान का प्रकाश करती और उसे व्यापार में प्रेरती है। पर जैसे सूर्य का प्रकाश आँख से लगावट नहीं पाता, वरन् पवित्र का पवित्र रहता है, उसी तरह आत्म-ज्योति भी किसी इन्द्रिय से लगावट नहीं पाती, वरन् पवित्र की पवित्र रहती है।

(२७) संक्षेपत यह कि इस आत्म-ज्योति में कभी जाग्रत, कभी स्वप्न, कभी सुषुप्ति होती है, और जैसे-जैसे मनुष्य के कर्म उदय होते हैं, वैसी-वैसी उस मनुष्य की अवस्थाएँ पलट जाती हैं, और उसके सब व्यापार और भोग इसी आत्म-ज्योति में पूरे होते हैं।

(२८) वरन् मृत्यु के बाद भी जो व्यापार होते हैं, वह भी इसी आत्म-ज्योति में पूर्ण होते हैं, क्योंकि मृत्यु के बाद या तो वह देवयान या पितृयाण-सड़क पर चलता है, या अधोगति

में गिरता है, तो यद्यपि वहाँ उदान प्राण कर्त्ता होता है, तो भी जिस प्रकार कोई कारीगर दीपक में काम करता है, यह उदान-प्राण भी वहाँ इसी आन्तरिक दीपक (आत्म-ज्योति) के द्वारा व्यापार करता है।

(२६) देवयान-सड़क पर उदान प्राण इसी आत्म-ज्योति के प्रकाश में पहले उसे अग्नि, और अग्नि से ज्वाला या लाट, और अग्निज्वाला (लाट) से दिन बनाता है, जैसा कि कर्मकांड के प्रकरण में स्पष्ट किया गया है; या पितृयाण-सड़क पर पहले धूम्र और धूम्र से अँधेरी रात, और अधोगति पर पहले भस्म, फिर मिट्टी, फिर वनस्पति आदि बनाता अंत में नारीगर्भ में ले जाता है।

(३०) फिर देवलोक और पितृलोक में सोमराज या देवता-रूप से उठाता और भूलोक में नारी के गर्भ से पशु-पक्षी व मनुष्य की योनियों में उत्पन्न कराता, देवलोक, चन्द्रलोक और भूलोक के भोग दिलाता है। ये सब व्यापार, क्या लौकिक क्या पारलौकिक, क्या आध्यात्मिक क्या आधिभौतिक, क्या मानवीय क्या ईश्वरीय, ये सब उसके कर्मों के उदय होने पर होते हैं, और उदान-प्राण उनका कर्त्ता है। इसलिये इन्द्रियाँ व प्राण वास्तव में कर्मों के बंधन में कर्त्ता और भोक्ता हैं। किंतु उनके भोग और व्यापार की पूर्ति अथवा समाप्ति इसी आत्म-ज्योति के आश्रय में होती है, इसलिये यह समस्त व्यापार का आधार वा अधिष्ठान है।

(३१) जहाँ ऊर्ध्व और अधोगतियों पर (अथवा लौकिक वा पारलौकिक मार्गों पर) केवल उदान-प्राण व्यापार करता है, तो इसी ज्योति के अभिमान से करता है, और इसी अभिमान के कारण स्रष्टा नाम पाता है, जब देवलोक या पितृलोक में वही प्राण नाना इंद्रियाँ-रूप होकर ऊर्ध्वगति के भोग पाता है और द्युलोक के व्यापार करता है, तो इसी ज्योति के अभिमान के कारण ईश्वर या देवता नामो को पाता है, और यही (उदान-प्राण) नरलोक में या पशु-पक्षियो में जीव नाम पाता है। ऊर्ध्वलोकों वा परलोकों में तो पुण्यकर्मों के कारण वह स्वतत्र (स्वाधीन) होता है, और यहाँ पापकर्मों के कारण परतंत्र होता है।

(३२) इसी तरह क्या पारलौकिक क्या लौकिक समस्त संसार-चक्र इसी आत्म-ज्योति में अनादि काल से चलता है, और अपने-अपने कर्मों के कारण ये प्राण अथवा इन्द्रियाँ व प्राण कभी तो पारलौकिक, कभी लौकिक चक्र (अथवा कभी ऊर्ध्वगति, कभी अधोगति) में यात्रा करते हैं, और यह ज्योति सब व्यापारों का आधार वा अधिष्ठान है, और उनसे पृथक् तथा अकर्त्ता-अभोक्ता है। क्योंकि करना या पाना वास्तव में प्राण वा इन्द्रियों का काम है, ज्योति का नहीं है, इसलिये वह असगात्मा है।

अध्याय दूसरा

(१) विवेचना से सिद्ध हुआ है कि यद्यपि व्यापार ज्योति के आश्रय होते है, किंतु ज्योति स्वय कर्त्ता नहीं होती, बल्कि उसको व्यापार के साथ प्रकाश से अतिरिक्त कुछ भी सबध नहीं होता। देखो, सूर्य या चाँद या दीपक के आश्रय हम व्यापार करते हैं (क्योंकि प्रकाश में हम बाजार जाते और वहाँ से काम-धधा करके फिर लौट आते हैं), उन व्यापारों का करना या उनका लाभ या हानि उठाना मनुष्य का स्वभाव है, सूर्य या चाँद या दीपक का नहीं।

(२) हम ऊपर के अध्याय में आत्मा को "ज्योतिषा ज्योति" (ज्योतियों की ज्योति) सिद्ध कर आए हैं, और समस्त व्यापार, क्या भीतरी, क्या बाहरी, क्या लौकिक क्या पारलौकिक, क्या मानुषीय क्या ईश्वरीय, सब इसी आत्म-ज्योति में सिद्ध होते हैं, और कर्त्ता-भोक्ता वही इंद्रियाँ व प्राण हैं जो व्यापारों के यत्र वा साधन है। अत उनका करना और उनके परिणाम का पाना भी उन्हीं का धर्म है, आ म-ज्योति का नहीं, बल्कि वह तो अकर्त्ता, अभोक्ता, असगात्मा, नित्य मुक्त है।

(३) हम इसको स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण लिखते हैं, और फिर उसको दृष्टात में घटाते हैं जिसमें भाषा जाननेवालों के लिये यह सूक्ष्म विचार सरल हो जाय। वह

यह है कि कल्पना करो एक राजदरबार में रात को अभिनय (तमाशा) होता है।

(४) वहाँ एक बड़ा विशाल प्रासाद (महल) है, जिसमें यह अभिनय होता है, और एक कोने में एक कंदील (दीपक) लटकी है, जिसमें मोमबत्ती जल रही है, और एक राजसिंहासन पर राजा साहब विराजमान हैं और यथास्थान उनके सभासद्‌गण भी सभासीन हैं, एक कंचनी उसके सामने अभिनय करती है, गायकगण उसे ताल पर नचाते हैं, और यह कंचनी उन्हीं तालों पर, जिन पर वे नचाते हैं, नाचती है।

(५) इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जिस तरह गायकगण उसे नचाते हैं, उसी तरह वह कंचनी नाचती है। जब वह नियमानुसार नृत्य करती है, तो राजा साहब और सभासद् प्रसन्न होते हैं, किंतु जब वह बेसुर या बेताल हो जाती है, तो उन्हें रंज होता है। और दीपक का प्रकाश क्या कंचनी, क्या गायक, क्या राजा साहब, क्या सभासद्, और क्या प्रासाद सबको चमकाता वा प्रकाशता है, और सब अभिनय उसी के आश्रय में होता है (क्योंकि यदि दीपक न हो, तो अभिनय भी बंद हो जाय), तो भी वह दीपक न तो स्वयं कुछ अभिनय करता है, न उस अभिनय के कारण कुछ हर्ष या शोक मनाता है।

(६) फिर जिस समय वह कंचनी, और कथिक कुछ

विश्राम के लिये बैठ जाते है, तो उनके विश्राम को भी उसी तरह जतलाता है जिस तरह कि उनके नृत्य को प्रकाशित करता था। जब वह सब अभिनेता (तमाशा करनेवाले) और दर्शक (सुननेवाले) चले जाते हैं, तो केवल प्रासाद को और उनके न होने को प्रकाशित करता है। न उनके होने की उसे कुछ परवाह है और न उनके न होने से उसे कुछ दुःख होता है, वरन् वह उन सबसे असंग रहता है।

(७) इसी तरह इस उदाहरण में भी शरीर एक राजमहल है जिसमें कर्म करने की इंद्रियाँ बसी हुई हैं, अहंकार तो उसमें राजा के स्थान पर है, भीतरी इंद्रियाँ अर्थात् अंतःकरण सभासदों की तरह हैं, बुद्धि एक अभिनय करने वाली कंचनी है, बाह्य ज्ञानेंद्रियाँ गायक हैं, बाहरी ज्योतियाँ उनके साज हैं, और आत्म-ज्योति उस मोमबत्ती की भाँति है जो मन-रूपी दीपालय पर धड़ाधड़ जलती है।

(८) ज्यों-ज्यों बाह्य ज्ञानेंद्रियाँ जो गायक हैं, बाह्य ज्योतियों से सुर-ताल करती हैं, त्यों त्यों बुद्धि नाचती है, क्योंकि जैसा-जैसा ज्ञानेंद्रियाँ बताती हैं, उसी-उसी के अनुसार बुद्धि विवेक पाती व्यापार करती है। यदि अच्छा काम करती है, तो अहंकार सभासदों सहित आनंद के भोग पाता है, यदि बुरा करती है, तो वे दुःख के भोग पाते हैं।

(९) यह सब अभिनय उसी आत्म-ज्योति में होता है। यदि यह ज्योति न होती, तो क्या ज्ञानेंद्रियाँ, क्या

बुद्धि, क्या कर्मेंद्रियाँ, क्या अहंकार, सब व्यर्थ होते। अतः ज्ञात हुआ कि उसी के प्रकाश और उसी के आश्रय में ये सब अभिनय करते हैं।

(१०) आत्म-ज्योति ज्ञानेंद्रियों को प्रकाशित करती है और इंद्रियों के व्यापार को प्रकाशित करती है, फिर उनकी बाह्य ज्योतियों को जो साज के स्थान पर हैं, प्रकाशित करती है, और उनके व्यापार को भी प्रकाशित करती है, इसी प्रकार बुद्धि को प्रकाशित करती है, और जिस-जिस तरह बुद्धि सोचती या समझती है, उसको भी प्रकाशित करती है।

(११) फिर जिस-जिस तरह उसके व्यापार से अहंकार हर्ष या शोक पाता है, उसको भी और साथ ही अहंकार को भी प्रकाशित करती है। न तो इंद्रियों के सुर-ताल और बुद्धि के शोक-चिंता में उसे कुछ लगावट है, न अहंकार के हर्ष-शोक में कुछ साँझा है, वरन् सबके व्यापार और सबके स्वरूप से अलग, असंग, ज्योतियों की ज्योति है।

(१२) जब जागृति होती है और वे सब मिलकर जागृति का अभिनय करते हैं, तो यह आत्म-ज्योति जागृति और उनकी जागृति के व्यापार को प्रकाशित करती है। जब वे सब स्वप्न में जाते हैं, स्वप्न का अभिनय करते हैं, तो वह ज्योति स्वप्न को और स्वप्नावस्था के अभिनय को भी उसी तरह प्रकाशित करती है, जैसा कि जागृति में करती

थी, और जब वे सुषुप्ति में सब विलीन हो जाते हैं, तो वह ज्योति केवल महत्ता को और उन सबके न होने को प्रकाशित करती है।

(१३) न तो उसे जागृति और स्वप्न के तमाशे की कुछ परवाह है, न उसे सुषुप्ति की बेखबरी और सर्वशून्यता से कुछ प्रयोजन, वरन् जैसा होता है, वैसा दिखाती है। इस कारण वह आत्म-ज्योति न तो कर्त्ता या भोक्ता है, बल्कि अकर्त्ता, अभोक्ता, प्रकाशों का भी प्रकाश व असंगात्मा है।

(१४) उक्त उदाहरण से भी बढ़कर उसमें श्रेष्ठता का हेतु यह है कि दीपक का प्रकाश तो उदाहरण में केवल भौतिक प्रकाश प्रदान करता है, स्वयं उस अभिनय को नहीं देखता, किंतु यह आत्म-ज्योति उसको देखती भी है और उसकी साक्षी भी देती है, क्योंकि यह चेतन है। और यह प्रसिद्ध बात है कि जो किसी बात को देखता है, वह कर्त्ता नहीं वरन् साक्षी मात्र होता है, और साक्षी सदैव कर्मों से अलिप्त होता है, किसी न्यायालय ने कभी साक्षी पर कोई दोष या दंड लगाना उचित नहीं समझा।

(१५) जब वह ज्योति गवाह है, वादी या प्रतिवादी नहीं, तो दोषी भी नहीं हो सकती। इसी कारण वह समस्त लौकिक और पारलौकिक कार्यों में बद्ध नहीं, वरन् नितांत स्वतंत्र है, और इसी गवाह को साक्षी बोला करते हैं। इसी कारण आत्मा को वेदांत-ग्रंथों में साक्षी नाम से स्मरण किया करते हैं।

(१६) भारतवर्ष में प्रथा है कि जब कहीं शोक (मातम) होता है, तो स्त्रियाँ स्यापा करती हैं, और नाइन या डोमनी स्यापे से अलग होकर उलाहनी देती है, और सब मातम करनेवाली स्त्रियाँ उसकी उलाहनी के आश्रय यथाक्रम तरतीब से स्यापा करती हैं। इसी तरह समस्त इंद्रियाँ इस साक्षी आत्मा की प्रेरणा में वर्ताव करती हैं, परंतु वह स्वयं स्यापे की नाइन की तरह वर्ताव से अलग रहता है, मातम करनेवाला नहीं होता।

(१७) जब तक मनुष्य शरीर या कार्य करनेवाली इंद्रियों में अहंता की नित्य भ्रांति रखता है, तब तक वह कर्मों में बंधायमान होता, कर्त्ता-भोक्ता ठहरता है। पर जब उस साक्षी का ज्ञान पाता, और उसमें अपनी वास्तविक अहंता जानता है, तो पूर्ण होता हुआ दर्शक हो जाता है, और प्रत्यक्ष मुक्ति पाता है।

(१८) कार्य करनेवाली इंद्रियाँ तो स्वयं तमाशा हैं, क्योंकि जो-जो उनके काम ऊपर वर्णन किए गए हैं, वह-वह कर्म वे करती हैं। पर वह जो उनमें अहंता रखता है, वह भी तमाशा होता है। किंतु जो अपने आत्मा को उनसे असग जानता है, स्वय तमाशा नही होता, वरन् तमाशा देखनेवाला हो जाता है, और अपने अगों और इंद्रियों के व्यापार में साक्षी होकर रहता है। इसी कारण वह अपनी करतूतों का बदला भी नही पाता, क्योंकि साक्षी वा गवाह कार्यकर्त्ता

नहीं होता, वरन् प्रतिफल वही पाता है जो कर्म करता है।

(१६) अत ऐ भाइयो! तुम भी साक्षी बनो, कर्मी न रहो, वरन् जो-जो अग और इंद्रियॉ और प्राण करते हैं, उनको देखो। यही देखना ठीक आत्म-ज्ञान है, और इसी ज्ञान के कारण प्रसाद प्राप्त होता है, और जो देखनेवाला है, वही सत्य है, वह जो दिखाई देते हैं, मिथ्या वा नाशवान् हैं।

अध्याय तीसरा

(१) यद्यपि आत्म-ज्योति असग और पवित्र है और उन इंद्रियों से, जो कर्त्ता हैं, अलग है, तो भी जिस तरह दीपक का प्रकाश अभिनय पर प्रकाश डालता है, प्रत्येक के रूप पर नियत होता उसी का तद्रूप दिखाई देता है, उसी तरह आत्म-ज्योति भी प्रत्येक कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, अग और प्राणों में प्रकाशमान होती उसकी आकृति पर उससे एक हुई दिखाई देती है।

(२) चूँकि यह आत्म-ज्योति वास्तव में अपना कोई रूप रग तो रखती नहीं, अपितु निर्विकार व निरवयव अर्थात् 'क्यों' 'कब' आदि कारणों से परे है, तो भी जिस-जिस पर प्रकाश डालती है, उसी का रूप धारण करती-सी प्रतीत होती है, इसलिये मध्य-श्रेणी के लोगों को बुद्धि में उसकी विवेचना या पहचान नहीं होती। वे कर्मेंद्रियाँ,

ज्ञानेंद्रियाँ, अंग और प्राण तो ज्ञात हो जाते हैं, किंतु यह आत्म-ज्योति एकाएकी प्रतीत नहीं होती।

(३) इसकी मिलावट ऐसी होती है जैसे कि स्वच्छ दुग्ध में एक लालड़ी डाल दी जाय, तो वह दुग्ध भी अरुण (लाल) मालूम होता है। इसी तरह आत्म-ज्योति में प्रकाशित हुई ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ और अंग भी जीवित और चेतन ज्ञात होते हैं। यद्यपि जिस तरह वास्तविक स्वरूप में दुग्ध श्वेत है, लालड़ी की रंगत उसमें नहीं आ जाती, उसी तरह समस्त ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ, और अंग वास्तव में अंधकारमय वा जड़ हैं, प्रकाशमय वा चेतन नहीं, किंतु इस ज्योति में प्रकाशित हुए प्रकाशमय दिखाई देते हैं, इस कारण इस ज्योति का ज्ञान उसी रूप का-सा हो जाता है।

(४) इंद्रियाँ जो व्यापार करती हैं, सूक्ष्म हैं, किंतु दर्पण की भाँति निर्मल भी हैं। इसी कारण उनमें प्रतिबिंब की भाँति यह ज्योति दिखाई देती है। उसकी पहली किरण मन अर्थात् अंतःकरण में पड़ती है, फिर जब मन वृत्ति के रूप में तरंगित होता मस्तिष्क में जाता है, तो दूसरी किरण उसकी मस्तिष्क में पड़ती है, फिर मस्तिष्क से नाड़ियों के द्वारा यही वृत्ति जब आँख नाक कान मुँह में उतरती है, तो उसकी तीसरी किरण वहाँ होती है, फिर जब आँख कान से वृत्ति निकलती हुई जिस-जिस पर लगती उसकी आकृति धारण करती है, उस-उस वस्तु को वह ज्योति प्रकाशित

करती है, इस तरह यह मनुष्य देखता सुनता व्यापार करता है।

(५) इसको उदाहरण द्वारा यों समझो कि शरीर एक महल है। हृदय-कमल, जो वक्ष स्थल में है, एक ताखा है। और मन उसमें एक कंदील के समान है जिसमें यह ज्योति दीपक की भाँति प्रकाश कर रही है। मस्तिष्क एक छत की तरह है जिसमें पाँच छिद्र हैं, और पंचज्ञानेंद्रियाँ उनमें दूसरे आईने लगाए गए हैं।

(६) मन (अंतःकरण) का आईना (दर्पण) एक ऐसा बदलनेवाला शरीर है जो हर समय वृत्तियों के रूप में तरंगित होता है। वरन् जिस प्रकार सूर्य से किरणें निकलती हैं, मन अर्थात् अंतःकरण से भी बराबर किरणें उठती हैं और मस्तिष्क को जाती हैं, और आत्मा का प्रकाश उनमें भी उसी तरह पड़ता है, जैसा कि अंतःकरण में पड़ता है, और उन्हीं किरणों को हम वृत्ति नाम देते हैं, और फारसी में उन्हें ख़याल बोला करते हैं।

(७) जब ये मनोवृत्तियाँ मस्तिष्क में जाती हैं, तो मस्तिष्क में फैलती उस ज्योति से उसी तरह मस्तिष्क को प्रकाशित करती हैं जिस तरह एक दीपक जिस-जिस जगह ले जायँ, उसी-उसी जगह को प्रकाशित करता है। फिर मस्तिष्क से नाड़ियों के द्वारा सारे शरीर में इन वृत्तियों की फैलावट होती है, और सारा शरीर प्रकाशित होता है।

फिर जब उसके मन की कुछ किरणें पंच छिद्रों में जाती हैं जहाँ ज्ञानेंद्रियों के आइने लगे हुए हैं, तो उनमें भी उस ज्योति का प्रकाश पड़ता है, और उन्हें भी प्रकाशित करता है। इसी को सामान्यत जाग्रत् बोलते हैं।

(८) फिर ज्यों-ज्यों ज्ञानेंद्रियों से वृत्तियाँ निकलकर वस्तुओं पर लगती उनकी आकृति धारण करती हैं, त्यों त्यों वस्तुएँ भी उसी ज्योति से प्रकाशित होती दिखाई देती हैं। इस प्रकार यह ज्योति मन के भीतर प्रकाश डाल रही है। और इसी कारण इसको आंतरिक ज्योति कहा करते हैं। और फिर (वह ज्योति) बारी-बारी करके, उपर्युक्त क्रम से, सारे ससार को प्रकाशित करती और व्यापार का हेतु होती है।

(६) इस कारण कि उस ज्योति का पहला दर्शन (प्रतिबिंब) मन या वृत्ति में होता है, इसलिये उसके अनुभव के लिये मन या वृत्ति ही नियत हुई है। क्योंकि जिस तरह राहु का दर्शन चाँद या सूर्य में होता है, उसी तरह उसका दर्शन मन या वृत्ति में होता है। किंतु हम लिख आए हैं कि यह ज्योति अपनी कोई असली आकृति नहीं रखती, वरन् जिस पर अपना प्रकाश डालती है उसी के रूप में दिखाई देती है, वृत्ति में वृत्ति के रूप से, मस्तिष्क में मस्तिष्क के रूप से, ज्ञानेंद्रियों में ज्ञानेंद्रियों के रूप से और ज्ञात में ज्ञात के रूप से दिखाई देती है।

(१०) इस प्रकार की जाँच-पड़ताल से मालूम हो सकता है कि वृत्ति जिस-जिसका रूप धारण करती है, उसी उसी रूप पर वह ज्योति प्रकट होती है। जिस तरह बाहरी ज्योति भी जिस पर पड़ती है, उसी के रूप में दिखाई देती है, जैसे लाल को प्रकाशित करती लाल दिखाई देती है, और काले को प्रकाशित करती काली दिखाई देती है, इसी प्रकार यह भीतरी ज्योति भी वृत्ति में वृत्ति हुई दिखाई देती है।

(११) परन्तु जिस तरह बाहरी ज्योति लाल में लाल और काले में काला होकर दिखाई देती है, तो भी न तो वह लाल और न काली हो जाती है, वरन लाल और काले से अलग बेरंग रहती है, इसी तरह आत्म ज्योति भी वृत्ति में वृत्ति, ज्ञानेंद्रियों में ज्ञानेंद्रिय-रूप होती हुई भी न तो वृत्ति है न ज्ञानेंद्रिय, वरन् उन सबसे अलग केवल ज्योति वा प्रकाशमात्र है।

(१२) बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि वह जो प्रकाशित करता है उससे जो प्रकाशित होता है, भिन्न है। आत्मा तो प्रकाशित करता है और वृत्ति एवं ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ प्रकाशित होती हैं, इसलिये आत्मा क्या दिल, क्या वृत्ति, क्या ज्ञानेंद्रियाँ, क्या कर्मेंद्रियाँ, क्या शरीर, इन सबसे अलग सबमें सब रूप है।

(१३) जब कि वह सबमें सब कुछ है तो उनसे अलग

करके वह किसी रूप में भी नहीं देखा जाता, क्योंकि वह अपने स्वरूप में निर्विकार और निरवयव अर्थात् तर्क वितर्क वा प्रमाण-प्रमेय से रहित ज्योतिमात्र है। जिस प्रकार बाहरी ज्योति भी लाल में लाल, काले में काली, पीले में पीली दिखाई देती है, परंतु वास्तव में न वह लाल न काली न पीली अनुभव होती है, इसी तरह आत्मा भी सबमें सब कुछ दिखाई देता है, परंतु वास्तव में अलग व आंतरिक ज्योति अनुभव होता है।

(१४) इसके अनुभव के लिये जिज्ञासु को चाहिए कि पहले ज्ञानेंद्रियों को निष्क्रिय करके अपनी वृत्तियों (खयालों) को भीतर में ध्यानपूर्वक देखे। इस दशा में विविध खयाल उत्पन्न होंगे और दूर होंगे। वह जो इन खयालों के उदय-अस्त और इनकी फसलों (लगातार सिलसिले) को देखता और प्रकाशित करता है, वही आत्म-ज्योति है।

(१५) इस दर्शन में तो वृत्तियाँ (खयाल) दर्पण के समान हो जाती हैं। जिस प्रकार देखनेवाले के आगे एक आईना (दर्पण) रख दें और फिर उठा लें, और दूसरा रख दें, फिर उसे भी उठा दें, तीसरा रख दें, इसी तरह करते जायँ, तो वह अपने मुख को उनमें देखता है। इसी समाधि में जिज्ञासु आत्म-ज्योति को खयालों वा में अनुभव कर सकता है।

(१६) क्योंकि उदाहरण में जब एक शीशा सामने होता है, उसी क्षण में उसमें अपना मुख दिखाई देता है। जब वह उठाया जाता है और दूसरा आगे रखा जाता है, तो वही दूसरे शीशे में दिखाई देता है, इसी तरह प्रत्येक ख़याल में देखनेवाले का प्रतिबिंब दिखाई देता है, क्योंकि जब एक ख़याल उदय होता है, तो ख़याल का और ख़याल के उठने का और उस ज्योति का जिसके सहारे वह ख़याल उठता है, दर्शन होता है।

(१७) परंतु जब वह ख़याल दूसरे क्षण में अस्त होता है, तो उस ख़याल का और उसके लय होने का तथा उस ज्योति का जिसके आश्रय वह ख़याल अस्त होने का व्यवहार करता है, अनुभव होता है। फिर, [illegible] जो दूसरा ख़याल उठता है, तो उस ख़याल को और उसके उठने को, तथा पहले ख़याल की फ़स्ल (सिलसिले) को जो साँझा है, और उस ज्योति को जिसके आश्रय वह ख़याल अस्त होता है और वह उठता है, सब अनुभव करता है।

(१८) यह न समझ लेना चाहिए कि यहाँ प्रकाशित ख़याल या वृत्तियाँ ज्योति हैं, कोई दूसरी अलग आत्म-ज्योति नहीं। वरन् यह समझना चाहिए कि यह जो उदय और अस्त का व्यापार है, वह तो ख़यालों या वृत्तियों का काम है, किंतु जिसके आश्रय यह व्यापार

होता है और जो उनका अनुभव करता है, वह उनसे अलग आत्म-ज्योति है। यद्यपि जिस प्रकार शीशों के उठाने से प्रतिबिंब का भी सर्वत दूर होना पाया जाता है, तो भी बिंब नष्ट नहीं होता, वरन् दूसरे आईनों में जो लगातार सामने होते हैं प्रतिबिंबित दिखाई देता है, इसी तरह एक ख़याल के अस्त होने में देखनेवाले का प्रतिबिंब अस्त होता सा प्रतीत होता है, तो भी आत्मा जो देखनेवाला बिंबरूप है, अस्त नहीं होता। और जिस तरह मुख-दर्शानेवाला दर्पण मुख के दिखाने का कारण हो जाता है, उसी तरह समाधि में वृत्तियाँ वा ख़याल भी ज्ञानी को आत्मा के अनुभव (साक्षात्कार) के कारण हो जाते हैं।

(१९) जिस तरह आँख दर्पण की सहायता के बिना अपने आपको नहीं देख सकती, उसी तरह आत्म-ज्योति भी ख़यालों की विद्यमानता के बिना अपने आपको ज्ञाता नहीं अनुभव कर सकती। इसी कारण मन या अंतःकरण उस आत्म-ज्योति का प्रकट-स्थान वा प्रकटकर्त्ता नियत हुआ है। इसीलिये वेद की श्रुतियाँ वृत्तियों को आत्म-ज्योति की दर्शानेवाली लिखती हैं, क्योंकि जिस प्रकार आईना मुख का दर्शानेवाला निश्चित [illegible] है, उसी तरह ख़याल भी आत्मा को दर्शानेवाला [illegible] गया [illegible]

(२०) अब यों स[illegible] [illegible] का[illegible]

नि[illegible] जब आत्म- [illegible]

उसी अंत करण की वृत्तियों के प्रकाशित करने और जानने को ज्ञान नाम करते हैं। ज्ञान में एक भाग तो यही भीतरी ज्योति है, और दूसरा भाग मन अर्थात् अंत करण है जो वृत्तियों या ख़यालों के रूप में तरंगित होता है। और जब कोई वस्तु इस ज्ञान में आ जाती है, तो मन का भाग जो ख़याल है उस वस्तु के रूप में तद्रूप होता है, और यह भीतर की ज्योति उस पर प्रकाशमान होती, उसे प्रकाशित करती और देखती है।

(२१) देखो, जब कोई वस्तु हमारी आँखों के सामने आती है, तो हमारी मनोमय किरणें दृष्टि की किरणों से मिली हुई आँखों से बाहर निकलती उस वस्तु पर उसी तरह जा पड़ती हैं जिस तरह सूर्य की किरणें भी उस पर पड़ती हैं। और फिर जिस तरह सूर्य की किरणें उसका रूप धारण करती उसके चारों ओर परिवृत्त होती हैं, उसी तरह ज्ञान में जो ख़याल अर्थात् वृत्ति का भाग है, वह वस्तु के आकार पर तदाकार हुआ उसको घेरता है, और आत्म-ज्योति उसे अनुभव करती है। इसी को सर्वसाधारण लोग देखना बोलते हैं।

(२२) किंतु जब हम किसी वस्तु का ध्यान करते हैं, तो वृत्ति या ख़याल जो वास्तव में मन है, हमारे भीतर उसी रूप और आकृति में बन जाता है, और उसमें जो ज्योति है, उसका अनुभव या दर्शन करती है; तो ज्ञानी यहाँ

जानता है कि मन का भाग ज्ञान में से पृथक् होकर वस्तु के रूप में साक्षीभूत हो रहा है। और आत्म-ज्योति अलग होकर उसकी साक्षी है जिसे फारसी में शाहिद बोलते हैं।

(२३) जब कि उपर्युक्त नियमानुसार ख़याल या वृत्ति तो दिखाई देनेवाली वस्तु के रूप में है और आत्मा उसका देखनेवाला साक्षी है, तो साधक को चाहिए कि इस विवेक को लाभ करने के लिये पहले अपनी वृत्ति को किसी वस्तु के रूप पर स्थापित करे। जब वह वृत्ति वस्तु से तद्रूप हो जाय, तो फिर ध्यान में जो दिखाई देता है, और वह जो देखता है, उन दोनों में विवेक करे, तो आत्मा इस नियम से विजली के समान अनुभव होगा।

(२४) जब ऐसा अनुभव हो, तो अभ्यास करता रहे। किंतु यह स्मरण रहे कि इस अभ्यास मे साक्षी और साक्षीभूत (वृत्ति या ख़याल की वस्तु) और साक्ष्य (ज्ञान) तीनों विद्यमान हैं, यद्यपि वह ज्ञान या ख़याल केवल एक ही वस्तु का होगा, चाहे वह किसी वाह्य वस्तु का ख़याल हो अथवा किसी भीतरी अवस्था का ज्ञान, जैसे अनहद शब्द का सुनना, किंतु त्रिपुटी यहाँ बनी रहती है। कुछ काल इस प्रकार अभ्यास करते-करते ज्ञात-वस्तु और उसके ज्ञान का नष्ट होना आरंभ होगा, यहाँ तक (नष्ट हो जायगा) कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था विद्यमान हो जायगी, जहाँ कि वृत्ति या ख़याल का कोई उदय-अस्त नहीं रहता,

जिस दशा में मन अर्थात् अंतःकरण शांत हुआ तरंगित नहीं होता अर्थात् संकल्प-विकल्प नहीं करता, जहाँ आत्म ज्योति ऐसे जलते हुए अंगार के समान कि जिसमें धुआँ या लाट या चिनगारी नहीं, स्वतः स्थित रहती है। और ऐसी अवस्था का ज्ञान भी इस निर्विकल्प समाधि से उठने पर होता है, समाधि के समय नहीं होता। मोक्ष का समस्त अवलंब इस निर्विकल्प समाधि पर ही है, इसी समाधि की अवस्था को आत्म-साक्षात्कार कहते हैं, और इसी साक्षात्कार पर प्रसाद निर्भर है।

(२५) जान लो कि ख़याल जब तक कि वह विद्यमान है, इसी ज्योति का प्रकट करनेवाला रहता है, चाहे वह किसी के भी रूप पर रूपवान् हो। और प्रकृति ने उसे ऐसा बनाया है कि वह प्रत्येक वस्तु के रूप पर बदल जाता है। परंतु अभ्यास करते-करते निर्विकल्प समाधि की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जब कि किसी वस्तु की वृत्ति या ख़याल नहीं रहता, अर्थात् अंतःकरण पूर्ण निश्चल (संकल्प-विकल्पहीन) हो जाता है, जिस प्रकार वायु की गति बंद होने पर जल ठहरा हुआ होता है, या अग्नि का अंगार दहक रहा होता है। इस निर्विकल्प समाधि को अनिर्वाच्य अवस्था कहते हैं। यद्यपि मन की तरंगें उस समय बिलकुल बंद होती हैं, किंतु मन उस अवस्था में लय या लीन नहीं हो जाता, जैसे कि सुषुप्ति में होता है। वह अपने अस्तित्व

में स्थित होता है, परंतु वृत्तिहीन अर्थात् शांत होता है।

(२६) किंतु जब वह (मन) बुद्धि-विषयक ज्ञान की शिक्षा में गभीर और सूक्ष्म तत्त्वों के विवेक में अभ्यस्त किया जाता है और फिर तप-व्रत आदि कर्मों के कारण विषय-पदार्थों की प्रीति से निरासक्त किया जाता है, तो ब्रह्मविद्या के विचार का वह अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मविद्या में आत्मा का विचार होता है, तो फिर मन सुगमता से निश्चल (संकल्प-विकल्पहीन) होने लग जाता है, और आत्म-दर्शन पाता है।

(२७) जब मन निश्चेष्ट होता है, तो उस समय भी वह उस प्रकाश का द्योतक तो रहता है, किंतु स्वयं निश्चेष्ट होने से साक्षीभूत नहीं रहता, बल्कि आत्मा ठीक साक्षात्कार के रूप में उसमें अनुभव होता है, और इसी को तत्त्ववेत्ता साधारणतया समाधि बोलते हैं, जिसे फारसी में मुराकबा कहते हैं।

(२८) जब मालूम हुआ कि मन (ख़याल) का और आत्म-ज्योति का संबंध पारस्परिक दर्शाने का है कि बिना ज्योति के मन और बिना मन के ज्योति का प्रदर्शन नहीं होता, और मन और ज्योति परस्पर प्रकट होकर ज्ञान कहलाता है, तो इसी कारण श्रुतियाँ निश्चय करती हैं कि आत्म-ज्योति भौतिक ज्योति नहीं, वरन् चेतन-ज्योति या ज्ञान-ज्योति है, क्योंकि ज्ञान में वह वृत्ति या ख़याल

के भाग के त्यागने (बाध होने) पर नक़द पाई जाती है।

(२६) और यह ख़याल (मन) जो ज्ञान में अंधकारमयी अंश है, वास्तव में समस्त व्यापार का कारण है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की पहचान वा जानकारी में भी यही ख़याल हेतु होता है। इसलिये कि आत्मा तो अपने स्वरूप में अनुभव वा साक्षात्कार-रूप है, वह जो आत्मा में किसी कारण से एक होता है, जाना जाता है। और हम वर्णन कर चुके हैं कि ख़याल आत्मा का द्योतक और आत्मा ख़याल का द्योतक है, इसलिये इन दोनों का काम एक दूसरे को दर्शाना है। अत ख़याल (मन) ही किसी कारण से साक्षात्कार का बाधक है, और ख़याल (मन) ही अन्य कारण से साक्षात्कार का हेतु वा साधक है।

(३०) जब यह ख़याल (मन) किसी वस्तु के रूप पर बनता और उसको परिवृत करता है, तो वह वस्तु भी ख़याल (मन) में प्रतिबिम्बित होती है। और इस रूप में प्रतिबिंबित वस्तु भी आत्मा से एक होती है, और आत्मा में वह प्रत्यक्ष होती है । इस कारण से भी ख़याल (मन) साक्षात्कार का साधक वा वसीला होता है।

(३१) जब मूर्च्छा या सुषुप्ति की दशा में अत करण में तरंगें नहीं उठतीं (अर्थात् मन लहराने नहीं पाता, या ख़याल आकार पर नहीं बनता, या किसी वस्तु पर अधिकार करने नहीं पाता), तो ऐसी दशा में भी ख़याल

(मन) साक्षात्कार का आवरण होता है। इसलिये ख़याल (मन) ही वास्तव में समस्त व्यापार का साधक होता है, और ज्ञानेंद्रियाँ तो उसकी एक गम्यस्थान (गुज़रगह) हैं, जिनमें से निकलता हुआ विशेष-विशेष व्यापार वह करता है, और ख़याल (मन) ही इस ज्योति के प्रकाश में प्रकाशित हुआ ज्ञान कहलाता है।

(३२) अब यों समझो कि ज्ञान में जो निश्चय और ख़याल की चेष्टा वा क्रिया है, वह तो ख़याल (मन) का निजी काम है, किंतु इसमें जो अनुभव है, वह ज्योति का स्वाभाविक काम है, तो भी (मन) के व्यापार आत्मा में और आत्मा का अनुभव ख़याल (मन) में आरोपित दीपते हैं। इसी कारण अनजान मनुष्य आत्मा को पवित्र और असंग नहीं जान सकता, वरन् ख़याल के व्यापार का वह आत्मा में भ्रम खाता है। इसका कारण यह है कि जो-जो व्यापार ख़याल (मन) करता है, आत्मा में वे दिखाई देते हैं, जैसे कि बादल चलते हैं, तो चंद्रमा चलता दिखाई देता है।

(३३) इसी तरह मन, बुद्धि, इंद्रिय, देह तो चलते हैं, पर आत्मा चलता-सा दिखाई देता है। जब यह ख़याल (मन) किसी का निश्चय करता है, तो आत्मा निश्चय करता-सा हो जाता है। जब यह ख़याल (मन) [illegible] कल्पना करता है, तो आत्मा कल्पना करता-सा [illegible]। ज

यह ख़याल (मन) कुछ दूसरी लीला करता है, तो आत्मा भी वही लीला करता-सा दिखाई देता है।

(३४) इसी कारण श्रुति-भगवती कहती है कि वह ख़याल में ख़याल हुआ दोनों लोकों की सैर करता है , सैर तो नहीं करता, वरन् सैर करना-सा हो जाता है, ध्यान तो नहीं करता, वरन् ध्यान करता-सा हो जाता है , लीला तो नहीं करता, वरन् लीला करता-सा हो जाता है।

(३५) जब यह ख़याल उठता है और ज्ञानेंद्रियों तक फैलता है और बाह्य वस्तुओं के तदाकार होता है, तो इसी परमात्मा में जागृति का दोष आरोपित होता है । और जब यही ख़याल ज्ञानेंद्रियों तक नहीं फैलता, वरन ज्ञानेंद्रियों को छोड़ता हुआ मन के भीतर स्वप्न का अभिनय करता है, तो इसी आत्मा में निद्रा का दोष लगता है।

(३६) जब यह ख़याल इस शरीर से बिलकुल संबंध त्यागता है और पिता प्राण की गोद में बैठकर इस मकान से निकल जाता है, तो मृत्यु का दोष इसी परमात्मा में आरोपित होता है। जब फिर यह किसी दूसरी आकृति (देह) में संबंध पाता है, तो जन्म का दोष इसी आत्मा में दीखता है। इसलिये जागना और निद्रा एवं जन्म और मृत्यु आत्मा में आरोपित वा कल्पित हैं, वास्तविक नहीं।

(३७) विचित्र बात यह है कि जब ख़याल उठता कुछ करता है और तत्काल दूर होता है, तो उसका प्रभाव

(Impression) मन में रहता है, फिर उसी प्रभाव के कारण वह दुबारा उठता है और फिर प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार वह एक विचित्र वृत्त बनाता है, जिसका आरंभ या अंत नहीं। और इन्हीं प्रभावों को संसार में पुण्य या पाप बोला करते हैं, क्योंकि जब वह अच्छा सोचता और अच्छा करता है, तो अच्छाई का प्रभाव मन में होता है, जब वह बुराई सोचता और बुरे काम करता है, तो बुराई का प्रभाव उसमें उत्पन्न होता है। उस पहले प्रभाव का नाम पुण्य और इन दूसरे प्रभावों का नाम पाप है।

(३८) इस कारण पुण्य और पाप वास्तव में मन या खयाल के धर्म हैं, और जाग्रत्-स्वप्न में तथा वैसे ही जन्म मरण में यही पाप-पुण्य भोग के कारण हैं। पुण्यों के कारण उत्तम जन्म और उत्तम भोग उत्पन्न होते हैं, पापों के कारण अधम जन्म और अधम भोग मिलते हैं। बार-बार जाग्रत्-स्वप्न और जन्म-मरण इन्हीं कर्मों के कारण खयाल या मन में होता है। परन्तु चूंकि ये सब व्यापार उसी ज्योति में होते हैं और उसी के अभिमान से होते ह, खयाल की प्रतीति से अनजान मनुष्य अपने आत्मा में पुण्य-पाप का आरोपण कर लेता है। वास्तव में वह तो अलग, असंग आत्मा है। न तो पुण्य उसमें छूत पाते हैं और न पाप काला करते हैं। जैसे दीपक या सूर्य की ज्योति भी

क्या शौचालय (पाख़ाना) और क्या गंगा-जल, उजाला करती उन्हें प्रकाशित करती है, तो भी वह शौ पर प्रकाश करती शौच (गदी) नहीं और श्रीगंगा-ज प्रकाश करती पवित्र नहीं हो जाती।

(३६) इसी तरह जब ख़याल (अंत:करण) उत्पन्न करता है, तो पुण्यवान् होता है, जब पाप करता है, तो पापी होता है। पर भीतरी ज्योति जो र में चमकती है, न तो पुण्यों से पुण्यवान् होती है, न से पापी, वरन् वह तो ख़याल को और पुण्य-पाप और उनके संबंध को प्रकाशित करती और उ विचित्रताओं की साक्षी होती है, और ज्यों की त्यों प रहती है। इसी कारण से वेद की श्रुतियाँ उसे पवित्र कहती हैं, जिसका फ़ारसी-अनुवाद रूहुलक़ुदस है।

(४०) निदान, वह समस्त गुणों से रहित है, तो ख़याल के कारण समस्त गुण दोषवत् उसमें कल्पित होते हैं। जिस तरह सफ़ेद बिल्लौर का ग्लास जब वारुणी (मदिरा) से भरा जाता है, तो वह भी कल्पित होता है, इसी तरह ख़याल के पुण्य और पाप यद्यपि मन वा ख़याल में हैं, तो भी वे इस ज्योति कल्पित होते हैं। जिस तरह कमबुद्धि बालक भूल ग्लास को लाल निश्चय करता है, उसी तरह अन मनुष्य भी भूल से पुण्य और पाप अपने

देखता है, और खयाल से मिला हुआ जन्म-मरण संसार भी अपने में देखता है। यही नास्तिकता और बंधन है।

(४१) किंतु बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि उदाहरण में लाली वास्तव में मदिरा का धर्म है, ग्लास में उसका कुछ भी प्रवेश नहीं, वल्कि वह तो अपने असल धर्म में उस समय भी श्वेत है। इसी तरह ज्ञानी भी जानता है कि क्या पाप और क्या पुण्य खयाल और मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो पवित्र, असंग, नित्य मुक्त है। अत ऐ भाइयो ! हम भी पापियों के समान हैं, पर वास्तव में निष्पाप हैं , सत्कर्मियों की तरह दिखाई देते हैं, पर सत्कर्मी नहीं।

(४२) क्या मन, क्या खयाल, क्या पाप, क्या पुण्य, सब अधकारमय हैं, और आत्मा एक ज्योति है जो उनमें चमकती है। किंतु स्पष्ट है कि अधकार का प्रकाश से क्या संबंध है, मिथ्या का सत्य में क्या साँझा है। परंतु चमगीदड़ की दृष्टि जिस तरह सूर्य में अंधकार और दिन में रात देखती है, उसी तरह मूर्ख पुण्य और पाप को भी अपने आत्मा में देखता है, और यही नास्तिकता है। इसी के कारण वह जन्म-मरण के बंधन में रहता है। किंतु वह जो क्या मन, क्या खयाल, क्या ज्ञानेंद्रियाँ, क्या देह, क्या पुण्य और क्या पाप, वरन् सबमें अलग, उनका साक्षी या ज्योति अपने आपको देखता है, सत्यता और सचाई पाता है, और इसी

सत्यता पर कैवल्य मुक्ति मिलती है। और, वह साम्राज्य जो प्रजापति का है और कर्मकांड से मिलता है, इस सत्यवादी को मुफ्त मिल जाता है। इसी कारण यह प्रसाद (फजल) में प्रविष्ट है।

(४३) इसका कारण यह है कि वह इस साक्षात्कार के कारण उस भूल और अज्ञान को दूर करता है जो संसार का मूल है, या आवागमन अथवा जन्म मरण या प्रलय की माता है। जैसा कि एक वृक्ष की जड़ उखाड़ दी जाय, तो यद्यपि कुछ दिन वह हरा रहता है, अंत में अपने आप शुष्क हो जाता है, इसी तरह ज्ञानीजन उस भूल को जो अज्ञान से है, ज्ञान से उड़ाते हैं, और वह चक्र जो कर्मकांड में दिखाया गया है, वास्तव में भ्रम से या अज्ञान से है, सत्य नहीं, भ्रांतिजन्य है, यथार्थ नहीं। और वह अज्ञान इसी विशुद्ध आत्मा की पहचान से उड़ता है, कर्म से नहीं जाता। कर्म से तो पुण्य और पाप उत्पन्न होते हैं, भ्रम या अज्ञान नहीं उड़ता। क्योंकि कोठरी में जो अँधेरा होता है, किसी आकर्षणी-क्रिया से नहीं निकाला जाता, परंतु दीपक से क्षणमात्र में उड़ जाता है। इसी तरह ईश्वरीय भ्रम या अज्ञान भी अंधकार है, और जन्म-मरण संसार-चक्र भी भ्रमपूर्ण है, और अंधकार, स्पष्ट है, कि किसी कर्म से दूर नहीं होता, चाहे कर्म अच्छा हो चाहे बुरा, वरन् प्रकाश से उड़ता है। आत्मा तो ज्योति है। उसमें पुण्य और पाप देखना »

(४१) जिस तरह आँख का देखना, कान का सुनना और मन का उन्हें जान लेना एक ही ज्योति के द्वारा होता है, और वह ज्योति उनसे शुद्ध पवित्र रहती है, इसी तरह ब्रह्मदत्त, यज्ञदत्त और देवदत्त का जानना तथा प्रजापति का जानना भी इसी ज्योति के द्वारा होता है, तो भी यह ज्योति प्रजापति की जानकारी वा समझ से शुद्ध पवित्र रहती है, वरन् उसकी भी गवाह और साक्षी उसी तरह रहती है, जिस तरह मनुष्यों की जानकारी वा समझ की साक्षी और गवाह रहती है।

(४२) जिस तरह आँख का देखना और कान का सुनना और उनकी देखी-सुनी जानकारियों को मन का जान लेना, सबके गुण, इसी ज्योति में आरोपित होते हैं, इसी तरह प्रजापति की जानकारियाँ और समझों के धर्म भी इसी ज्योति में आरोपित होते हैं। पर उन आरोपित धर्मों से यह (ज्योति) दूषित या बद्ध नहीं हो जाती। इसी कारण से वह (ज्योति) पूर्ण स्वतंत्र अर्थात् स्वतंत्र स्वरूप असंग-आत्मा और नित्य मुक्त-स्वरूप निश्चय होती है।

(४३) यद्यपि वह (आत्मा) अपने स्वरूप में पूर्ण स्वतंत्र, अलग और असंग है, तो भी चूँकि वह खयालों, मनों और इंद्रियों में चमकता है और उन्हें प्रकाशित करता है, वे भी अपने अंधकार और गुणों से उसे दूषित करते हैं। इस तरह पारस्परिक विद्यमानता के कारण उनके व्यापार

आत्मा में कल्पित होते हैं और आत्मा का प्रकाश उनमें कल्पित होता है। बेचारा अनजान इसको न जानता हुआ आत्मा को मनों के ख्यालों और इन्द्रियों से पृथक् नहीं कर सकता। इसलिये उसे देखता हुआ भी नहीं देखता, उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता, उसे जानता हुआ भी नहीं जानता।

(५४) अब यों समझो कि इस ज्योति में एक अनादि अज्ञान (परदा) रहता है, जो अविद्या है। और जब उसमें से अज्ञान-रूपी परदे निकलते हैं, तो एक संसार दिखाई देता है। समस्त संसार क्या लोक क्या परलोक इसी के भेद (परदे) हैं। यद्यपि ये परदे बहुत से हैं, तो भी समष्टि-रूप से सब तीन हैं। एक तो वह परदा है जो इसी को ढाँप लेता है, और जिसके कारण यह ज्योति छिपी रहती है। दूसरा वह परदा है जिसमें यह ज्योति छिपी हुई भी प्रकट हो जाती है। तीसरा वह परदा है जिससे कुछ का कुछ होकर यह दिखाई देती है। उस परदे को जो उसे ढाँप लेता है, तमोगुण बोलते हैं, उसको जो उसमें निहित कोष को प्रकट करता है, सतोगुण कहा करते हैं, और वह जो कुछ का कुछ कर दिखलाता है, रजोगुण बोलते हैं, और इन तीनों गुणों को समूहरूप से दैवी माया कहते हैं, और सर्व-साधारण में इसी परदे वा माया को ईश्वरीय विधान बोलते हैं। और इसी माया के धर्म से वह ज्योति ईश्वर (मायावी) कहलाती है।

(५५) जब कभी प्रत्येक के कर्म प्रत्येक को भोग देने में तैयार होते हैं, तो इस अज्ञान के परदे में क्रिया होती है। और इन परदों (भेदों) की छाँट होती है। सतोगुण की जब पूरी छाँट होती है, तो उसी को हम विद्या बोलते हैं, किंतु दूषित सतोगुण को अविद्या कहा करते हैं। चूँकि सतोगुण में वह निहित ज्योति प्रतिबिंब-रूप से प्रकट होती है, उस प्रकाश की दृष्टि से जो विद्या में पड़ता है और विद्या में उसके कारण जो अभिमान होता है, उसी को ईश्वर कहा करते हैं। और जो प्रकाश अविद्या में पड़ता है तथा उसके कारण अविद्या में अभिमान होता है, उसे जीव बोला करते हैं।

(५६) चूँकि विद्या वास्तव में पूर्ण ज्ञान है, और उस अज्ञान से, जो उस (ज्योति) को ढाँप लेता है, बिलकुल रहित व शुद्ध होती है, इस आत्म-ज्योति की पहचान है। इसलिये वह ईश्वर नित्य मुक्त है और सर्वज्ञ भी है, जो कुछ चाहता है, कर सकता है, क्योंकि वह ज्ञान का स्वामी है।

(५७) किंतु अविद्या वास्तव में दूषित ज्ञान है, क्योंकि तमोगुण से पूरी-पूरी साफ नहीं होती, इसलिये वह इस आत्म-ज्योति की पहचान नहीं रखती। इसीलिये मनुष्य अविद्या के बंधन में बंधायमान हुआ उस (ज्योति) में उल्टा-पुल्टा ध्यान रखता है जो ठीक नहीं है, और वह सर्वज्ञ

नहीं होता, वरन उतना ही कर सकता है जो कि उसके कर्म उसके भोग देने के लिये तैयार होते हैं। इसलिये अशक्त और अज्ञान के बंधन में फँसा हुआ-सा होता है।

(५८) और स्पष्ट है कि पूर्ण छोट एक होती है और अपूर्ण छोट अनेक, इसलिये ईश्वर एक है और जीव अनेक। किंतु अविद्या जो जीव की प्रकाशक है, वास्तव में मनों और प्राणों की आरंभक है, और परिच्छिन्न मनों और इंद्रियों के जो व्यापार हैं वे जीव में कल्पित हैं। और ख़याल या मन के कारण, जिसकी मूल अविद्या है, उसके कर्मों के भोग के लिये संसारचक्र का धर्म उसमें आरोपित होता है। जैसा वह करता है, वैसा पाता है, यही न्याय है, जिसका संकेत कर्मकांड में विस्तारपूर्वक हम कर आए हैं।

(५९) कर्म या तो अच्छे होते हैं या बुरे। अच्छे कर्मों के कारण यह देवयान और पितृयाण-सड़कों द्वारा ऊर्ध्वलोकों में जाता है, और द्युलोक के भोग पाता है। जब वे समाप्त होते हैं, तो फिर लौट आता है। इसी तरह कभी ऊपर कभी नीचे चकराता है, जिसे जन्म-मरण संसार चक्र कहते हैं।

(६०) किंतु कर्मों के कारण वह अज्ञान, जो अविद्या में है, नहीं उड़ता, क्योंकि अविद्या तो विद्या से दूर होती है। जब तक वह विद्या नहीं पाता, चाहे कर्मकांड में वह कुछ भी उन्नति करे, अविद्या नहीं जाती। इसलिये प्रसाद के

अभिलाषी इस आत्म-ज्योति की पहचान में लगते हैं। जब इसकी पहचान होती है, तो विद्या मिलती है, जिससे अविद्या दूर हो जाती है। और जब अविद्या, जो देह और इंद्रियों की मूल है, दूर होती है, तो उसके अभाव से मृत्यु के पश्चात् वे सब (परदे) दूर हो जाते हैं। और, वह विद्या ईश्वर की प्रदर्शक है, इसलिये वह ईश्वर से एक हो जाता है, और द्युलोक का समस्त साम्राज्य इस पहचान के द्वारा उसे मुफ्त मिल जाता है।

(६१) तात्पर्य यह कि पवित्र ज्योतिस्वरूप आत्मा हर तरह सबसे अलग सब रूप है और असंग है। ख़याल या मन के समान हुआ ध्यान करता-सा और लीला करता-सा होता है, किंतु वास्तव में न तो वह ध्यान करता है और न लीला करता है। जब निद्रा की दशा में मन या खयाल बदलता है, तो सोता-सा, जब वह जागृति की दशा में बदलता है, तो जागता-सा हो जाता है।

(६२) जब यह मन (अंतःकरण) देह से बिलकुल संबंध छोड़ जाता है, तब वह आत्मा मरता-सा दिखाई देता है, जब यह दूसरे देह में संबंध पाता है, तो वही जन्मता-सा प्रतीत होता है। वास्तव में न तो आत्मा मरता है न जन्मता है, सब इसी ख़याल के भेद हैं, और वे इसी में व्यापार करते हैं। और सब कल्पित या मनोमय है। और उन्हीं कर्मों के भोग के लिये यह मन (अंतःकरण) प्राणों की तार

से बँधा हुआ हृदय-कमल में बदी है, जो पहले जन्म उसके पाँवों की जजीर होते है।

(६३) जब कि कर्मों की जजीर से प्राणों के तार के कारण वह खयाल या मन हृदय-कमल में बँधा हुआ है और उस ज्योति का प्रदर्शक है, उसकी दृष्टि से आत्म-ज्योति भी हृदय में बदी-सी प्रतीत होती है, यद्यपि वह मुक्त है। यहाँ पहचान वास्तव में भेद की पहचान है। और उसके पाने का स्थान या अवसर भी यही हृदय या मन है।

अध्याय चौथा

(१) हमने जो कुछ ऊपर के अध्यायों में लिखा है, कुछ कपोल-कल्पना नहीं वरन् ऋषि-मुनियों के तर्क-वितर्क (वाद) में युक्तियों के साथ सिद्ध हुआ है। क्योंकि स्वयज्योति ब्राह्मण * में हम सुनते है कि एक बेर याज्ञवल्क्य मुनि यों ही राजा जनक के यहाँ जा निकला, तो राजा ने पूछा कि ऐ याज्ञवल्क्य ! मनुष्य की ज्योति क्या है ? उसने कहा कि ऐ राजा ! सूर्य उसकी ज्योति है क्योंकि इसी के प्रकाश में वह उठता, बाजार जाता, अपना व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह सूर्य उससे और उसके व्यापार से अलग, असग रहता है। कहा, ठीक है।

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४ ब्राह्मण ३।

(२) फिर राजा ने पूछा, जब सूर्य अस्त हो जाता है, तो उसकी कौन ज्योति होती है ? कहा, ऐ राजा ! चंद्रमा उसकी ज्योति होती है, क्योंकि चंद्रमा के प्रकाश में वह उठता, बाजार जाता, अपने व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह चंद्रमा उससे और उसके व्यापार से अलग, असग रहता है। कहा, ठीक है।

(३) फिर राजा ने पूछा, जहाँ सूर्य अस्त हुआ और चंद्रमा भी अस्त हुआ हो, तो उसकी ज्योति कौन होती है ? कहा, ऐ राजा ! दीपक उसकी ज्योति होती है। क्योंकि तब दीपक के प्रकाश में वह उठता, बाज़ार जाता, अपने व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह दीपक उससे और उसके व्यापार से अलग, असग रहता है। कहा, ठीक है।

(४) फिर राजा ने पूछा, जहाँ सूर्य भी अस्त हो और चंद्रमा भी अस्त हो और दीपक भी न हो, वहाँ उसकी ज्योति क्या है ? कहा, ऐ राजा ! वाणी उसकी ज्योति होती है, क्योंकि फिर वह वाणी के प्रकाश में उठता, बाजार जाता, अपना व्यापार करता, और लौट आता है, और यह वाणी उससे और उसके व्यापार से अलग, असंग रहती है। देखो, जहाँ कहीं ऐसी अँधेरी रात हो कि जिसमें हाथ पसारा भी दिखाई न दे, तो जहाँ शब्द सुनता है, वहाँ ही वह चला जाता है। कहा, ठीक है।

(५) फिर राजा ने पूछा, जहाँ सूर्य भी अस्त हो,

चंद्रमा भी अस्त हो, दीपक भी न हो, और वाणी भी न सुनती हो, वहाँ उसकी ज्योति क्या होती है? और यह स्पष्ट है कि जब वह स्वप्न में होता है, तो वाणी भी नहीं सुनता। कहा, ऐ राजा! वहाँ उसका आत्मा ज्योति होती है, क्योंकि वह इस आत्म-ज्योति में उठता, बाजार जाता, व्यापार करता फिर लौट आता है, और यह आत्मा उससे और उसके व्यापार से अलग-अलग रहता है, और यह स्पष्ट है कि स्वप्न में भी मनुष्य उसी तरह व्यापार करता है, जैसा जागृति में करता है।

(६) ऐ राजा! सूर्य, चंद्र, दीपक, वाणी, उसकी बाह्य ज्योतियाँ हैं, और यह आत्मा उसकी आंतरिक ज्योति है। जिस तरह बाह्य व्यापार बाह्य ज्योतियों से वह करता है, उसी तरह आंतरिक व्यापार वह अंतर-ज्योति में करता है, वरन् बाह्य व्यापार भी बिना इस अंतर-ज्योति के नहीं होते। बाह्य ज्योतियाँ तो उसकी केवल सहायक हैं। और जिस तरह बाह्य ज्योतियाँ मनुष्य से अलग हैं और उसके व्यापार से कुछ संबंध नहीं रखतीं, उसी तरह यह आत्म-ज्योति भी मनुष्य से पृथक् है और उसके व्यापार से कुछ संबंध नहीं रखती।

(७) राजा ने पूछा, महाराज! यह आत्मा कौन-सा है? मुनिजी ने कहा, यह जो ज्ञान-ज्योति ख़याल और इंद्रियों में दिल के भीतर चमकती है, वही अंतर्ज्योति पुरुष है, और

यह हृदय में उसी तरह केंद्रित है, जिस तरह दर्पण में मुँह प्रविष्ट होता है। यद्यपि मुँह काँच के भीतर कहा जाता है, परंतु वह वास्तव में उसके भीतर नहीं होता, वरन् उससे अलग और असग होता है, इसी तरह आत्म-ज्योति भी दिल के भीतर भवकर्ता है, और फिर दूसरे दर्पणों में, जो ख़याल और ज्ञानेंद्रियाँ हैं, क्रमपूर्वक आ जाती है।

(८) मुनिजी ने फिर आप ही कहा कि जिस तरह दर्पण की गति से मुख भी हिलता-सा दिखाई देता है, किंतु हिलता नहीं, उसी तरह मन की चचलता से यह ज्योति-पुरुष भी हिलता-सा दिखाई देता है, किंतु हिलता नहीं। मन या ख़याल की गतियाँ सब सकल्प-विकल्प अर्थात् सोच-विचार रूप हैं, इसलिये आत्मा सोच करनेवालों की तरह होता है, किंतु सोच नहीं करता, ध्यान करता-सा होता है, किंतु ध्यान नहीं करता, लीला करता-सा होता है, किंतु लीला नहीं करता, वरन् समस्त व्यक्तिगत चेष्टाएँ और अवस्थाएँ, जो ख़याल या मन के धर्म हैं, सब आत्म-ज्योति में आरोपित होती है।

(९) ऐ राजा! समष्टि-रूप से मन की दो प्रकार की चेष्टाएँ हैं। या तो वह हृदय से फैलता है, और मस्तिष्क तथा इंद्रियों में आ जाता है, उस दशा को सर्वसाधारण जागृति बोलते हैं, या वह सकुचित होता इंद्रियों और मस्तिष्क से लौटता मन के भीतर, जहाँ वह अपनी जड़

रखता है, चला जाता है, उसे नींद कहा करते हैं। ये जागृति और नींद वास्तव में मन के धर्म हैं, किंतु ज्योति-पुरुष न तो फैलता है और न संकुचित होता है, तो भी मन या ख़याल के समान हुआ जागता-सोता निश्चित होता है।

(१०) जब ख़याल या मन जागृति की अवस्था में बदलता है, तो गुमान होता है कि मैं जागता हूँ। जब यही मन निद्रा की दशा में बदलता है, तो भ्रांति सवार होती है कि मैं सोता हूँ। इस तरह यह ज्योति पुरुष मन के समान हुआ जागता-सोता-सा होता है। वास्तव में न वह जागता है, न सोता है, वरन् यों ही मन के कारण ये अवस्थाएँ उसमें आरोपित होती हैं।

(११) ऐ राजा! यह मन पंचभूतों के सतोगुण के अंशों से बनाया गया है, और अपने कर्मों के भोग के लिये हृदय-कमल में बद्ध (क़ैदी) हो रहा है। जब जागृति के भोग देने के लिये कर्म तैयार होते हैं, तो वह जाग्रत् की दशा में बदल जाता है, जब स्वप्न के भोग देने को कर्म तैयार होते हैं, तो निद्रा की दशा में बदल जाता है। जब तक वे कर्म समाप्त नहीं होते, इस शरीर से वह संबंध रखता है। यह आत्म-ज्योति यद्यपि वास्तव में कर्मों के बंधन और शारीरिक संबंध से रहित (निर्लिप्त) है, तो भी यह उनके बंधन में और उनके भोग इसमें निश्चित होते हैं।

(१२) जब ये कर्म समाप्त होते हैं और दूसरे कर्म भोग

देने के लिये तैयार होते हैं, तो यह मन इस शरीर से संबंध छोड़ देता है और नूतन शरीर से, जो इन दूसरे कर्मों ने बनाया है, संबंध पा जाता है। इस तरह यह ज्योति-पुरुष मन के समान हुआ दोनों लोकों में सैर करता है, यद्यपि वास्तव में सैर करनेवाला नहीं होता।

(१३) ऐ राजा! अब तू यों समझ कि क्या बाह्य मनुष्य (स्थूल शरीर), क्या भीतरी मनुष्य (सूक्ष्म शरीर) जो शरीर, मन और इंद्रियाँ हैं, सब कर्मों के बने हुए हैं। और, ये कर्म वास्तव में पाप हैं, इस कारण वे भी जो इनसे बनाए गए हैं, पाप-रूप हैं। और, यह आत्मा उनसे असंग होता हुआ भी मन के समान हुआ देह से संबंध पाकर जन्मता-सा होता है और पापों से लगा-सा दिखाई देता है, पर जब मरता-सा हुआ उन्हें छोड़ता है, तो छोड़ता-सा दिखाई देता है।

(१४) इसलिये इस ज्योति-पुरुष के दो स्थान होते हैं—एक लोक, दूसरा परलोक। इस देह में, जो पाप-रूप है, जब तक संबंध-सा पाता है, तो इस लोक में निश्चित होता है, जब इन पापों को छोड़ता है, तो पुण्य-रूप पारलौकिक देहों से संबंध-सा पाकर परलोक में निश्चित होता है, किंतु स्वप्न इन दोनों में तीसरा स्थान है, इस मध्य स्थान में आया वह दोनों स्थानों को देखता है।

(१५) स्वप्नावस्था इन दोनों लोकों के बीच की अवस्था

है। उसका कारण यह है कि यहाँ मनुष्य प्रायः इस जाग्रत के देखे सुने प्रभावों या संस्कारों से उसी प्रकार का लोक देखता है जो यहाँ (जाग्रत में) देखा है।

(१६) जब कभी उसके कर्म दूसरे भोग के लिये तैयार होते हैं, तो प्रायः आगामी सूचना के रूप में वे उसकी विद्यमानता स्वप्न में दिखाते हैं। इसी कारण कभी कभी स्वप्न में विचित्र स्वप्न दिखाई देते हैं, जो संसार में देखे या सुने नहीं होते। अतः जैसा यह जाने को तैयार होता है, उन्हीं प्रभाव या संस्कारों को लेकर स्वप्न में दोनों लोकों का परिदर्शन करता है, जो पाप-रूप और आनन्द-रूप हैं। और, यही परिदर्शन (देखना) दोनों स्थानों के लिये यथेष्ट प्रमाण है।

(१७) किंतु जब यह सुषुप्ति में जाता है, तो दोनों स्थानों से निकल जाता है, वरन् सबको छोड़ता हुआ भी सबके संस्कार साथ ले जाता है, और दूसरों में अहंता त्याग कर अपनी निजी अहंता में स्थिर होता है, और उन संस्कारों को समष्टि-रूप से एकत्रित देखता हुआ भी उनसे अलग, देखनेवाला रहता है। यहाँ यह स्वयं ज्योति होता है।

(१८) देखो, वहाँ (स्वप्नावस्था में) न तो गाड़ियाँ होती हैं, न गाड़ियों के घोड़े और न उनकी सड़कें, किंतु गाड़ियों, घोड़ों और सड़कों को झटपट उन्हीं संस्कारों से

रच लेता है, न वहाँ अभिरुचि होती है, न प्रेम, न प्रीति, परंतु अभिरुचि, प्रेम और प्रीति को भी रच लेता है, न वहाँ बागीचे, न बागीचों में चलती नहरें और न कोठियाँ होती है, किंतु बागीचों और बागीचों में चलती नहरों और कोठियों को रच लेता है। वहाँ यही कर्त्ता-सा होता है।

(१६) किंतु यहाँ (स्वप्नावस्था में) भी इस करनी का दोष उन्ही संस्कारों के कारण होता है, क्योंकि सुषुप्ति में उसका स्वरूप इन संस्कारों से अलग देखनेवाला सिद्ध होता है। इसलिये वह करता हुआ भी नहीं करता। क्योंकि जो गुण स्वाभाविक नहीं होते, वही वस्त्र की तरह उतरते हैं, किंतु वह जो स्वाभाविक गुण होते हैं, कभी नही उतरते। चूँकि सब करतूतें दोनों स्थानों या मध्य स्थान में परस्पर विभिन्न होती हैं और सुषुप्ति में वस्त्र की भाँति उससे उतर जाती हैं, इसलिये ये सब अनात्मा हैं।

(२०) किंतु उसका देखना न तो दोनों स्थानों या मध्य स्थान में विभिन्न होता है, न उससे वस्त्र की भाँति उतर जाता है, वरन केवल उसकी दृष्टि सुषुप्ति में प्रत्यक्ष 'ज्योतिषा ज्योति' ठीक साक्ष्य रूप से शेष रहती है। यदि वह भी उतर जाती, तो सुषुप्ति की गवाही (साक्ष्य) कौन देता। इसलिये सिद्ध होता है कि उसका स्वरूप दृष्टिमात्र, ज्योतियों की ज्योति, अकर्त्ता-अभोक्ता है, और यही आत्मा है।

(२१) ऐ राजा ! जो धर्म धर्मी से कभी भी अलग न हो, वही उसका स्वरूप है। देखो, दीपक का प्रकाश दीपक से कभी भी उतारा नहीं जाता। इसी कारण से दीपक प्रकाशस्वरूप कहलाता है। आत्मा की दृष्टि भी न तो जाग्रत्, न स्वप्न, न सुषुप्ति में उतरती है, इसी कारण हम कह सकते हैं कि आत्मा दृष्टिस्वरूप, ज्योतियों की ज्योति और असग है।

(२२) फिर मुनिजी ने कहा, ऐ राजा ! इस विषय में हमारे पास वेद के मंत्र हैं। हम सुनते हैं कि स्वप्न में स्थूल देह को त्यागकर सोता हुआ मनुष्य सोतों को देखता है, और उन्हीं संस्कारों को लेकर फिर स्थानों में आ जाता है। वह जो इन स्थानों में फिरता उनसे अलग है, एक हंस पुरुष है।

(२३) प्राणों से अपने निवास-स्थान की रक्षा करता हुआ निवास-स्थान से बाहर निकल जाता है, और अमृत को पाता अपनी इच्छा से फिर निवास-स्थान में आ जाता है। घर में फिरता एक हंस पुरुष है।

(२४) स्वप्न में यही महान् देव बड़प्पन और खराबी में आया-सा तरह-तरह के रूप करता है, कभी स्त्रियों से प्रीति करता हँसता हुआ लीला करता है, कभी भय देखता है। आह, शोक कि उसकी लीला को तो स्वप्न में देखते हैं, किंतु उसे नहीं देखते।

(२५) चिकित्सक लोग कहते हैं कि सोते को जल्दी नहीं जगाना चाहिए, नही तो कोई असाध्य रोग हो जायगा, किंतु यह कारण नहीं जानते कि कदाचित् वह जल्दी से स्थूल देह में न आवे, तो चोले का काम खराब हो जाय। इस प्रकार के वैदिक मन्त्रों से स्पष्ट होता है कि वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मे फिरता उनसे और उनके व्यापार से अलग देखनेवाला साक्षी पुरुष है। ऐ राजा ! इस तरह यहाँ सुषुप्ति में वह स्वयं-ज्योति होता है। तब राजा ने आत्मा की पहचान पाकर कहा, हे भगवन् ! मै एक हजार गायें दक्षिणा में देता हूँ, किंतु मेरी मुक्ति के लिये कुछ अधिक कहिए। राजा को अभी भली भाँति पवित्रात्मा स्पष्ट अनुभव नहीं हुआ, इसलिये फिर अधिक व्याख्या चाहता है।

(२६) मुनिजी ने कहा, देखो, यह आत्मा स्वप्न में भाँति-भाँति की लीला करके और पाप-पुण्य देखकर विश्रामावस्था (सुषुप्ति) में जाता है। वहाँ न तो कोई भय है न शोक, वरन् अपना विश्राम विशेष (खास आराम) पाता है। इसी कारण सुषुप्ति को संस्कृत में संप्रसाद बोलते हैं, क्योंकि यह उसके विश्राम का विशेष स्थान है, यहाँ भली भाँति वह स्वच्छंद और अद्वितीय सिद्ध होता है, वरन जाना जाता है कि जिस तरह वह दृष्टिस्वरूप है, उसी तरह वह आनंद-स्वरूप भी है। पहले-स्थानों में जो दुःख-दर्द और शोक देखता है, मन और खयालों के धर्म हैं। यदि उसके अपने धर्म

होते, तो यहाँ किस तरह उससे उतर जाते ? जब वे ख़याल और मन के उतरने से साथ ही उतर गए, तो वे सब मन और ख़याल के धर्म हैं, उसके नहीं। जब वह उन स्थानों में मन को और ख़याल को वस्त्र की तरह पहनता है तो उसके दुःख-दर्द और शोक भी उसमें कल्पित होते हैं।

(२७) ऐ राजा ! यह पवित्र और आनंदस्वरूप आत्मा फिर इस विश्रामावस्था से, जो सम्प्रसाद है, नियमपूर्वक विधि के अनुसार स्वप्न के लिये निकलता है, और जो कुछ वहाँ देखा है, उससे निर्लिप्त होता है, क्योंकि वह असंग पुरुष है। प्रकाश का अंधकार के साथ क्या संबंध, आनंद को दुःख से क्या संबंध, स्वच्छंद या बेपरवाह को भय से क्या नाता, देखनेवाले को दिखाई देनेवाले से क्या बिगाड़ है, गवाह को मामले से क्या ? राजा ने कहा, ठीक है मैं एक हजार गायें दक्षिणा में और देता हूँ। अभी अधिक कहिए जिसमें मैं मुक्ति पाऊँ।

(२८) ऐ राजा ! यह पवित्र और आनंदस्वरूप साक्षी आत्मा इस स्वप्न में भी लीला करता-सा और विलास करता-सा, पुण्य-पाप को देखता हुआ फिर उसी नियम और विधि से जाग्रत् के लिये निकलता है। जो कुछ वहाँ देखा है, उससे निर्लिप्त निकलता है क्योंकि वह असंग और विमल पुरुष है। राजा ने कहा, ठीक है, एक हज़ार गायें और दक्षिणा में देता हूँ। अभी और कहिए जिसमें मैं मुक्ति पाऊँ।

(२९) ऐ राजा ! यह आत्मा पवित्र, सब व्यापारों का साक्षी, स्वयं आनंदस्वरूप, इस जाग्रत् में भी लीला करता-सा, विलास करता-सा, पुण्य और पाप को देखता उसी नियम और विधि से फिर स्वप्न में चला जाता है। जो कुछ जाग्रत् में देखा है, उससे भी निर्लिप्त जाता है। जिस तरह जलपक्षी (मुरगाबी) भी पानी में कभी डुबकी मारता है और कभी उड़ जाता है, किंतु पानी से भीग नहीं जाता, इसी तरह यह आत्मा भी तीनों स्थानों में फिरता जो कुछ वहाँ देखता है, उससे लिप्त नहीं होता, वरन् ज्यों का त्यों शुद्ध पवित्र निकलता है।

(३०) फिर कहा, तीनों स्थानों में वह ज्योति-पुरुष इस तरह निर्भय हुआ फिरता है जिस तरह एक बड़ा मच्छ अगाध समुद्र में कभी दायें कभी बायें फिरता है। यद्यपि बड़े-बड़े भयानक तूफान उठते हैं, पर उस मच्छ को कुछ भी हानि नहीं दे सकते, न तो वह मच्छ उनसे डरता है और न उनसे भीगता है। इसी तरह यह आत्मदेव भी जाग्रत् स्वप्न में फिरता है और उनका दर्शक होता है, वहाँ के पुण्य-पाप कुछ भी उस पर प्रभाव नहीं डालते।

(३१) फिर, जब यह मच्छ आराम करना चाहता है, तो उस (समुद्र) के नीचे चला जाता है और आराम से सोता है। इसी तरह यह आत्मा भी जाग्रत् और स्वप्न की सैर करके तीसरे स्थान में, जो उसका विशेष विश्रामस्थान है,

आराम करता है, जहाँ न कुछ स्वप्न देखता है, और न कुछ बाहर की खबरें होती हैं।

(३२) फिर कहा, ऐ राजा! यह आत्मा एक बलवान् पक्षी (शाहबाज) है, जैसा वह महान् आकाश में निर्भय उड़ता सैर करता है, और फिर अपने परों को लपेटकर अपने मुख्य घर में जाकर आराम करता है, इसी तरह यह आत्मदेव भी जाग्रत्, स्वप्न में सैर करके क्या मन, क्या खयाल, क्या इन्द्रियाँ, बरन् उससे भी जो बाहर है, सबको, लपेटकर अपने विशेष विश्रामस्थान में, जो सम्प्रसाद है, आराम करता है, यहाँ न तो कोई काम है और न कोई स्वप्न।

(३३) ऐ राजा! जब कि इस सम्प्रसाद में वह स्वरूप से स्वच्छंद या बेपरवाह, सुखस्वरूप और दृष्टिस्वरूप सिद्ध होता है, तो स्वप्न में जो उसे भय, शोक, आनंद और हास-विलास होते हैं, वह मन और खयाल की दृष्टि से कल्पित होते हैं। जैसे मच्छ भी बड़े समुद्र की लहरों में आप्लावित (भीगा हुआ) प्रतीत होता है, किंतु मच्छ जानता है कि मुझे यह तूफान क्या कर सकते हैं, क्या नूह का तूफान यदि संसार को संहार करे, तो करे, किंतु छोटी-सी मछली या बतख के बच्चे को क्या भय है, जहाँ तक ऊँचा हो, हो, मछली या बतख का बच्चा तो उसके शिर पर तैरता है।

(३४) संसार और परलोक के हर्ष-शोक या मृत्यु-जीवन के तूफान मन के सम्बन्ध में हों तो हों, पर साक्षी

चेतन को जो उन्हें देखता है, क्या भय है। वह तो जहाँ मन जाता है और ज्यों-ज्यों हर्ष और शोक में आकार पाता है उसमे उसी तरह चमकता हुआ तैरता है, जैसा कि नूह के तूफान में मच्छावतार तैरता था।

(३५) ऐ राजा ! दु ख-शोक या हर्ष-आनद तुझे नहीं होते, वरन् तेरे अहकार को होते हैं, और तेरा अहंकार भी एक उसी खयाल या मन की लहर विशेष है, जिस तरह तूफान में भी विशेष तरग उठती थी जो भगवान् मच्छ अवतार के आकार थी और उसके चारों ओर परिवृत थी। यदि दूसरी तरगें इस बड़ी तरंग को निम्नतर करें तो करें, यदि उसमें बाहुल्यता करें, तो करें, मच्छ को क्या ; इसी तरह अहकार भी तेरे खयाल की एक बड़ी तरंग है, जो तुझे अभिमान से संबध विशेष कराने की मुख्य कारण है। यदि दु ख-रूप तरगें उसे पीड़ा दें, तो दें, यदि सुखाकार तरगें उसके अनुकूल हों, तो हों, तुझे क्या।

(३६) ऐ राजा ! अपने अहकार को अनात्म खयाल की वृत्ति जानकर अपने आत्मबल से जो विवेक कर दिया दिया है, तू अलग हो। यह दु ख और सुख आत्मा के धर्म नहीं, अहकार के धर्म हैं, और अहकार तो वस्त्र की तरह सप्रसाद में तुमसे उतर जाता है, फिर क्यों उसे पहनकर उसके हर्ष-शोक को अपने में मानते हो ? बुद्धिमान् जानते हैं यदि वस्त्र लाल है तो हम लाल नहीं हो जाते, यदि वस्त्र

काला है तो हम काले नहीं हो जाते। यदि अहकार भी दु ख-शोक पाता है, तो तुझे क्या, यदि पुण्य-पाप से मलिन होता है, तो तुम्हें पुण्यवान् या पापी नहीं करता।

(३७) ऐ राजा ! तू जाग्रत् और स्वप्न में पराए पापों से पापी, पराई भूख प्यास से भूखा प्यासा, और पराए जीवन-मृत्यु से जीता-मरता है। किंतु यह स्पष्ट है कि पराए पापों से कोई पापी नहीं हो जाता, इसी तरह दूसरों की भूख से अन्य भूखा नहीं हो जाता, ख़याल के जीने और मरने से आत्मा मरता या जन्मता भी नहीं, यह सब उसमें ख़याल और देह के सबध के कारण से है, और उसका सबध निरा भ्रातिपूर्ण है, फिर क्यों उसके धर्मों को अपने में भ्रम से मानते हो ?

(३८) ऐ राजा ! जब कि यह आप असग है, तो ख़याल के कारण इसमें पराए धर्म प्रकट होते हैं। और जब स्वप्न में इसको शत्रु और चोर बाँधते तथा मारते हैं, या कोई हाथी पीछे पडता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मारा और गढ़े में गिरा। और ऐसे ही यहाँ जब जाग्रत के ख़याल देखता है, तो अविद्या के कारण उन्हें सचमुच जानता है, अन्यथा झूठ-मूठ दिखावा ही है। पर यदि शास्त्र विचार करे और राजा और देवता की तरह जान ले कि जो कुछ यह है वह सब "मैं ही हूँ", तो यही ज्ञान है और यही उसका परमधाम है।

(३६) ऐ राजा ! स्वप्न में यदि शत्रु ने बाँध लिया, या चोर ने मारा, या हाथी ने गढे में गिरा दिया, तो यह भी भ्रांतिमयी कल्पनाएँ हैं। और यदि इसके विरुद्ध ज्ञात हो गया कि ये सब संकल्पमात्र हैं, मैं इन सबका आत्मा हूँ, और यह अभिनय है, मैं दर्शक हूँ, तो यह भी एक भ्रांतिमय कल्पना है। तो भी वे पहली कल्पनाएँ झूठी और दुःख का कारण हैं, और यह दूसरी कल्पना उसके विरुद्ध ज्ञान व सत्यता पर है, और सुख का कारण है। इसी कारण विद्या इसका परमधाम है और अविद्या इसका महान् नरक है। यद्यपि विद्या और अविद्या भी इसका निजी गुण नहीं हैं, तो भी अविद्या गई, तो फिर परम कल्याण है।

(४०) विद्या और अविद्या से अलग जो इसका स्वरूप है, वह तो सम्प्रसाद में अपने आप दिन-रात सिद्ध होता है, और यहाँ सम्प्रसाद में वेदों से भी परे हो जाता है। जब वेदों से परे हो जाता है, तो पापों से भी परे हो जाता है, वरन् निर्भय और स्वच्छंद हो जाता है। यही उसका असली स्वरूप है।

(४१) यह न मान लेना चाहिए कि सम्प्रसाद में न तो वह कुछ देखता है, न सुनता है, वरन बे-खबर होता है, इसलिये वहाँ अविद्या या बे-खबरी उसमें होती है, क्योंकि जैसे कोई उन्मत्त (शराबी) अपने प्रेम-पात्र को बगल में लिए अति प्रसन्न हुआ न तो कुछ घर की और न

लेकर ब्रह्मलोक तक प्रत्येक का आनंद पूर्णानंद के भीतर सम्मिलित है। क्योंकि वह, जो कामना करता है और पाता है, उसी के समान होता है जो नहीं चाहता और नहीं पाता। जैसे जिसे प्यास है, यदि पानी पाता है, तो उसी के अनुसार होता है कि जिसे प्यास नहीं और पानी नहीं पाता।

(७२) कल्पना करो कि मनुष्य संसार में चक्रवर्ती राज्य माँगता है, यदि उसे मिले, तो उसी के समान है जो उसे नहीं चाहता, वरन् मिले भी तो नहीं लेता। इसी कारण रोम का सम्राट् सिकंदर और भारत का ज्ञानी परमहंस एक समान हैं। वह तो न मिलने में कष्ट मानता है, यह मिलने में बखेड़ा जानता है। इसमें भी समान हैं।

(७३) फिर, मनुष्य यद्यपि पितरों के आनंद माँगता है, किंतु नहीं मिलते, और पितर भी कामना करते हैं, पर पाने में उसी के समान हैं जो पितरों के भोग नहीं माँगता और नहीं पाता, वरन् मिल जायँ तो बखेड़ा देखता है। इसलिये भारत का परमहंस और पितृलोक के पितर एक समान हैं।

(७४) इसी तरह क्या प्रजापति, क्या ब्रह्मा तक जो-जो भोग हैं, वह तो उनकी कामना करके पाते हैं, और यह परमहंस उनकी कामना नहीं करता और नहीं पाता, वरन् मिल जाय, तो घबराता है। इसलिये क्या प्रजापति और क्या ब्रह्मा, सब भारत के परमहंस के समान हैं।

(७५) इन बातों से ज्ञात होता है कि यह अनंत आनंद

जो आत्मानंद है, अपने आप प्रत्येक को सदैव प्राप्त है, और यही अपना आप है, किंतु अपनेसे भिन्न की कामना में, भिन्न वस्तु की प्राप्ति में, प्रत्येक को प्रतीत होता है। और वह जो नहीं पाते, दुःखी होते हैं। परंतु वह जो अपने आपकी कामना करता है, अपने से भिन्न की कामना नहीं करता, उसे सदा मिलता है। और वह जो इसे जानता है, बिना कामना और इच्छा किए पाता है, नित्य आनंद में है, जिसका आदि या अंत नहीं। इसलिये आत्मा की पहचान वास्तव में परमानंद का कारण है। इसमें किसी कर्म की आवश्यकता नहीं, कर्म तो भिन्न वस्तु की प्राप्ति में होता है, अपनी में नहीं होता। और यही परमहंस लोग वास्तव में निर्लोभी हैं, अन्यथा च्यूँटी से लेकर ब्रह्मा तक लालची निश्चय होते हैं। और लालच ही समस्त दुःख-शोक का कारण है।

(७६) हे राजन्! तात्पर्य यह है कि जब अपना आप लालच में आता है, तो भिन्न हो जाता है। आप ही कामना, आप ही कामनावाला, और आप ही काम्य वस्तु होता है। अविद्या के कारण नहीं जानता कि "मैं ही कामनावाला, मैं ही कामना, मैं ही काम्य वस्तु हूँ।" वरन् अपनेसे भिन्न हुआ भिन्न को माँगता है, और वह कभी मिलता है और कभी नहीं मिलता। जब मिलता है, तो आनंद होता है, जब नहीं मिलता, तो दुःख होता है, और प्रयत्न करता है कि पावे।

यही कर्म हैं। इस तरह कर्मों में आकर कर्मों का दास हो जाता है, और कर्मों के बंधन में बंदी हुआ क्यूँटी से ब्रह्मलोक तक चक्कर लगाता है। वहाँ सत्यसकल्प हुआ जो चाहता है पाता है। किंतु वहाँ भी लोभ से रहित नहीं है, और लोभ अंत में नाशवान् है, इसी लिये समस्त भोग अपने से भिन्न अर्थात् अनात्मा और नाशवान् हैं। और यह जो निजानंद है, नाशवान् नहीं, वरन् नित्य है। ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

(७७) तब राजा ने कहा, भगवन मे हजार गाएँ और देता हूँ, अभी कुछ और कहिए जिससे मैं मुक्ति पाऊँ। यहाँ याज्ञवल्क्यजी कुछ रुक कर सोचने लगे कि राजा बुद्धिमान् है, मेरा सब ज्ञान चाहता है, इसलिये कि योग्य शिष्य है, इसे देना चाहिए।

(७८) इस रुकने के पश्चात् याज्ञवल्क्यजी ने कहा, हे राजन्! जिस तरह यह एक अकेला जाग्रत्-स्वप्न में नियम और विधान के अनुसार आता-जाता है, इसी तरह मृत्यु में इस शरीर से निकलता दूसरे शरीर में जीवन के लिये आ जाता है, और ससारी कहलाता है, वास्तव में असग और अससारी है।

(७९) जिस तरह स्वप्न और जाग्रत् मन के कारण इस (एक अकेले) में आरोपित होते ह, उसी तरह जन्म और मरण भी मन और प्राण के कारण इसमें कल्पित होते

है। वास्तव में न तो वह जागता है न सोता है, और न मरता है न जन्म लेता है।

(८०) यदि तुझे इस सूक्ष्म रहस्य के मालूम करने की जिज्ञासा है, तो एक उदाहरण से सहज ही समझ में आ जायगा। वह यह है कि जिस तरह एक यात्री परदेश जाता है, इसी तरह यह भी परलोक को जाता है। जिस तरह यात्री चलता हुआ अपना सामान क्या चक्की, क्या ओखली, क्या मूसल, क्या छलनी, क्या सूप, क्या बर्तन, क्या खाने-पीने और पहनने की वस्तुएँ, सबकी सब अर्थात् सदूक और पिटारियों में बद करके एक छकडे पर लादता है, इसी तरह यह जीवात्मा भी अपनी अगली-पिछली करतूतों, और अगली-पिछली जानकारियों और उनके साधनों अर्थात् आँख, नाक, कान, रसना और मन सबको बद करके उदानप्राण-रूप छकडे में लादता और चल देता है।

(८१) जिस तरह यात्री का लदा हुआ छकड़ा सूर्य चद्रमा या दीपक के प्रकाश में रेंगता, चीखता, सडकों पर चलता है, उसी तरह यह प्राण का छकडा भी प्राज्ञ आत्मा के प्रकाश में रेंगता, चीखता, उन्हीं सडकों पर चलता है जो कर्मकाड में दिखाई गई है, और जिनका रास्ता अग्नि से फटता है। इस छकडे के चलने के कारण उस एक अकेले आत्मा में भी जन्म-मरण ससार कल्पित होता है, वास्तव में तो वह इस गति और छकडे की रेंग में साक्षी या दीपक

है, स्वयं नहीं चलता, वरन् छकड़े की चाल से चलता-सा होता है, स्वय नहीं रेंगता, वरन् प्राणों के रंग के कारण रेंगता-सा होता है।

(८२) हे राजन्! यह कब होता है और क्योंकर होता है, आप कान लगाकर सुनिए। जब शरीर रोगों या बुढ़ापे से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है और खाया-पिया उसे कुछ नहीं लगता (और यह तब होता है जब यहाँ के भोग समाप्त हो जाते हैं), तो उस समय इस शरीर से यह इस तरह सबध छोड़ देता है, जिस तरह एक आम या जामुन का पका हुआ फल टहनी के जोड़ से जुदा होकर गिर जाता है, या नहीं पका तो आँधी और हवा आदि के झकोरे से गिर पड़ता है।

(८३) निदान, जब यहाँ के भोग के कर्म समाप्त होते हैं तो अनेक हेतुओं के कारण, जो यद्यपि ज्ञात हैं किंतु यहाँ गिने नहीं जाते, बहुत सुगमता से प्रत्येक अंग से सबध त्याग देता है। किंतु पका हुआ आम का फल अपनी टहनी के जोड़ से अलग हो जाने पर फिर दूसरी टहनी से जोड़ नहीं पाता, और यह जीवात्मा तो एक शरीर को छोड़ता दूसरे शरीर से सबध पा जाता है।

(८४) जिस तरह जाग्रत् से स्वप्न में जाता निद्रा के शरीर से संबंध पा जाता है, उसी तरह इस शरीर से उठता दूसरे शरीर से सबंध पाता हुआ जीवन के भोग पाता है।

(८५) स्वप्न की अपेक्षा मृत्यु में उससे भी बढ़कर विचित्रतायें हैं, क्योंकि स्वप्न में तो शरीर को एक तरह से छोड़ता और एक तरह से नहीं छोड़ता, और दूसरे ख़याली शरीर से सबध भी पा जाता है । किंतु मृत्यु में उसका सबध दो प्रकार का होता है। पहला सबध उसका जो नये शरीर से होता है, इसी शरीर के सबध होते हुए हो जाता है। जब यह सबध उसको प्राप्त हो जाता है तो फिर विधि और नियम से इस शरीर को बिलकुल छोड़ता हुआ एक रूप से दूसरे रूप में नियत सड़कों पर चलता है, नए शरीर से पूर्ण सबध पा जाता है, और भोगता आ, जीवित-सा हो जाता है।

(८६) उसका पहला सबध मानों कि उसका सकल्प और आदेश है, जिसे भावना कहना चाहिए। दूसरा सबध उसका मानों चल देना है। उस पहले सबध में जो उसका उठना होता है, उसे सस्कृत में उत्क्रांति कहा करते हैं, और दूसरे संबंध में जो उसका उठना होता है, उसे सस्कृत में गति बोलते हैं। उत्क्रांति वास्तव में रूह है और गति का अनुवाद ख़ेज है। इसी कारण प्रलय को उर्दू या फारसी में रूस्तख़ेज बोलते हैं।

(८७) यह सूक्ष्म विषय भी एक उदाहरण से तुम्हें सरल हो जायगा, कान लगाकर सुनिए। जैसा कि एक चक्रवर्ती राजा जब एक देश से दूसरे देश की सैर का सकल्प

करता है, तो उसकी इच्छा पाकर दरबारी लोग चिट्ठी-पत्री से वहाँ के सूबेदारों (पदाधिकारियों) को सूचना देते हैं, और समय नियत करते हैं। फिर वह एक-एक स्थान होता हुआ वहाँ जाता है। इस तरह मृत्यु में भी उसका पहला उठना देवताओं को सूचना देने के समान है, और उसका दूसरा उठना सेना के प्रस्थान बाद प्रस्थान के समान है।

(८८) निष्कर्ष इस सारे का वास्तव में यह है कि इद्रियाँ क्या आधिदैविक क्या आध्यात्मिक सब की सब वास्तव में एक समान सब में सब कुछ कर रही हैं, और इसी (जीवात्मा) की चाकरी में धरती और आकाश होकर और उनमें भोग के साधन और भोग तैयार कर रही हैं, और इसी के सक्षिप्त भोग के लिये कान नाक आँख में आई हुई विशेष सेवाएँ कर रही हैं, और इन बधनों के कारण वही आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक नामों से विभक्त हो रही हैं।

(८६) इन्हीं नामों और पदों के विचार से वे स्थान-स्थान पर प्रत्येक वस्तु में इसके भोग के लिये तैयारियाँ कर रही हैं, और आध्यात्मिक इद्रियाँ तो मानो इस शरीर में भोग दे रही हैं। चूँकि वास्तव में क्या आध्यात्मिक, क्या आधिभौतिक और क्या आधिदैविक सब एक हैं, इसलिये जब यह राजा के समान दूसरे देश में जाना चाहता है तो यही आध्यात्मिक इद्रियाँ, जो देह में परिच्छिन्न और बद्ध हैं, खुलती हैं और

आधिभौतिक तथा आधिदैविक इंद्रियों से एक हो जाती हैं, और नियत समय पर उसके भोग के लिये शरीर और भोग के साधन तथा भोग तैयार करती हैं, और अभी तक इस शरीर से भी संबंध नहीं छोड़ती हैं। इसको वास्तव में उत्क्रांति या पहला उठना हम नाम देते हैं।

(६०) इन इंद्रियों का पहला उठना ऐसा है, जैसा कि सूर्य से किरणें निकलती हुई धरती तक झटपट पहुँच जाती हैं, और धरती और आकाश में फैलती हुई भी सूर्य से पूर्ववत् संबंध रखती हैं। किंतु कल्पना करो कि सूर्य धरती पर उतर आवे, तो किरणें भी साथ उतर आवें। यह उतरना दूसरे प्रकार का है। वैसा प्राणों की उत्क्रांति और गति का हाल होता है।

(६१) ऐ राजन्! अब यों समझ कि जब यह मनुष्य ऊँचे श्वास लेता है, और मृत्यु के लक्षण प्रतीत होते हैं, तो देवता (आधिदैविक इंद्रियाँ) उसकी आत्मा को पाते उसी तरह तैयारियाँ और प्रतीक्षाएँ करते हैं जैसा कि देशों के मनसबदार (पदाधिकारी) राजा के पधारने में करते हैं।

(६२) देखो, जब चक्रवर्ती राजा इस देश में जाना चाहता है, तो उस देश के मनसबदार (पदाधिकारी) क्या सरकार, क्या फिनांशल, क्या कमिश्नर साहब बहादुर, क्या डिप्टी कमिश्नर बहादुर, वरन तहसीलदार, ... नंबरदार और चौकीदार जगह-जगह ...

और गोदाम का प्रबंध करते हुए प्रतीक्षा करते हैं कि हमारा राजा यह आता है, यह आता है।

(६३) इसी तरह जब यह मनुष्य ऊँचे श्वास लेता है, तो देवता लोग क्या आधिदैविक क्या आधिभौतिक सबके सब उसकी इच्छा के अनुसार सूचित होते हुए क्या शरीर और क्या शरीर के साधन और उसके भोगो और भोगों के साधन नियम और विधान के अनुसार तैयार करते हैं, और प्रतीक्षा करते हुए पुकारते हैं कि अब श्रीमान्, अभी श्रीमान् यहाँ आया चाहते हैं।

(६४) ऐ राजा ! ये देवता इच्छाओं के उत्तम ज्ञाता हैं, और उत्तम काम करनेवाले हैं। तेरे इन कर्मचारियों में भूल संभव है, परंतु उनमें तो भूल भी संभव नहीं, वरन् वह जानते हैं कि श्रीमान्जी को इस प्रकार की कोठी या बँगले की आवश्यकता है, और उस बँगले में इस तरह के भोग की आवश्यकता है, और पहले आते ही वह दूध लेंगे, फिर खाना माँगेंगे। इसलिये दूध की मटकियाँ और खाने के सामान सब तैयार करते हैं। क्या तू नहीं देखता कि जब गर्भ होता है तो माँ की दुधियाँ (छातियों) में वे किस तरह दूध बनाते हैं।

(६५) इस प्रकार के विचारों से निश्चय हो सकता है कि उपर्युक्त एक समान इंद्रियाँ आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक मनसओं पर विभक्त होकर इसी की सेवा के लिये

संसार में फैलती हुई सबमें सब कुछ कर रही है, और यही उनका द्युलोक का राजकुमार है, और प्रत्येक स्थान पर इसी की प्रतीक्षा और इसी के स्वागत की सब प्रतीक्षा करते हैं।

(६६) ऐ राजा ! इधर तो आधिदैविक इंद्रियाँ जहाँ वह जाना चाहता है, वहाँ प्रतीक्षाएँ और तैयारियाँ कर रही है। उधर आध्यात्मिक इंद्रियों का हाल सुनिए कि वे क्या करती हैं।

(६७) जिस तरह ब्रह्मलोक के बड़े-बड़े मुख्य मुसाहब (पदाधिकारी) राजा के कूच (प्रस्थान) की इच्छा पाते साथ चलने की तैयारियाँ करते हैं, उसी तरह क्या आँख, क्या नाक, क्या कान सबकी सब इंद्रियाँ, भीतर की ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ भी, जो विशेष मुसाहब हैं, साथ चलने की तैयारियाँ करती हैं, और अपने-अपने नियत स्थान छोड़कर दिल में जो उसकी मुख्य राजधानी है, जाकर जमा होती और उससे एक होती हैं।

(६८) * यह कब होता है और क्योंकर होता है ? कान लगाकर सुनिए। जब यह मनुष्य जीर्ण और शीर्ण हुआ अशक्त हो जाता है, और अंतिम श्वास ऊँचे-ऊँचे भरता है, तो सब ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ दिल (हृदय) में एकत्रित हो जाती हैं, और उन सबको वह अपने में

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४, ब्राह्मण ४।

और प्रेमपात्र और कामोद्दीपन (शहवत, विषयवासना) पाता है, तो उसे पसद करता है, इसी तरह क्या उत्तम क्या निकृष्ट योनियाँ अपने कर्मों और निश्चयों के कारण से, जिनके कि वह वश में है, पसद करता है।

(१०४) देखो, जब मनुष्य जानता है कि चोरी और व्यभिचार अच्छा नहीं, किंतु लोभ और काम के वश हुआ अवसर पर वही पसंद करता है, इसी तरह यद्यपि मृत्यु से प्रथम निकृष्ट योनियों को पसंद नहीं करता, किंतु मृत्यु में जब यहाँ के भोग समाप्त होते है और दूसरे जन्म के भोगों के कर्म उदय होने लगते हैं, तो मनुष्य उन्हीं के वश में हुआ निकृष्ट योनियों को उत्तम योनियों की अपेक्षा पसंद करता है, और वैसा ही हो जाता है। यही न्याय है।

(१०५) हम बड़े-बड़े धनिकों को देखते हैं कि उत्तम बुद्धि रखते हैं, और सत्-असत् का विवेक और शिक्षा भी रखते हैं, जब सुरा पीते हैं, तो मद में चूर होकर जो नही करना होता है और जो नहीं चाहिए वह पसद करते हैं, जो नही कहने योग्य है, वह बोलते हैं, तो बुद्धिमान् जानते हैं कि मद के कारण जो पसद करने योग्य नही वही पसद करते हैं, इसी तरह मृत्यु में इसका हाल है।

(१०६) जब कि मृत्यु में इसकी बुद्धि अपने आचरण और कर्मों के अधीन होती है, और प्राण जो महान् देव (उदान-प्राण) है, उसकी बुद्धि के अधीन होता है। इसी

कारण शास्त्र बुद्धि को आरंभ ही से सदाचरण के नियम और सत्कर्मों के बंधन में रखने के लिये व्यवस्था देता है कि मृत्युपर्यंत शास्त्रीय विश्वास और शास्त्रीय कर्मों से जीविका करे। क्योंकि अंतिम समय में बुद्धि कर्मों के अधीन होती है, और सदाचरण बुद्धि के अधीन। इसलिये भावी विदों को शास्त्रीय बंधन में रहना चाहिए। यह नहीं जानता कि कौन-सा कर्म उत्तम योनि की बुद्धि का हेतु है और कौन सा कर्म निकृष्ट योनि का कारण है। किंतु शास्त्रविद् जानता है कि वह जो ईर्ष्या रखता और लोगों को हानि पहुँचाता है, वास्तव में सर्प और बिच्छू की प्रकृति रखता है, और मृत्यु में उसकी बुद्धि उसी आकृति के अधीन होती है। इसलिये ईर्ष्यालु और दूसरों को हानि पहुँचाने की प्रकृति रखनेवाला व्यक्ति सर्प और बिच्छू की योनि पसंद करेगा। और यह एक अति सूक्ष्म शास्त्र है, जिसको सब कोई नहीं जानता।

(१०७) कर्मकांड में शास्त्र ने इसकी छाँट कर दी है, वहाँ से देख लेनी चाहिए। यहाँ हम उसको ब्योरेवार लिखने की आवश्यकता नहीं समझते। चूँकि विषय बहुत बड़ा है, यहाँ उसके लिये स्थान भी नहीं रखते। निदान, जब इस तरह यह जीवात्मा ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों के साथ मिला हुआ हृदय-कमल में बुद्धिमान् हुआ उठता है, तो उसके उठते ही प्राण उठता है, और प्राण के उठते ही

समस्त ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ उठती हैं, और इस समय में भी वह बुद्धिमान होता है, जिस-जिस सड़क पर जिस-जिस तरह चलना होता है और जहाँ-जहाँ जाना होता है, उसका जानकार होता है। जैसे यात्री भी जब तक पहले गंतव्य स्थान को नहीं जानता और फिर उस मार्ग की सच्ची दशा को नहीं जान लेता, तब तक नहीं चलता। और यही उसकी उत्क्रांति है।

(१०८) हे राजन्! जिस तरह यात्री अपने छकड़े पर अपना सामान लादता है और मार्ग-निवास (पड़ावों) में निकालकर खाता है, उसी तरह यह जीवात्मा भी अपनी जानकारी तथा कर्म क्या पहले और क्या पिछले सब साथ ही ले जाता है, और दूसरी योनि में पूर्ण संबंध पाए जाने पर जब ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय एक होकर खुलते हैं, तो उन्हीं के अनुसार भोग पाता है। और यह महान् देव (उदान-प्राण) भोग देनेवाला फिर इच्छा के अधीन नहीं होता, उसके कर्मों के बंधन में, जो प्रारंभ में उसकी भावना से हुआ है, काम करता है, इसलिये चाहता है कि पाऊँ, पर नहीं मिलता, चाहता है कि पियूँ, पर नहीं पाता। इस प्रकार विवश हो जाता है और अपनी भावना में फँसा हुआ अपना ही किया पाता है। यही न्याय है।

(१०९) किंतु वे जो ईश्वरीय रसायन (यज्ञ) और कर्म को आचरण में लाते हैं, उन्हें देवयान-सड़क पर चलना

होता है, देवलोक में जाना होता है, और वे सत्यसकल्प होते हैं। यही पुण्यफल है। ऐसा जाननेवाला वास्तव में द्युलोक का राजकुमार है। इसलिये मेरे भाइयो! समझो। इस क्षणभगुर ससार के जीवन के भरोसे पर व्यर्थ बहुमूल्य जीवन को हाथ से न जाने दो। जहाँ तक हो सके, शास्त्र के अनुकूल होकर पुण्यकर्म में वर्ताव करो, नहीं तो फिर सिवाय शोक के कुछ हाथ न आवेगा।

(११०) निदान, जब इस तरह पहले उत्क्राति होती है, तो फिर अग्निदाह के समय उसका पूर्ण रूप से उठना होता है, और सडकों पर, जैसा कि कर्मकाड में प्रकट किया गया है, गति होती है। इस उत्क्राति और गति का उदाहरण, जिसका हम प्रलय या क्यामत अर्थ करते हैं, ऐसा है जैसा कि एक जोंक जानवर, जहाँ जाना होता है, बढ़कर अपने तन को पसारता है, वाछित तृण पर अगले पैर जमाकर क्रमश पिछले पैर उठाता पहले तिनके को बिलकुल छोड़ देता है, और क्रमानुसार अभीप्सित या अभिलषित तिनके पर जम जाता है। इसी तरह यह जीवात्मा भी उत्क्राति करता है।

(१११) अब यों समझो कि ख़याल (मन) या जो फैलता है, तो विना आश्रय नहीं फैलता है, वरन् प्राण के आश्रय में और प्राण तन के आश्रय में फैलता रहता है। इसलिये पहली उत्क्राति में जब २८

चलना होता है, तो मन और उसके अनुसार प्राण पुरीतका आदि नाड़ियों में फैलता और नाड़ियों से मस्तक के प्राण-प्रयासा-मार्ग (ब्रह्मरंध्र) से निकलता, सूर्य की किरणों के द्वारा सूर्य और देवलोक में देवताओं को सूचित करता उसके लिये इंद्रियों वाला शरीर और भोग का उपाय करता है। फिर पचभूतों की मात्राओं से, जिसमे पानी सबसे प्रथम होता है, और हमने कर्मकाड-प्रकरण में उसका अर्थ चिकनाई और तरलता किया है, लिपटा हुआ। देवयान-सड़क पर चलता नियत समय में क्रमानुसार जोंक की तरह देवलोक में जाता उन्हीं भौतिक मात्राओं से द्युलोक का शरीर बनाता है। और यही हाल दूसरी सड़कों का है।

(११२) हे राजन्! इसका उदाहरण यों है कि जिस तरह एक स्वर्णकार सोने की मात्राओं को लेकर एक रूप से नए रूप में तैयार करता है, कभी मुंदरी से बाला और बाले से मुंदरी। इसी तरह यह जीवात्मा भी उसी भौतिक तरलता से, जो रयि कहलाती है, एक देह को छोड़ता हुआ फिर नई देह बना लेता है।

(११३) इस तरह यह देह छोड़कर पितरों की देह बना लेता है, या गंधर्वों, या देवताओं, या प्रजापतियों, या ब्रह्मा, या अन्य प्रकार की, जिस योनि में कि जाना होता है, बना लेता है। इस तरह पार्थिव वा मृतिकामयी (स्थूल) देह को छोड़ता है, दिव्य देह को धारण करता है,

अप्रकाशमयी को फेंकता है, प्रकाशमयी को पाता है।

(११४) इसलिये निश्चय होता है कि यह सर्वमय है। जब यह जानता है, तो ज्ञानमय होता है, जब यह सोचता है तो मनोमय होता है, जब यह कुछ करता है, तो प्राणमय होता है, जब यह देखता है, तो चक्षुमय होता है, जब यह सुनता है, तो श्रोत्रमय होता है। इसी तरह पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, वरन जो कुछ 'यह' और 'यह' है, सर्वमय होता है।

(११५) क्योंकि जहाँ जाता है, उसी के अनुसार अपनी देह बना लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि इसकी सक्षिप्त किंतु असली तरलता में समस्त संसार की सामग्री विद्यमान है। जहाँ-जहाँ जिस-जिस लोक में इस तरलता में लिपटा जाता है, वहाँ-वहाँ उसी के अनुसार बर्ताव करता उन्हीं में से एक-सा हो जाता है। इसलिये यही सबका स्वामी और यही राजकुमार है, और सब कुछ इसी के भोग और भोग के साधन हैं।

(११६) यद्यपि यह सर्वमय होने के कारण सब में सब कुछ कर सकता है, किंतु न्याय के कारण जैसा उसका आचार है, वैसा ही उसका काम होता है। इसलिये श्रुतियाँ कहती हैं "मिथ्याकारी मिथ्यावादी होता है, साधुकारी साधु होता है, पापकारी पापी होता है।" इसलिये उसका

यही न्याय है कि पुण्यकर्मों से पुण्यलोक और पापकर्मों से पापलोक जाता है। अत बुद्धिमानों ने उसके कर्मों और बुद्धियों (समझों) को ही उसके भोग और भोग के साधनों में प्रथम रक्खा है।

(११७) किंतु वे, जो बुद्धिमानों में बुद्धिमत्तर हैं, या कहते हैं कि उत्क्रांति में लोभ प्रथम है। जैसा लोभ होता है, वैसा ही निश्चय करता है, वैसा ही फिर कर्म करता है, जैसा वह कर्म करता है, वैसा ही पाता है। इसलिये पहले लालच और कामना है, फिर निश्चय, फिर कर्म, फिर फल है। क्योंकि बिना कामना और लालच के जो करता है खेल होता है, जिसका कोई भी फल नहीं, इसलिये लालच में आया संसारी है।

-(११८) हे राजन्! इस विषय हमारे पास वेद का मन्त्र है। वह यह है कि जिसमें यह लालच करता है, कर्मों की सहायता से मृत्यु में उसे पाता है। इसलिये फिर उस लोक से इस लोक में आता है, ताकि फिर कर्म करे। इस प्रकार के मन्त्रों से जाना जाता है कि संसार का आरंभिक कारण लोभ वा कामना है।

(११९) किंतु वह जो लोभ को उखाड़ता है, उसे संसार नहीं है। जो लालची नहीं, वही स्वच्छंद (बेपरवाह) है। और लालच अंत करण की एक अवस्था है, आत्मा का धर्म नहीं। वरन् आत्मा तो क्या लोभ, क्या क्रोध, क्या

संतोष, सब शारीरिक दशाओं का द्रष्टा है जिसको हम पहले ज्योतिस्वरूप, असग सिद्ध कर चुके है। वह जो इस विवेक के कारण क्या शरीर क्या शरीर के धर्म, क्या इन्द्रियाँ क्या इन्द्रियों के धर्म, क्या अत करण क्या अत करण के धर्म, क्या प्राण क्या प्राण के धर्म, सबसे अपने आपको असग पाता है, वही लालची नहीं। यद्यपि अत करण में उसे पाता है, किंतु अपने में नहीं पाता, वही निर्लोभ वा निष्काम है।

(१२०) यदि कोई तपस्या से चाहे कि अंत करण से लोभ उखाड दूँ, तो संभव नहीं कि नदी में से तरग न उठे ; किंतु उस अतरिक्ष (आकाश) में, जो नदी बहती है, तरग नहीं उठती। इसी तरह अत करण में लालच हो भी, तो भी चिदाकाश आत्मा में उसका अस्तित्व नहीं , इस तरह जो जानता है, वही निर्लोभ होता है, जो निर्लोभ होता है, वही निष्काम होता है , जो निष्काम होता है, वही आप्तकाम होता है, और जो आप्तकाम है, वही आत्मकाम है। यही प्रसाद में है। न्याय (अदल) के बंधन में वह नहीं आता, वरन् प्रसाद (फजल) में प्रविष्ट होता है।

(१२१) हे राजन् ! इस विवेक के कारण प्रसाद में आया हुआ ज्ञानी पुरुष यद्यपि देह से देह के काम और इन्द्रियों से इन्द्रियों के काम और प्राणों से प्राणों के काम

देखता, वरन् झूठे अनात्मधर्म स्वप्नवत् आरोपित देखता है, तो उसके सारे काम काम तो नहीं होते, वरन् कामों के चित्र हो जाते हैं। जैसे चित्र भी आकृति तो रखते हैं, जान वा गुण नहीं रखते, इसी तरह उसके वर्ताव वर्ताव का आकार तो रखते हे, किंतु वर्ताव नहीं हो जाते। इसी कारण वह करता हुआ अकर्त्ता है, वह खाता हुआ नही खाता है वह चलता हुआ नहीं चलता।

(१२२) हे राजन्! ऐसा परमहस सन्यासी एक भिखारी-सा मालूम तो होता है, किंतु वास्तव में वह सबका सम्राट् है, कौड़ी नहीं रखता, किंतु सब माल उसी का है, कँगला-सा मालूम होता है, वास्तव में सपन्न (वेपरवाह) है, क्योंकि उसे कुछ प्रलोभ नहीं है, जो सब दुखों का मूल है।

(१२३) हे राजन्! जब तक इसका जीवन है, ऐसा दिखाई देता है। किंतु जब इसके भोग यहाँ के समाप्त होते हैं, तो इसके भी ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय मन में उसी तरह जाते हैं, जैसे संसारी के जाते हैं। और मन प्राणों में एक होता है। किंतु इसके प्राण उस (ससारी) के समान नहीं उठते हैं, वरन् ब्रह्म में लीन होते ब्रह्म हो जाते हैं। यही प्रसाद है, और यही मुक्ति है।

(१२४) इस विषय में हमारे पास वेद के मत्र है। वे यह हैं कि जब इसके सब लोभ, जो हृदय में हैं, इससे

त हो जाते हैं तब यह मर्त्य अमृत होता है, और यहाँ
ह्म पा जाता है। जैसा साँप अपनी केंचुली उतारता है
अपनी बाँबी में फेंकता है, उसके साथ रहता है, किंतु
से संबंध नहीं रखता, इसी तरह यह ज्ञानी भी अपने
शरीर को जब विवेक से फेंकता है, तो यद्यपि साथ
जाता है परंतु कुछ संबंध नहीं रखता।

(१२५) इसलिये हे राजन्! यही ज्ञानी परमहंस शरीर
ता हुआ भी शरीर से अलग होता अमृत, ब्रह्म, प्राणों
ी प्राण, प्रकाशों का भी प्रकाश है। तब राजा ने कहा,
जार गाएँ और देता हूँ, और यह न कहा कि कुछ और
क कहो, वरन् पूर्ण शांति पाकर चुप हुआ। और
बाद में यह दान दिया।

अध्याय पाँचवाँ

(१) ऊपर के आख्यान में मालूम हो चुका है कि लोभ
ाव में संसार का कारण है, और लोभ तप से दब जाता
रखता नहीं। किंतु आत्मा के विवेक से कि "मैं न तो
हूँ, न इंद्रियाँ, न अंतःकरण, वरन् एक स्वयंज्योति
मा हूँ, जिसके उजाले में ये सब व्यापार करते हैं"
कुल उखड़ जाता है। क्योंकि जैसा दीपक भी यद्यपि
ार और व्यापार करनेवालों में बर्ताव का कारण है,

किंतु स्वयं व्यापार नहीं करता, इसी तरह यह आत्म-ज्योति भी समस्त व्यापार और इंद्रियों में यद्यपि कारण है, किंतु स्वयं उनके व्यापार से लेप नहीं पाती।

(२) यही विवेक जब पक्का होता है, तो ऐसे ज्ञानी परमहंस से जो कुछ कार्य हो जाते हैं, उन्हे वह अपने कामों और इन्द्रियों मे देखता है, अपने में नहीं पाता, यद्यपि उसके कार्य दूसरों को उसी के कार्य दिखाई देते हैं, और यह उसी प्रकार का भ्रम होता है जैसा कि बादलों की चाल चंद्रमा मे दूसरों को मालूम देती है, परंतु चद्रमा अपने में वह चाल नहीं देखता।

(३) इसी तरह ज्ञानी परमहंस का भी हाल है कि वह पाप नहीं करता, वरन् पापियों की तरह दिखाई देता है, वह पुण्य नहीं करता, वरन् पुण्यात्माओं की तरह दिखाई देता है। वह तो अकर्त्ता, अभोक्ता है, किंतु सब कुछ कर्त्ता-भोक्ता समझा जाता है। वह जो उसमें पाप देखते हैं, वास्तव में दूसरों के पापों से उसे पापी ठहराते हैं। वह जो उसमें पुण्य का भान करते हैं, वास्तव में दूसरों के पुण्यों से उसे पुण्यवान् पाते हैं। इस तरह वह अपने से भिन्न के पापों और पुण्यों से पापी और पुण्यवान् होता है, क्योंकि पाप तो उसके अंग और इन्द्रियों में है, उसमें नहीं। ऐसे ही पुण्यकार्य उसके अंग और इन्द्रियों में है, उसमें नहीं। इसी कारण श्रुति भगवती कहती है कि आत्मा धर्म-अधर्म दोनों से पृथक् है।

(४) जब यह ज्ञात हुआ कि आत्मा असग या धर्म-अधर्म से अलग है, और अनात्म देह और इन्द्रियों के कर्म, जो उससे पृथक् है, उसमें कल्पित होते है तो यह न्याय है कि दूसरों के पापों से कोई दड नहीं पाता और दूसरों के पुण्यों से कोई पुरस्कार नहीं पा जाता। इसलिये आत्मनेष्ठी परमहस दड और पुरस्कार इन दोनों से परे है, और यही वास्तव में मुक्ति है, और यही जीवन्मुक्ति है।

(५) फिर चूँकि लोभ, क्रोध, काम, पवित्रता, वीरता और क्या आध्यात्मिक उत्कर्ष और अपकर्ष, सब मन या अत करण की दशाएँ और उसी के धर्म है, आत्मा के नहीं। और वह तो मन से अलग, उसी मे प्रतिबिंबित, स्वय-ज्योति प्रकाशों का प्रकाश है, जिसके उजाले में मन इन अवस्थाओं मे बर्ताव करता है। जब कि मन भी आत्मा से जुदा है, तो उसके धर्म भी आत्मा से जुदा है। और लोभ भी मन का धर्म है, तो दूसरे के लालच से वह लालची-सा होता है, किंतु लालची नहीं है। इस तरह विवेक (आत्मज्ञान) से लोभ का मूलोच्छेद होता है। और वह जो तपादि से लोभ को तोड़ते हैं, नि सदेह कम हो जाता है, वरन् यहाँ तक दब जाता है कि दूसरों को दिखाई भी नहीं देता, तो भी उसकी जड, जो मन में है, नहीं उखडती है, जब अवसर मिलता है, तो लोभ के रूप में तरगित होता है।

(६) इसके विरुद्ध इस ज्ञानी परमहस में लोभ

किंतु स्वयं व्यापार नही करता, इसी तरह यह आत्म-ज्योति भी समस्त व्यापार और इंद्रियों मे यद्यपि कारण है, किंतु स्वय उनके व्यापार से लेप नही पाती।

(२) यही विवेक जब पक्का होता है, तो ऐसे ज्ञानी परमहस से जो कुछ कार्य हो जाते हैं, उन्हें वह अपने कामों और इन्द्रियों मे देखता है, अपने में नहीं पाता, यद्यपि उसके कार्य दूसरो को उसी के कार्य दिखाई देते हैं, और यह उसी प्रकार का भ्रम होता है जैसा कि बादलों की चाल चंद्रमा मे दूसरों को मालूम देती है, परंतु चंद्रमा अपने में वह चाल नहीं देखता।

(३) इसी तरह ज्ञानी परमहस का भी हाल है कि वह पाप नहीं करता, वरन् पापियों की तरह दिखाई देता है, वह पुण्य नही करता, वरन् पुण्यात्माओं की तरह दिखाई देता है। वह तो अकर्त्ता, अभोक्ता है, किंतु सब कुछ कर्त्ता-भोक्ता समझा जाता है। वह जो उसमें पाप देखते हैं, वास्तव में दूसरों के पापों से उसे पापी ठहराते हैं। वह जो उसमें पुण्य का भान करते हैं, वास्तव में दूसरों के पुण्यों से उसे पुण्यवान् पाते हैं। इस तरह वह अपने से भिन्न के पापों और पुण्यों से पापी और पुण्यवान् होता है, क्योंकि पाप तो उसके अंग और इंद्रियों में हैं, उसमें नहीं। ऐसे ही पुण्यकार्य उसके अंग और इन्द्रियों में हैं उसमें नहीं। इसी कारण श्रुति भगवती कहती है कि आत्मा धर्म अधर्म दोनों से पृथक् है।

ज्ञानवान् का भी यहाँ झगड़ा हो जाता है। अनजान तो कहता है कि गिलास लाल है, और बुद्धिमान कहता है कि गिलास लाली से निर्लिप्त है, वरन जुदा लाली से यों ही लाल दिखाई देता है।

(६) हम ऊपर के अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं कि आत्मा केवल ज्योति है, जिसमें शारीरिक अंग और इंद्रियाँ व्यवहार करती हैं। यद्यपि उनका व्यवहार आत्म-ज्योति के बिना नहीं हो सकता, तो भी वह ज्योति उनके व्यवहार में सम्मिलित नहीं हो जाती, वरन् जिस तरह संसार का व्यापार सूर्य या दीपक के प्रकाश में होता है, तो भी सूर्य या दीपक उसका कर्त्ता नहीं हो जाता, इसी तरह अंतर्ज्योति आत्म-ज्योति का हाल है।

(१०) किंतु सूर्य या दीपक तो बाह्य ज्योति अर्थात् अनात्म-ज्योति है, इसलिये उसमें दूसरों का व्यापार कल्पित भी नहीं होता, और यह ज्योति अर्थात् आत्म-ज्योति तो उनकी अंतर्ज्योति है, इसलिये उन (इंद्रियों) का बर्ताव उस गिलास और मदिरा के अनुसार, जो ऊपर वर्णन किया गया है, उस ज्योति में अनजान को प्रतीत होता है। और, कुत्ते की तरह, जो काँच के महल में जाता अपनी छाया को भोंकता है, व्यर्थ ज्ञानियों से झगड़ता है।

(११) हम पिछले अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं कि आँख देखती है, कान सुनता है, नाक सूँघती है, जिह्वा

अंतःकरण में तो होता है, आत्मा मे भान नही होता, और उन तपस्वियों की तरह वह वाहर से दवता भी नहीं, वरन् प्रत्यक्ष दिखाई देता है , तो भी वह जुदा धर्म अंत करण का है, आत्मा का नही। परंतु यहाँ (ज्ञानियों में) तो लोभ होता हुआ भी नही है, किंतु वहाँ (तपस्वियों में) नहीं हुआ भी अवश्य है। इसलिये सामान्य लोगो पर यह विषय विरुद्ध हो जाता है कि लोभी को निर्लोभी और निर्लोभी को लोभी जानते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी को कोई नहीं पहचानता, परंतु ब्रह्मज्ञानी की गति ब्रह्मज्ञानी जानता है।

(७) अनजान मनुष्य उसको जो प्रयत्न करने से लोभ दवा लेता है, अच्छा और मुक्त समझते हैं, और उसकी सेवा और शुश्रूषा में लगे रहते हैं। किंतु ज्ञानी में लोभ पाते उसे लालची समझकर ढकेल देते हैं, अच्छा नहीं जानते, वरन् यदि वह अपने साक्षित्व से उन्हें कहता है कि "मैं निर्लोभी हूँ, यह तो देह का धर्म है, कोई दूसरों के पापों से पापी नहीं हो जाता," तो उसे हँसी में उड़ाते हैं और वाचक ज्ञानी ठहराते हैं। इसलिये ज्ञानियों और भक्तों का झगडा हो जाता है।

(८) यदि भाषा जाननेवाला विचार करे तो जान सकता है कि उनका झगडा इस प्रकार का है कि जैसे एक स्फटिक मणि (बिल्लूर) का गिलास यदि लाल मदिरा से भरा हो, तो गिलास भी लाल-सा दिखाई देता है , और अनजान और

की तरंगें हैं, और निःसंदेह यह भी उसी आंतरिक ज्योति अर्थात् आत्म ज्योति के कारण दिल में तरंगें मारते हैं, किंतु दिल की मौजें हैं, कुछ आत्मा में लगावट नहीं पाते। वह तो इन सबका देखनेवाला साक्षी (गवाह) है। कर्मकाण्ड में वह जो साक्षी या गवाह होता है, वह विपक्षी नहीं हो जाता।

(१४) निदान, मनुष्य के अंगों और इन्द्रियों के समस्त व्यापार इस आत्म ज्योति के प्रकाश में अथवा यों कहो कि साक्ष्य (गवाही) में होते हैं, तो भी वह उनका कर्त्ता नहीं हो जाता, ज्यों का त्यों पवित्र असंगात्मा रहता है। इसी कारण से याज्ञवल्क्य मुनि ने राजा को जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में दूसरे के व्यापारों और गुणों को उसमें अन्वय-व्यतिरेक की रीति से आत्मज्ञान प्रदान किया।

(१५) जिसमें जो गुण होता है, उससे अलग नहीं होता। जाग्रत् में जाग्रत् के व्यापार हैं, यद्यपि जाग्रत् में वह आत्मा में दिखाई देते हैं, किंतु स्वप्न में जाग्रत् के व्यापार तो वहाँ रह जाते हैं और स्वप्न के व्यापार उसमें कल्पित होते हैं। इसी तरह स्वप्न के व्यापार जाग्रत् में नहीं आते। तो ज्ञात हुआ कि जाग्रत् और स्वप्न के व्यापार उन अंगों और इन्द्रियों के व्यापार हैं, जो सब दिशाओं में आत्मा में काम करते हैं। जैसे गिलास में लाल मदिरा के भरने से गिलास लाल होता है और फिर

चखती है, वाक् बोलता है, हाथ पकड़ता है, पाँव चलता है, और यह सब व्यापार उनका अंतर्ज्योतिस्वरूप आत्मा के कारण होता है। जैसा कि लेखक भी लेखन-कर्म दीपक में करता है, परतु जिस तरह लेखन-कर्म का सबंध दीपक में नहीं होता, उसी तरह क्या आँख, क्या कान, क्या नाक, क्या ज़ुबान, क्या वाणी, क्या हाथ, क्या पाँव का वर्ताव आत्मा का वर्ताव नहीं हो जाता, वरन् वह तो देखता हुआ नहीं देखता, सुनता हुआ नहीं सुनता, वह बोलता हुआ नही बोलता, वह पकड़ता हुआ नही पकड़ता, वह चलता हुआ नहीं चलता, जैसे कि वह गिलास लाल हुआ भी लाल नहीं होता।

(१२) फिर भूख-प्यास भी प्राणों का गुण है, क्योंकि यही अन्न पचानेवाले हैं। जब देह अपनी गति से ढीला होता (वा पिघलता) है, तो उसके बदले वह (प्राण) अन्न और जल की आवश्यकता पाते हैं, और उसे खाकर पिघलाहट का बदल करते हैं। यद्यपि यह प्राणों का वर्ताव भी उसी आत्म-ज्योति के प्रकाश में होता है, किंतु उसी तरह वह *आत्म-ज्योति में प्रवेश नहीं पाते, जैसे मदिरा की* लाली गिलास में, वरन् भूख में भी तृप्ति और प्यास में भी तृषा रहित (अवस्था) है।

(१३) इसी तरह शोक, लोभ, क्रोध कृपा, काम, पवित्रता, खेद, प्रेम, आनद, दु ख, परिश्रम, शत्रुता, सब दिल

आत्मनिष्ठ ज्ञानवान पुरुष एक एक के व्यापार और उनके पारस्परिक संबंध केवल देखता और दर्शक रहता है, तो उनके व्यापार से संस्पर्श नहीं पाता। इसी कारण लोभ भी, जो संसार का मूल है, एक प्रकार का संकल्प है, जो बुद्धि के अधीन है। और, ये सब क्या बुद्धि, क्या लोभ, क्या संकल्प, क्या अहंकार, अंतःकरण के धर्म और उसी की तरंगें हैं। इसी तरह इस ज्ञान के कारण लोभ की जड़ उखड़ती है, तप और काय-क्लेश से नहीं। इसी कारण याज्ञवल्क्य ने संकेत किया है कि वह जो लोभ की जड़ उखाड़ते हैं, उन्हें संसार नहीं। और लोभ को वही उखाड़ते हैं, जो आत्मा को जानते हैं।

(१८) इस तरह सिद्ध हुआ कि आत्मा के ज्ञान से लोभ उखड़ता है, बल्कि क्या लोभ, क्या अहंकार, क्या क्रोध, क्या अपकर्ष, क्या उत्कर्ष, सबके सब उखड़ जाते हैं, क्योंकि वह तो इन सबके अभिनय का द्रष्टा होता है, और दर्शक स्वयं अभिनय नहीं हो जाता। इसी पर श्रुतियाँ समर्थन करती हैं कि "न्याय से निकलकर वैसा ज्ञानी प्रसाद में प्रविष्ट होता है, पुण्य-पाप उसे तपाते नहीं। न तो वह पुण्यों से बढ़ता है, न वह पापों से घटता है। वह ज्यों का त्यों दर्शक रहता है।"

(१९) कुछ अनजान यहाँ यह आपत्ति (शंका) करते हैं कि इस ज्ञान में यद्यपि आत्मा असंग, द्रष्टा और साक्षी

मदिरा निकालकर दूध भर दें, तो सफेद दिखाई देता है

(१६) किंतु जब इस गिलास को मदिरा या दुग्ध से न भरें, वरन् खाली कर दें, तो न लाल होता है न सफेद इसी तरह सुषुप्ति में सारे व्यापारों का आत्मा मे अभाव होता है। इससे ज्ञात हुआ कि आत्मा न तो कुछ जाग्रत् में करता है न कुछ स्वप्न में, वरन् जाग्रत् में अन्य अंगों के व्यापार और स्वप्न में अन्य इंद्रियों के व्यापारों की उसमें भ्रांति होती है। किंतु देखना उसका स्वाभाविक गुण है, क्योंकि जाग्रत् के व्यापार जाग्रत् में देखता है, और स्वप्न के व्यापार स्वप्न में, और सुषुप्ति में सबका अभाव और उनके व्यापार का भी अभाव देखता है , इसलिये मालूम हुआ कि देखना उसका अपना स्वभाव (गुण) है । और यह स्पष्ट है कि वह जो स्वयं नहीं करता, वरन देखता रहता है, वास्तव में साक्षी (गवाह) है, और गवाह पर कुछ दोष नहीं आता।

(१७) इस तरह ज्ञानी भी जाग्रत् में आया हुआ जो कुछ अपने अंगों के व्यापार देखता है, उनमें साक्षी होकर रहता है। बुद्धि जब भले और बुरे का विचार करती है, तो अपने अनुसार संकल्प उठता है, फिर संकल्प के अनुसार प्रकृति उठती है, प्रकृति के अधीन अंग हिलते व्यापार करते हैं, और अहंकार उनको अपना काम मानता है, क्योंकि उसका यही गुण है। किंतु जब

बड़ी आयु, बड़ी मजदूरी की आवश्यकता है और फिर भी नित्य नहीं। ज्ञान में न तो कुछ मजदूरी, न परिश्रम है, वरन् केवल आत्मा का इस प्रकार जानना है। और वही सफलता है, जो न्याय (कर्ममार्ग) के साधन में कठिनता से मिलती है, और साथ ही विरुद्ध उसके वह नित्य है। इसी कारण याज्ञवल्क्य मुनि ने इस पर संकेत किया है कि इस ज्ञानी के प्राण फिर नहीं उठते, वरन ब्रह्म हो जाते हैं।

(२१) अब हम भाषाविदों को इस रहस्य के प्रकट करने के लिये स्पष्ट कहते हैं कि ये बातें तर्क से भी सिद्ध हैं और वेद से भी सिद्ध हैं। इसलिये हम पहले इस भेद की स्त्यता में कारण बतलाते हैं और फिर वेद की प्रतिज्ञा की श्रुतियों का भी अनुवाद करते हैं ताकि उनकी आपत्ति (शका) हमारे शिष्यों में स्थान न पावे।

(२२) इस आपत्ति के उत्तर में यों समझो कि आत्मा का सबध अत करण में प्रातिमय है, और उसके प्रतिबिंब का सबध अत करण में महोत्पत्ति का है। अत करण का सबध शरीर के साथ कर्मों के भोग के कारण से है, क्योंकि जब तक उसके कर्मभोग है, तब तक अत करण और अध्यात्म-इन्द्रियों का देह से मिलाप है। जब उसके यहाँ के भोग समाप्त होते है, और दूसरे कर्म नूतन भोग देने के लिये तैयार होते हैं, तो ये इन्द्रियाँ इस देह से सबध तोड देती

रहता है, तथापि जिस तरह अहंकार यहाँ अभिमान करता है, उसी तरह यह अंत (परलोक) में भी दंड पाता है। तो यह आपत्ति उनकी ठीक नहीं। क्योंकि भेद की बात यहाँ यह है कि ऐसा ज्ञानी जब तक जीवित है, उसके अंग और इंद्रियाँ चित्रों के समान हो जाती हैं। और मृत्यु में ये सब उसी ज्योति में उसी प्रकार लय हो जाती हैं, तथा आधिदैविक इंद्रियाँ उसमें उसी तरह भर जाती हैं, जिस तरह एक जगह की वायु गलती है, तो समस्त वायु वहाँ आ जाती है। इसलिये उसकी उत्क्रांति या प्रलय नहीं होती, वरन् ईश्वरीय माया के व्यापार उसमें उसी तरह कल्पित होते हैं, जैसे जीवन में यह अध्यात्म-इंद्रियों के व्यापार कल्पित होते हैं। इसलिये जिस तरह यहाँ अपने से भिन्न परिच्छिन्न इंद्रियों के व्यापार से वही 'कर्त्ता' कल्पित होता है, उसी तरह ईश्वर के काम उसके काम हो जाते हैं। और यही पारलौकिक विजय है, जो मुक्त मिलती है। और इसी कारण से यह प्रसाद है, जो न्याय अर्थात् कर्ममार्ग से कठिनतापूर्वक मिलता है। यदि उससे मिलता भी है, तो वह दूर हो जाता है।

(२०) क्योंकि जो बनाया जाता है, वह अवश्य नाशवान् होता है। और आत्मविद्या में तो जानना है, बनाना नहीं। इसके कारण से जो यह विजय है, अविनाशी है। और न्याय अर्थात् कर्ममार्ग में बड़ा परिश्रम, बड़ा समय,

आत्म शब्द से वेदों में पढ़ा जाता है, और वही ब्रह्म है) भान होता है। यही सबंध भ्रांतिमय कहा जाता है।

(२६) और यह स्पष्ट है कि दर्पण में जो अपना मुख दिखाई देता है, उसमें एकता का सबंध होता है और दर्पण के हिलने से प्रतिबिंब भी हिलता है, और बिंब ज्यों का त्यों स्थिर रहता है तो भी बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि मै या मेरा मुख नहीं हिलता, वरन शीशा हिलता है, और अनजान बच्चा खयाल करता है कि मै हिलता हूँ। इसी तरह अहकार और अत करण के बर्ताव से आत्मा का प्रतिबिंब भी बर्ताव करता दिखाई देता है, किंतु ज्ञानी यह निश्चय करता है कि मै नहीं बर्ताव करता, वरन आराम में हूँ, और मूर्ख दु ख की मनोवृत्तियों मे दु खी और सुख की मनोवृत्तियों में सुखी का भान करता दु ख-सुख पाता है।

(२७) ज्ञान तो भ्रांति को दूर करता है, वह न तो अत करण को दूर करता है और न अत करण की वृत्तियों को, एव न देह को दूर करता है और न कर्मों को। जब इस प्रकार के ज्ञान से, जो हमने स्पष्ट रीति से लिखा है, भ्रांति दूर होती है, तो क्या अत करण और क्या अत करण की वृत्तियाँ सब ज्यों की त्यों चलती हैं, और प्रारब्धकर्म भी ज्यो के त्यों काम करते और भोग देते हैं। परतु ज्ञानी उस बुद्धिमान् की तरह जो शीशे में मुख देखता है, उनमें बर्ताव देखता हुआ आप ज्यों का त्यों आराम में स्थिर रहता है,

हैं, दूसरी योनि के देह से संबंधित हो जाती हैं, और वहाँ के भोग पा जाती हैं।

(२३) किंतु आत्मा का प्रतिबिंब जो अंतःकरण में पड़ता है, उसका संबंध अंतःकरण से कर्मों के कारण से नहीं, वरन् सहोत्पत्ति का है। क्योंकि जब अंतःकरण उत्पन्न होता है, उसी समय उसमें आत्मा का प्रकाश (प्रतिबिंब) टपकता है, जिस तरह शीशे की पालिश के समय पालिश करनेवाले का प्रतिबिंब साथ ही पड़ता है।

(२४) साथ ही इसके प्रतिदिन सुषुप्ति में क्या मन और क्या मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। वहाँ न तो लोभ दिखाई देता है, न क्रोध, न काम, न अहंकार, न तू, न मैं, वरन् सबका अभाव और विस्मृति (बेख़बरी) दिखाई देती है। किंतु फिर जाग्रत् या स्वप्न में यह मन और मनोवृत्तियाँ नई उत्पन्न हो जाती हैं, और आत्मा का प्रतिबिंब भी साथ ही उत्पन्न होता, उन्हें प्रकाशित करता है, अहंकार के संबंध से उसमें और देह में अहंता की भ्रांति पाता है। इसलिये प्रतिबिंब का संबंध अंतःकरण से सहोत्पत्ति सिद्ध होता है।

(२५) चूँकि प्रतिबिंब और बिंब में एकता का संबंध होता है, इसलिये भ्रांति के कारण यह प्रतिबिंब बिंब में है, जो वास्तव में मनुष्य का अहंभाव है, और वही

आत्म शब्द से वेदों में पढ़ा जाता है, और वही ब्रह्म
भान होता है। यही संबंध भ्रांतिमय कहा जाता है।

(२६) और यह स्पष्ट है कि दर्पण में जो अपना
दिखाई देता है, उसमें एकता का संबंध होता है, और दर्प
हिलने से प्रतिबिंब भी हिलता है, और बिंब ज्यों का
स्थिर रहता है, तो भी बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि
या मेरा मुख नहीं हिलता, वरन् शीशा हिलता है,
अनजान बच्चा ख्याल करता है कि मैं हिलता हूँ।
तरह अहंकार और अंतःकरण के बर्ताव से आत्मा
प्रतिबिंब भी बर्ताव करता दिखाई देता है, किंतु ज्ञानी
निश्चय करता है कि मैं नहीं बर्ताव करता, वरन आराम
हूँ, और मूर्ख दुःख की मनोवृत्तियों में दुःखी और सुख
मनोवृत्तियों में सुखी का भान करता दुःख सुख पाता है

(२७) ज्ञान तो भ्रांति को दूर करता है, वह न
अंतःकरण को दूर करता है और न अंतःकरण की वृत्ति
को, एवं न देह को दूर करता है और न कर्मों को।
इस प्रकार के ज्ञान से, जो हमने स्पष्ट रीति से लिखा
भ्रांति दूर होती है, तो क्या अंतःकरण और क्या अंतःकर
की वृत्तियाँ सब ज्यों की त्यों चलती हैं, और प्रारब्धकर्म
ज्यों के त्यों काम करते और भोग देते हैं। परन्तु ज्ञानी उ
बुद्धिमान् की तरह जो शीशे में मुख देखता है, उनमें बर्ता
देखता हुआ आप ज्यों का त्यों आराम में स्थिर रहता है

और मूढ़ उन्हीं वृत्तियों के साथ एक हुआ आप वर्ताव करता-सा हो जाता है।

(२८) यहाँ रहस्य की बात एक और यह है कि जब तक यह भ्रांति और अज्ञान है, तब तक यद्यपि सुषुप्ति में अंगों की थकावट के कारण अंतःकरण और अंतःकरण की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तो भी वह अज्ञान में, जो उनका उपादान है, प्रविष्ट होती हैं, और फिर भोग के लिये कर्मों के कारण जाग्रत् में उठती हैं। पर जब यहाँ के भोग के कर्म समाप्त होते हैं, और दूसरी योनि के भोग के कर्म उदय होते हैं, तो इस देह से व्यावहारिक संबंध टूट जाता है और दूसरे देह से संबंध पा जाता है। यही संसार है। इसलिये ससार का मूल लोभ और अज्ञान है।

(२६) किंतु ज्ञानी अपनी वास्तविक पहचान के कारण अज्ञान और लोभ को दूर कर देता है। उसके यहाँ के भोग और अत करण की वृत्तियाँ भी मूढ़ के समान जीवन तक वर्ताव करती हैं, जिस तरह जड़ से काटा हुआ वृक्ष भी कई नियत दिनों तक हरा-भरा रहता है। किंतु जब समय आता है, तो जड़ से कटा वृक्ष जैसे अपने आप सूख जाता है, उसी तरह यहाँ के भोग जब समाप्त होते हैं, तो मृत्यु में ज्ञानी के प्राण और मनोवृत्तियाँ आत्मा में लय हो जाती हैं, बाहर नहीं उठतीं, और ईश्वर के प्राण और मनोवृत्तियों में प्रविष्ट हो जाती हैं।

(३०) वह वृक्ष जो जड से नहीं काटा जाता, वरन् ऊपर से छॉट दिया जाता है, फिर अंकुर लाता है। इसी तरह आत्मा का काल्पनिक वा अज्ञान-जन्य संबंध, जो संसार का मूल है, जब दूर नहीं होता, तो भोग के समाप्त होने के कारण यद्यपि छॉट की तरह देह और अंग दूर हो जाते हैं, किंतु मूल से तो वह स्थिर है, इसलिये फिर दूसरी योनि के देह और अंगों की अंकुरता ले आता है, और जन्म पाता है।

(३१) ज्ञानी के देह, अंतःकरण और अंतःकरण की वृत्तियॉ तो जड से कट जाती हैं, और मृत्यु में ये प्राण आत्मा में लय हो जाते हैं, जैसे तपे हुए तवे पर पानी की बूँदें जल जाती हैं, फिर दुबारा उसी तरह अंकुर नहीं पाते, जिस तरह जड से काटा हुआ वृक्ष फिर अंकुर नहीं लाता। और यही उसकी मुक्ति है।

(३२) यहॉ एक और भी शंका उठ आती है कि जब ज्ञानी की भ्रांति और अज्ञानता ज्ञान से दूर हो जाती है, तो जिस तरह मृत्यु में उनका नाश होता है, सुषुप्ति में भी प्रति-दिन नाश होता है। इस तरह तो फिर सुषुप्ति से भी उसे नहीं उठना चाहिए। और ज्ञानी भी मूढ़ की तरह सोता-जागता-सा देखते हैं। और जब कि ज्ञानी की मनोवृत्तियॉ भी सुषुप्ति में नाश हो जाती हैं और उठना है तो कोई कारण नहीं कि मृत्यु के बाद फिर न उठें।

(३३) इसका उत्तर यह है कि निद्रा में ज्ञानेंद्रियाँ और मन बेकार होते है, और अपने गृह विशेष में, जो प्राण है, लय होते हैं। अत आँख आँख में जो प्राण है, उसमें बेकार (निष्क्रिय) हुई लय हो जाती है, और मन हृदय कमल के उस आवरण में, जो उसके ऊपर परदे के समान लिपटा है, बेकार हुआ अपने प्राण-रूप हृदय-कमल में लय होता है, और इस हृदय-कमल के आवरण को संस्कृत में पुरीतका नाड़ी बोलते हैं। क्योंकि यह आवरण बारीक नाड़ियों और अंगों से बनाया गया नाड़ी के समान हृदय-कमल पर लिपटता है, और चेतन-आत्मा का प्रतिबिंब, हृदय के भीतर जो आकाश है, उसमें बिंब से, जो ब्रह्म है, एक हो जाता है। किंतु प्राण, जो जीवन-शक्तियाँ हैं, व्यर्थ या नाश नहीं होतें, पूर्ववत् काम करते हैं। यही कारण है कि सोता हुआ तो साँस लेता है, मृतक साँस नहीं लेता।

(३४) जब कि नींद में ज्ञानेंद्रियाँ और अंत करण प्राणों में बेकार हुए उसी तरह लय होते हैं, जिस तरह सूर्य की किरणें अस्त-काल में सूर्य मे लय होती हैं, जाग्रत् या स्वप्न मे उसी तरह निकल आती हैं जैसा कि सूर्य के उदय में फिर किरणें निकल आती हैं। इस कारण से प्राणों के निकलने या लय होने तक मूढ़ और ज्ञानी में जाग्रत् नींद का वर्ताव होना रहता है। जब केवल ज्ञानेंद्रिय बेकार होते हैं, और मन अभी व्यापार करता रहता है, तो स्वप्न

होता है। जब क्या ज्ञानेंद्रियाँ क्या मन दोनों निष्क्रिय और लय होते हैं, तो सुषुप्ति होती है। और जब प्राण निकल जाता है या आत्मा में लय हो जाता है, तो मृत्यु होती है।

(३५) किंतु मूढ़ के प्राणों की जड़ तो अज्ञान और भ्रांति से स्थिर होती है, इसलिये (उसका) प्राण आत्मा में लय नहीं होता, वरन् उठता और निकलता अपने कर्मों के अनुसार भोगों के लिये नूतन शरीर बनाता उससे कर्मजन्य संबंध पा जाता है, जो नया जन्म है। और ज्ञानी के प्राण की जड़ अविद्या और लोभ की तह से उखड़ जाती है, फिर यहाँ के भोगों के समाप्त होने से छिन्न मूल प्राण उठता या निकलता नहीं, वरन् आत्मा में लय हो जाता है, और मुक्ति होती है। इसलिये उसकी ज्ञानेंद्रियाँ और मनोवृत्तियाँ नींद में तो फिर निकलती हैं, मृत्यु में नहीं निकलतीं।

(३६) जब यह दैवी विधान (कुदरती नियम) ज्ञात हुआ, तो सिद्ध हो सकता है कि ज्ञानी और अज्ञानी के बर्ताव जीवन-भर एक समान होते हैं। जीवन में इतनी ही मुक्ति है कि वह अंतःकरण की दुःख सुखरूप वृत्तियाँ चलती देखता अपने में नहीं देखता, वरन् अपने निजी विश्राम में रहता है, और अज्ञानी अपने आत्मा तथा मनोवृत्तियों के अविवेक के कारण मन की दुःख सुखरूप वृत्तियों में दुःखी और सुखी होता है। यद्यपि जीवन में

जैसा अज्ञानी का अहंकार उन (वृत्तियों) के वर्तांव को अपने में मानता है, वैसा संक्षिप्त रूप से ज्ञानी का अहंकार भी उनका वर्तांव अपने में मानता है। तो भी इस (अज्ञानी) को अहंकार में अहता की धारणा है, और उस ज्ञानी को उसमें अहता की धारणा नहीं, वरन आत्मा मे जो आनंदस्वरूप है, अहंभाव की धारणा है। इसी धारणा के कारण वह "मै ब्रह्म हूँ" निश्चय करता है, और यही आत्म-ज्ञान है, दु ख-सुख से सबंध नहीं पाता।

(३७) तो भी अहंकार जब तक है, उन (दु ख-सुख रूप वृत्तियों) को अपने में मानता हुआ दु'ख के दूर करने में और सुख के पाने में बुद्धि-रूप मंत्री द्वारा तदबीर करता है, और संकल्प तथा प्रकृति से अंगों को हिलाता है। और यहाँ के भोग के कर्म उसके अहकार, बुद्धि, संकल्प, लोभ, प्रकृति और अंगों की गति के कारण होते है, और आत्मा तो दीपक की भाँति उनके वर्तांव मे प्रकाश और साक्ष्य का प्रसाद देता है। किंतु अज्ञानी अहंकार में अहंता की भ्रांतिमयी धारणा रखता हुआ स्वयं अभिनय और कर्मी हो जाता है, और यह ज्ञानी अहकार में अनात्म धारणा और आत्मा में अहंता की धारणा रखता है, इस समस्त दृश्य का द्रष्टा और साक्षी रहता है, उनके वर्तांव या कर्मों मे सबध नहीं पाता।

(३८) नि'संदेह दूसरों की दृष्टि में ज्ञानी-अज्ञानी का वर्तांव एक समान है। उसका कारण यह है कि जैसा इस

(अज्ञानी) का अहंकार उन (वृत्तियों) के वर्ताव को अपने में मानता है, ऐसा ही उस (ज्ञानी) का अहंकार भी उन वृत्तियों के वर्ताव को अपने में मानता है, और जिस तरह इसका अहंकार भी अपने लाभ के लिये बुद्धि के द्वारा तदबीर करता है, ऐसा उसका अहंकार भी बुद्धि के द्वारा शारीरिक लाभ के लिये तदबीरें करता है, और इसी कारण से क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी संसार में अन्य के पापों से अपराधी होकर राजा से समान दंड पाते हैं, किंतु अज्ञानी तो परलोक में भी अपनी करतूतों का बदला पाता है, क्योंकि उसका अहंकार तो दूसरे जन्म में फिर उठता है और पहली करनी का बदला पाता है, परंतु ज्ञानी के प्राण तो यहाँ ही लय हो जाते हैं और अहंकार भी लय होता है, फिर नहीं उठता। इसी कारण उसके अपराध क्षमा होते हैं और अज्ञानी क्षमा नहीं होता।

(३६) संसार के राजा भी जो मूर्ख हैं और इस भेद को नहीं जानते, वह संसार में प्रत्यक्ष पापों के कारण ज्ञानी और अज्ञानी को समान दंड देते हैं। किंतु वे राजे जो इस भेद को जानते हैं और यह भी जानते हैं कि ज्ञानी से सिवा भूल या प्रमाद और कर्मों के भोग के कारण से ऐसा काम नहीं हो सकता, हलका दंड देते हैं, अज्ञानी के बराबर नहीं, ताकि वह प्रमाद में न रहे और संसार का प्रबंध खराब न हो जाय, जैसा कि मनुस्मृति में तत्त्वविद् ब्राह्मणों का दंड

देहाध्यासी शूद्रों की अपेक्षा स्वल्प निर्धारित हुआ है।

(४०) क्या भाषाविद् नहीं जान सकता कि जो बुद्धिमान् भूल से पाप करता है, उसको धिक्कारना उतना ही पर्याप्त है जितना कि उस अज्ञानी को फाँसी देना, जो कि जानकर पाप करता है। वरन् ज्ञानी के अपराध में तो उसे "वाह ! धन्य है आपकी बुद्धि" का वचन पर्याप्त (काफी) है कि जिस पर सचेत होता उससे बचता है, मूर्खों को तो बार-बार कैद में देते हैं, फिर भी चोरियाँ करते हैं।

(४१) वर्तमान राज्य-विधान के द्वारा जो एक समान दंड पाते हैं और पिछले मनु के विधान पर आक्षेप करते हैं इस भेद के न जानने के कारण से है। प्रथम तो ज्ञानी पाप में ग्रस्त नहीं होता, और यदि भूल से पाप करता भी है, तो यद्यपि संसार में दंड के योग्य है, तथापि परलोक में क्षमा है। वरन् जिस तरह उसके पाप मुआफ हैं, उसी तरह उसके पुण्य भी निष्प्रयोजन हैं, क्योंकि पुण्यों का फल भी तो अहंकार पाता है, और वह आत्मा में लय हुआ दुबारा उठता नहीं, फिर फल किसको मिले। इसलिये क्या भली, क्या बुरी जो कुछ उसकी करतूतें हैं, उसके निकट सब विलास (खेल) है, और वह सबसे मुआफ है। और वास्तव में ज्ञानी निष्पाप है। दूसरा तो कोई भी भला (निरपराध) नहीं, सबके सब अपराधी हैं, क्योंकि पापों का मूल वास्तव में लोभ है और लोभ जड़ से बिना आत्म-ज्ञान के उखड़ता

नहीं। और अंतरिक्ष से धरतीपर्यंत लोभ से खाली नहीं। इसलिये सब पापिष्ठ हैं और कोई मुआफ नहीं। आत्मा का जाननेवाला वास्तव में निरपराध और मुआफ है।

(४२) ज्ञानी अपनी करतूतों और पापों से तो मुआफ है, प्रसाद (फजल) उस पर यह है कि अपने कर्मों और प्राणों से मुक्ति पाकर ईश्वरीय काम उसे मुफ्त मिल जाते हैं। भलाई करनेवालों को तो मजदूरी का लाभ (फल) मिलता है, जितना पुण्य करते हैं, उतने ही परलोक के भोग मिलते हैं। परंतु मजदूर और गुलाम घर का मालिक नहीं होता, और न मजदूर और गुलाम अनंत समय तक घर में रहता है, वरन् जब मजदूरी या चाकरी समाप्त हुई, तो ढकेलकर घर से निकाल दिया जाता है, इसलिये मूर्ख यदि भलाई और पुण्य बड़े तपों से करता है, तो पितृयाण सड़क पर चलता हुआ नियत समय तक स्वर्गीय भोग पाता है, स्वामी की तरह फिर भी स्वेच्छाचारी नहीं होता, और भोगों के समाप्त होने पर ढकेल दिया जाता है।

(४३) ज्ञानी तो वास्तव में घर का स्वामी पूर्णस्वाधीन है, ईश्वर का भी आत्मा है। क्योंकि जब मृत्यु में उसकी एक-एक मनोवृत्तियाँ और प्राण उसके आत्मा में लीन या शोषित या विलीन होते हैं, तो ईश्वर की समस्त मनो अथवा मायावृत्तियाँ और प्राण उसके बदले उसी तरह उसमें आ प्रविष्ट होते हैं जैसा कि एक स्थान की वायु की

विलीनता में बाहर की वायु बदले में मुफ्त आ जाती है। और उन माया अथवा मनोवृत्तियों और प्राणवृत्तियों का महल (अधिष्ठान) हुआ यह ज्ञानी उसी तरह बिंब होता है, जैसा कि जीवन में अपनी एक-एक मनोवृत्तियों की दृष्टि से बिंब था।

(४४) फिर चूँकि प्रतिबिंब और अंतःकरण का पारस्परिक संबंध सहोत्पत्ति का वर्णन कर चुके हैं, जब मायावृत्तियाँ और प्राणवृत्तियाँ ईश्वर की इनमें भरती हैं तो उसी का प्रतिबिंब मायावृत्तियों और प्राणवृत्तियों में प्रकट हुआ वास्तव में ईश्वर है। और ईश्वर के संकल्प उसी के संकल्प कल्पित हो जाते हैं, और ईश्वर का अहंकार उसी का अहंकार हो जाता है। और, जिस तरह वहाँ जीवन में उसके व्यष्टि अहंकार, बुद्धि, संकल्प, शक्तियाँ और अंग काम करते हैं, उसी तरह उसके समष्टि अहंकार, ईश्वरीय विचार या बुद्धि, अनादि संकल्प और ईश्वरीय शक्तियाँ उसमें बर्ताव करती हैं। और वह अपने स्वरूप में नित्य मुक्त, असंग-आत्मा रहता है। स्रष्टा, विधाता, हर्ता-कर्त्ता होता है, और पूर्ण स्वाधीन हो जाता है।

(४५) इस ज्ञानी की उपमा जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति में यों है, जैसा कि एक राजपुत्र बड़ा बुद्धिमान् पहले छोटा-सा राज्य पाकर एक नियम बना देता है, और बड़े-बड़े योग्य सुशिक्षित मनसबदार और इलाकेदार नियत

करता है, और स्वयं निश्चिंत होकर आराम करता केवल उनके कामों की देख-भाल करता है, स्वयं कुछ नहीं करता, वरन् आराम करता है, इसी तरह यह ज्ञानी भी पहले इस मानव-पद की सक्षिप्त राजधानी में अपने आत्मा को असंग और पवित्र जानता हुआ क्या अहंकार, क्या लोभ, क्या संकल्प, क्या प्रकृति, क्या अंग, क्या ज्ञानेंद्रियाँ और क्या कर्मेंद्रियाँ, सबसे अलग, असंग, विवेक करके, देह से न्यारा होकर उनका द्रष्टा रहता है।

(४६) उसकी दृष्टि और निरीक्षणता में अहंकार तो एक बड़ा महामंत्री, प्रत्येक काम का जिम्मेदार और भलाई-बुराई का कर्त्ता है, और उसे अपने मे मानता है, और बुद्धि उसकी मंत्री भले-बुरे की चिंता करती उसे जतलाती है कि इसमें तुझे लाभ है, उसमें तुझे हानि है। और मन उसे प्रलोभन देता है, पुण्य-पाप कुछ नहीं देखता। यही जानता है कि देह की जिस तरह रक्षा हो सके, करनी चाहिए। और चित्त अगले-पिछले इतिहासों को याद दिलाता है कि इससे यों हुआ था, उससे यों हुआ था। और चिंता उसमें परिणाम निकालती है कि यदि अब भी यों करोगे तो यही परिणाम निकलेगा।

(४७) इस प्रकार जब वृत्तियों की कौंसिल होकर अहंकार (प्रेसिडेंट) महामंत्री के साथ सहमत होता है, तो फिर संकल्प उठता है, और उसके बाद बड़ा जनरल, प्रकृति,

जिसके बंधन में सब अंग हैं, गति देता है, और हाथ-पाँव उसी तरह काम करते हैं। आँखें यद्यपि देखती हैं, कान यद्यपि बिना संकल्प सुनते हैं, तो भी जब ऊपर की कौंसिल में निर्णय हो जाता है कि यह देखने के योग्य है, यह देखना उचित नहीं, या यह सुनने योग्य है, यह नहीं सुनना, तो फिर ये भी प्रकृति के अधीन उसी तरह वर्ताव करते हैं, और आत्मा द्युलोक का राजकुमार उनको अपने आराम में देखता रहता है। उसी की दृष्टि में ये सब वर्ताव करते हैं।

(४८) जब ये समस्त (अंग) व्यापार में थकावट पा जाते हैं और थके-से हो जाते हैं, तो ज्ञानेंद्रियाँ उपराम (बेकार) होतीं, अपने-अपने गोलक में, जैसे आँख आँख में, नाक नाक में, कान कान में और उसी तरह प्राण प्राण में लय हो जाते हैं, जिस तरह सूर्य के अस्त में सूर्य की किरणें लय हो जाती हैं, या अग्नि की ज्वालायें पानी के कारण अग्नि में लय हो जाती हैं।

(४९) यह प्राण एक बड़ा मनसबदार और इस छोटे-से राज्य का रक्षक है, उन्हें भोजन पहुँचाता और वेतन बाँटता है, क्या जाग्रत्, क्या निद्रा सब दशाओं में मृत्युपर्यंत उनकी नियत आजीविका और वेतन हर समय पहुँचाता रहता है, और दिन-रात नाक-मुँह और रोमकूप के द्वारा श्वास लेता रहता है। किंतु जब यह ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ

बेकार होती हैं, तो कौंसिल के मेंबर पूर्ववत् काम करते हैं और उक्त विचित्र दृश्यों और अनुभवों को स्मरणशक्ति के कार्यालय से अहंकार मंत्री के आगे उपस्थित करते हैं, वरन् धरती और आकाश तथा जो कुछ उसमें है, सबका सब दिखाते हैं। यही स्वप्नराज्य है, किंतु जब कौंसिल के मेम्बर भी थकान पाते हैं, तो सबके सब उस हृदय-कमल के आवरण में उसी तरह बेकार (निष्क्रिय) और लीन हो जाते हैं जैसे कि कर्मेंद्रियाँ और ज्ञानेंद्रियाँ। और यह राजकुमार अपने पिता विश्व-सम्राट् की गोद में, जो हृदयाकाश-रूप सिंहासन पर विराजमान है, जा बैठता है, और उससे मेल पाता है।

(४०) इस मिलाप में प्राण पूर्ववत् राजधानी की सेवा करता है और रक्षा रखता है। जब यह अहंकार कौंसिल के सहित हृदय के आवरण से निकलता-फैलता है और मस्तिष्क में आ जाता है, तो क्या ज्ञानेंद्रियाँ और क्या कर्मेंद्रियाँ झटपट निकलकर अपने अपने मकानों में व्यापार के लिये तैयार हुई काम आरंभ करती हैं। और विश्व-राजकुमार पिता की गोद से प्रतिबिंब की भाँति, पहले अहंकार में, फिर बुद्धि में, फिर चित्त में, फिर आँख नाक कान में आकर उनकी सुरक्षा के लिये पिता से मिला हुआ रक्षक होता है। और पूर्ववत् अपने खास आराम में, उनके व्यापार से निश्चिंत, केवल देखनेवाला रहता है। यही जागृति है।

(५१) फिर तो हाथ चलते हैं, पाँव दौड़ते हैं, आँख देखती है, कान सुनते हैं, और कौंसिल के सभ्यगण मस्तिष्क में सोच-समझ के विचार करते हैं, सारी सेना उनकी व्यवस्था (आज्ञा) की प्रतीक्षा करती है, पुण्य-पाप की व्यवस्था की जाती है और उसी के अनुसार कार्य होता है। प्रारब्ध के विधान के अनुसार जहाँ भाग्य पुरुषार्थ के अनुकूल आता है, भोग मिलते हैं, जहाँ भाग्य साथ नहीं देता, भोग नहीं मिलते। जब भोग मिल जाते हैं तो अहंकार-रूपी सभापति आनंद पाता है, जब नहीं मिलते, तो दुःख, शोक और खेद पाता है। विश्व-राजकुमार आत्मदेव जो विवेक से, अहंकार से अलग अक्षय सुख में है, उन्हें देखता तो है, किंतु वह न तो उनकी प्रसन्नता से प्रसन्न और न उनके दुःख से दुःखी होता है, वरन ज्यों का त्यों खास आराम में, जो परमानंद है, रहता है, और उनका साक्षी रहता है।

(५२) अहंकार में जब भाग्य के अनुसार और पुरुषार्थ के अनुकूल हो जाने से भोग मिलते हैं, तो उसके साथ एक आनंद की वृत्ति उदय होती है, और राजकुमार (आत्मा) के खास आराम से प्रतिबिंब की भाँति उसमें आनंद भयकता है, इसलिये अहंकार भी आनंदी हो जाता है। लेकिन जब भोग नहीं मिलते तो चिंता के कारण यह वृत्ति स्थिर नहीं रहती, वरन् उस शीशे के सदृश, जो गति करता हो, चंचल

और चिंतित रहती है। इसलिये वह आनद (आत्मा
अश) उसमें प्रतिबिंबित नहीं होता। इसी कारण अह
व्याकुलता में व्याकुल और दु ख में दु खी हो जाता है। f
जब भोग मिलते हैं, तो अहंकार नहीं जानता कि यह भीत
मेरे मालिक आत्मा के विशेषानंद का रस आता है, बल्कि
उसी भोग में आनद पाता भोग की ओर दौड़ता है, अ
बुद्धि उसे झिड़कती वा धमकाती है कि यह आनद
भोग का नहीं, भीतरी आत्मा का है, क्योंकि भोगों में
आनंद होता, तो वैराग्यवान् या हृदय के रोगी को भी उ
आनद मिलता, इस तरह की लानतान (झिड़क-धमक
से अहकार भी जानकारी पाता फिर भोगों की ओर
रुचि करता है, वरन् बुद्धि-रूपी मत्री के सकेत पर अतरा
में लगता है। तो यह बुद्धि उसे देह के अभिमान से पलट
तत्काल आत्माभिमान में लगा देती है। और यह तब हो
है जब कारोबार (व्यापार) से छुट्टी पाकर एकात
ध्यान करता है। फिर तो आत्म-अहकार में देह का अभिम
भी उसके विशेषानंद मे सम्मिलित और तद्रूप हो
समाधि में हो जाता है। और यह उसका परमानद है।

(४३) जब यह इस तरह परमानद में आनदी होता है
तो बाहर के आनद स्वयं तुच्छ हो जाते हैं। केवल आवश्यक
वस्त्र और भोजन जिस तरह सुगमतापूर्वक मिलें, वरन
भिक्षा द्वारा प्राप्त करके केवल देह की रक्षा करता है, और

शीघ्र निर्जन एकांत को ढूँढ़ता परमानंद की लटक लेता है। न तो उसे धन का लोभ प्रेरता है, न उसे भोगों की विलासिता धोखा देती है, क्योंकि भोगों में तो उसी आत्माराम के बिंदु टपकते हैं। समाधि में तो परमानंद के अनंत आनंद में निमग्न होता है। फिर जब कि भोगों में आनंद उसे तुच्छ हो जाते हैं, और धन-संपत्ति जो भोगों की साधन है, तुच्छ हो जाती है, और फिर उस पर तुफ (हा शोक) करता है, बल्कि कोई देवे, तो हाथ भी नहीं लगाता है। इस तरह जीवन-मुक्ति में नकद परमानंद पाता विचरता है।

(५४) जब इसके शरीर के कर्म यहाँ के समाप्त होते हैं और मृत्यु निकट होती है, तो कुछ परवाह नहीं करता, बल्कि उसकी तरह जो एक छोटी-सी राजधानी से बड़ी राजधानी का दादा निकट होता है, आनंद मनाता, शरीर के गिरने को गनीमत (सर्वोत्तम) समझता है, वरन् जीवन में ही उसे मृतक समझकर शव के समान घसीटता था, अब तो सर्प की तरह सुगमता से केंचली उतरती है। जब यह देह गिरता है, तो क्या प्राण, क्या अहंकार, क्या मन, क्या बुद्धि, क्या चित्त, सबके सब इस आत्मा-रूप राजकुमार में लय हो जाते हैं, उत्क्रांति नहीं करते। और पिता के समष्टि प्राण, अहंकार और बुद्धि वायु के समान भर जाते हैं, पिता-पुत्र एक हो जाते हैं, और समष्टि अहंकार में उसी तरह राजकुमार गोद से निकलकर अपने आपको

सर्व-रूप देखता, सब भोगों को पाता है। क्योंकि फिर तो ईश्वर के अहंकार के भोग उसी के भोग कल्पित होते हैं, और ईश्वर के सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प में प्रकाश पाया हुआ यही सत्यकाम और सत्यसंकल्प होता है, और पूर्ण बुद्धिमत्ता में गौरव पाया हुआ संसार का प्रबंधकर्त्ता, सृष्टि का स्रष्टा, और प्राणियों का भोजनदाता होता है। तात्पर्य यह कि पूर्ण स्वतंत्र वा स्वच्छंदस्वरूप होता है।

(४५) यद्यपि जीवन मुक्ति में उसके सैन्य जन (इंद्रियाँ इत्यादि) भोग पाने म परतंत्र हैं। यहाँ तो उसके कर्म भी उसके व्यष्टि अहंकार के साथ दूर हो जाते हैं, और वह मुक्ति पाया हुआ ईश्वर के संकल्पों में सत्यकाम हुआ जो चाहता है, पाता है। वरन् जो जमीन पर उसके खयाल में भी नहीं आते थे, तैयार हैं, जिनका उल्लेख अभी ही ब्रह्मा के वादे में आवेगा। इस तरह ऐसा ज्ञानी स्वर्गीय साम्राज्य को मुफ्त और उत्तराधिकार में पा जाता है, मजदूरी और सेवा से नहीं पाता। अत ऐ भाइयो! हम भी इसी तरह इस संक्षिप्त राजधानी में राज करके परमानंद में सावकाश और विश्रामसंपन्न हैं, और इस मृतक शरीर को शव की भाँति घसीटते फिरते हैं, और उसी अनादि ईश्वरीय (ब्रह्मा के) वादे की प्रतीक्षा में हैं। जब समय आएगा, तो देखो, मुफ्त म उत्तराधिकार की तरह उसे पा जायँगे।

अब हम वैदिक श्रुतियों से उस वादे और विज्ञापन का अनुवाद करते हैं जो इस विषय में ब्रह्माजी ने अनादि में दिया है, ताकि हमारे शिष्यों को विश्वास हो, यही न समझें कि हम अपनी कपोलकल्पना से घमंड और गुमान में हैं।

अध्याय छठा

(१) सामवेद * की छांदोग्य-शाखा में हम सुनते हैं कि ब्रह्माजी जब शुभ और अशुभकर्मों के फल नियत और वर्णन कर चुके तो आरंभ में उन्होंने क्षमा की प्रतिज्ञा और प्रसाद (फजल) का विज्ञापन दिया और समस्त देवता और मनुष्यों में घोषणा करा दी कि "वह जो जैसा करता वैसा पाता है" न्याय (कर्मकांड) का मार्ग है, किंतु "वह जो आत्मा को जानता है, मुआफ है अर्थात् कर्मफलों से मुक्त है, वरन् प्रसाद में प्रविष्ट होता मुफ्त में ब्रह्मलोक पाता है।" और चूँकि दैवविधान में न्याय-मार्ग से निश्चय हुआ है कि जो आत्मा को जानता है, उसके प्राण मृत्यु में उठते नहीं वरन् आत्मा में लय हो जाते हैं, और ईश्वरीय प्राण, ईश्वरीय इंद्रियाँ, ईश्वरीय अहंकार उसमें वायु के समान

---

* देखो छांदोग्योपनिषद्, प्रपाठक आठवाँ, खंड सातवाँ।

भर जाते हैं, इसलिये पहले न्याय-मार्ग का इस प्रसाद से विरोध भी नहीं।

(२) * यह जो विज्ञापन में लिखा गया, और क्या देवताओं, क्या मनुष्यों मे (या देवलोक तथा मनुष्यलोक में) वितरण किया गया, उसका अनुवाद हम नीचे करते हैं कि "ऐ लोगो ! यह जो संसार है द्युलोक का एक बड़ा साम्राज्य है। इसमें जो मनुष्य का शरीर है, ब्रह्म की एक विशेष राजधानी है जिसका नाम ब्रह्मपुरी है, और उसकी छाती (या अंतःकरण) के भीतर जो हृदय-कमल मांस का एक खंड है, ब्रह्म का एक मुख्य बँगला है, और उसके भीतर जो आकाश है, वास्तव में ब्रह्म का सिंहासन है। उसके भीतर जो अपने आत्म-ब्रह्म की खोज करता है और उसे जानता है, वह प्रसाद में बुलाया जाता है, यही न्याय है। उसकी करतूतें उसके आगे में रह जाती हैं, उस पर लागू नहीं होतीं, क्योंकि वह तो विवेक से अपने आपको उस सिंहासन में सम्मिलित करता एक हो जाता है, और ब्रह्म-न्याय की दृष्टि से पुण्य-पाप से रहित है, क्योंकि वह असंग आत्मा है।

(३) यदि कोई ख़याल करे कि इस ब्रह्मपुरी में छोटा-सा

---

* यहाँ से छांदोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक का प्रथम खंड आरंभ होता है।

बँगला ब्रह्म का और उसमें छोटा-सा आकाश ब्रह्म का सिंहासन है, क्या उस (आकाश) में कुछ है, जो ब्रह्म कहलाता है? तो उसे समझना चाहिए कि ऐ भाइयो! जितना यह बाहर का आकाश है, उतना ही यह हृदयाकाश है, छोटा नहीं, वरन् हृदय के भीतर आ जाने से छोटा-सा दिखाई देता है। जैसा कि महाकाश में एक घट धर दें, तो आकाश कोई दो टूक होकर बाहर-भीतर पृथक् नहीं हो जाता, वरन् वही आकाश घट के भीतर आया हुआ छोटा-सा घटाकाश और बाहर का आकाश महान् आकाश भासमान होता है, इसी तरह यह आकाश हृदय के भीतर आया हुआ हृदय-कमल की आकृति के अनुसार छोटा-सा दिखाई देता है, वास्तव में समुच्चय का समुच्चय महान् आकाश उसके भीतर है, कोई टुकड़े नहीं हो गया।

(४) बल्कि यों समझो कि क्या देवलोक और क्या भूलोक दोनों इसी हृदयाकाश के भीतर एकत्रित हैं, और क्या अग्नि और क्या वायु, दोनों यहाँ बसते हैं, और समस्त भूत और समस्त भावनाएँ इसी के भीतर विद्यमान हैं। जिस तरह समस्त स्वप्न-संसार सोते हुए के हृदयाकाश में होता है, किंतु वह स्वप्न की विचित्रताओं से अपने आपको स्वप्न के संसार का अंश भान करता स्वप्न के धरती और आकाश को अपने से बाहर पाता है; उसी तरह यहाँ हाल है। अन्यथा वास्तव में क्या देवलोक, क्या भूलोक,

क्या अग्नि, क्या वायु, सबके सब भाव या इष्टदेव पदार्थ इसी हृदयाकाश के भीतर हैं।

(५) यदि कोई समझना चाहे कि यह ब्रह्मपुर जिसमें सब भूत और भावनाएँ एकत्रित हैं, जब बुढ़ापे को पाता या मृत्यु में दूर हो जाता है, तो कुछ शेष भी रहता है या नहीं ? तो उसे समझना चाहिए कि वह आत्मा, जो इस ब्रह्मपुर में राज करता है, न तो इसके बुढ़ापे से बूढ़ा होता है, और न इसके मरने से वह मरता है, यही सत् है। इसी में सब भावनाएँ या वाञ्छित पदार्थ विद्यमान हैं। यही आत्मा पापों से रहित है , न तो यह पुराना होता है, न यह मरता है, न इसे शोक है, न भूख, न प्यास, वरन् सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। जो चाहता है, करता है, पूर्ण स्वाधीन है।

(६) ऐ लोगो ! जो यहाँ अपने हृदय-कमल में इसको नहीं जानते, वरन् बिना इसकी पहचान के मरते हैं और न इसकी महिमा को जानकर जाते हैं कि 'वह सत्यसंकल्प, सत्य-काम और पूर्ण स्वाधीन है,' उनका हाल सुनो कि वह यद्यपि समस्त जीवन में शुभकर्म करते हैं और अपने शुभकर्मों के फल पाने के लिये ऊपर के लोकों में जाते हैं, किंतु जिस तरह यहाँ भी सर्वसंपन्न मनुष्य राजा और राजपुरुषों के शासन में पराधीन होते हैं और राज-कर देते हैं, इसी तरह वे भी देवताओं के सेवक और कर-दाता होते हैं, बल्कि जिस जगह

जाना चाहते हैं, या जिस-जिस वस्तु की आकांक्षा करते हैं, बिना देवताओं की इच्छा और आज्ञा के नहीं पाते। इसलिये उनके हाथ में उसी तरह विवश होते हैं, जिस तरह प्रजा राज-पुरुषों के हाथ में विवश होती है।

(७) देखो, वह क्योंकर स्वाधीन होवें ? वह तो यहाँ दासता और अधीनता का विश्वास रखते थे, और देह को अपना आप जानते थे, और इस अपने आत्मा ईश्वर को कहीं आकाशों पर पहचानते थे, यद्यपि शुभकर्म करते थे। मजदूरी का हक मजदूर अवश्य पाता है, यही इसका न्याय है। इसलिये वह सोमलोक में सतुष्ट तो होते हैं, किंतु दास घर का मालिक नहीं हो जाता, अतत सेवक ही होता है, और साथ ही दास अनंत समय तक घर में नहीं रहता, आखिर ढकेलकर निकाल दिया जाता है। इसी तरह जब उनकी नेकियों (शुभकर्मों) के भोग भी परलोक में समाप्त हो जाते हैं, तो वे फिर मृत्युलोक में गिर जाते हैं।

(८) यहाँ भी जो कर्मों से देशों को विजय करते हैं, अंत में वे उन्हें छोड़ते हैं। इसी तरह वे भी जो कर्मों से केवल सोमलोक को पाते हैं, अत में उससे गिर जाते हैं। यही दैवी विधान है। क्योंकि जो बनाया जाता है, वह समय पर टूट जाता है। शुभकर्मों से बनाया गया जो सोमलोक है, वह भी नित्य नहीं, और यहाँ के चढ़नेवाले स्वाधीन और मुक्त भी नहीं होते।

(६) किंतु जो यहाँ अपने आत्मा को जानते हैं, और इसी ब्रह्मपुर में जो हृदयाकाश है, पहचानते हैं, और निश्चय करते हैं कि "मैं ही ब्रह्म हूँ, और मैं ही सबका मालिक हूँ, और मैं ही सत्यसंकल्प और सत्यकाम हूँ, मेरे में न तो पाप-पुण्य स्पर्श पाता है और न उनका फल लगता है, क्या देवलोक, क्या भूलोक, क्या अग्नि, क्या वायु, क्या चंद्र, क्या सूर्य, क्या तारे, सबके सब मेरे भीतर कल्पित इसी हृदयाकाश में हैं, और यही मेरा सिंहासन है", और फिर मरते हैं; उन्हीं के लिये सत्यलोक है, वही सत्यकाम और सत्यसंकल्प, सर्वशक्तिमान् हो जाते हैं, और समस्त लोकों में कामचार (स्वाधीन या स्वतंत्र) होते हैं।

(१०) जब वे चाहते हैं कि हम अपने पिता-पितामह या पूर्वजों से मिलें, तो उनके संकल्प से ही पिता पितामह सब पूर्वज उठते हैं, और उनसे मिलते हैं, और वे इस पितरलोक से प्राप्त होते गौरवान्वित और सम्मानित होते हैं।

(११) जब वे माताओं और दादियों को चाहते हैं, तो संकल्प से पलक-मारते (आँख की झपक) में मातायें और दादियाँ उठती हैं, और उनसे मिलती हैं, और वे इस मातृलोक से पूर्णकाम हुए गौरव और प्रतिष्ठा पाये होते हैं।

(१२) जब वे भाइयों और बिरादरी के लोगों अर्थात्

बधुजन को चाहते हैं, तो केवल संकल्प से आँख की झपक में भाई और बिरादरी के लोग उठते हैं, और उनसे मिलते हैं। और वे इस तरह भ्रातृलोक मे कृतकार्य हुए माननीय और आनंदित होते हैं।

(१३) जब वे ससुरों और ससुराल के लोगों से मिलना चाहते हैं, तो केवल संकल्पमात्र से ससुर और ससुराल के लोग उठते हैं, और उनसे मिलते हैं। और वे इस प्रकार श्वशुरलोक में कृतकार्य हुए सम्मानित और मुदित होते हैं।

(१४) जब वे अपने मित्रों और सखाओं से विनोद के लिये मिलना चाहते हैं, तो केवल संकल्पमात्र से मित्र और सुहृद्गण उठते और उनसे मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार वे सखीलोक में कृतकृत्य हुए प्रमोद करते प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।

(१५) जब वे सुगंध की वस्तुएँ जैसे इत्र आदि को चाहते हैं, तो केवल संकल्पमात्र से सुगंध की वस्तुएँ उठती हैं, और उनमें भोग पाते गंधलोक में कृतकार्य हुए सम्मानित होते है।

(१६) जब वे खान-पान की वस्तुएँ माँगते हैं, तो संकल्पमात्र से खान-पान की वस्तुएँ उठती हैं, और खान-पानलोक में कृतकार्य हुए सम्मानित और सानंदित होते हैं।

(१७) जब वे राग-रंग और गीत-वाद्यों के सुनने की

इच्छा करते हैं, तो संकल्पमात्र से राग-रंग और गायक और वाद्य (वाजे इत्यादि) उठते हैं, और वे गंधर्वलोक में सफलकाम हुए सम्मानित और प्रसन्न होते हैं।

(१८) जब वे सुन्दर नारियों की इच्छा करते हैं, तो संकल्पमात्र से सुन्दर स्त्रियाँ उठती हैं, और इस तरह वे स्त्रीलोक में पूर्णकाम हुए सम्मानित और मुदित होते हैं।

(१९) साराश यह कि मैं कहाँ तक एक-एक गिनाऊँ, जिस जिस वस्तु की वे इच्छा करते हैं, केवल संकल्प से पा जाते हैं, और उन्हीं के लोकों से पूर्णकाम हुए सम्मानित और प्रसन्न होते हैं। यह प्रसाद (फजल) है। न्याय से निकलकर इस प्रसाद में आओ। देर न करो। फिर गया समय हाथ नहीं आता। और यह इसी ब्रह्मपुर में आत्मा की पहचान से होता है। आत्मा ही को ढूँढ़ो, उसी की खोज करो। जो ढूँढ़ता है, वह पाता है, जो खटखटाता है, उसी के लिये खोला जाता है। यही न्याय है, जो प्रसाद के विरुद्ध नहीं।

(२०) अब भी यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प तुम्हारे आत्मा में केंद्रित हैं, लेकिन झूठे आवरण में छिपे हुए हैं। यद्यपि वे सब तुम्हारे हृदयाकाश में विद्यमान हैं, किंतु इस मिथ्या आवरण से छिपे हुए नहीं उठते हैं, वरन जो-जो पुत्र, भ्राता, नातेदार, पड़ोसी मर गए हैं, सबके सब तुम्हारे आत्मा (हृदयाकाश) में इसी झूठे आवरण के भीतर छिपे

हुए हैं, तुम्हें दर्शन देने के लिये नहीं उठते। मरे हुए तो क्या उठें बल्कि वह भी जो जीवित और अज्ञात देशों में फिरते ह, नहीं मिलते। किंतु जब तुम आत्मा को, जो सबकी खान है, जानते हो, और उसके ध्यान में इस आवरण को खटखटाते हो, तो मृत्यु में यह आवरण उठता है, और ये सब अपने सकल्प से ही उठते हैं और मिल जाते हैं।

(२१) उन मनोरथों को जो तुम्हारे भीतर छिपे हुए हैं नहीं पाते। उसका उदाहरण यों है, जैसे कि कोई कोष तुम्हारे मकान में गड़ा हो, तुम उसे नहीं जानते हो, और उसके ऊपर फिरते हुए भी उसे नहीं पाते। हा शोक! ये सब मनोरथ और स्वतन्त्रताएँ तुम्हारे आत्मा में हैं, और झूठे आवरण में ढँपी हुई हैं, नित्य सुषुप्ति में जाते, आत्म-ब्रह्म में एक भी होते हो, किंतु आत्मा के अज्ञान के कारण नहीं पाते। उसका कारण यही है कि इस आत्मा को तुम नहीं जानते, वरन् अपने में दासता और पापों के विश्वास की मलिनता से उसका अपमान करते हो। ये लोगो! तुम तो झूठ और मिथ्या पर सवार हो, किस तरह इस सत्यसकल्प को पाओगे।

(२२) यह सत्यकाम और सत्यसकल्प-आत्मा, जो तुम्हारी वास्तविक अहता है, यही तुम्हारे हृदय में विद्यमान है, और इसी का नाम 'सत्' है। इसलिये नित्य

सुषुप्ति में जाता हुआ बुद्धिमान् इस स्वर्गलोक में प्राप्त होता है। किंतु जब यह सम्प्रसाद आत्मा इस मिथ्या देह से उठकर अपने ज्योति-रूप परमस्वरूप को पाता है, तो यह वास्तविक आत्मा है, और यही अमृत, यही सपन्न, यही ब्रह्म है, उस समय अविद्या का मिथ्या आवरण पूरा-पूरा उठता है।

(२३) यह आत्मा वास्तव में एक चट्टान के अनुसार है जिस पर क्या लोक, क्या परलोक, क्या ऊपर के, क्या नीचे के सबके खयाली और सकल्प-जन्य आकार इसी में अंकित और कल्पित हैं। इसी कारण उसे संस्कृत में सबका सेतु और विधृति बोलते हैं, क्योंकि सबके रूप भ्रम-जन्य लकीरों के अनुसार इसी चट्टान या विधृति में खिची हैं, और सबका विवेक और सबका अस्तित्व इसी के कारण से है। यह लकीरें जैसे चट्टान या तख्ती पर से मिटाई जाती हैं, मिट जाती हैं, किंतु निराकार चट्टान को न तो रात-दिन काटते हैं, न बुढ़ापा, न मौत दूर कर सकते हैं, न कोई उसे शोक, न कोई नेकी, न कोई बदी असर करती है, वरन सब पाप उससे दूर रह जाते हैं। यही निष्पाप है, यही ब्रह्मलोक है।

(२४) इसी कारण सुषुप्ति में इसी चट्टान में एक हुआ अंधा अंधा नहीं रहता और बदी बदी नहीं रहता, दु खिया दु खिया नहीं रहता, क्योंकि अंधापन, वध और

दु:ख तो देह के लक्षण हैं। जब वह सुपुप्ति में देह को किसी कारण छोड़ता इस चट्टान-रूपी सेतु में एक होता है, क्योंकर अधापन, वंदीपन और दु ख को पावे ? वह तो क्या अंधापन, क्या वदीपन, क्या दु:ख, सबसे स्वतंत्र, नित्य मुक्त है।

(२५) फिर चूँकि इसी सेतु, विधृति को पाते रातें दिन हो जाती हैं, अँधेरा उजाला हो जाता है, यह नित्य प्रकाश है, और यही ब्रह्मलोक है। जो कोई ब्रह्मचर्य से इसी उजाले में चलता है, ठोकर नहीं खाता, वरन् सीधा ब्रह्मलोक उन्हीं का है जो ब्रह्मचर्य करके अन्वयव्यतिरेक के नियम से इस उजाले को अंधकार से छाँट करते हैं, और जाग्रत् स्वप्न सुपुप्ति में एक रस देखते हैं, वही मृत्यु में समस्त लोकों में कामाचार (स्वतंत्र) होते हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

(२६) जब इस मनुष्य को ससार से अरुचि होती है और इस आत्मा की पहचान की रुचि होती है, तभी वह ब्रह्मचर्य करता विषयों के आनंद से उपराम होता है, और ब्रह्मचर्य से अनशुद्ध होता गुरुदेव से जब इस आत्मा का विवेक पाता है, तो यहाँ जीवन में ही इसे जैसा है वैसा नक़द पा जाता है, और स्वयं सब उपाधि से रहित हो जाता है, उसे यह सत्यकाम आदिक मुफ़्त इस तरह मिल जाते हैं, जिस तरह कोई बाग़ प्राप्त करता है, तो उसकी

शीतल छाया मुफ्त में आ जाती है। यद्यपि वह बाग की खरीद के समय बसीके में फल, लकड़ी और जमीन की मिल्कियत अपने नाम लिखाता है, छाया का जिक्र नहीं करता, तो भी छाया और ठंडी छाँह भी उसे यों ही मुफ्त रोंगे छोंगे में आ जाती है।

(२७) इसी तरह आत्मा का इच्छुक भी जब ब्रह्मचर्य करता इसकी चाह करता है, तो संसार में किसी का भी लालच नहीं करता, उसने क्या पुत्र, क्या धन, क्या लोक, क्या परलोक, सबसे उपराम, सबको तुच्छ, सबको मिथ्या जानता है। एक आत्मा को जानना चाहता है। और जब जानता है और नक़द पा जाता है, तो यहाँ ही निरुपाधि हुआ इस मृतक शव-रूप शरीर को घसीटता फिरता है, और इसके क्षुद्र दुःख-सुख, अहंकार में देखता दुःखी सुखी-सा दिखाई देता है। किंतु इस ज्ञान के बसीके के कारण वही द्युलोक के राज्य का युवराज होता है, और आजीवन वह उस समय की प्रतीक्षा करता है, जब नियत काल आता है और यह शव समान शरीर छूट जाता है, तो फिर अपने ज्योतिस्वरूप में स्थित होता है। फिर नहीं उठता, तो भी मायावृत्तियों के कारण यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प तो रोंगे-छोंगे में मुफ्त कल्पित मिल जाते हैं। वह नहीं चाहता लेकिन पाता है। वह नहीं माँगता, मगर वही मालिक है, क्योंकि ये सब उसी की परछाईं या छाया है। मनुष्य कब

प्रबंध करता है कि मेरा छाया मेरे साथ फिरे, किंतु जहाँ जाता है, छाया साथ-साथ होता है।

(२८) इसी तरह विदेह मुक्त भी नित्य मुक्त, त्रिगुणातीत माया की ओर दृष्टि भी नहीं करता, तो भी माया बेचारी उसी की छाया कहाँ जाय ? विना उसके आश्रय नहीं देखती, उसी की शरण, उसी की आज्ञाकारिता में संसार से ले ब्रह्मलोक तक वह उसमें कल्पित करती ब्रह्मलोक और सत्यकाम आदिक आरोपित करती है। इस तरह यह द्युलोक का साम्राज्य ऐसे ज्ञानी को मुफ्त गोंगे-छोंगे में मिल जाता है, जो कर्मकांडियों को मजदूरी में भी नहीं मिलता। क्योंकि मजदूर का हक मज़दूरी है, जितनी मजदूरी करता है, उतनी पाता है, अत में ढकेलकर निकाल दिया जाता है। यह ज्ञानी तो घर का और बाग का स्वामी है, अनत काल तक अर्थात् सदैव घर में और अपनी महिमा में रहता है।

(२९) ऐ लोगो! वे जो आत्मा के इच्छुक हैं, घर-बार छोड़कर ब्रह्मचर्य करते हैं, उस आत्मा को अपने हृदय में ढूँढ़ते हैं, और इस झूठे दरवाजे को, जिसमें यह सत्यकाम और सत्यसंकल्प बंद किए गए हैं, खटखटाते हैं। यदि उनको पूर्ण गुरु, जो उसकी शिक्षा दे सकता है, मिल जाय और नक्द स्पष्ट कर दिखावे, तो मुक्ति तो उनका अपना निजी स्वभाव है, और ब्रह्मलोक तथा सत्यकाम आदिक मुफ्त मिल जाते हैं, किंतु वह भी जो ब्रह्मचर्य करते हैं

और विना पहचान के भी इस बात पर विश्वास करते हैं कि "मैं शुद्ध सच्चिदानंद पूर्ण ब्रह्म हूँ, मेरे में ये सब कल्पित हैं" और इसके साथ ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, यदि सकुटुम्ब हैं, तो कर्मकांड का भी पालन करते हैं। वे भी मृत्यु में देवयान-सड़क पर चलते, ब्रह्मलोक को जाते, वहाँ के आनंद उड़ाते हैं, और स्वयं ब्रह्मा से शिक्षा पाते आत्मा को नक़द पहचानते हैं, और ब्रह्मा के साथ मुक्त होते हैं।

(३०) * क्योंकि जो यज्ञ है वड़ा है, ऐसा कहते हैं। किंतु ब्रह्मचर्य भी यज्ञ है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से यह आत्मा, जिसकी छाया में सत्यकाम आदिक हैं, जाना जाता है। फिर कहते हैं, इष्टकर्म करने चाहियें, किंतु साक्षात्कार (अनुभव) के इच्छुक (जिज्ञासु) को ब्रह्मचर्य ही इष्ट है। क्योंकि इष्टकर्म वे हैं जिनके करने से उसके असली मनोरथ मिलें। उसका असली अभीष्ट तो आत्मा है और ब्रह्मचर्य से मिल जाता है। इसलिये ब्रह्मचर्य ही इष्ट है।

(३१) फिर कहते हैं कि 'सत्रायण' करना चाहिए, किंतु साक्षात्कार के इच्छुक (जिज्ञासु) को ब्रह्मचर्य ही 'सत्रायण' है। क्योंकि जो सत्य को पहुँचा दे, वही 'सत्रायण' यज्ञ होता है। ब्रह्मचर्य से यह सत्य आत्मा जाना जा सकता है। इसलिये

---

* २९ संख्या तक छांदोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक के चार खंड समाप्त हुए। अब पाँचवाँ खंड आरंभ हुआ है।

ब्रह्मचर्य ही 'सत्रायण' है। यह साक्षात्काराभिलाषी (जिज्ञासु) ब्रह्मचर्य करके ही इस सत्य आत्मा को जान लेता है।

(३२) फिर कहते हैं कि 'मौन' अच्छा है। किंतु साक्षात्कार के जिज्ञासु को ब्रह्मचर्य ही 'मौन' है। क्योंकि आत्मा की पहचान करके ब्रह्मचर्य से ही फिर मनन करता है। इसलिये उसे ब्रह्मचर्य ही 'मौन' है।

(३३) फिर कहते हैं कि 'अनाशकायन' यज्ञ अच्छा है। अनुभवाभिलाषी को ब्रह्मचर्य ही 'अनाशकायन' है। क्योंकि जिस यज्ञ से नाश न हो, वह 'अनाशकायन' कहलाता है। ब्रह्मचर्य से वह अविनाशी आत्मा को जानता और पाता है, इसलिये उसे ब्रह्मचर्य ही 'अनाशकायन' है।

(३४) फिर कहते हैं कि 'अरण्यायन' यज्ञ उत्तम है। किंतु दर्शनाभिलाषी को ब्रह्मचर्य ही 'अरण्यायन' है। क्योंकि 'अर' द्युलोक की मदिरा का हौज और 'ण्य' सोमसुवन (अमृत का स्रोत) जो ब्रह्मलोक में है, इस यज्ञ के करने से मिलता है, जो यहाँ देखा-सुना भी नहीं। पर साक्षात्कार के आकांक्षी को जब ब्रह्मचर्य से आत्मा का साक्षात्कार होता है, तो ब्रह्मलोक और उसके (पर) मदिरा के हौज और सोमसुवन (अमृत के सोते) रोंगे-छोंगे में आ जाते हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य ही उसे 'अरण्यायन' है।

(३५) 'अर' और 'ण्य', ये दोनों कुंड या स्रोत ब्रह्मलोक में हैं। 'पर' एक प्रकार का द्युलोक का अन्न है

जो यहाँ देखा-सुना नहीं। उसकी लकड़ी जो ईश्वरीय वा दिव्य मद देनेवाली है, उसे 'अर' मदिरा बोलते हैं, और वहाँ ही द्युलोक का अर्थात् दिव्य अंगूर का एक वृक्ष है जो यहाँ संसार में देखा-सुना नहीं, उसे सोमसुवन बोलते हैं। उससे जो रस निकलता स्रोत के रूप में बहता है, वही अमृत है, जिसे खाते देवता अमर होते हैं।

(३६) फिर क्योंकि इसी ब्रह्मलोक में जो यज्ञों और कर्मों से नहीं विजय होता, एक 'पुर' नाम का स्वर्ण का बँगला है, जो यहाँ किसी ने सुना-देखा नहीं, और ब्रह्मा ने विशेष लोगों के लिये वहाँ बनाया है, और बड़े-बड़े कर्मकांडियों को भी नहीं मिलता है। किंतु वह जो ब्रह्मचर्य करके आत्मा को जानते हैं, मृत्यु में उसे मुक्त पा जाते हैं। उन्हीं का वास्तव में ब्रह्मलोक है। और वही सब लोकों में कामचार अर्थात् स्वतंत्र होते हैं। क्योंकि मृत्यु में ऐसे ज्ञानी के प्राण यहाँ उसकी आत्मा में लीन हो जाते हैं, और ईश्वर के समस्त प्राण उसमें वायु के समान भर जाते हैं। वह स्वयं ईश्वर, घर का मालिक हो जाता है। इसलिये वे सब उसे मुफ्त आ जाते हैं।

(३७) * ऐ लोगो! कान धर सुनो कि जो लोग आत्मा को नहीं पहचानते और उस पर निश्चय करते हैं

---

* यहाँ से आठवें प्रपाठक का छठा खंड आरंभ होता है।

कि "मैं ब्रह्म हूँ" और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, हम वादा देते हैं कि उनके लिये मृत्यु में ब्रह्मलोक में उत्क्रांति होती है, और वह देवयान-सड़क पर चलते ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं। क्योंकि मनुष्य के भीतर जो मास का टुकड़ा है, जिसे हृदय-कमल कहते हैं, उससे बहुत-सी सूक्ष्म नाड़ियाँ निकलती हैं, और पित्त, कफ, वात और रक्त से भरी हुई भीतर से चतुर रंग की दिखाई देती हैं।

(३८) क्योंकि कफ का रंग सफेद है, रक्त का लाल, वात का भूरा वा काला, पित्त का पीला। और सबकी मिलावट से ये नाड़ियाँ चित-महतावी रंग की हो जाती हैं। और यह सूर्य भी सफेद, लाल, काली, पीली रंगों की किरणों से मिश्रित है। तिपैहलू शीशे के द्वारा सूर्य की किरणें भी यद्यपि लाल, काली, सफेद, पीली इत्यादि सात रंग की अलग-अलग होकर परीक्षक को मालूम देती हैं, तो भी उसकी किरणें सात रंगों की मिलावट से चित-महतावी रूप होकर मनुष्य की नाड़ियों के भीतर भी फैली हुई हैं, और उन्हें गरम करती और रंगीन बनाती हैं।

(३९) यह मत समझो कि जब सूर्य अस्त होता है, तो किरणें लय हो जाती हैं। नि संदेह सूर्य की बाह्य किरणें तो लय हो जाती हैं, तो भी उसकी प्राणशक्ति-रूप किरणें, जो ससार का जीवन है, ससार में उसी तरह फैली रहती हैं, इसलिये हम जो यहाँ मनुष्य की नाड़ियों में सूर्य की

किरणें प्रविष्ट हुई विज्ञापन में वर्णन करते हैं, वही किरणें प्राणशक्ति की हैं जिससे मनुष्य जीवित रहता है। और जब प्राणशक्ति की किरणें सूर्य में लय हो जाती हैं, तो यहाँ शरीर में भी प्राणशक्ति बुझ जाती वा लय हो जाती है, और शरीर मृतक हो जाता है, फिर चिकित्सक चिकित्सा से हाथ उठा लेता है। ऐसी उष्णता की किरणों से रात-दिन नाड़ियाँ गति करतीं, बाहर की वायु को अपने आहार के लिये खींचती हैं।

(४०) ये प्राणशक्ति की किरणें, जो सूर्य से नाड़ियों म हृदय तक और हृदय से रगों की राह सूर्य तक तार तार तनी हुई हैं, उसी तरह तानी गई हैं जैसे एक बिजली का तार लाहौर से दिल्ली तक ताना जाता है, और उस बिजली के तार द्वारा आँख की झपक म खबर दी जाती है, और फिर रेल लोहे की पटरियों पर चलती है।

(४१) जब यह आत्मा का श्रद्धालु (निश्चय करनेवाला), जो ब्रह्मचर्य का पालन करता उसी में आचरण करता है, अत तक उसी में वृद्ध हो जाता है, और मृत्यु का समय आता है, तो पहले अपनी इद्रियों को दिल में एक करता है, और फिर दिल में उन छिद्रों से जो दिल के कान कहलाते हैं, दाहिने कान के द्वारा देवलोक में चलने को तत्पर होता है, और अपने निश्चय और ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ब्रह्मलोक को जाने का तथा ब्रह्म-ज्योति का सकल्प करता

इस बिजली के तार पर सवार होता ठोकर मारता है, और प्राण बिजली की तरह इन फैले तारों से उस नाड़ी से जो मुख्य करके मस्तिष्क में खोपड़ी (कपाल) तक गई है, फैलता और दरजों (छिद्रों) से बाहर निकलता सूर्य की प्राणशक्ति-रूप किरणों के द्वारा, जो बिजली के तारों की तरह तनी हैं, पहले सूर्य के स्टेशन में, वहाँ से दूसरे लोकों के स्टेशन में, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक में इस तरह जल्दी जा पहुँचता है, जैसा कि ब्रह्मलोक के ध्यान में मनोवृत्ति झटपट ब्रह्मलोक में जा पहुँचती है। यही उसकी उत्क्रांति है। और यही ब्रह्मलोक का द्वार है।

(४२) यह कब होता है ? जब यह प्राणांत के समय अचेत होता है, बरन् निकटवर्त्ती लोग जो पास बैठे होते हैं उसे बुलाते हैं और कहते हैं कि "ऐ पिता ! तू पहचानता है, मैं तेरा पुत्र हूँ ?" , पिता कहता है—"ऐ पुत्र ! तू जानता है, मैं तेरा पिता हूँ ?" , किंतु वह जब तक इन सूर्य की किरणों के तार पर ठोकर देकर ब्रह्मलोक में अपने संकल्प की ख़बर नहीं देता, तब तक तो थोड़ी आँखें वह खोलता है , परंतु जब वह हृदय के भीतर से उठकर प्राण छकड़े पर सवार हो जाता है (जो वास्तव में द्युलोक की रेलगाड़ी है), और प्राणशक्ति की बिजली के तारों के द्वारा ब्रह्मलोक में अपने चलने की ख़बर देता है और पहुँच जाता है, तो फिर आँखें नहीं खोलता।

(४३) जब यह इस तरह हिलाने-जुलाने पर भी आँखें न खोले और मृतक के समान पाया जाय, और नाडियाँ भी बंद हो जायें, तो जाना जाता है कि अब दिल को, जो इसकी मुख्य राजधानी है, छोड दिया है, और प्राण-रूप रेलगाडी पर सवार हो गया है, अब क्योंकर इस ब्रह्मपुरि में गति हो ? क्योंकर आँखें खुलें ? घर का मालिक तो रकाब पर पैर रक्खे हुए है, उसकी बला से घर को कोई कुछ करे, जला दे, चाहे तोप दे। और फिर यह ब्रह्मपुरि (अर्थात् देह) मल और विष्ठा का घर हो जाता है, और सड़ाद का खाद रह जाता है। यदि इसको अग्नि में न होम किया जाय, तो उसी प्राण-रूप रेल के चलने से, जो इसकी असली मूर्तियों का तत्त्व-रूप रस साथ ले जाती है, यह फूल जाता और गंदा बदबूदार हो जाता है।

(४४) वह जो इसकी सवारी का हाल जानते हैं, देर नहीं करते, इसे अग्नि में होम कर देते हैं, और इसकी असली तरलता (रस) अग्नि में अग्नि और फिर दिन में दिन होती चली जाती है। यही एक लोहे की पटरी प्राण-रूप रेल की है जिसे संस्कृत में देवयान-सड़क बोलते हैं, जिसका उल्लेख हम कर्मकाड में कर चुके हैं। और इसी तरह यह स्टेशन-दर स्टेशन तै करके सूर्य के स्टेशन में जा पहुँचता है। और फिर स्टेशन पर उससे भेंट करने के लिये देवता आते स्वागत (शुभागमन) बोलते हैं, और अग्नि-देवता

उसकी रेल के इंजिन मे ड्राइवर होता सूर्य में ले जाता है। और सूर्य मे ब्रह्मलोक से ब्रह्मदूत उसके स्वागत के लिये आता और ऊपर के लोकों को ले जाता है। इस तरह यह सूर्य आत्मा के श्रद्धालुओं (निश्चयात्माओं) का ऊपर जाने का पहला बड़ा स्टेशन है, और अज्ञानियों वा मूर्खों को रोकनेवाला है। विना इस बुद्धि के यहाँ कोई नहीं जाता।

(४५) वरन् वे जो आत्मा की ईश्वरता पर संशयात्मा हैं और शुभकर्म भी करते हैं, उनको टेढ़ी रगों से, क्या आँख, क्या नाक, उत्क्रांति होती है, और अग्नि से उनका मार्ग सोमलोक को पितृयाण-सड़क से फटकता है। वे सोमलोक को चले जाते हैं। और वे जो न निश्चयात्मा होते हैं, न शुभकर्म करते हैं, मल-मूत्र के द्वारों से निकलते हैं और अग्नि से अधोमार्ग में चले आते हैं, कीट-पतंग होते मरते-जन्मते हैं।

(४६) किंतु वे जो इस आत्मा का परिचय पाते हैं, चाहे शुभकर्म करें या न करें, कुछ परवाह नहीं, मुआफ हैं। वे तो जबरदस्त लोग हैं। जबरदस्त लोग तो कहीं नहीं चलते। यों ही ब्रह्मलोक को छीन लेते हैं। इसलिये उनको तार और रेलें कुछ सहायता नहीं देतीं। वरन् वे तो, जब समय आता है, अपने प्रताप और बल को दिखाते द्युलोक के साम्राज्य पर बलात्कार से अधिकार पाते हैं। यहाँ ही हृदयाकाश के भीतर क्या तारें, क्या रेलें, क्या प्राण, सभी

फ़ेंक देते हैं, क्योंकि उनके प्राण उनके आत्मा में इस तरह जल जाते हैं जिस तरह पानी की बूँदें तवे पर जल जाती हैं, और बाहर के आधिदैविक प्राण और ईश्वरीय शक्तियाँ वरन् सारी माया उसी तरह उसके बदले खिंची चली आती हैं जिस तरह एक स्थान की वायु के हलका होकर उड़ जाने से देश-देश की हवाएँ वहाँ खिंची जाती हैं, और उसी जगह को पूरा करती हैं।

(४७) ऐ लोगो ! ऐसे ज्ञानी बलवान का प्रताप यह है कि वह यहाँ से जाता नहीं, वरन् नित्य अमर होता है। वह संक्षिप्त साम्राज्य को अपने से निकालता है, द्युलोक का बड़ा साम्राज्य यों ही परिछाईं की तरह उसमें आ जाता है। वही वास्तव में संपन्न या स्वच्छंद है, और वही घर का मालिक है। उसी के सब आज्ञाकारी हैं।

(४८) ऐ लोगो ! हम इस विषय में प्रमाण के लिये वेद का मंत्र भी देते हैं। लिखा है कि "हृदय-कमल में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक नाड़ी है जो मस्तिष्क की खोपड़ी (कपाल) में जा लगी है। उससे उत्क्रांत होता अमृत होता है। दूसरी नाड़ियाँ टेढ़ी दूसरे छिद्रों में हैं। यह दूसरे लोकों को जाने में उत्क्रांति के मार्ग हैं। किंतु ज़बर्दस्त लोग स्वयं नहीं जाते और न उनके प्राण उत्क्रांत होते हैं। उनके प्राण तो आत्मा में जाते हैं, और बाहर के प्राण वहीं भर जाते हैं।" इस प्रकार ब्रह्मा ने आरंभ में सर्व-

साधारण में विज्ञापन करके विज्ञापित कर दिया, और लोक-परलोक अथवा स्वप्न-जागृत में इसी विज्ञापन का ढिंढोरा पिटवा दिया ताकि किसी को इस प्रसाद (फजल) और प्रतिज्ञा से बेखबरी का बहाना न रहे, और ऐसा ही हो गया।

(४६) * जब यह विज्ञापन सबमें विज्ञापित हो गया और घोषणा करनेवाले इस बड़े वादे की घोषणा करते थे तथा सबको न्याय (कर्मकाड-मार्ग) से निकालकर प्रसाद (ज्ञानकाड) की ओर बुलाते थे, तो परलोक वा देवलोक (इन्द्रलोक) में एक कोलाहल मच गया। देवता सुरलोक में और असुर राक्षसलोक में सुनते संकल्प करते थे कि चलो हम इस प्रसाद में प्रविष्ट हों, हम इस प्रसाद में प्रवेश करें। अत में देवताओं ने मिलकर अपने राजा देवराज इंद्र के पास सभा की और उधर असुरों ने अपने राजा असुरराज विरोचन के पास सभा की।

(५०) देवताओं ने कहा कि यदि हम प्रसाद में प्रविष्ट हों, तो हमारी जय है, और असुरों ने कहा कि यदि हम इस प्रसाद में प्रविष्ट हों, तो हमारी विजय है। किंतु इधर तो देवराज इद्र और उधर असुरराज विरोचन तैयार हुए। (उन दोनों ने) कहा, ऐ भाइयो! तुम अपने-अपने पद और

---

* यहाँ तक छादोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक के छ खड समाप्त हो गए। अब सातवाँ खड आरभ हुआ।

नियम पर राज्य का प्रवध रक्खो, हम जाते हैं, अपने पिता ब्रह्मा से आत्मा की शिक्षा पा आते हैं। और हम तुम सबको यहाँ ही लौट आकर शिक्षा दे देंगे और उसके शिक्षालय जारी कर देंगे, और उसके शिक्षक नियुक्त कर देंगे।

(५१) फिर दोनों देवता और असुर अर्थात् देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन ब्रह्माजी के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिये गए। किंतु यह ज्ञात रहे कि दोनों परस्पर विरोधी थे, अनुकूल नहीं थे, तो भी इस दृष्टि से कि तीन लोक के राज्य से ब्रह्मविद्या की बड़ाई बड़ी है, अपने बड़े-बड़े भोग छोड़कर ब्रह्मचारियों के रूप में लकड़ियों के बोझे सिर पर उठाए हुए प्रजापति के पास आए, और बत्तीस (३२) वर्ष प्रथम शिक्षक की सेवा-शुश्रूषा में ब्रह्मचर्य करते रहे।

(५२) हा शोक ! इस ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा के लिये देवराज इंद्र और असुरराज विरोचन ने, जो तीन लोक के एक समान राजा हैं, राज-काज का भोग छोड़ दिया और बत्तीस (३२) वर्ष का ब्रह्मचर्य किया। वर्तमान काल के भाषा जाननेवाले छोटे घरों और छोटी जायदाद को भी इनकी चाह के लिये नहीं छोड़ते, और न किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करते और उससे इस बड़े प्रसाद की जिज्ञासा करते हैं।

(५३) जब ये दोनों महाराजा इस तरह ब्रह्मचारी

होकर, बत्तीस (३२) वर्ष प्रथमाचार्य के निकट रहे, तो प्रजापति ने उन्हें एक दिन अधिकारी समझकर कहा कि किस प्रयोजन के लिये और क्या चाहते हुए तुम यहाँ आ रहे हो ? तो उन्होंने कहा कि जो आपने आत्मा की पहचान का विज्ञापन दिया है, और वादा (इक़रार) किया है कि उसकी पहचान से सब मनोरथ मुफ्त मिलते हैं और सब लोकों में कामचार और पूर्ण स्वतंत्र हो जाते हैं, उसी को पूछने और पहचानने के लिये हम यहाँ आए हैं। कृपा करके हमको वह आत्मा दिखा दो।

(५४) तब ब्रह्मा ने कहा कि मेरी आँख में देखो, जो यहाँ इस समय आँख में बैठा है, वही आत्मा है, और यही अमृत है, यही सर्वसंपन्न है, यही ब्रह्म है। उन्होंने जो आँख की ओर दृष्टि की, तो एक पुतली पाई जिसके कारण मनुष्य का प्रतिबिंब नेत्र में दिखाई देता है, और जिसे आँख की पुतली बोलते हैं।

(५५) प्रजापति का तात्पर्य तो यह था कि जो जाग्रत् के समय आँख में बैठकर देखता है, वह आत्मा है। क्योंकि देखनेवाला केवल आत्मा है, जो दिखाई देता है वह आत्मा नहीं हुआ करता। किंतु उन्होंने यह तात्पर्य तो नहीं पाया, उसकी आँख में दृष्टि की, तो आँख की पुतली के दर्पण में अपने शरीर के प्रतिबिंब को देखा, और शरीर को ही आत्मा समझ लिया। यह नहीं ख़याल किया कि जो हृदय-

कमल के भीतर हृदयाकाश के सिंहासन पर देखनेवाला कारण-कार्य से रहित (निरुपाधि अर्थात् निर्विकार व निरवयव) आत्मा है, वही नेत्र में प्रतिबिंब की भाँति आया सबको देख रहा है, अन्यथा आँख की क्या शक्ति है जो देखे, यदि आँख देखती होती, तो अंधा भी देखता, वरन् देखनेवाला जो शरीर में दीप्तिमान है, वह तो आत्म-पुरुष है।

(५६) जब उन्होंने इस रहस्य को न समझा, वरन इसके विरुद्ध अपने शरीर के प्रतिबिंब को, जो आँख की पुतली में है, पाया, तो उन्होंने पूछा—"भगवन्! क्या यह जो साफ पानियों में और साफ दर्पणों में दिखाई दिया करता है, आत्मा है?" ब्रह्मा ने कहा कि यह जो मैंने बताया है, इन सबमें (अर्थात् नेत्र आदि में) है।

(५७) ब्रह्माजी का तात्पर्य तो यह था कि यह जो देखनेवाली ज्योति है, और जाग्रत् में खयाल पर सवार हुई नेत्र में विराजमान होती है, जिस वस्तु को देखना होता है, नेत्रों से विचार और दृष्टि, किरणों की नाईं, दिखाई देनेवाली वस्तु पर जा लगते हैं, और उनको यह देखनेवाला आत्मा, ज्योतियों ज्योति, उसी तरह उनसे एक होता प्रकाशित करता है जिस तरह धूप या दिन का उजाला भी दीवाल पर पड़ता उसे प्रकाशित करता है। जब इस तरह साक्षी आत्मा दृश्य पदार्थों पर घेरा करता उनसे

एक होता है, तो यही वास्तव में देखना कहलाता है।

(५८) किंतु शोक है कि प्राणी यद्यपि प्रत्येक वस्तु के देखने से पहले इसी आत्म-ज्योति के प्रकाश को देखता है, पीछे वस्तुओं को देखता है, तो भी इसे देखते हुए को नहीं देखता। क्योंकि जब किसी से दीवाल की ओर उँगली करके हम पूछते हैं कि यह क्या है ? तो वह यही कहता है कि दीवाल है या कोई दूसरी वस्तु है। यह नहीं कहता कि यहाँ एक आत्म-प्रकाश है, उसमें दीवाल प्रकाशित दिखाई देती है। परंतु वे जो जानते हैं, पहले आत्म-ज्योति, फिर दिन का उजाला और तदुपरांत दीवाल को देखते हैं।

(५६) इसी तरह यह प्रतिबिंब जो जलों में दिखाई देता है, या यह प्रतिबिंब जो शीशे में दृष्टिगोचर होता है, पहले उसमें देखनेवाले का प्रकाश, जो आत्म-प्रकाश है, दिखाई देता है, फिर दिन का उजाला, फिर प्रतिबिंब दिखाई देता है, अन्यथा अंधे को अँधेरे में भी यह प्रतिबिंब दिखाई देना चाहिए। ब्रह्मा ने तो इस आत्म-प्रकाश को जो उन प्रतिबिंबों में घेरा करता दिखाई देता है, देखकर कहा कि हाँ, यही आत्मा जो मैंने अपनी आँखों में देखनेवाला बतलाया है, इन सभों में एक होता देखता है, वही तुम देखो। किंतु उन्होंने उन्हीं लोगों की तरह जो दीवाल तो देखते हैं, उसके साथ दिन के प्रकाश को देखते हुए भी नहीं देखते, इस देखनेवाले आत्मा को न देखा, वरन् यही

निश्चय किया कि यही शरीर, जिसकी परिछाईं आँख या निर्मल जलों या दर्पण में दिखाई देती है, आत्मा है, जो अमृत है, और इसी पर मुक्ति अवलम्बित है, और इसी से यह सत्यसङ्कल्प होता है।

(६०) इसलिये ब्रह्मा ने जान लिया कि यद्यपि बत्तीस (३२) वर्ष इन्होंने मेरे पास ब्रह्मचर्य किया है, किंतु भोगी राजा है और बड़े बड़े पापों की वासना उनके मनों में है जिसके कारण इनकी अन्तर्दृष्टि मलिन हो रही है। इसी कारण ये आत्म-ज्योति को देखते हुए भी नहीं देखते, और मेरी वाणी को सुनते हुए भी नहीं सुनते, और मेरे तात्पर्य को समझते हुए भी नहीं समझते। इन्हें अभी अधिक ब्रह्मचर्य करना चाहिए। किंतु यदि मैं इस प्रकार कहता हूँ कि तुम कमबुद्धि हो मेरे तात्पर्य को नहीं समझते, तो राजा होने अथवा विद्या की अधिकता के अभिमान से अप्रसन्न होंगे। संभवतः इसी अप्रसन्नता के कारण इनका चित्त आत्मा की जिज्ञासा की ओर से हट जाय, इसलिये इन्हें ऐसे ढंग से कहना चाहिए कि अपने आप अपनी भूल को समझ लें और दुबारा ब्रह्मचर्य करें।

(६१) हा शोक! कि प्रथम तो भाषा जाननेवाले इसकी कामना नहीं करते, यदि करते हैं, तो साधुओं का वचन नहीं समझते। और शोक है कि साधु भी उन्हें अयोग्य

और निर्बु द्धि कहते हैं। और वे अपने पाश्चात्य विद्या के घमंड में आकर उन्हें मूर्ख जानते उनसे पूछते नहीं। यही बड़ा आवरण उनके पापों से पड़ा हुआ है। किस प्रकार उन्हें यह अनुग्रह मिले और किस प्रकार वे आत्म-दर्शन पावें, जिस पर सब मनोकामनाएँ मुफ्त मिलती हैं और उक्त विज्ञापन की बड़ी प्रतिज्ञा में प्रविष्ट होते हैं।

(६२) इसलिये श्रीब्रह्माजी ने उन्हें आदेश किया कि तुम स्वच्छ जलों और स्वच्छ दर्पणों में आत्मा को, जो मैंने कहा है, देखो। और देखकर सोचो, और सोचकर यदि कुछ सन्देह रहे, तो मुझे बताओ। उन्होंने इसी तरह किया। स्वच्छ जलों और निर्मल दर्पणों में दृष्टि की और कुछ न कहा। तो ब्रह्माजी ने कहा कि तुमने क्या देखा ? उन्होंने कहा कि हमने अपने आपको सब प्रकार देखा, क्या शिर, क्या मुँह, क्या हाथ-पाँव, वरन् नख से लेकर केश तक भी देखा। यह हमारे आत्मा की ही पूर्ण उपमा है।

(६३) तब ब्रह्माजी ने सोचा कि सोचने से भी इन्हें समझ नहीं आई। अभी बड़े-बड़े पाप इनके भीतर हैं, किस प्रकार समझ जायँ। इसलिये आदेश किया कि जिस तरह आप घरों में अच्छे-अच्छे वस्त्र और उत्तम-उत्तम भूषण पहनते हो, पहनकर फिर पानियों और दर्पणों में दृष्टि करो। चुनाचि [illegible]
पूछा कि तुमने क्या देखा। इन्हों [illegible] कि [illegible]

जैसे हम उत्तम वस्त्र और उत्तम भूषण के साथ थे, वैसे ही दिखाई दिये।

(६४) ब्रह्माजी ने कहा कि तुम अपने कपड़े और भूषण उतार दो और शिर मुँह मुँडा दो, और नग्न तथा रोम भी उतार दो, जैसा कि ब्रह्मचारी करते हैं, मूँडे हुए उनमें दृष्टि करो। उन्होंने ऐसा ही किया। पूछा, क्या देखा ? उन्होंने उत्तर दिया कि भगवन्, जैसे हम मूँडे हुए और नाखून उतारे हुए नग्न थे, वैसे ही दिखाई दिये। इसलिये यह शरीर हमारा आत्मा है। यही अमृत है और यही अभय है। और यही ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्मा ने उनसे उपहास वा उपालंभ की भाँति कहा कि ऐ बुद्धि के अन्धो ! यदि यही आत्मा है, तो वह हर किसी को ज्ञात है, फिर क्यों उसकी जिज्ञासा के लिये ब्रह्मचर्य करते हो ? सोचो कि यह आत्मा नहीं, किंतु उन्होंने यह नहीं समझा, वरन् उलटा ढाढ़स पाया समझकर चल दिए।

(६५) जब वे दूर निकल गए और आनन्द के मारे फूले जाते थे, तो श्री ब्रह्माजी ने टेढ़ी दृष्टि से उन्हें देखकर कहा कि यह मुझे मिलते हुए भी नहीं मिलते जाते हैं, और आत्मा को नहीं जानते हुए भी जानते हुए समझ कर जाते हैं। यही केवल गूढ़ अन्धकार वा अज्ञान में नहीं रहेंगे, वरन् जो मुझसे सुना है, उसी को अपनी जाति में भी सिखावेंगे। और यही द्युलोक की वाणी उनके लिये

प्रतिज्ञापत्र होगी। आप तो खाद में हैं, दूसरों को भी खाद में गिरा देंगे, जैसा कि अंधा अंधे को ले जाता है, तो खाद में दोनों गिरते हैं, इसी तरह दूसरे भी डबल अज्ञान में फँसेंगे, जिसकी फिर चिकित्सा कठिन है।

(६६) यह न मान लेना चाहिए कि सत्यवक्ता ब्रह्मा ने क्यों कह दिया कि यही जो उन्होंने समझा है आत्मा है, और यही अमृत है और यही पूर्ण है। वरन् जैसा पिता मुहाविरे में अपने पुत्र को, जो शत्रुओं के पास जाता है और वह बार-बार मना करता है पर नहीं मना होता है, तो उसे कहता है कि जा उन्हीं के घर झख मार, और फिर चुप हो जाता है, कुछ नहीं कहता। इसी तरह ब्रह्मा ने भी कह दिया कि यही आत्मा है, यही पूर्ण है, यही ब्रह्म है, जाओ।

(६७) क्योंकि मुहाविरा जाननेवाले जानते हैं कि सत्यवक्ता पिता का इस वचन में यह तात्पर्य नहीं है कि शत्रुओं के घर जावे और मछली खावे, वरन् बार-बार उपदेश को जो नहीं समझता अपना क्रोध वा दुःख दिखाता है कि यदि बुद्धिमान् बालक है तो मेरा दुःख समझकर ऐसा नहीं करेगा। इसी तरह श्री ब्रह्माजी ने भी बार-बार तदबीरें कीं, किंतु वे न समझे, तो फिर जरा रोष जतलाया और उनके पापों के कारण जो भीतर थे, अधिक समझाना निष्प्रयोजन खयाल किया, और जब तक अपने

आप नहीं समझें कि हमारी समझ गलत है उन्हें बेसमझ कहना और ब्रह्मचर्य की आज्ञा देना अच्छा नहीं, क्योंकि त्रिलोकीराज के अहंकार के कारण उल्टे सामना करने को उठेंगे।

(६८) चुप इसीलिये हो गए कि यदि इनके कोई अच्छे कर्म भी होंगे, तो नियत समय पर अपने आप मेरी बात को फिर सोच करेंगे और जान लेवेंगे कि जब अच्छे वस्त्र और अच्छे भूषण पहने, तो दर्पण और जलों में छाया भी अच्छे वस्त्र और अच्छे भूषण से पाई, और जब मूँड मुड़ाये, नख उतारे नग्न हुए, तो छाया भी मूँड़ मुड़ाई और नग्न दिखाई दी। तो जिस तरह छाया में वस्त्र और भूषण भी अपने से भिन्न जमा हुए एक होते हैं और फिर उतर भी जाते हैं, इसी तरह नख और रोम भी अपने से भिन्न इस शरीर में आते-जाते हैं। नख और रोम ही वस्त्रों की भाँति नहीं उतरते, वरन् सब शरीर और सब आंतरिक मनोवृत्तियाँ, इंद्रियाँ और अहंकार भी भिन्न (दूसरे) की भाँति नख और रोम और वस्त्र के समान इस देखनेवाले में पहने गए हैं, और उसी तरह उतरते हैं। वह जो देखनेवाली ज्योति है, क्या बाह्य शरीर क्या अंतर मनुष्य सबसे नग्न है। वही आत्मा है।

(६९) किंतु उन्होंने न तो इस रोष को समझा और न इस विवेक को पाया, वरन् उल्टा शिशुवत् धैर्य पाते हुए घर

को चले आए। तो ब्रह्माजी ने समझ नहीं, वरन् पीछे कहा कि मुझे मिले भी नहीं मिले जाते हैं। आत्मा को नहीं जानते हुए भी जानते हुए समझ कर जाते हैं। क्योंकि यदि सम्मुख ऐसा कहता, तो अहंकार के कारण दुःखित होते और सामना करने को भी उठते, पीछे इसलिये कहा कि जिस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा का विज्ञापन उन्होंने सुना है, मेरा यह वचन भी चलोचल उनके कान तक पहुँच जायगा, और अपनी अज्ञानता का परिचय पाकर फिर ब्रह्मचर्य करेंगे और मेरा वचन समझेंगे।

(७०) हा शोक! जबकि देवराज इंद्र और असुरराज विरोचन को भी पापों के कारण ब्रह्मलोक की वाणी समझ में नहीं आती, तो बेचारा भाषा जाननेवाला, जो दिन रात पापों में डूबा है, किस प्रकार समझ पावे। कोई पूर्वजन्म का पुण्य यदि उठे, तो शास्त्रीय बंधन में रहे और कर्म उपासना करे, तब उक्त वाणी का भेद पावे।

(७१) अंतत संक्षेप में यह कि दोनों देवराज इंद्र और असुरराज विरोचन शिशुवत् धैर्य पाकर घर को लौट गए। उनमें असुरराज विरोचन तो महान् पापों से लिप्त था, इस धैर्य को पाता शीघ्र पग ख़ुशी-ख़ुशी उठाता अपनी राजधानी में आ गया, और असुरों से मिलकर उन्हें इसी ब्रह्मवाणी की शिक्षा दी कि "यही देह अपना आप है, इसी को अच्छे साबुनों से साफ करना चाहिए, इसी की

पालना करनी चाहिए, उत्तमोत्तम वस्त्र तथा भूषण पहनाने चाहिएँ, अच्छे-अच्छे भोजन लड्डू-मेवा तैयार करने चाहिएँ और इसे देने चाहिएँ। हम भाइयो! मनुष्य हैं और ईश्वर के बंदे (दास) हैं।"

(७२) "मुझे ब्रह्माजी ने अच्छे-अच्छे वस्त्र और भूषण पहनाए और मुख दिखानेवाले दर्पणों में मुझे दिखलाया ताकि मैं अपना आत्मा देखूँ और उसे देख-देख प्रसन्न होऊँ। ऐ भाइयो! तुम भी इस आत्मा की इसी तरह पूजा करो। नख और रोम उतारो। साबुन से साफ होकर देहात्मा को मल से शुद्ध करो। अच्छे-अच्छे शृंगार और शीशेदार कमरे बनाओ। उसमें उत्तम वस्त्र पहनो, भूषण धारण करो और शीशों में अपने आत्म-सौंदर्य को देखो। यही हर्ष और सजावट परमानंद है। यही कारण है कि मनुष्य दर्पण में मुख देखकर प्रसन्न होता है।"

(७३) "यह मत खयाल करो कि यह मर जाता है, वरन् सो जाता है। कभी तो सोता ही जाग उठता है, कभी ऐसा सोता है कि फिर जल्दी नहीं उठता। बल्कि जब ब्रह्माजी स्वयं आवेंगे, तो एक बड़ा नरसिंहा जोर से फूँकेंगे और सब सोए हुए शरीर अर्थात् मृतक जाग उठेंगे, और यही उनकी क़यामत (पुनरुज्जीवन वा मृतोत्थापन) है।"

(७४) "इसलिये जब यह ऐसा सो जाय, जिसे अनजान मरना कहते हैं, तो इसे फिर साफ साबुन से स्नान कराना

चाहिए, उत्तम वस्त्र और कफन पहनाना चाहिए, भाँति भाँति के सुगंधित पुष्पसार (इतर आदि) इसे मल चाहिएँ, और उत्तमोत्तम संदूक में बंद करके धरती सुरक्षित रूप से गाड़ना चाहिए, जिससे कोई पशु आ इसे खराब न कर दे, और प्रतीक्षा करनी चाहिए नरसिंहा फूँका जाता है। ये सब उसकी बड़े जोर आवाज सुनते ही उठेंगे और द्युलोक के पिता ब्रह्माजी मिलेंगे और अपनी करनियों के अनुसार, जैसा कि पह पिता ने न्याय (कर्ममार्ग) की प्रतिज्ञा में कहा है, स्व और उत्तम अप्सराएँ पावेंगे तथा आनंद भोगेंगे, औ अविनाशी पिता के पास रहेंगे।"

(७५) "किंतु वह जो द्युलोक के पिता की वंद और नमाज (उपासना) करेगा, उस पर वह कयाम में प्रसन्न होगा। और वह जो उसकी बंदगी औ नमाज नहीं करेगा, नाराज हो जायगा।" अनुवाद (लेखक) कहता है, शायद यही शिक्षा विरोचन प पश्चिम में फैली है, और इसी द्युलोक की वाणी विवरण, जो विरोचन ने समझा, ईश्वरीय पुस्तकें कहला हैं, और शायद उनकी भाषा म विरोचन को ही जिवराई या येही कहते हैं, और जो उसकी शिक्षा के बतलानेवा संसार में है, वही नबी या रसूल कहलाते हैं। ईश्वर ह इनकी रक्षा करे।

(७६) * ऐ प्यारे ! असुरराज विरोचन का तो यह हाल हुआ। अब देवराज इन्द्र का हाल सुनिए कि जब वह शिशुवत् धैर्य पाकर चला, तो ब्रह्माजी के वाक्य को स्मरण करता हुआ और सोचता हुआ दबे पाँव चला जाता था। किंतु अभी तक देवताओं के पास नहीं गया था कि अपने पहले पुण्यकर्मों के कारण से मार्ग में ही उसे सूझी और डरा कि जब द्युलोक के पिता ने मुझे वस्त्र पहनाया और शिर मुँडवा दिया, तो पानी और दर्पण में दिखाया। और जब वस्त्र पहना गया था, तो छाया भी वस्त्र के साथ थी, जब शिर मुँडवाया और नख उतारे, तो छाया में भी न तो वस्त्र था न नख और न लोम। यह सब कुछ छाया में इसी शरीर की भाँति था। और जिस प्रकार शरीर से नख और रोम पृथक् उतर जाते हैं, उसी तरह इसका अंग अंग भी कटा हुआ उतर जाता है।

(७७) क्योंकि जब शरीर सुन्दर वस्त्र पाता है, तो उसका प्रतिबिंब भी आईने (दर्पण) में उत्तम वस्त्रों वाला दिखाई देता है, और जब यह नख उतारता है, तो छाया भी नख उतरी दृष्टिगोचर होती है। जब यह देह कानी

---

* यहाँ से अब छांदोग्योपनिषद् के प्रपाठक आठवें का नवाँ खंड प्रारंभ होता है, और पन्द्रहवें खंड अर्थात् आठवें प्रपाठक के सारे खंड इस अध्याय के अंत तक समाप्त हो जाते हैं।

होती है, तो छाया भी कानी होती है। जब यह अंधी होती है, तो वह भी अंधी होती है। जब यह शरीर नाश हो जाता है, प्रतिबिंब भी नाश हो जाता है। इसमें तो मैं कुछ भोग नहीं देखता।

(७८) इस विचार में आया इंद्र डरा कि मैं पिता की वाणी को नहीं समझा कि उसका तात्पर्य क्या है। क्योंकि विज्ञापन में और शिक्षा में वह यही कहते रहे कि "आत्मा अमृत और स्वच्छंद या सर्वसंपन्न है, नित्य जीवित है", यह तो शरीर मरनेवाला है, नित्य जीवित और अमृत कैसे हो सकता है? और स्वच्छंदता वा सर्वसंपन्न भी नहीं है। हर प्रकार इसे भय और आवश्यकताएँ हैं। भूख लगते ही भोजन न पाये, तो अशक्त हो जाता है। इसमें तो कुछ भी भोग नहीं।

(७९) इसलिये देवराज इंद्र रास्ते से लौट आया और फिर नए सिरे से ब्रह्मचारी होकर शिर पर लकड़ियों का भार उठाए हुए ब्रह्माजी के पास आया। तब ब्रह्मा ने उससे पूछा कि "ऐ देवराज इंद्र! तुम तो शांति पाकर विरोचन के साथ चले गए थे, अब किस प्रयोजन के लिये लौटकर आए हो?"

(८०) तब देवराज इंद्र ने कहा कि "भगवन्! जब यह शरीर उत्तम वस्त्रों से होता है तो प्रतिबिंब भी, जो आँख में है, उत्तम वस्त्रोंवाला होता है। जब यह उत्तम भूषण

पहनता है, तो यह भी भूषणवाला होता है। जब यह शिर मुँह मुँडा, नख कटा होता है, तो यह भी शिर मुँह मुँड़ा और नख कटा होता है, बहुत क्या कहूँ, इसके काना होने से यह भी काना होता है, इसके अंधे होने से यह भी अंधा हो जाता है, इसके लँगड़े होने से यह भी लँगड़ा हो जाता है, बल्कि नाश होने से यह भी नाश हो जाता है। मैं तो इसमें कुछ भी भोग नहीं देखता।"

(८१) तब ब्रह्माजी ने कहा, शाबाश, देवराज इन्द्र! इसी तरह है जैसा तुमने सोचा। इस आत्मा को न तुमने जाना था, न विरोचन ने, अच्छा हुआ जो तुम लौट आये हो। इस आत्मा को जिस पर मुक्त सब कुछ मिलता है, दुबारा तुम्हें सिखाऊँगा। परन्तु बत्तीस (३२) वर्ष फिर मेरे पास रहो और ब्रह्मचर्य करो, तब समझ में आवेगा। और यह इसलिये कहा कि ब्रह्मचर्य से जो पापों का लेश है, वह दूर हो जायगा, तब आत्मसाक्षात्कार सुगम हो जायगा। और इन्द्र ने ऐसा ही किया कि बत्तीस (३२) वर्ष का ब्रह्मचर्य किया।

(८२) जब देवराज इन्द्र ने दूसरी बार भी बत्तीस वर्ष का ब्रह्मचर्य किया, तो श्री ब्रह्माजी ने उसे योग्य कहा कि ऐ बेटा! जो जाग्रत् में नेत्र के भीतर घिरा हुआ दिखाई देता है, वही स्वप्न में नेत्र से निकला बिना नेत्रों के सब स्वप्न के प्रपंच को देखता है।

वह, जो स्वप्न में आया अपनी महिमा को प्रकट करता है, आत्मा है। प्रतिबिंब आत्मा नहीं। और यह अमृत है। यही सर्वसंपन्न वा स्वच्छंद है। यही ब्रह्म है। इसी के साक्षात्कार पर नक्द मोक्ष मिलता है, और मुफ्त सब मनोरथ पूरे होते हैं। तब इंद्र सतुष्ट होकर फिर लौट गया।

(८३) श्री ब्रह्माजी के वाक्य का तात्पर्य यह है कि जब जाग्रदवस्था होती है, तो वह आँख में बैठकर देखता है, और जब स्वप्न होता है, तो आँख को भी वस्त्र के समान उतार देता है और नग्न हुआ बिना नेत्र के स्वप्न-संसार को देखता है। यहाँ बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है, बिना पाँवों के चलता है, बिना हाथों के पकड़ता है। जब कि यहाँ न तो आँख रखता है, न कान, न पाँव, न हाथ, इसलिये उसका कोई आकार नहीं, वरन् निर्विकार व निरवयव अर्थात् कारण-कार्य (क्यों कब) से रहित है। और फिर चूँकि सबको देखता है, सबको सुनता है, अतएव सर्वशक्तिमान् और ज्योतिषा ज्योति है।

(८४) जिस प्रकार कोई एक वस्त्र के पहनने से वस्त्रधारी हो जाता है, स्वयं वस्त्र नहीं हो जाता, इसी तरह जाग्रत् में नेत्र के भीतर आने से नेत्रवाला हो जाता है, स्वयं नेत्र नहीं हो जाता, और कानों में आने से कर्णवाला-सा हो जाता है, स्वयं कान नहीं हो जाता, बल्कि सब देह में आने से देहवाला-सा हो जाता है, स्वय देह नहीं हो जाता,

और अहंकार में आने से अहकारवाला-सा हो जाता है, स्वय अहकार नहीं हो जाता। और, जिस तरह वस्त्र सहज में उतर जाते हैं, उसी तरह क्या आँख, क्या कान, क्या देह, क्या अहंकार इससे सहज में उतर जाते हैं, उनमें कोई कैद नहीं पाता, इसलिये पूर्ण स्वतंत्र और नित्य मुक्त है। क्योकि सूक्ष्म दृष्टि से यदि देखा जाय, तो जिस तरह पहने हुए वस्त्र पहननेवाले के देह में प्रविष्ट नहीं हो जाते, वरन् देह तो जैसी है, वैसी ही रहती है, इसी तरह नेत्र, नासिका, कर्ण, देह, अहकार में आया हुआ भी अपने स्वरूप में सपूर्णतया ज्यों का त्यों विना आँख, विना कान, विना देह और विना अहकार होता है, इसी कारण परम पवित्र है।

(८४) तो भी साधक नेत्र में आनेवाले को नेत्रवाला जानता है, किंतु वह नेत्रवाला नहीं वरन् नेत्रवाला-सा होता है। कान में आने को कानवाला खयाल करता है, किंतु वह कानवाला नहीं, वरन् कानवाला-सा होता है। अहकार में आते को देखकर अहकारवाला खयाल करता है, किंतु वह अहकारवाला-सा होता है। देह में आते को वह देहवाला खयाल करता है, किंतु वह देहवाला-सा होता है। जिस तरह मुख दिखानेवाले दर्पण में वह मुख शीशे के भीतर नहीं आ जाता, किंतु भीतर आया सा खयाल होता है, उसी तरह वह आँख, कान, नाक, देह और अहकार में कभी नहीं उतरा, किंतु उनमें उतरा-सा खयाल होता है।

काना नहीं होता, क्योंकि स्वप्न में वह बिना आँख के देखता है, बिना कानों के सुनता है, बिना पाँवों के चलता है, बिना हाथों के पकड़ता है, इसलिये क्या आँख, क्या कान, क्या नाक, क्या मुँह, क्या शरीर, सबके नाश से वह नाश नहीं होता, यह तो सच है। परंतु स्वप्न में भी उसे मारते-से हैं और धकेलते-से हैं, और अप्रिय को देखता भयभीत वा रुष्ट-सा होता है वरन् रोता-सा होता है। इसलिये मैं इसमें भी भोग नहीं देखता।

(६०) इंद्र के सोच का परिणाम यह है कि निःसंदेह आत्मा, जो जाग्रत् और स्वप्न में आता-जाता है, जाग्रत् के शरीर और स्वप्न के रूपों से पृथक्, परम शांत, अविनाशी, नित्य है, न तो शरीर के मरने से मर जाता है न किसी आँख आदि के टूट जाने से अंधा-काना हो जाता है (क्योंकि अंधापन वास्तव में आँख का टूट जाना है), तो भी स्वप्न में यह बिना आँखों के देखता सिद्ध होता है। इसलिये आँख के अंधेपन से वह अंधा नहीं होता, न तो कान के टूट जाने से वह बहरा होता है, न टाँग के कट जाने से वह लँगड़ा होता है, न शरीर मरने से वह मर जाता है, वरन् शरीर के किसी गुण से भी वह लिप्त नहीं होता, तो भी स्वप्न में भयभीत-सा होता है। हाथी [illegible] है, तो भागता है, और गढ़े में गिरता है, को[illegible] देखता है, उससे मार खाना-सा होता है, [illegible] समान

का दिखाई देता है तो धकेलता-सा और धकेला जाता-सा होता है, यद्यपि वास्तव में रोता नहीं, किंतु रोता और गिडगिडाता-सा होता है, इसीलिये पूर्ण स्वतंत्र, या सर्व-सपन्न नहीं है।

(६१) यद्यपि स्वप्न में मार नहीं खाता, किंतु मार खाता-सा होता है, धकेला नहीं जाता किंतु धकेला जाता-सा होता है, और रोता नहीं किंतु क्रदन-विलाप करता-सा होता है। यह भी स्वप्न में उसे एक दोष है, वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं। इसलिये मै इसमें भी भोग नहीं देखता। यह सोचकर फिर लकड़ियों का बोझ उठाकर दुबारा ब्रह्मचर्य और पूछने के लिये इंद्र ब्रह्माजी के पास लौट आया।

(६२) तब प्रजापति ने पूछा, ऐ इद्र ! तुम तो आत्मा की पहचान में शाति पाकर गए थे, फिर क्यों लौट आए ? उसने कहा, ऐ भगवन् ! यद्यपि शरीर के अधे होने से यह स्वप्नात्मा अधा नहीं हो जाता, न काना होने से काना होता है, वरन् शरीर के किसी दोष से दूषित नहीं होता, तो भी यह स्वप्न में मारता और धकेला जाता-सा देखा जाता है, और अरुचिकर बातों को देखता है तो डरता है और रोता-सा होता है, इसलिये पूर्ण स्वतंत्र नहीं। मै इसमें भी कुछ भोग नहीं देखता।

(६३) तब ब्रह्माजी ने कहा, ऐ इद्र ! शाबाश ! अच्छा सोच किया। अच्छा किया जो तू लौट आया। मै तुझे

फिर इस आत्मा के विषय में सिखाऊँगा। मेरे पास बत्तीस (३२) वर्ष और रहो, और ब्रह्मचर्य करो, फिर समझ में आ जायगा। अत इंद्र फिर बत्तीस (३२) वर्ष और वहाँ रहा, और ब्रह्मचर्य करता रहा।

(६४) जब इंद्र ने फिर बत्तीस (३२) वर्ष ब्रह्मचर्य किया तो श्री ब्रह्माजी ने उसे शुद्धचित्त और जिज्ञासु पाकर कहा कि ऐ इन्द्र! यद्यपि यह स्वप्नात्मा मार खाता-सा, धकेला जाता-सा, रोता-सा स्वप्न में होता है, किंतु जिस तरह जाग्रदवस्था उसमें अन्य की अर्थात् अनात्मा की है, उसी तरह स्वप्नावस्था भी उसमें अनात्मा की है। मार खाता-सा, धकेला जाता-सा और रोता-सा जो वहाँ दिखाई देता है, उसका अपना गुण नहीं, वरन् स्वप्न का गुण है। जब वह स्वप्न से भी निकलकर घोर निद्रा (सुषुप्ति) में जाता है, जहाँ न तो कुछ स्वप्न देखता है, न कुछ याद करता है, न कुछ इच्छा करता है, वरन् पूर्ण आनद में होता है, वह आत्मा है। यही अमृत है, यही पूर्ण है, यही ब्रह्म है। इसी की पहचान पर प्रसाद निर्भर है। तब इन्द्र फिर शांति पाकर लौट गया।

(६५) रहस्य की बात यहाँ यह है कि पहली शिक्षा में जो श्री ब्रह्माजी ने आत्मा को जाग्रत् के समय आँख में दिखलाया था, तो क्या शरीर, क्या इंद्रिय, क्या मन, क्या अहंकार, सब में सब वाला-सा था, किंतु स्वप्न में फिर

दूसरी बार शिक्षा दी तो क्या आँख, क्या नाक, क्या कान वरन् सब देह और सब इंद्रिय उससे दूर (अभावरूप) हो गए थे, केवल मन बुद्धि चित्त अहंकार में प्रकट हुआ स्वप्न में लीला करता-सा रह गया था, और इस मन बुद्धि चित्त अहंकार के लक्षण उसमें कल्पित होते थे, जिससे इंद्र को मार खाता सा, अकेला जाता-सा और रोता-सा दिखाई दिया, वरन भय और डर जो सब मन के धर्म हैं, और बलवान् चित्रों को देखकर अहंकार के कारण मार खाता-सा, रोता सा, अकेला जाता-सा, सब उसमें मानता था, अब उसे घोर निद्रा में दिखाया और उसी की शिक्षा दी, जहाँ मन बुद्धि चित्त अहंकार भी उससे उसी तरह उतर गये जिस तरह स्वप्न मे शरीर और इंद्रियाँ उतर गई थीं।

(६६) यहाँ घोर निद्रा (सुषुप्ति) में जब मन बुद्धि चित्त अहंकार भी उतर गये, तो न यहाँ कुछ सोचता है, क्योंकि सोचना मन का धर्म है, न किसी को जानता है, क्योंकि जानना बुद्धि का धर्म है, न यह किसी को याद करता है, क्योंकि अभिमान का निश्चय अहंकार करता है, आत्मा नहीं करता।

(६७) ऐ भाइयो! वह क्योंकर सोचे? क्योंकर जाने? क्योंकर याद करे? किस प्रकार निश्चय करे? वह जो सोच, ज्ञान, स्मरण, निश्चय के करण (साधन) थे, भिन्न अर्थात्

अनात्मा के थे। सबके सब यहाँ वस्त्र की भाँति उससे उतर गए, तो वह समस्त इंद्रियों की ग्लानि ज्यों का त्यों निरुपाधि रह गया, जहाँ मन बुद्धि चित्त अहंकार कुछ भी गति नहीं रखते हैं, इसलिये श्री ब्रह्माजी ने मन बुद्धि से भी दूर यहाँ दिखलाया और कहा, यह जो घोर निद्रा (सुषुप्ति) में सोया हुआ पूरे आराम में होता है, यह आत्मा है, यही पूर्ण स्वतंत्र है। इंद्र शांति पाकर फिर लौट गया।

(६८) मार्ग में जाता उसी तरह उसकी शिक्षा को स्मरण करता और सोचता जाता था। उसे फिर एक दूसरा दोष सूझा, और डरा कि घोर निद्रा में निःसंदेह यह न तो मार खाता-सा, न धकेला जाता-सा, न रोता-सा होता है, वरन् आराम में होता है, तो भी वह न तो अपने आपको जानता है, न दूसरे को जानता है, यह भी एक मृतक-सा होता है। इसलिये मैं इसमें भी कुछ भोग नहीं देखता। इस कारण फिर तीसरी बार लकड़ियों का बोझ उठाए हुए फिर जिज्ञासा और ब्रह्मचर्य के लिये ब्रह्माजी के पास आया।

(६९) तब श्री ब्रह्माजी ने पूछा, ऐ देवराज इंद्र! तू तो अपने आत्मा में शांति पाकर गया था, अब फिर किस प्रकार लौट आया? तब उसने कहा, भगवन्! निःसंदेह निद्रा में न तो मार खाता-सा, न धकेला जाता-सा, न

सोता-सा यह आत्मा होता है, वरन् केवल आनद मे होता है, तो भी उसमें यह दोष दिखाई देता है कि न तो वह अपने आपको जानता है न दूसरे को जानता है, तो यह भी एक मुरदा सा होता है। मै इसम भी कुछ भोग नहीं देखता।

(१००) तब ब्रह्माजी ने कहा, ऐ इद्र ! इसी तरह है, जैसा तुमने सोचा है। फिर तुम्हें सिखलाता हूँ। अब तू पॉच वर्ष और मेरे पास रह और ब्रह्मचर्य कर। चूँकि अब थोडा आचरण रह गया था, अत ब्रह्माजी ने पॉच वर्ष कहे। सब मिलाकर १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य किया। इसलिये वेदों में प्रसिद्ध है कि इद्र ने १०१ वर्ष ब्रह्मा के पास ब्रह्मचर्य किया था।

(१०१) जब देवराज इद्र ने फिर पॉच वर्ष ब्रह्मचर्य किया, तो श्री ब्रह्माजी ने उसे योग्य जिज्ञासु पाकर कहा, ऐ इद्र ! ऑख देखती है, किंतु अपने देखने का निश्चय नहीं करती। इसी तरह कान सुनते है, किंतु अपने सुनने का निश्चय नही करते। जिह्वा चखती है, किंतु अपने चखने का निश्चय नही करती। क्योंकि क्या ऑख का देखना, क्या कान का सुनना, क्या जिह्वा का चखना सबका निश्चय मन करता है।

(१०२) देखो, कभी-कभी मनुष्य सोच में होता है और उसकी ऑखों के सामने चीजें निकल जाती हैं, यद्यपि

आँख उनको देखती है मगर मन दूसरे सोच-विचार में होता है, इसलिये उनके देखने का निश्चय नहीं करता, वरन् यों निश्चय करता है कि मैं सोच में था, मैंने तो नहीं देखा, मेरी आँखों के सामने निकल गया।

(१०३) फिर, जब कोई बात कहता है और सुननेवाले के कान बात सुनते भी हैं, किंतु मन कहीं सोच में होता है, तो फिर तकाजा करता है कि जो कुछ आपने कहा, मैंने सुना नहीं, मेरा मन उपस्थित न था, आप दुबारा वर्णन करें। यद्यपि उसके कान में शब्द पड़ा था और अवश्य सुना जाता था, पर चूँकि कान अपने सुने हुए को निश्चय नहीं करते, वरन् उनके सुने हुए को निश्चय करनेवाला मन उसके सुनने में शामिल (प्रवृत्त) न था, इसलिये कान बिना निश्चय सुनते हैं और आँख बिना निश्चय देखती है।

(१०४) इसी तरह निद्रा में भी आत्मा जो आनंदस्वरूप है, अपने आपको पाता और देखता है, परंतु उस समय अपने आनंद को और अपने अहंकार को निश्चय नहीं करता, क्योंकि निश्चय करना या भान करना मन का काम है, वह आत्मा उस समय मन से निकलकर अपने परमानंद में विश्राम लाभ करता है, किस प्रकार उसका निश्चय करे ?

(१०५) जिस तरह ऊपर के उदाहरण में कान वास्तव में सुनते तो हैं, आँख वास्तव में देखती तो है, किंतु उसका निश्चय नहीं होता, इसी तरह आत्मा अपने आपको वरन्

समस्त प्रयोजनों (मनोरथों) को यहाँ देखता और पाता है, परंतु उसका विश्वास नहीं होता।

(१०६) विचार करने से विश्वास हो सकता है कि जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में यह कहना ठीक है कि वास्तव में कानों ने तो सुना, आँखों ने तो देखा, किंतु मन मौजूद न था, इसलिये उनके देखने और सुनने का निश्चय नहीं हुआ, तो भी निश्चय का अभ्यासी मनुष्य यों कहता है कि जो कुछ मेरी आँखों के आगे से गुजरा मैंने नहीं देखा और जो कुछ तुमने कहा, मैंने नहीं सुना।

(१०७) इसी तरह जब तुम निद्रा में जाते हो और अपने मुख्य आनंद को पाते हो, तो कहते हो कि मैंने नहीं पाया। हम तुम उठकर यों ही निश्चय करते हैं कि मैं आराम से सोया था। तो चूँकि तुम वहाँ मुख्य आनंद पाते निश्चय नहीं पाते हो, और उस स्वभाव के कारण, जो निश्चय में अभ्यासी हो रहा है, कहते हो कि वहाँ कुछ नहीं देखा और मृतक-सा हो गया था, यहाँ कुछ भोग नहीं। किंतु जब वहाँ वस्तुतः अपना मुख्य आनंद पाते हो और मन में आप निश्चय भी करते हो कि मैं आनंद में सोया था, इसलिये निश्चय भी दिलाते हो कि वहाँ सब आराम देखा।

(१०८) जिस प्रकार कोई मनुष्य ऐनक लगाने का अभ्यासी हो जाता है, तो जब उसे कोई पत्र पढ़ना होता है,

तो कहता है कि मुझे ऐनक बिना दिखाई नहीं देता। तो यद्यपि वास्तव में वह अंधा नहीं होता, तो भी ऐनक के द्वारा देखने का अभ्यास उसे हो जाता है, इसलिये उसके द्वारा जो कुछ देखता है निश्चय करता है।

(१०९) यदि विचार किया जाय तो देखना काम आँख का है, ऐनक का नहीं। क्योंकि अंधे के पक्ष में ऐनक भी क्या कर सकती है। तो भी अभ्यास के कारण जब ऐनक नहीं पाता, तो बिना उसके कहता है कि मैं अंधा-सा हूँ, ऐनक मिलेगी, तो पत्र पढ़ा जायगा, और ऐनक को खोजता फिरता है। इसी तरह मनुष्य भी प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक पहचान का निश्चय मन से करता है, और यही उसका अभ्यास है। किंतु जब मन नहीं होता, तो यद्यपि देखता या सुनता है, पर उसका निश्चय नहीं करता, वरन् कहता है, न मैंने देखा न सुना।

(११०) तुम भी मन के निश्चय के अभ्यासी हो। इस लिये सुषुप्ति में अपने आपको जानते-पहचानते और परमानंद को पाते हुए भी कहते हो कि यहाँ तो कुछ भी भोग नहीं (*यद्यपि आँख भी देखती है, तो इसी आत्मा के कारण, कान भी सुनते हैं, तो इसी आत्मा के कारण, जिह्वा भी चखती है, तो इसी आत्मा के कारण, मन भी निश्चय करता है, तो इसी आत्मा के कारण*), तो क्या यह आत्मा, जो अपना निजी देखना, निजी सुनना, निजी

चखना और निजी निश्चय करना रखता है, अथवा वह झूठा हो सकता है ? कदापि नहीं।

(१११) वरन् उसकी उपमा तो ऐसी है जैसा कि कोई तेज गरम पानी में हाथ लगाए और कहे कि पानी गरम है, आग गरम नहीं, तो उसके ज्ञान में अंतर है, क्योंकि पानी में गरमी तो आग के कारण से है। अग्नि तो ठीक गरमी-स्वरूप है, पानी में गरमी अन्य की है, निजी नहीं, इसलिये गरम तो है, परंतु गरम रूप नहीं। अग्नि में तो उष्णता दूसरे की नहीं, निजी है, इसी कारण गरम-रूप कहलाती है।

(११२) इसी तरह जब आत्मा आँख में आता है, तो आँख देखती है। जब वह आत्मा उसे छोड़ता है, तो वह नहीं देखती। इसलिये मालूम हुआ कि आँख में देखना निजी नहीं वरन् दूसरे का है। जैसा अग्नि के संयोग से जल उष्ण होता है, उसी तरह आँख भी इस आत्मा के संयोग से देखती है।

(११३) फिर चूँकि आत्मा जब कान में आता है तो कान सुनते हैं, जब आत्मा उनसे अलग हो जाता है, तो फिर नहीं सुनते। इसलिये ज्ञात हुआ कि कान वास्तव में नहीं सुनते वरन् उनमें सुनना दूसरे का आरोपित है, जैसा कि अग्नि के संयोग से पानी में उष्णता आरोपित है।

(११४) फिर चूँकि मन भी तब ही निश्चय करता है, जब आत्मा उसमें निवास करता है। जब आत्मा

तो कहता है कि मुझे ऐनक बिना दिखाई नहीं देता। तो यद्यपि वास्तव में वह अंधा नहीं होता, तो भी ऐनक के द्वारा देखने का अभ्यास उसे हो जाता है, इसलिये उसके द्वारा जो कुछ देखता है निश्चय करता है।

(१०६) यदि विचार किया जाय तो देखना काम आँख का है, ऐनक का नहीं। क्योंकि अंधे के पक्ष में ऐनक भी क्या कर सकती है। तो भी अभ्यास के कारण जब ऐनक नहीं पाता, तो बिना उसके कहता है कि मैं अंधा-सा हूँ, ऐनक मिलेगी, तो पत्र पढ़ा जायगा, और ऐनक को खोजता फिरता है। इसी तरह मनुष्य भी प्रत्येक दृश्य, प्रत्येक पहचान का निश्चय मन से करता है, और यही उसका अभ्यास है। किंतु जब मन नहीं होता, तो यद्यपि देखता या सुनता है, पर उसका निश्चय नहीं करता, वरन् कहता है, न मैंने देखा न सुना।

(११०) तुम भी मन के निश्चय के अभ्यासी हो। इस लिये सुषुप्ति में अपने आपको जानते-पहचानते और परमानंद को पाते हुए भी कहते हो कि यहाँ तो कुछ भी भोग नहीं (यद्यपि आँख भी देखती है, तो इसी आत्मा के कारण, कान भी सुनते हैं, तो इसी आत्मा के कारण, जिह्वा भी चखती है, तो इसी आत्मा के कारण, मन भी निश्चय करता है, तो इसी आत्मा के कारण), तो क्या यह आत्मा, जो अपना निजी देखना, निजी सुनना, निजी

की दृष्टि से देखती है, कान भी सुनते हैं, तो दूसरे की शक्ति से सुनते हैं, जिह्वा भी आस्वादन करती है, तो दूसरे के स्वाद से स्वाद लेती है, मन भी निश्चय करता है, तो दूसरे के निश्चय से निश्चय करता है, किंतु आत्मा तो दूसरे की दृष्टि से नहीं देखता, वरन अपनी दृष्टि से देखता है, इसलिये दृष्टि-रूप वरन् ठीक दृष्टिस्वरूप है।

(११८) फिर चूँकि आत्मा दूसरे के श्रवण से नहीं सुनता, वरन् अपने ही श्रवण से सुनता है, इसलिये ठीक श्रवणस्वरूप है। इसी तरह आत्मा दूसरे के निश्चय से निश्चय नहीं करता, वरन् अपने निश्चय से निश्चय करता है, इसलिये ठीक निश्चयस्वरूप है। बहुत क्या कहें, सब शरीर इसी के अस्तित्व से अस्तित्वमान है। वास्तव में कुछ भी विद्यमान नहीं, बल्कि सब दूसरे के अस्तित्व से विद्यमान हैं, इसलिये कल्पित और मिथ्या है। किंतु आत्मा तो दूसरे के अस्तित्व से अस्तित्व नहीं रखता, वरन् अपने अस्तित्व से विद्यमान है, इसलिये अस्तित्व-रूप वा ठीक सत्स्वरूप है।

(११९) क्या आँख, क्या नाक, क्या कान, क्या मन, वरन सब शरीर अविद्यमान हैं और मृत हैं, दूसरे के अस्तित्व, दूसरे की दृष्टि, दूसरे के श्रवण, दूसरे के आस्वादन, दूसरे के निश्चय, दूसरे के जीवन से जीवित, देखते, सुनते, चखते निश्चय करते हैं, और वह जो जिसके

उससे भी निकल जाता है तो फिर मन भी नहीं निश्चय करता, इसलिये ज्ञात हुआ कि मन का निश्चय भी वास्तविक नहीं वरन् दूसरे का आरोपित है, जिस तरह पानी की उष्णता अग्नि से आरोपित होती है।

(११५) और ये बातें उसी समय, जब आत्मा इस सब को छोड़कर निद्रा में एक अकेला होता है, निश्चय होती हैं कि न तो आँख देखती है, न कान सुनते हैं, न मन निश्चय करता है। किंतु यह ठीक नहीं है कि आत्मा भी उस समय नहीं देखता, नहीं सुनता, नहीं निश्चय करता, वरन् वह तो ठीक दृष्टिस्वरूप, श्रवणस्वरूप और निश्चयस्वरूप है, जिस प्रकार कि अग्नि भी उष्णतास्वरूप है।

(११६) ऐ इंद्र ! उक्ति में दो प्रकार के वाक्य होते हैं। यों भी वाक्य होता है कि पानी गरम है, और यों भी बोलते हैं कि आग गरम है, किंतु विवेकी जानता है कि "पानी गरम है", इस वाक्य के यह अर्थ हैं कि पानी वास्तव में गरम नहीं, वरन् दूसरे की गरमी से गरम है, और "आग गरम है", इस वाक्य के यह अर्थ हैं कि वह अपनी गरमी से गरम है। वरन् सत्य, तो यों है कि उसे गरम भी तब कहें, जब दूसरे की गरमी उसमें आई हो। उसे तो यों कहना चाहिए कि वह गरमरूप या ताप-स्वरूप है।

(११७) इसी तरह, आँख भी जो देखती है तो दूसरे

को भी मिठाई बोलते हैं, इसी तरह हम भी उसे जीवित निश्चय करें तो हो सकता है।

(१००) निदान, यही आत्मा सत् है, क्योंकि अस्तित्व-स्वरूप है, यही आत्मा चित् है, क्योंकि दृष्टिस्वरूप है, यही आत्मा आनंद है, क्योंकि आनंदस्वरूप है। इसी कारण से वेदांतियों में इसकी निजी उपमा सच्चिदानंद है। जिस तरह सूर्य की धूप भी रक्तस्वरूप, श्वेतस्वरूप, पीत-स्वरूप है, किंतु उसका प्रमाण त्रिकोण शीशे के द्वारा होता है, उसी तरह इस आत्मा का भी प्रमाण इस शरीर और मन में होता है, क्योंकि जिस तरह त्रिकोण शीशे म धूप आती हुई अपने स्वरूप के भिन्न-भिन्न रंग दिखाती है, उसी तरह यह चेतन भी आँख में देखता, कान में सुनता, जिह्वा में चखता, मन में जानता-समझता-सोचता निश्चय करता सिद्ध होता है।

(१०१) किंतु जिस तरह त्रिकोण शीशा वास्तव में न तो लाल है, न सफेद, न पीला, उसी तरह न आँख देखती है, न कान सुनते हैं, न जिह्वा स्वाद लेती है, न मन जानता है, न निश्चय करता है, वरन् सब के सब इस (आत्मा) के निजी चमत्कारों के द्योतक हैं, और प्रत्येक आविष्कार में (दृश्य वा व्यक्ति म) इसके एक-एक चमत्कार का प्रादुर्भाव है, किंतु घोर निद्रा में तो वह आविष्कारों से भी पवित्र, अपने समस्त चमत्कारों मे अपने ही स्वरूप में स्पष्टतर है

कारण से ये जीवित, विद्यमान, सुनते, देखते, चखते, निश्चय करते हैं, वही आत्मा है, वही जीवनस्वरूप, अस्तित्वस्वरूप, दृष्टिस्वरूप, श्रवणस्वरूप, रसनास्वरूप, और आनंद-स्वरूप है।

(१२०) जब कि वह जीवनस्वरूप है, तो उसी तरह जिस तरह अग्नि को जो गरमी-स्वरूप है, बोलचाल में गरम कह सकते हैं, इसी तरह इस जीवन (चेतन) को भी कह सकते हैं कि निद्रा में वह जीवित है, और इसी तरह जब कि वह दृष्टिस्वरूप है, तो कह सकते हैं कि वह अपने आपको देखता है, जब कि वह श्रवणस्वरूप है, तो कह सकते हैं कि वह अपने आप में आपको सुनता है, जब कि वह आनदस्वरूप है, तो कह सकते हैं कि वह अपने आनद में आनद पाता है।

(१२१) देखो, मिसरी वास्तव में मधुरतास्वरूप है, क्योंकि जिस-जिस वस्तु में उसे डालते हैं, उसी-उसी वस्तु को मधुर कर देती है। परंतु वे सब वस्तुएँ दूसरे की मधुरता से मधुर होती हैं, वास्तव में फीकी होती हैं। इसी तरह ये सब शरीर, अग, इद्रियाँ और मन मृतक हैं, उसी के जीवन से जीवित हैं। किंतु यह (आत्मा) तो दूसरे के जीवन से जीवित नहीं, वरन् अपने जीवन से जीवित है, इसलिये जीवनस्वरूप है। और जिस तरह मिसरी को भी सर्वसाधारण लोग मिठाई बोलते हैं और दूसरी मिठाई

स्थान विद्यमान नहीं होते, तो अकेली अग्नि के समान समस्त चमत्कारों का पुंज एकमेवाद्वितीयम्, अपने स्वरूप में प्रकटतर होता है, परंतु जब तक प्राण और मानवीय अंतःकरण का मानवीय शरीर में कर्मभोग के कारण संबंध है, उस प्रारब्ध-भोग-समाप्ति तक इसका आविर्भाव जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में होता-सा दिखाई देता है। वास्तव में यह एक है। जैसा एक मनुष्य के शरीर में प्रकट होता है, उसी तरह दूसरे शरीरों में चमकता है, और जैसे मनुष्य के शरीर में प्रकट होता है, उसी तरह मानवीय शरीर तो क्या वरन् पितर गंधर्व देवता प्रजापति और ब्रह्मा के शरीरों में भी चमकता है।

(१०७) किंतु मानवीय शरीर में पैतृक कर्मों के कारण जितने साधन (करण) एकत्र हुए हैं, उसमें इसके उतने ही संक्षिप्त चमत्कार प्रकट होते हैं। पितरों के शरीरों में उससे बढ़कर चमत्कारों के साधन (करण) हैं, इसलिए इसके अधिक चमत्कार वहाँ प्रकट होते हैं। और फिर गंधर्व तथा देवताओं के शरीर उनसे भी अधिक साधन रखते हैं, उनमें उनकी अपेक्षा भी अधिक इसके चमत्कार प्रकट होते हैं। ब्रह्मलोक में सबसे बढ़कर साधन है, जिससे बढ़कर दूसरों में नहीं। इसलिये ब्रह्मा के शरीर में सत्य-संकल्प, सत्यकाम, पूर्ण स्वतंत्र और परम शक्तिमान् इसके चमत्कार प्रकट होते हैं।

यही ब्रह्म है। यही समस्त मनोरथों (आशयों) की खानि है। क्योंकि इसी के चमत्कार प्रत्येक अव्यक्त में आए, उसे पूर्ण (व्यक्त) करते हैं।

(१२४) जब यह आत्मा प्रत्यक्ष (दृश्य) को छोड़ता है, तो वे सब के सब इसके निजी चमत्कारों के प्रतिबिंबों से रिक्त हो जाते हैं, और यह बिंब जिसके निजी चमत्कार हैं, सब चमत्कारों से तद्रूप हुआ एक अद्वितीय, सब चमत्कारों की खानिस्वरूप, इस घोर निद्रा में होता है। क्योंकि सब मनोरथ, सब चमत्कार इसमें एक होते हैं, यही वास्तव में समस्त गुणों और मनोरथों का पुंज है, और यही ब्रह्म है।

(१२५) यह न मान लेना चाहिए कि कोई भिन्न मनोरथ या भिन्न चमत्कार इसमें कल्पित होते हैं, कदापि नहीं। वरन् सब चमत्कार, सब संकल्प, इसके निजी हैं, जिस तरह उष्णता और प्रकाश अग्नि में दूसरे के नहीं, वरन् निजी हैं, क्योंकि एक ही अग्नि चक्षु-इंद्रिय में प्रकाश का निश्चय पाती है, वही अग्नि त्वक्-इंद्रिय में गरमी का निश्चय पाती है, किंतु चक्षु-इंद्रिय और त्वक्-इंद्रिय की अपेक्षा (उपाधि) के बिना एक ही अग्नि है, गरमी और प्रकाश तथा अग्नि कोई भिन्न-भिन्न कल्पित गुण नहीं।

(१२६) इसी तरह एक ही आत्मा नेत्र में दृष्टि, कान में श्रवण, जिह्वा में स्वाद, मन में निश्चय की शब्दावली से बोला जाता है, किंतु घोर निद्रा (सुषुप्ति) में जब ये प्रकट-

जाते हैं, इसलिए एक रूप (उपाधि) में एक ही चमत्कार इसका प्रकट होता है, दूसरे चमत्कार (कमाल) प्रकट नहीं होते, तो भी सब कमाल इसके निजी हैं, किसी रूप या उपाधि में भी दूर नहीं हो जाते। इसलिये जाग्रत् में जब यह आँख के भीतर होता है तो यद्यपि केवल देखता है और आँख-पुरुष कहलाता है, परंतु उसी तरह इसे सब कमाल प्राप्त हैं। और बुद्धिमान् आँख-पुरुष में भी इसे उन्हीं कमालों से, जो ब्रह्मलोक में विद्यमान होते हैं, पहचानते हैं और इसी आँख पुरुष की उपासना करते हैं।

(१३१) फिर, चूँकि जब कान में बैठकर सुनता है देखता नहीं, तो यद्यपि प्रत्यक्ष में केवल कान-पुरुष हुआ सुनने का कमाल देखता है, दूसरे कमालों को नहीं देखता, परंतु भीतर में बुद्धिमान् इसे कानों में भी सारे कमालों से पूर्ण पहचानते हैं, और कान-पुरुष को भी ब्रह्म-रूप जानते उपासना करते हैं। इसी तरह नाक-पुरुष, जिह्वा पुरुष इत्यादि को भी स्थूलदर्शी इंद्रिय अथवा ज्ञानेंद्रिय जानता उसे दूषित ख़याल करता है, किंतु सूक्ष्मदर्शी पुरुष क्या नाक-पुरुष, क्या जिह्वा पुरुष सब को सब स्थान में कमालों से पूर्ण पहचानते ब्रह्म-रूप करके इसकी उपासना करते हैं।

(१३२) ऐ इष्ट! यही आत्मा जाग्रत् में आया अपने सब कमालों से यद्यपि एक होता है, तो भी जिस तरह इसके कुछ कमाल जाग्रत् में स्पष्ट होते हैं, उसी तरह (इससे) भिन्न

(१२८) यद्यपि मनुष्य से लेकर ब्रह्मा तक भिन्न-भिन्न शरीर हैं, किंतु यह आत्मा अकेला समस्त गुणों का पुंज स्वरूप सबमें एक है। इसी कारण इसको इकलौता बोलते हैं। और प्रत्यक्ष में मनुष्य जिस-जिस उपाधि (व्यक्ति) में इसका ज्यों-ज्यों चमत्कार देखता है, उसे उसी उपाधि का चमत्कार गुमान करता नाना प्रकार के चमत्कार देखता है। और एक लोक को दूसरे लोक से न्यूनाधिक ख़याल करता, निकम्मे लोक, निकम्मे भोग में हानि देखता, बड़े लोक, बड़े भोग की कामना करता उसके मिलने के लिये कर्म करता है।

(१२९) लेकिन वे जो बुद्धिमान् हैं, और इस संक्षिप्त मानवीय शरीर में इस इकलौते, समस्त चमत्कारों के पुंज को जानते हैं, और इसी में स्थित होते हैं, सब मनोरथों, सब चमत्कारों को पा जाते हैं। क्योंकि वे निश्चय करते हैं कि जब यही आत्मा नेत्र में प्रकट हुआ देखता है, तो क्या सुनने-वाला नहीं ? यदि वह सुननेवाला न होता, तो क्योंकर कानों में आया सुनता। और यदि कानों में सुनता है, तो क्या देखनेवाला नहीं ? बल्कि है। क्योंकि यदि देखनेवाला न होता, तो क्योंकर आँख में आया देख सकता।

(१३०) निदान, क्या आँख क्या कान क्या नाक क्या मुख क्या शरीर क्या त्वक् भिन्न-भिन्न रूपों वा उपाधियों में आया हुआ देखता सुनता सूँघता चखता छूता होता है। यद्यपि छोटे रूप (उपाधि) दूसरे चमत्कारों के आवरण हो

जाते हैं, इसलिए एक रूप (उपाधि) में एक ही चमत्कार इसका प्रकट होता है, दूसरे चमत्कार (कमाल) प्रकट नहीं होते, तो भी सब कमाल इसके निजी हैं, किसी रूप वा उपाधि मे भी दूर नहीं हो जाते। इसलिये जाग्रत् में जब यह आँख के भीतर होता है तो यद्यपि केवल देखता है और आँख-पुरुष कहलाता है, परन्तु उसी तरह इसे सब कमाल प्राप्त हैं। और बुद्धिमान् आँख-पुरुष में भी इसे उन्हीं कमालों से, जो ब्रह्मलोक में विद्यमान होते हैं, पहचानते हैं और इसी आँख-पुरुष की उपासना करते हैं।

(१३१) फिर, चूँकि जब कान में बैठकर सुनता है देखता नहीं, तो यद्यपि प्रत्यक्ष में केवल कान पुरुष हुआ सुनने का कमाल देखता है, दूसरे कमालों को नहीं देखता, परन्तु भीतर से बुद्धिमान् इसे कानों में भी सारे कमालों से पूर्ण पहचानते हैं, और कान-पुरुष को भी ब्रह्म-रूप जानते उपासना करते हैं। इसी तरह नाक-पुरुष, जिह्वा पुरुष इत्यादि को भी स्थूलदर्शी इंद्रिय अथवा ज्ञानेंद्रिय जानता उसे दूषित ख़याल करता है, किंतु सूक्ष्मदर्शी पुरुष क्या नाक-पुरुष, क्या जिह्वा पुरुष सब को सब स्थान में कमालों से पूर्ण पहचानते ब्रह्म-रूप करके इसकी उपासना करते हैं।

(१३२) ऐ इंद्र ! *यही आत्मा जाग्रत् में आया अपने सब* कमालों से यद्यपि एक होता है, तो भी जिस तरह इसके कुछ कमाल जाग्रत् में स्पष्ट होते हैं, उसी तरह (इससे) भिन्न

जाग्रत् के दोष अनजान को इसमें दिखाई देते हैं। और यह मनुष्य दूसरे के दोषों को अपने में अनुमान (भान) करता विवश-सा हो जाता है, किंतु ज्ञानी दूसरे के दोषों को अभाव-रूप देखता हुआ और अपने सब कमालों का निश्चय करता हुआ भी विश्वास करता है कि "मैं पूर्ण संपन्न व पूर्ण स्वच्छंद हूँ", और अनजान मनुष्य इसके निश्चय में चकित होता है।

(१३३) फिर चूँकि यह आत्म-पुरुष जब जाग्रत् से स्वप्न में जाता है, तो स्वप्न के कमाल इसमें प्रकट होते हैं, किंतु स्वप्न के अनात्मदोष भी इसमें प्रकट हो आते हैं। यही कारण है कि तुम्हें मार खाता-सा, धकेला जाता-सा भान हुआ था, क्योंकि मार खाता-सा, धकेला जाता-सा वहाँ अपने से भिन्न खयाल के गुण थे, जो घोर निद्रा (सुषुप्ति) में नहीं रहे।

(१३४) फिर, इसी तरह जब यह सुषुप्ति में जाता है, तो सुषुप्ति के अर्थात् अनात्म बेख़बरी और अंधकार के गुण इसमें विद्यमान होते हैं, किंतु इसका मुख्यानंद जो परमानंद और निजी कमाल है, स्पष्ट रहता है, इसी कारण जाग कर यह निश्चय करता है कि मैं ऐसा आनंद से सोया कि कुछ भी ख़बर न रही।

(१३५) इस निश्चय में आनंद का निश्चय तो अपने कमाल का है, और बेख़बरी का निश्चय भिन्न निद्रा का है,

क्योंकि यदि बेखबरी और अधकार भी इसके निजी गुण होते, तो जाग्रत् में दूर (अभाव) न होते। वह आनद तो जाग्रत् में भी सिद्ध है, इसलिये ऐ इद्र ! उस अनात्म सुषुप्ति-दोष से तुझे भान हुआ है कि "वहाँ सुषुप्ति में यह (आत्मा) न तो अपने आपको जानता है न दूसरे को, वरन् मृतक-सा होता है। इसमें भी कुछ भोग नहीं देखता।"

(१३६) तुमको चाहिए कि अन्वय-व्यतिरेक के नियम से अधकार और बेखबरी के दोष को भी उसी तरह अनात्म निश्चय करो जिस तरह जाग्रत् में कालापन, अधापन, लँगड़ापन, दूसरे के दोष इसमें खयाल किए हैं, या स्वप्न में मार खाता-सा, धकेला जाता-सा, खयाल के अनात्म-धर्म निश्चय किए हैं। ऐ इंद्र ! अधिक विस्तार होता है, सक्षेप से यह कि यह शरीर मरनेवाला वल्कि ठीक मृत्यु-रूप है और समस्त दोषों का पुंज है, जिस तरह यह आत्मा सारे कमालों (चमत्कारों) का पुज है।

(१३७) जब तक इस (आत्मा) को शरीर से कल्पित सबध है, तब तक इसके कुछ कमाल उस (शरीर) में और उसके समस्त दोष इसमें प्रकट होते हैं। इस सबध के कारण इस समय भी शरीर इस (आत्मा) के प्रकट होने का स्थान या उपाधि सा हो रहा है, और जब तक यह (आत्मा) इसी उपाधि से प्रकट होता है, तब तक इसी उपाधि के कारण दोषवाला दिखाई देता है। इसलिये श्रुति

कहती है कि जब तक यह शरीर वाला है, तब तक प्रिय और अप्रिय दोनों देखता है, वे दूर नहीं होते।

(१३८) किंतु, जब यह बिना शरीर के होता है, तो इसे प्रिय और अप्रिय दोनों नहीं छूते, वरन् अपने स्वरूप में जो ज्योतिस्वरूप है स्थिर हो जाता है। अब अशरीरी होना इसका दो प्रकार का है, या तो यह केवल विवेक और ज्ञान से अशरीरी होता है, या मृत्यु से।

(१३९) क्योंकि हम लिख आए हैं कि आत्मा का संबंध अंत करण और शरीर से कल्पित है, और शरीर से अंत करण का संबंध कर्मभोगों के कारण से है, और आत्मा के प्रतिबिंब का अंत करण से संबंध सहोत्पत्ति का है। जब यह अन्वय-व्यतिरेक के नियम से अपने परम ज्योति-रूप का ज्ञान पाता है, तो उस ज्ञान से कल्पित संबंध दूर हो जाता है। किंतु यह ज्ञान कर्मभोगों के संबंध को दूर नहीं करता, क्योंकि पहचान से तो केवल भ्रांति दूर होती है, कोई विद्यमान वस्तु दूर नहीं होती। यही दैवी नियम है।

(१४०) जब यह कल्पित संबंध इस तरह ज्ञान से दूर हो जाता है, तो इस संबंध के टूटने से यह अशरीरी होता है, यद्यपि कर्मभोगों के संबंध के कारण यह इसी शरीर में यावज्जीवन सैर करता है, क्योंकि जब तक कर्मभोगों का संबंध है तब तक यह जीवित है। और फिर चूँकि

प्रतिबिंब का अंत करण से सहोत्पत्ति का संबंध है, अत जब तक अंत करण है तब तक इनका प्रतिबिंब उसमें पड़ेगा। इसी प्रतिबिंब के कारण यह इस शरीर में सैर भी करता है, किंतु बिंब की दृष्टि से यह अशरीरी और नित्य मुक्त रहता है।

(१४१) जब यहाँ के भोग समाप्त हो जाते हैं, तो फिर यह कर्मभोगों का संबध भी दूर हो जाता है, और मृत्यु हो जाती है। उस समय क्या बाह्य-इंद्रियाँ, क्या अतरेंद्रियाँ, क्या अत करण सब, जो समष्टि-रूप से शरीर कहा जाता है अथवा मनुष्य बोला जाता है, मरणशील हो जाते हैं। उस समय यह दूसरी तरह का अशरीरी हो जाता है। किंतु हम लिख चुके हैं कि इसमें स्वाभाविक ईश्वरीय संबध हो जाता है, फिर ईश्वर के अहकार, मन और बुद्धि में इसी का प्रतिबिंब पड़ता, ईश्वर के सत्यकाम और सत्यसंकल्प की सैर करता है।

(१४२) तो भी विवेक और ज्ञान के कारण उस (ईश्वर) के ख़याल से जो माया है और उसके अहकार, मन, बुद्धि, चित्त से जो मायावृत्तियाँ हैं, यह कुछ लगावट नहीं पाता। जब यह अन्वय-व्यतिरेक के नियम से इस आत्मा में अन्य के अर्थात् अनात्म जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के दोष देखता है, और सारे कमाल अपने आत्मा के जानता है, तथा निश्चय करता है कि "मैं शरीर नहीं वरन समस्त उपाधिरहित,

अर्थात् निर्विकार, निरवयव, सच्चिदानंद, पूर्णब्रह्म, ज्योति-स्वरूप हूँ" तो उस समय जीवन में ही अपने शरीर से पृथक् प्रथम प्रकार का अशरीरी या विदेह हो जाता है, और इसे प्रिय-अप्रिय दोनों किसी प्रकार भी स्पर्श करने नहीं पाते। इसलिये इसका नाम उत्तम पुरुष होता है।

(१४३) क्योंकि जब तक भ्रांत-संबंध था, तब तक जाग्रत् में आया जाग्रत्-पुरुष, स्वप्न में आया स्वप्न-पुरुष, सुषुप्ति मे आया सुषुप्ति-पुरुष कहलाता था। जब यह विवेक से अशरीरी या विदेह होता है, तो न जाग्रत्-पुरुष, न स्वप्न-पुरुष, न सुषुप्ति-पुरुष, वरन् चतुर्थ पुरुष हो जाता है, जिसको उन्हीं तीन की अपेक्षा से उत्तम पुरुष कहते हैं, क्योंकि सबमें यही उत्तम है। और उन तीनों अवस्थाओं के अनात्म-दोष विवेक की शक्ति से इसमे लगावट नहीं पाते, वल्कि क्यों कब से रहित निर्विकार, निरवयव, ज्योतिषां ज्योति हुआ यह उनका द्रष्टा रहता है।

(१४४) अब, जिस तरह यह उत्तम पुरुष शरीर के भ्रांत-संबंध को तोड़कर विदेह उठता है, उसका उदाहरण सुनो। जैसा कि वायु, बादल, बिजली और मेघ-गर्जन भी बिना देह के होते हैं, और शीतकाल में इसी देवलोक (आकाश) के साथ एक होते हैं। इसी तरह यह विदेह आत्मा भी पहचान से पहले इस शरीर में प्रविष्ट हुआ देह (शरीर) से एक होता है, वरन् शरीर को ही अपना आप

समझना स्वाभाविक अहंता उसमें रखता है, और उसके मरण-जन्म को तथा जो कुछ इस संसार में दु ख-दर्द है, सब अपने गुण जानता दु खी सुखी होता है।

(१४५) किंतु, जब बरसात आती है तो जिस प्रकार सूर्य के तेज से तपे हुए ये सब रस आकाश से उठते अपने-अपने वास्तविक स्वरूप को पाते हैं, उसी तरह जब पूर्ण गुरु मिलता है, तो ज्ञानाग्नि से यह आत्मा भी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से विवेक पाया हुआ इस देह से उठता अपने परम ज्योति-रूप साक्षीस्वरूप में प्राप्त होता है, और अपने ही रूप में स्थिर हो जाता है। यही उत्तम पुरुष है।

(१४६) जब यह उत्तम पुरुष इस प्रकार ज्ञान की शक्ति से इस शरीर से उठता है, तो फिर इसका मनुष्यलोक से ब्रह्मलोक तक उजाला होता है, और वहाँ तक इसकी सैर होती है, जैसा कि हमने विज्ञापन में लिखा है कि हँसता हुआ, लीला करता हुआ, स्त्रियों से छेड़छाड़ करता, कुटुम्बियों से मिलता, विरादरी से वातें करता, परम स्वतंत्र होता है। फिर इस दूषित शरीर के जो पड़ोसी हैं, उन्हें स्मरण भी नहीं करता।

(१४७) इस बात को यों समझो कि क्या मनुष्य का शरीर, क्या पितरों का शरीर, क्या देवताओं का शरीर, क्या प्रजापति, क्या ब्रह्मा का शरीर, सबके सब शीशों की भाँति होते हैं, और यह उत्तम पुरुष ज्योति की तरह उन

सबसे पृथक्, दूर, अपने परम ज्योतिस्वरूप में धड़ाधड़ जलता है, किंतु सबमें उसी तरह प्रतिबिंबित होता है, जिस तरह ज्योति शीशों में प्रतिबिंबित होती है। प्रत्येक में यह अपने कमालों (चमत्कारों) की महिमा प्रदान करता है, और इसी के उजाले में वे सब अपने-अपने संक्षिप्त भोग विशेष पाते हैं, जो सब इसी के कल्पित भोग ख़याल किए जाते हैं।

(१४८) दूसरा कारण यह है कि शरीर एक गाड़ी के समान है, और इंद्रियाँ घोड़ों के समान हैं जो उसमें जुते हुए हैं, और अहंकार अपने समस्त लश्कर के साथ उसमें सवार है, और वे सब इसी उत्तम पुरुष-रूप ज्योति के प्रकाश में व्यापार करते हैं।

(१४९) देखो, इस शरीर में जो एक अंग आँख है, उसके भीतर काली पुतली है। उसके भीतर काला तिल है। उसके भीतर एक बारीक छेद है जो दृष्टि-स्थान कहलाता है, और उसके भीतर चक्षु-इंद्रिय है। उसके भीतर यही उत्तम पुरुष चमकता है, उसे देखने वा दृष्टि का कमाल प्रदान करता है, और इस शरीर की दृष्टि के लिये उसकी आँख होता है।

(१५०) इसी तरह जब यह शरीर चाहता है कि मैं कुछ सूँघूँ, तब यही उत्तम पुरुष उसकी नाक में चमकता उसे सूँघने का कमाल प्रदान करता है, और उसके सूँघने

के लिये नाक पुरुष होता है। और, जब यह चाहता है कि मैं कुछ बातचीत करूँ, तो यही उत्तम पुरुष जिह्वा और कंठ में आया हुआ उसे वार्तालाप की शक्ति प्रदान करता है और उसके लिये वाक्-पुरुष होता है। जब यह शरीर चाहता है कि मैं कुछ सुनूँ, तो यही उत्तम पुरुष कानों में आया हुआ सुनने की शक्ति प्रदान करता है और उसके लिये कान-पुरुष होता है।

(१५१) जब यह चाहता है कि मैं कुछ सोचूँ समझूँ, तो यही उत्तम पुरुष मन के भीतर आया उसे सोच-समझ की शक्ति प्रदान करता है, और उसकी सोच-समझ के लिये मनोपुरुष होता है। इसी तरह प्रत्येक अंग में उसी के काम की शक्ति प्रदान करता है, और उसके लिये यही उत्तम पुरुष होता है। इस तरह सबमें सब कुछ करता-सा हुआ भी वास्तव में दातास्वरूप होता है, आप कुछ भी नहीं करता। जब नहीं करता, तो उसका फल भी नहीं पाता, क्योंकि यह तो कर्त्ता नहीं बल्कि दाता है। ऐसा दाता नहीं कि अपनी दातव्यता का कुछ बदला चाहता है, कदापि नहीं। वरन् जिसको जो कुछ अभीष्ट होता है, मुफ्त बिना माँगे देता है। और ऐसे दाता को परमदानी और फारसी में जुव्वादे-मुतलक़ बोलते हैं। और परमदानी वास्तव में यही उत्तम पुरुष है, दूसरा नहीं।

(१५२) यद्यपि इस मनुष्य में प्रत्येक अंग क्या आँख,

क्या कान, क्या नाक, सब किसी न किसी कारण से सेवक हैं, और इसके जाँच-पड़ताल तथा गति के करण वा साधन हैं, और उसी उत्तम पुरुष के कुशलेच्छा और शक्ति के पानेवाले हैं, किंतु मन तो इसकी दिव्य आँख हो जाता है, क्योंकि जब यह मन अपने कर्मभोगों के संबध के कारण, जो अब तक दूर नहीं हुआ, शरीर के प्रतिकूल या अनुकूल हो पाता है, तो प्रतिकूल को दूर करने के लिये और अनुकूल के भोग देने के लिये प्रमाद के कारण सोच करता है, और शरीर में अहंकार के रूप में बदलता है। और यही उत्तम पुरुष उसमें आया मूढ़ पुरुष होता भोग पाता-सा और शरीर की रक्षा करता-सा हो जाता है।

(१५३) जब यह मन किसी प्रतिकूल या अनुकूल को नहीं पाता, वरन् छुट्टी पाता है, तो उसके ज्ञान के स्मरण में तरंगित होता ब्रह्मा से ले च्यूँटी तक और आकाश से ले पृथ्वी पर्यंत अहंकार के भाव या खयाल में बदलता है। और यही उत्तम पुरुष उसमें आया हुआ पूर्ण ज्ञानी-सा होता है, ब्रह्मलोक के भोग भी अपने में ही निश्चय करता है, और दु खों को स्मरण भी नहीं करता। इस तरह यही मन उसकी दिव्य आँख हो जाता है।

(१५४) फलत, इस ज्ञानवान् की मनोवृत्तियाँ दो प्रकार की हो जाती हैं, या तो काम-काज में प्रमाद के कारण शरीर में अहंता का भान करता मूढ़ों के समान वर्ताव

करता है, या निवृत्ति अथवा सत्संग से प्रमाद जब दूर होता है, तो पूर्ण ज्ञानियों वा सिद्धों के समान "मं ब्रह्म हूँ, मैं ही सर्वरूप हूँ" स्वय निश्चय करता और ब्रह्मा के समान अपने शिष्यों को भी इसी विश्वास और ज्ञान की शिक्षा देता है। इसलिये ज्ञानी भी उसका आचार्य है, और इसी को सस्कृत में "ब्राह्मण" बोलते हैं, क्योंकि वह जो ब्रह्म की सतान अर्थात् पुत्र या आचार्य है, वह ब्राह्मण कहा जाता है।

(१५५) जब कि इसकी देखने की दो आँखें हो जाती हैं (एक आँख तो दुनिया के काम-काज की और दूसरी आँख ब्रह्मलोक के भोगों के निश्चय की), तो उस समय भी मन इसका दैव नेत्र के कारण दिव्य चक्षु कहलाता है, और इसी दिव्य चक्षु से, जो ज्ञान की दृष्टि है, इन सत्यकामों और सत्यसकल्पों को, जो दूसरों से ढके हुए वा छिपे हुए हैं, देखता हुआ हुर्रे उड़ाता है, हिप हिप हुर्रे, हिप हिप हुर्रे।

(१५६) दूसरे लोग तो इस दिव्य चक्षु से, जो दैवी आँख है, वचित हैं, इस शरीर और ससार के भोगों के निश्चय की आँख रखते हैं, इसलिये काने हैं, उन भोगों को, जो ब्रह्मलोक में हैं, निश्चय नहीं करते, वरन् देखते हुए भी नहीं देखते। किंतु एक आँखवालों को चाहिए कि जैसा वह आँख (दिव्य चक्षु) वाला निश्चय करे, उसी के अनुसार विश्वास करें। इसलिये वे जो इसके निश्चय पर विश्वास लाते हैं, और "मं ब्रह्म हूँ" ऐसा विश्वासपूर्वक निश्चय

करते हैं, सत्य में हैं, नास्तिकता और दुर्गति से निकल जाते हैं।

(१५७) जब इनके कर्मभोगों का संबंध मृत्यु के कारण टूटता है, तो इस ज्ञानी के प्राण तो इसी उत्तम पुरुष में लय हो जाते हैं, और ईश्वरीय मनोवृत्तियाँ, जो वास्तव में मायावृत्तियाँ हैं, अपने आप इसमें आ जाती हैं। फिर तो ईश्वर के अहंकार से अहंताभाव निश्चय करता ऐश्वर्य को मुक्त पाता है। फिर इस शरीर की याद भी नहीं करता। इसलिये सत्यसंकल्प सत्यकाम हो जाता है।

(१५८) जीवन-मुक्ति में यद्यपि ब्रह्मलोक के भोग उसी समय ईश्वरीय अहंकार से पाता है, किंतु उसकी माया-वृत्तियों से निश्चय नहीं करता, वरन् इसी मानवीय मनोवृत्ति से निश्चय करता है, वह भी स्मरण के रूप में नहीं, वरन् ज्ञान के रूप में। किंतु जब कर्मभोगों का संबंध छूट जाता है, तो फिर यह परिच्छिन्न अहंकार इत्यादि और शरीर तो जाते रहते हैं, और ईश्वर की स्वाभाविक मायावृत्तियाँ संबंध पा जाती हैं, जिसका उल्लेख अनेक बार किया गया है। फिर तो वह मायावृत्तियों से भोग पाया हुआ उन्हीं का निश्चय करता द्युलोक के राज्य का स्वामी हो जाता है। यही प्राप्तव्य था।

(१५९) नियत यह हुआ कि ईश्वर की देह में जो सत्यसंकल्प और सत्यकामों का संबंध है, कर्मभोगों के

कारण नहीं, किंतु स्वाभाविक है, जैसा कि छाया का संबंध शरीर से स्वाभाविक है, और यह ईश्वर अपने शुद्ध सतोगुण प्रधान संकल्पों से हर व्यक्ति की मनोवृत्तियों और शरीरों में जो सुख है भोगता है, दुःखों का बिछौना हो जाता है, और विवेक के कारण अपने स्वरूप में स्थित नित्य मुक्त रहता है। यही वेदांतियों का सिद्धांत है।

(१६०) पूर्ण ज्ञानी भी जीवन-मुक्ति में अपने परमज्योति-स्वरूप में स्थित होता है, जो ईश्वर का परम पद है। किंतु कर्मभोगों के संबंध तक अपनी संक्षिप्त मनोवृत्तियों में सैर करता है। जब यह संबंध टूट जाता है, तो ईश्वर की माया-वृत्तियाँ, जो इसी के स्वरूप की छाया हैं, छाया के समान आ जाती हैं, और ईश्वर के संकल्प इसी के संकल्प और ईश्वर के भोग इसी के भोग हो जाते हैं। सबके सुखों का भोक्ता और सबके दुःखों का बिछौना हो जाता है।

(१६१) इसकी उपमा यों समझो कि यदि एक घट एक कोठरी के भीतर रख दें, तो घट का जो आकाश है, वह वास्तव में कोठरी के आकाश में एक है, क्योंकि कोठरी के अंदाज से, जो उसके भीतर आकाश बताया जाता है, घट का आकाश भी उसी अंदाज के भीतर एक है। परंतु कोठरी का अंदाज बड़ा है और घट का अंदाज छोटा, इस कारण से घट के आकाश के खयाल से घट का आकाश उसी अंदाज का विस्तार देता है और उतनी ही चीजें पा सकता

जो घट के अंदाज के अनुसार हों, किंतु कोठरी का आकाश तो कोठरी के अंदाज के अनुसार वस्तुएँ पा सकता है।

(१६२) किंतु, जब उस घट को वहाँ ही तोड़ दें, तो घट का आकाश घट की उपाधि से मुक्त हुआ कोठरी के भीतर, जो वस्तुएँ हैं, सबका धारण करनेवाला होता है। क्योंकि वास्तविक आकाश में तो वह एक था, केवल घट की उपाधि में आया संक्षिप्त वस्तुएँ धारता था। अब उसकी उपाधि जाती रही, इसलिये स्वतंत्र हुआ सब वस्तुओं का अंतरिक्ष वा आकाश है।

(१६३) इसी तरह आत्मा भी आकाश के समान पहले माया में और फिर अविद्या मे आया हुआ ईश्वर और जीव कहलाता है। माया की उपाधि तो सतोगुणी और व्यापक है, इसलिये सब सुख के भोग और सत्यसंकल्प उसके प्रभाव हैं। उसी के भीतर आया आत्मा ईश्वर कहलाता है। और अविद्या माया की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त ज्ञान और भोग रखती है, वरन दु ख भी देती है, और कर्मों के बधन में भोग देती है, संकल्प के अनुसार नहीं देती। इसलिये यही आत्मा उसके भीतर आया जीव कहलाता है और दु ख-सुख का भोक्ता संसारी होता है।

(१६४) चूँकि शास्त्राज्ञा व सिद्धांत यही है कि अविद्या ज्ञान से नाश हो जाती है, जिस तरह अँधेरा दीपक से नाश हो जाता है। इसलिये पूर्ण ज्ञानी की अविद्या, जो उसके

वास्तविक स्वरूप को ढाँपती थी, दूर हो जाती है। परन्तु उसका एक भाग जब कर्मभोगों के संबंध के कारण इस तरह स्थापित रहता है जिस तरह दीपक के तले अँधेरा रहता है, तो ज्ञानी को यद्यपि निज स्वरूप के अनुभव से जिसकी छाया माया है, आवरण नहीं होता, किंतु सत्य-संकल्प आदिक मनोरथों में, जो माया के धर्म हैं, कर्मभोगों के आवरण के कारण मार्ग नहीं मिलता। जब यह कर्मों का संबंध समाप्त होता है, तो यह आवरण भी मृत्यु में अपने आप जाता रहता है। और माया भी छाया की भाँति अपने आप उपस्थित प्राप्त होती है।

(१९५) और यही जीवन-मुक्त आत्मा विदेह-मुक्त होता हुआ घटाकाश के समान महाकाश में प्राप्त होता है, क्योंकि घट को उपर्युक्त उदाहरण में तोड़ दें तो घटाकाश महाकाश में लीन होगा। इसी तरह जीवन-मुक्त को मृत्यु में ईश्वराप्ति होती है, और यही ईश्वराप्ति शुद्धाप्ति है। और इसी ईश्वराप्ति का अनुवाद ईश्वर से मिलाप व अभेदता करते हैं। इस तरह ज्ञान से यह ईश्वरानुभव पाता है, और फिर माया में जो कल्पित भोग हैं, उसमें भी मुक्त राह पाता है। इसी कारण ज्ञान प्रसाद का पद है, न्याय (जैसी करनी वैसी भरनी) का नहीं। क्योंकि इसमें केवल आत्मा की पहचान होती है, कुछ कर्म करना नहीं पड़ता।

(१९६) चूँकि अविद्या ज्ञान से दूर होती है, कर्म से

दूर नहीं होती, जैसा कि अँधेरा दीपक से सुगमतापूर्वक दूर हो जाता है, बिना दीपक के अँधेरे को किसी छोटी बड़ी अन्य क्रिया से निकालना चाहें तो कोठरी के भीतर से निकल नहीं सकता। इसी कारण चाहे कितना ही जप तप यज्ञ करो, अविद्या दूर नहीं होती। जब तक अविद्या दूर नहीं होती, शुभकर्मों के फल संचित भोग स्वर्ग के तो मिलते हैं, पर घर का स्वामी नहीं हो जाता। भोग समाप्त होने पर फिर संसार में गिरता है, इसलिये वह न्याय (करनी-भरनी) का पद है, और उसमें घोर परिश्रम और मजदूरी भी करनी पड़ती है।

(१६७) परन्तु वह जो ज्ञान नहीं पाता, वरन् ज्ञानी के वाक्य पर भरोसा करता हुआ अपने आत्मा पर निश्चय लाता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ" और ब्रह्मचर्य का पालन करता है, यद्यपि उसकी अविद्या दूर नहीं होती किंतु चूँकि सत्य पर निश्चय करता है और कर्म का भी पालन करता है, अतः मृत्यु में, जैसा कि विज्ञापन में घोषित किया गया है, देवयान-सड़क पर चलता सूर्य [illegible] ब्रह्मलोक में जाता है, और स्वय ब्रह्मा उसे शि[illegible] उससे पाता उसके साथ मुक्त ह[illegible]

[illegible] तरह [illegible] ही [illegible]

ने [illegible] ही, [illegible]

आत्मा की उपासना की। इसी कारण उनको समस्त लोक और समस्त मनोरथ, जो आच्छादित थे, सुल गए और असुरों (शैतानों) पर विजय पा गये। यही नहीं कि वे देवता ही, इस शिक्षा की योग्यता रखते हैं और वे भोग पा सकते हैं, वरन् अब भी जो कोई इस शिक्षा से इस प्रकार अपने आपको जानता है और आत्मा की पहचान में मग्ता है, वह भी सत्यकाम सत्यसंकल्प हो जाता है और समस्त लोकों और समस्त मनोरथों में कामचार होता हुआ पूर्ण स्वतंत्र या सर्वशक्तिमान होता है। अस्तु, ऐसा ब्रह्मा ने कहा है।

(१६६) यही शिक्षा फिर ब्रह्मा ने अपने पुत्र कश्यप को दी, और कश्यप ने मनुजी को सिखलाया। और मनुजी ने भारत की प्रजा को सिखाया जो हम तक चली आती है। और इसी शिक्षा को बाबा नगीनासिंह ने उर्दू जानने-वालों की शिक्षा के लिये वेद से भाषा में किया। अब जो कोई इस शिक्षा को पूर्णज्ञानी और ब्रह्मदर्शी से सुनता है, मुक्त में मुक्त होता है, फिर लौटता नहीं, हाँ फिर लौटता नहीं।

अध्याय सातवाँ

(१) ऊपर के अध्याय में यह जतलाया गया है कि ब्रह्मलोक में सङ्कल्प से भोग उठते हैं। यह नहीं जतलाया

गया कि यह भोग बाहर के हैं या भीतर (मन) के। इसलिये अब जतलाया जाता है कि जो भोग संकल्प से ब्रह्मलोक में उठते हैं, वे कल्पनामात्र या मानसिक होते हैं, जैसे कि स्वप्न में भोग उठते हैं। यद्यपि इतना अंतर है कि स्वप्न में जो भोग उठते हैं, उनको स्थिरता नहीं होती और साथ ही वे संकल्प के अधीन नहीं, वरन् कर्मों के अधीन होते हैं।

(२) ब्रह्मलोक में भी यद्यपि स्वप्न के अनुसार काल्पनिक भोग उठते हैं, तो भी वे बाह्य वस्तुओं के अनुसार स्थिर हैं, और संकल्प के अधीन हैं, कर्म के अधीन नहीं। और यह हो सकता है कि यदि स्वप्न के भोग भी चिरस्थायी हो जायँ, तो वे भी बाहर के समझे जायँ, किंतु उनकी दशा चूँकि ऐसी है कि एक क्षण में हाथी उठता है और दूसरे क्षण में वही हाथी ऊँट हो जाता है, और साथ ही नींद के कारण उनकी पहचान पूरी पहचान के अनुसार नहीं होती, और उनका क्रम भी किसी बुद्धिमत्ता के नियम के अनुसार नहीं होता, इसलिये मनुष्य उसे ख़याली निश्चय करता है। और जाग्रत् में इसके विरुद्ध वस्तुएँ स्थिर तथा तरतीबवार (क्रमश) पाई जाती हैं, और स्वप्न की अपेक्षा उनकी पहचान भी पूर्ण होती है, इसलिये उन्हें ख़याली नहीं ख़याल करता।

(३) वास्तव में क्या जाग्रत् और क्या स्वप्न, सबके सब भोग काल्पनिक वा ख़याली हैं, परंतु

चिरस्थायी होने के कारण और फिर जाग्रत् में नहीं मिलने से जाग्रत के भोग साधक को ख़याली नहीं ज्ञात होते, स्वप्न के भोग उलटे ख़याली ज्ञात होते हैं, वास्तव में होना ख़याली (काल्पनिक) है।

(३) जब कि स्वप्न के भोग जाग्रत् की अपेक्षा पूर्वोक्त नियम के अनुसार ख़याली ज्ञात होते हैं, इसी नियम से जाग्रत् के भोग ब्रह्मलोक के भोगों की अपेक्षा काल्पनिक (भीतर के) प्रतीत होते हैं, और ब्रह्मलोक के भोग बाह्य (बाहर के)। क्योंकि यहाँ के (अर्थात् जाग्रत् के) भोग यद्यपि स्थिर हैं, तो भी अल्प समय तक स्थिर हैं, कल्प तक स्थिर नहीं, ब्रह्मलोक के भोग तो कल्प तक स्थिर हैं। क्योंकि ब्राह्म सकल्प की वृत्ति तो एक ही कल्प तक स्थिर रहती है, और मनुष्य के सकल्प की वृत्ति एक क्षण में या दो क्षण में स्थिर रहती है, इसलिये उनके भोगों में वही सब ब है जो सकल्पों में है।

(४) इसके अतिरिक्त ब्रह्मलोक में भोगों का क्रम और यह पहचान कि "ये भोग वही हैं" यहाँ के क्रम और पहचान की अपेक्षा पूर्णतर और प्रकाशतर हैं, इसलिये भी यहाँ के भोगों की अपेक्षा वहाँ के भोग बाह्य हैं और यहाँ के भोग काल्पनिक, क्योंकि सिद्धांत यह है कि ईश्वर का सकल्प, जो सृष्टि के आदि में उठता है, एक है और प्रलय-पर्यंत स्थिर रहता है।

(६) इसका कारण यह है कि ईश्वर के संकल्प या तो अपने ऐश्वर्य के लिये हैं या प्राणियों के भोग के लिये। वे सकल्प जो उसके अपने भोग के लिये हैं वे तो पूर्ण स्वतंत्र हैं, और जो प्राणियों के भोग के लिये हैं वे कर्मों के अधीन हैं, जैसे उन प्राणियों के कर्म होते हैं, वैसे भोग देने के संकल्प उठते हैं। इसी कारण कर्मकाड में यह नियत हुआ है "जैसा करता है वैसा पाता है," और यही उसके संकल्पों का ईश्वरीय नियम है।

(७) जब कल्प हो चुकता है, तो ईश्वर के संकल्प भी उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस तरह हमारे संकल्प भी घनसुषुप्ति में नष्ट हो जाते हैं। परंतु जिस प्रकार घनसुषुप्ति से निकलते समय हमारे सकल्प कर्मों के अधीन उठते हैं और जाग्रत् में आते हैं, उसी तरह ईश्वर के संकल्प भी संसार की पुनरुत्पत्ति के लिये कर्मों के अधीन उठते हैं और सृष्टि उत्पन्न करके प्रत्येक प्राणी के भोग के लिये एक-एक सकल्प, जो उनके कर्मों के अनुसार उठता है, कल्प तक स्थिर रहता है।

(८) चूँकि वह सत्यसकल्प है, इसलिये विना यत्न विना कर्म के क्या धरती क्या आकाश, जो कुछ उनमें है, उसी क्रम से, जैसा कि श्रुतियाँ वर्णन करती हैं, आँख की झपक में उसमें काल्पनिक (ख़यालों) उत्पन्न हो जाते हैं, जैसा कि मनुष्य के ख़याल में स्वप्न का लोक स्वप्न में उत्पन्न होता

है। और ये सब यद्यपि काल्पनिक या ईश्वरीय संकल्पमय हैं, तो भी मनुष्य का ख़याल ज्ञानेंद्रियों द्वारा निकलता ईश्वर की संकल्प-जन्य सृष्टि में लगता हुआ उसी के अधीन आकार पकड़ता उन्हें देखता और भोग पाता है।

(९) इस प्रकार प्रत्येक वस्तु, जो जाग्रत् में दिखाई देती है, दोहरे ख़याल (संकल्प) से उत्पन्न हुई है, एक असलियत तो उसकी ईश्वर के ख़याल या संकल्प से है, और दूसरी तह उसकी प्राणियों के ख़याल (संकल्प) से है। इस कारण स्वप्न से उठते फिर फिर वही वस्तु देखते हैं और उन्हें अपने से पृथक् समझते हैं। किंतु स्वप्न में जो भोग उठते हैं दोहरे ख़याल या संकल्प से नहीं उठते, वरन् केवल एक उसी के ख़याल से जो सोता है उठते हैं, इसलिये एक तह के हैं, और साथ इसके कर्मों के अधीन हैं, स्वतंत्र नहीं, जब-जब स्वप्न में जाता है, तो वही-वही नहीं देखता, वरन् नित्य नूतन देखता है, इसलिये जाग्रत् में आकर उन्हें ख़याली निश्चय करता है।

(१०) कल्पना करो कि एक धरती है जो सृष्टि के आदि में ईश्वर के ख़याल या संकल्प से बनाई गई है, किंतु मनुष्य जब उसकी ओर देखता है, तो मानवीय ख़याल या संकल्प भी नेत्र के मार्ग से सूर्य की किरण के समान निकलता, जमीन पर पड़ता, उसी के रूप में रूप पकड़ता, उससे एक हो जाता है, तब जमीन दिखाई देती है, तो

इस कारण यह धरती मनुष्य के लिये खयालों की दो तह से बनती है, एक तह तो उसकी ईश्वरीय खयाल वा संकल्प की है, और दूसरी तह उसकी अपनी अर्थात् प्राणी के संचित खयाल वा संकल्प की है।

(११) जब यह अपनी आँखों को बन्द करके अपने भीतर ही देखी जमीन का खयाल बाँधता है, तो इस खयाल में उसी तरह की काल्पनिक भूमि भीतर दिखाई देती है, जैसी कि इसने बाहर देखी थी। किंतु ईश्वरीय खयाल वा संकल्प की भूमि उस खयाल में प्रविष्ट नहीं होती। इसलिये एक ही तह में काल्पनिक भूमि जीर्ण दृष्टिगोचर होती है, और अस्थिर और क्रमहीन भी होती है।

(१२) इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रत्येक वस्तु, जो विद्यमान है, दो प्रकार की उत्पत्ति रखती है, या तो ईश्वरीय उत्पत्ति, या मानवीय। प्रत्येक वस्तु ईश्वर की काल्पनिक तह के विश्वास से ईश्वरीय उत्पत्ति कहलाती है, और वही प्राणियों की तह के विश्वास से मानवीय उत्पत्ति कहलाती है। इस ईश्वरीय उत्पत्ति को ईश्वर-सृष्टि और मानवीय उत्पत्ति को जीव-सृष्टि कहते हैं।

(१३) फिर चूँकि जीव-सृष्टि यद्यपि ईश्वर-सृष्टि के अधीन है, तो भी इस (ईश्वर) का संकल्प तो शुद्ध सतोगुण का है, और उस (जीव) का संकल्प तमोगुण-

रजोगुणमिश्रित सतोगुण का है, इसलिये शुद्ध नहीं। इस (ईश्वर) के सकल्प में जो शुद्ध और स्पष्टतर सृष्टि होती है, ज्ञान और न्याय से होती है, उस (जीव) के सकल्प में जो तह उत्पन्न होती है, कुछ तो ज्ञान और न्याय से होती है, कुछ अज्ञान और अन्याय से, वरन् इस (ईश्वर) की अधीनता से निकलते हुए वह एक नवीन सृष्टि भी उनमें कर लेता है।

(१४) कल्पना करो कि ईश्वर के ख़याल वा संकल्प में, जो कि शुद्ध, ज्ञान और न्याययुक्त है, एक स्त्री उठती है, ताकि वह अपने कर्मों के अनुसार भोग पावे, और जीवों के ख़याल भी उसी के रूप के अनुसार दूसरी तह उसमें उत्पन्न करते उसे द्विगुणरूप में स्त्री देखते हैं, जिससे पिता तो उसे लड़की, भाई उसे बहन, पति उसे स्त्री, भाई के लड़के उसे बूआ, और देवर के लड़के चची इत्यादि अलग नई सृष्टि उत्पन्न करते हैं।

(१५) ईश्वर के शुद्ध ख़याल में तो उस स्त्री की आकृति जैसी कि स्वाभाविक रूप रखती है, उत्पन्न हुई है, लड़कीपन, बहनपन, स्त्रीपन, तो कभी उसमें नहीं बनाया गया, तो भी जीवों ने उसमें यह नवीन कल्पना कर ली है, यही इस जीव की ख़याली सृष्टि-रूप एक तह है, और वे उस तह के अनुसार बर्ताव करते हैं।

(१६) जो सृष्टि ईश्वर के सकल्प की है, वह तो दुःख-

सुख नहीं देती, वरन् जीव-सृष्टि दु ख-सुख का कारण होती है। क्योंकि कल्पना करो कि ब्रह्मदत्त और यज्ञदत्त के पुत्र दूर कहीं व्यापार के लिये चले गए, ब्रह्मदत्त का पुत्र तो किसी राज्य में बड़े मंत्रिपद को पा गया और यज्ञदत्त का पुत्र वहाँ मर गया। एक व्यक्ति जो वहाँ से आया, तो ब्रह्मदत्त के पुत्र ने संदेशा दिया कि ब्रह्मदत्त को यों कह देना कि तेरा पुत्र जीवित मंत्री है और यज्ञदत्त को यों कह देना कि तेरा पुत्र बहुत दिन हुए मर गया है।

(१७) जब यह संदेशा लानेवाला आया, तो उसने संदेशे में भूल की। ब्रह्मदत्त को कह दिया कि तेरा पुत्र मर गया है और यज्ञदत्त को कह दिया कि तेरा पुत्र जीवित मंत्री है। तो ब्रह्मदत्त शोक करने लगा और यज्ञदत्त आनद के मारे फूला न समाता था, यद्यपि ईश्वरकृत ब्रह्मदत्त का पुत्र जीवित राज-मंत्री है, और यज्ञदत्त का पुत्र मर गया है।

(१८) देखो, ब्रह्मदत्त का पुत्र ईश्वर-सृष्टि यद्यपि जीवित है किंतु इस सदेशा देनेवाले की समझ से उसका पुत्र, जो जीव-सृष्टि है, मर गया है। इसलिये आनद के स्थान में वह दु ख में हो गया, और यज्ञदत्त का पुत्र ईश्वरकृत यद्यपि मर गया, तो भी उसका मृतपुत्र (उसके ख़याल से) जीवित और मत्री है, आनद में फूला नहीं समाता। यदि ईश्वर-सृष्टि दु.ख-सुख का कारण होती, तो यद्यपि सदेशा पहुँचाने में भूल हुई, किंतु ब्रह्मदत्त को आनद चाहिए

था, यज्ञदत्त को शोक। पर ऐसा नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि जीवकृत सृष्टि दुःख-सुख का हेतु है, ईश्वरकृत सृष्टि दुःख-सुख का हेतु नहीं।

(१६) इसी कारण शास्त्र जीवकृत सृष्टि के दूर करने की आज्ञा करता है, ईश्वरकृत सृष्टि दूर करने की नहीं। वे जो इस भेद के जाननेवाले हैं, विवेक से मन की वृत्तियों को रोकते और उनमें राग या प्रीति, मोह (आसक्ति) और हर्ष को त्यागकर सन्यास लेते हैं, इसलिये जीवन में भी सुखी रहते हैं। किंतु अज्ञानी इस भेद को नहीं जानता, इसलिये अपनी ही रची हुई सृष्टि में मोह करता हुआ हर्ष-शोक पाता है।

(२०) फलतः, समस्त सृष्टि (क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या ब्रह्मलोक) सबकी सब काल्पनिक हैं, परंतु प्रजापति के संकल्प की सृष्टि पहली तह है और क्रमविधान तथा न्याय से रची हुई है, और उसी में दूसरी तह मनुष्य के संकल्प की है। इसलिये जाग्रत् का संसार तो सत्य ज्ञात होता है, और स्वप्न का खयालमात्र। और फिर चूँकि ब्रह्मलोक के भोग केवल प्रजापति के खयाल के हैं, शुद्ध सतोगुण के बनाये गये हैं, और संकल्प से उत्पन्न हुए कल्प तक बने रहते हैं, पर यह संसार कल्प तक नहीं वरन् निश्चित समय तक स्थिर रहता है, इसलिये ब्रह्मलोक के भोग सत्य हैं और यहाँ के मिथ्या व असत्।

(२१) तो भी क्या ब्रह्मलोक, क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न सबके सब नित्य वा स्वयंभू नहीं। नित्य तो यही आत्मा है, और यही सत है, वे सब तो ख़याली वा कल्पित हैं। यद्यपि इस संसार की अपेक्षा ब्रह्मलोक भी एक दृष्टि से अमृत कहलाता है और शुभकर्मों का फलरूप है, किंतु ये सबके सब इसी आत्मा की छाया या विभूतियाँ हैं। जिस प्रकार मनुष्य की छाया असत्य मिथ्या होती है, उसी तरह ये सब आत्मा के आगे छाया की भाँति असत्य वा मिथ्या हैं।

(२२) भाषाविदों की पूरी समझ के लिये हम यहाँ इसको विस्तार से लिखते हैं। क्योंकि जब तक उसे यह समझ में न आएगा कि यह जो कुछ दिखाई देता है, कल्पित है, और जब तक यह (भासमान) भावातीत नहीं हो जाता, तब तक उसके बंधन से निकलना और छुटकारा पाना कठिन है। क्योंकि यह विचित्र जादूघर है जो अनहुआ दिखाई देता है, और मृगतृष्णा के जल में यों ही गोते खाता है।

(२३) इस बड़े रहस्य की पहचान के लिये यों समझो कि दीपक के प्रकाश का निकास वास्तव में दीपक है, क्योंकि दीपक से प्रकाश जो निकलता है, उसी की छाया, उसी की विभूति है, दीपक न हो तो वह कुछ भी नहीं रहता। या धूप वास्तव में सूर्य की एक शान वा विभूति है,

और सूर्य ही उसका निकास या उद्गम स्थान है। और सूर्य के बिना धूप वास्तव में कुछ सत्ता नहीं रखती।

(२४) संसार भी समष्टि-रूप से सब पाँच वस्तुएँ हैं। या तो रूप-रंग है, या शब्द है, या गंध है, या रस है, या स्पर्श है। क्योंकि जिस वस्तु को संसार में लेकर खोज करें इन्हीं पाँच वस्तुओं की बनी हुई होगी, और उसके गुण भी तह भीतर तह प्याज के छिलके के समान उन्हीं से निकलेंगे। कल्पना करो कि हम एक काग़ज का टुकड़ा हाथ में लेकर पता लगाते हैं कि यह क्या है ? तो उसका उत्तर होगा कि यह कागज है। हम पूछते हैं कि कागज तो इसका नाम है, इसकी असलियत बतलाओ, तो यही उत्तर होगा "देखो इसका रंग लाल है, गंध अच्छी है, स्वाद भी देता है, चीरने से आवाज़ भी देता है, हाथ लगाने से गरम व ठंढा भी मालूम होता है।" और यही गुण कदली वृक्ष के समान छिलके में छिलका तथा तह में तह होकर एक रूप में उत्पन्न हुए हैं, जिसका नाम कागज रख लिया है।

(२५) स्थाली पुलाक न्याय से अन्य वस्तुएँ भी इन्हीं पाँच गुणों से तह के भीतर तह जमा होकर विद्यमान दिखाई देती हैं। यदि किसी वस्तु में न तो रंग रूप हो, न गंध हो, न गरम ठंढा, न स्पर्श, न शब्द, न रस हो, तो उसे कोई भी मौजूद नहीं कह सकता, वरन् उसको आम लोग

अभाव (अस्तित्वहीन) कहते हैं। इससे ज्ञात हुआ कि ससार की असलियत यही पंचतन्मात्रा हैं। किंतु किसी में किसी रूप से और किसी में किसी रूप से न्यूनाधिक, रुचिकर-अरुचिकर, अनुकूल वा नरम होकर जमा हुई हैं। इसलिये एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् प्रकट होती है। वास्तव मे यही पंचतन्मात्रा हैं।

(२६) जब ये तन्मात्रायें संसार की असलियत ज्ञात हुई, तो अब विवेचक के लिये आवश्यक है कि इन तन्मात्राओं की जड़ (निकास) का पता लगावे कि वे क्या हैं। बुद्धिमान् मनुष्य थोड़े गौर से जान सकता है कि रग-रूप का स्रोत वा निकास वास्तव में चक्षु है, क्योंकि बिना आँख के रंग-रूप के प्रमाण कुछ भी नही मिलते, वरन् यदि कल्पना करें कि संसार में चक्षु न होती तो कोई भी तत्त्ववेत्ता रग-रूप का प्रमाण न दे सकता। अब भी बिना आँख के कोई रग-रूप का प्रमाण बतलावे, तो नही मिलेगा। इससे ज्ञात हुआ कि रग-रूप का स्रोत वास्तव में चक्षु है, और ये सब रूप, क्या लाल, क्या नीला, क्या पीला, चक्षु की छाया और चक्षु की विभूतियाँ हैं, जैसे धूप सूर्य की और प्रकाश दीपक की विभूतियाँ हैं।

(२७) जिस प्रकार धूप सूर्य की विभूति और छाया वा किरण है, उसी तरह ससार का रंग-रूप चक्षु की विभूति और छाया वा किरण है। वरन् जिस तरह सूर्य

धूप का स्रोत है और उससे धूप उत्पन्न होती है, उसी तरह संसार का रंग-रूप नीला-पीला जो कुछ है, सबका स्रोत आँख है। और ये सब आँखों से उसी तरह उत्पन्न होते हैं जिस तरह धूप सूर्य से उत्पन्न होती है।

(२८) फिर, इसलिये कि सुगंध-दुर्गंध संसार की दूसरी सत्ता भी नाक की विभूतियाँ हैं। इसलिये नासिका ही उनका स्रोत है। क्योंकि नाक न हो तो क्या ख़ुशबू (सुगंध), क्या बदबू (दुर्गंध), क्या इत्रयात, क्या सडायँद कुछ भी विद्यमान न हों, वरन् ये सब नाक की किरणें नाक-रूप हैं, जैसे सूर्य की किरणें सूर्य-रूप हैं।

(२९) इसी तरह प्रत्येक प्रकार के शब्द क्या मृदंग, क्या मजीरा, क्या ढोलक, क्या बाँसुरी सबके सब कानों की विभूतियाँ हैं, अतः कान ही उनका स्रोत है। क्योंकि कान न हों, तो ये शब्द कुछ भी सत्ता नहीं रखते, सिवाय कानों के उनके होने में कुछ भी प्रमाण नहीं है, जैसा कि धूप के होने में सूर्य के सिवाय और कोई कारण नहीं ज्ञात होता। इसलिये सब शब्द अच्छे या बुरे कानों की विभूतियाँ कर्ण-रूप हैं, और यही उनका स्रोत है।

(३०) फिर, चूँकि समस्त स्वाद क्या मीठे, क्या कड़वे, क्या खट्टे, क्या तेज, सब जिह्वा की विभूतियाँ हैं, और जिह्वा ही उनका स्रोत है। यदि जिह्वा न हो, तो उनमें से एक भी न हो, वरन् जिह्वा के होते ही वे सब होते हैं,

नहीं रखता, वरन् मन ही इंद्रियाँ और विषय होकर संसार बन जाता है, और उस मन ही के परफेर में मनुष्य फँसा हुआ वर्ताव करता है। इसके विचित्र गुण बुद्धिमान् मनुष्य को स्वप्न में भली भाँति निश्चित होते हैं कि वहाँ न तो रंग-रूप, न शब्द, न रस, न गंध, न स्पर्श, कुछ भी बाहर में नहीं होते।

(३६) किंतु यह मन झटपट क्या शब्द, क्या रंग, क्या रस, क्या गंध, क्या स्पर्श सब क्षण में रच लेता है, उस (मनुष्य) की ज्ञानेंद्रियाँ, क्या आँख, क्या नाक, क्या कान, क्या जिह्वा, क्या त्वक् वरन् सारा शरीर भी यही (मन) बन जाता है, और फिर इन्हीं पंचतन्मात्राओं की तरकीब (पचीकरण-रूपी क्रम) से धरती-आकाश जो कुछ उसमें है सब बन जाता है, और इसी तरह उसमें मनुष्य व्याकुल होता है जैसे यहाँ जाग्रत् के संसार में व्याकुल (परेशान) होता है।

(३७) इस कारण सिद्ध होता है कि क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न सब मनोमय प्रपंच, मन का ही पसारा है, मन ही सबका स्रोत है, सब मन-रूप है, और मन ही ख़याल है, इसलिये भी संसार ख़याली वा संकल्पजन्य है, कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता। यों ही स्वप्न और संकल्प के समान दिखाई देता है, जैसे मृगतृष्णा की नदी भी बड़े वेग से बहती दूर से दिखाई देती है, और मनुष्य बिना पानी उसमें गोते खाता है।

(३८) अब हम यह पूछते हैं कि क्या मन भी, जो सबका स्रोत व सर्व-रूप है, वास्तव में कुछ सत्ता रखता है, या उसका भी कोई स्रोत दूसरा है, तो थोड़े विचार से ज्ञात हो सकता है कि मन भी वास्तव में कुछ सत्ता नहीं रखता, उसका स्रोत आत्मा है, क्योंकि आत्मा के होते यह मन भी होता है, जब आत्मा नहीं होता, तो यह मन भी नहीं होता। वरन् घनसुषुप्ति में जब आत्मा अपनी निजी महिमा में अवस्थित होता है, तो मन भी उसी तरह आत्मा में लय हो जाता है, जिस तरह कि सूर्य में उसकी किरणें लय हो जाती हैं।

(३९) और जब आत्मा जाग्रत् व स्वप्न म होता है, तो यह मन उसी तरह उसमें से निकल आता है जैसा कि सूर्य की किरणें भी सूर्य से निकल आती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि क्या ससार, क्या इन्द्रियाँ, क्या मन, सबका स्रोत दर स्रोत, जिसका दूसरा कोई स्रोत नहीं, आत्मा है, और ये सब आत्मा की विभूतियाँ आत्म-रूप हैं। आत्मा ही प्रत्येक विभूति में आया देखता और दिखाई देता है, आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं। और यही नित्य (स्वयभू) और यही ब्रह्म है। और चूँकि सब मुरादें इसी की विभूतियाँ हैं, यही आप्तकाम और यही स्वतन्त्र या वेपरवाह है।

(४०) अब समझो कि मन एक ख़याल है, क्योंकि

जब मन मे फुरना और विकार होता है, तो उसी को खयाल बोलते हैं, और जब यह खयाल स्थिर होता है, तो उसी को मन बोलते हैं, वास्तव में यह केवल खयाल है। और यह स्पष्ट है कि खयाल भी कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् अनहुआ होता है। इसी कारण जो वस्तुएँ अनहुई दिखाई दिया करती है, उसे "यों ही खयाल है" ऐसा निश्चय किया करते हैं।

(४१) देखो, जब रस्सी में सर्प और सीप में रजत की भ्रांति होती है, तो वास्तव में रस्सी या सीप विद्यमान होती है, परंतु खयाल सर्प या रजत पर पड़ता है। असली रस्सी और सीप की कल्पना नहीं करता, वरन् सर्प और रजत की कल्पना पकड़ता, रज्जु और सीप से एक हुआ सर्प और रजत को दिखाता है, रज्जु और सीप को ढाँप लेता है, इसी कारण से मनुष्य निश्चय करता है कि यह सर्प है, यह रजत है।

(४२) यहाँ उदाहरण मे खयाल जो सर्प और रजत की कल्पना से रज्जु और सीप में केंद्रित होता है, वास्तव में रज्जु और सीप की कुछ हानि नहीं कर सकता, क्योंकि हानि तो तब हो यदि रज्जु परिवर्तित होकर सर्प बन जाय, या सीप बदलकर रजत बन जाय। यद्यपि रज्जु या सीप ज्यों का त्यों बना रहता है, किंतु केवल खयाल ही सर्प और रजत के रूप में कल्पित हुआ, रज्जु और

सीप में केंद्रित, उसी को सर्प और रजत दिखाता है।

(४३) चूँकि खयाल वास्तव में कुछ अस्तित्व नहीं रखता, वरन् अस्तित्वहीन होता है, तो भी जब वह सर्प या रजत के रूप में रज्जु और सीप से एक होता है, तो रज्जु या सीप के अस्तित्व से अस्तित्ववान्-सा हो जाता है। अस्तित्वरहित (खयाल) अस्तित्ववान् हुआ दिखाई देता है, इसलिये रज्जु और सीप की ओर संकेत करके निश्चय किया जाता है कि "यह सर्प या रजत है।" तो यहाँ इस संकेत का संकेतपात्र (लक्ष्यार्थ) वास्तव में रज्जु या सीप है जो अस्तित्वमात्र है, किंतु निश्चय उसका अस्तित्वहीन सर्प में होता है। इसी को संस्कृत में विवर्तवाद बोलते हैं।

(४४) अब यों समझो कि जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में खयाल केंद्रित हुआ सर्प और रजत के रूप में बदलता है, उसी प्रकार यह खयाल या मन भी आत्मा में केंद्रित हुआ संसार के रूप में बदलता है, और आत्मा के आश्रय रहता उसी के अस्तित्व से अस्तित्ववान् हुआ विद्यमान होता है। आत्मा ज्यों का त्यों स्थिर रहता है, कुछ विकार नहीं पाता, क्योंकि जो विकारवान् होता है वह नाशवान् होता है। यदि आत्मा विकृत होकर संसार बन जाता, तो नाशवान् होता, परन्तु विवर्तवाद में, जो वेदों का सिद्धांत है, आत्मा तो नित्य स्थिर

(निर्विकार) रहता है, बदलता नहीं, ख़याल बदलता है।

(४५) चूँकि ख़याल वास्तव में अस्तित्वहीन वा केवल देखनेमात्र वस्तु है, इसलिये आत्मा का गुण नहीं, और न उसमें आरोपित वा सम्मिलित है। इसलिये आत्मा ख़याल से विशिष्ट भी नहीं और न ख़याल उसमें आरोपित वा सम्मिलित है। वरन् जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में सर्प की कल्पना असत्मात्र है, उसी तरह यह ख़याल या मन भी असत्मात्र है, जिसे संस्कृत में कल्पित और मिथ्या बोलते हैं, और फारसी में मादूमी-उलमालूम कहते हैं। और जिस तरह सर्प की भ्रांति का अधिष्ठान वा आश्रय रज्जु है, उसी तरह इस ख़याल का भी अधिष्ठान आत्मा है, तो भी जिस तरह सर्प की भ्राति का अधिष्ठान वा आधार (रज्जु) उस (सर्प) से स्पर्श नहीं पाता, उसी तरह आत्मा भी ख़याल से स्पर्श नहीं पाता, वरन् ज्यों का त्यों निर्मल (निर्लिप्त) रहता है।

(४६) अब यों समझो कि संसार की कल्पना में इस ख़याल की द्विगुण तरंग वा फुरना है। पहली तरंग तो उसका तत्त्व या भूतों और मनुष्यों की उत्पत्ति है। किंतु जब मनुष्य का विकास हुआ, तो यही ख़याल उसके हृदय-कमल में सर्वधित हुआ, दूसरी तरग संसार के रूप में मारता है, जैसा कि स्वप्न में भली भाँति दिखाई देता है। परतु जब यह ख़याल इंद्रियों के मार्ग से फैलता अपनी पहली तरंग के

संसार में उसी रूप से तरंगित होता है, जो संसार को दुगने संकल्प से बनाता है, और मनुष्य की दृष्टि का हेतु होता है। इस प्रकार ईश्वरकृत और जीवकृत सृष्टि से द्विगुण बना हुआ संसार सत् दिखाई देता है, वास्तव में ख़याली है, कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् केवल दिखावे का है, अस्तित्व कुछ भी नहीं।

(४७) इसी ख़याल को पहली तरंग वा फुरना की दृष्टि से माया बोलते हैं, और इसी ख़याल को दूसरी तरंग की दृष्टि से मन बोलते हैं। वास्तव में दोनों एक हैं। मनुष्य के हृदय के संबंध के कारण और कर्म-बंधन के कारण मन तो परिच्छिन्न और असत् काम व असत् संकल्प है, और माया परिच्छिन्न नहीं, वरन् अनंत वा अपरिच्छिन्न है, और साथ इसके सत्यसंकल्प तथा सत्यकाम है, इसलिये दोनों में अंतर है। वही आत्मा, जो माया का महल (अधिष्ठान वा आश्रय) है और उसमें प्रतिबिंबित होता है, उससे मिलकर ईश्वर कहलाता है, और वही आत्मा, जो मन का महल (आधार) है और उसमें प्रतिबिंबित होता है, उससे मिलकर जीव कहलाता है।

(४८) किंतु जब माया और मन का बाध करके केवल पवित्रात्मा का निश्चय और खोज होता है, तो उसी को ब्रह्म बोलते हैं। इसी तरह माया के अधिष्ठान की दृष्टि से आत्मा ईश्वर कहलाता है, और मन के अधिष्ठान की दृष्टि

के लिये तो न्याय का अनुवर्ती अथवा न्यायानुकूल है और अपने भोग ऐश्वर्य के लिये स्वतंत्र, पूर्ण मुक्त है, जैसा चाहता है पाता है।

(५३) यही आत्मा दूसरी फैलावट (मन) में स्वतंत्र और स्वाधीन नहीं होता, क्योंकि सदैव अविद्या और कर्मों के कारण भोगों के बंधन में है। इसलिये जो चाहता है नहीं पाता है, दु खी होता है। यद्यपि माया और मन एक ही हैं, तो भी झूठी अविद्या के कारण माया इसी हृदय-कमल में अपने काम करती उसे ढाँपती रहती है, जैसे नदी का निर्मल जल उसके ही फेन और झाग आदि से ढँपा होता है।

(५४) इसलिये मनुष्य मृत्यु और ज्ञान से प्रथम उसको नहीं पाता, किंतु पहले जब ज्ञान से अविद्या के आवरण को दूर करके उस आत्मा को जानता है, जो सबका स्रोत है, और फिर मरता है, तो यही माया आवरणरहित होती, उसकी छाया की तरह उसे मिलती है, उसी के होती है, और वह जो चाहता है मिलता है।

(ख़याल) चूँकि ... द्धियुक्त है औ
चाहे स्थिर रहता ... त है, किंतु
से भी अधिक ... है। यही
है। इसी कारण ... पहचान
मुरादों की प्राप्ति ... है

की पहचान में समस्त मुरादें मुफ्त मिल जाती हैं।

(५५) क्योंकि यही आत्मा वास्तव में प्यारा है, इसलिये अनात्म मन या माया की तरगें (क्या ससार के भोग, क्या ब्रह्मलोक के भोग) सब इसी के कारण से प्यारे हैं। यदि इनके अनुकूल न हों, तो यही अरुचिकर हो जाते हैं। जब कि सबसे खरा प्यारा यही आत्मा है, और दूसरे भी इसी आत्मा की पहचान से मुफ्त मिल जाते हैं, तो मनुष्य को चाहिए कि आत्मा को ही जाने और उसी में प्रीति करे, और उसी की जिज्ञासा करे। भोग तो उसे छाया की तरह प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण पिछले ब्राह्मण आत्मा को जानकर ससार के भोगों से उपराम होते सन्यास लेते थे।

(५६) क्या यह सच नहीं कि जो दीपक प्राप्त करता है, वास्तव में समस्त प्रकाश को प्राप्त करता है, या सूर्य को पाता है, तो सारे दिनों और वर्षों का स्वामी हो जाता है, क्योंकि क्या प्रकाश, क्या दिन, क्या वर्ष, क्या मास सबका स्रोत सूर्य है। किंतु वह जो एक सक्षिप्त किरण को चाहता है और पाता है, दूसरी किरणों का स्वामी नहीं हो जाता, और वह भी उसकी सार्वकालिक सपत्ति नहीं हो जाती।

(५७) इसी तरह मनुष्य भी कर्म करके विना आत्मा की पहचान के किसी एक सासारिक मुराद या परलोक

के लिये तो न्याय का अनुवर्ती अथवा न्यायानुकूल है और अपने भोग ऐश्वर्य के लिये स्वतंत्र, पूर्ण मुक्त है, जैसा चाहता है पाता है।

(५३) यही आत्मा दूसरी फैलावट (मन) में स्वतंत्र और स्वाधीन नहीं होता, क्योंकि सदैव अविद्या और कर्मों के कारण भोगों के बंधन में है। इसलिये जो चाहता है नहीं पाता है, दु खी होता है। यद्यपि माया और मन एक ही हैं, तो भी झूठी अविद्या के कारण माया इसी हृदय-कमल में अपने काम करती उसे ढाँपती रहती है, जैसे नदी का निर्मल जल उसके ही फेन और झाग आदि से ढँपा होता है।

(५४) इसलिये मनुष्य मृत्यु और ज्ञान से प्रथम उसको नहीं पाता, किंतु पहले जब ज्ञान से अविद्या के आवरण को दूर करके उस आत्मा को जानता है, जो सबका स्रोत है, और फिर मरता है, तो यही माया आवरणरहित होती, उसकी छाया की तरह उसे मिलती है, उसी के वश में होती है, और वह जो चाहता है मिलता है। और वह (खयाल) चूँकि क्रम और बुद्धियुक्त है और जब तक चाहे स्थिर रहता है, यद्यपि कल्पित है, किंतु इस ससार से भी अधिक सत्य ज्ञात होता है। यही आदेश हुआ है। इसी कारण केवल आत्मा की पहचान जो समस्त मुरादों की प्राप्ति में हेतु है, आवश्यक है, और उसी

कात्यायनी था। कात्यायनी ब्राह्मणी थी। यह कात्यायनी ब्राह्मणी अपने गृहस्थी के कामों में बड़ी निपुण थी, और सासारिक विद्या भली भाँति जानती थी, जैसा कि अच्छी स्त्रियों का नियम है, किंतु दूसरी मैत्रेयी ब्राह्मणी उसके अतिरिक्त आत्मा की पहचान की भी इच्छुक थी, और बड़े प्रेम तथा आनद से जीवन यापन करती थी।

(६०) हम यह भी सुनते हैं कि याज्ञवल्क्य मुनि के पास बहुत धन सचित था, क्योंकि राजा जनक के अतिरिक्त सब राजे उसे धन देते और उससे आध्यात्मिक प्रसाद लाभ करते थे। जब यह मुनिजी बूढ़े हुए तो उन्होंने सन्यास लेना अर्थात् दुनिया को त्यागना चाहा, क्योंकि वे जो अपनी आत्मा की पहचान रखते हैं भोगों की कुछ परवाह नहीं करते, वरन् छाया के समान झूठा जानते हैं, उन्हें त्याग करना कुछ कठिन नहीं होता। जब मुनिजी का यह सकल्प पक्का हो गया, तो उन्होंने अपनी ब्राह्मणी मैत्रेयी को बुलाया कि ऐ मैत्रेयी! मैं अब यहाँ से चलने को तैयार हूँ, फिर नहीं आऊँगा। आओ, यह धन तुम दोनों को अपने सामने बाँट दूँ।

(६१) मैत्रेयी बोली—महाराज! क्या मैं इस सपत्ति का भाग पाकर अमर हो जाऊँगी? कहा—अरी नहीं, उसी तरह जीवन-निर्वाह करोगी, जैसे धनवान् लोग आनद से जीवन बिताते हैं। वह बोली—क्या यदि इससे अधिक

को प्राप्त करता है, तो दूसरे मनोरथों या मुरादों का स्वामी नहीं हो जाता, और यह भी उसकी सार्वकालिक संपत्ति में नहीं आ जाता, क्योंकि बनावटी अंतत: दूर हो जाता है। किंतु वह जो इस आत्मा को पा जाता है, जो समस्त मनोरथों का स्रोत है, सचमुच सारे मनोरथों वा मुरादों का उत्तराधिकारी और स्वामी होता है। वह स्वयं जैसे अविनाशी जीवित होता है, वैसे उसकी सफलता भी अविनाशिनी होती है।

(४८) ऐ प्यारे ! ये बातें हमारी कपोल-कल्पना नहीं, वरन् सचमुच हैं। भरोसा करो, अपने आत्मा को पहचानो और उसी में गौर करो और उसी को पाओ कि यही सब पदार्थों का कोष है। यदि हमारे पर आपको भरोसा (विश्वास) नहीं, तो हम इसका प्रमाण वेदों से देते हैं। कान धरकर सुनो कि पिछले ब्राह्मण किस प्रकार इसको जानते हुए संन्यास लेते थे और किस तरह इसकी पहचान में सफल होते थे।

(४९) * हम सुनते हैं कि याज्ञवल्क्य मुनि के यहाँ दो स्त्रियाँ थीं, एक का नाम मैत्रेयी और दूसरी का नाम

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ४, ब्राह्मण ५। यही कथा इसी उपनिषद् के अध्याय २ के ब्राह्मण ४ में है। वह आरंभ इस कथा का है।

(६५) ऐ प्यारी ! संतान भी सतान के लिये प्यारी नहीं होती, अपने लिये सतान भी प्यारी होती है। ऐ प्यारी! धन भी धन के लिये प्यारा नहीं होता, अपने लिये धन भी प्यारा होता है।

(६६) अरी मैत्रेयी ! ब्रह्म-धर्म भी ब्रह्म धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, वरन् अपने लिये ब्रह्म-धर्म भी प्यारा लगता है। ऐ प्यारी ! क्षत्रिय-धर्म भी क्षत्रिय-धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, वरन् अपने लिये क्षत्रिय-धर्म भी प्यारा होता है।

(६७) अरी मैत्रेयी ! लोक भी लोकों के लिये प्यारा नहीं लगता, वरन् अपने लिये लोक भी प्यारा होता है। ऐ प्यारी ! देवता भी देवता के लिये प्यारे नहीं होते, अपने लिये देवता भी प्यारे होते हैं।

(६८) अरी मैत्रेयी ! भूत भी भूतों के लिये प्यारे नहीं होते, अपने लिये भूत भी प्यारे होते हैं। अरी ! शरीर भी शरीर के लिये प्यारा नहीं होता, अपने लिये शरीर भी प्यारा है। बहुत क्या कहूँ, मन, इन्द्रियाँ, क्या बाह्य, क्या भीतर की, सब सबके लिये प्यारे नहीं, वरन् सब आत्मा के लिये प्यारे हैं।

(६९) इसलिये आत्मा ही वास्तव में सबसे प्यारा है और यही अविनाशी जीवन है, इसी के पीछे सब प्यारे हैं, और इसी की सब विभूतियाँ और छाया हैं। इसी को

मिले तो मैं अमर हो जाऊँगी ? कहा—अरी नहीं, यदि सारी धरती भी संपत्ति से परिपूर्ण हो जाय और तुझे मिल जावे, तो भी अमर जीवन नहीं मिलेगा, उसी तरह जीवन-निर्वाह करोगी जैसे कि धनवान् लोग करते हैं। धन से अमर जीवन की आशा मत करो।

(६२) तब मैत्रेयी बोली—जब कि धन से मुझे अमर जीवन की आशा नहीं है, तो मैं धन का भाग लेकर क्या करूँगी ? सब कात्यायनी को छोड़ दो। मुझे तो अपनी उस संपत्ति का भाग दो जिसे पाते हुए मैं अमर जीवन् पाऊँ और जिसे आप पाकर यह संपत्ति यों ही छोड़े जाते हो और तुच्छ जानते हो।

(६३) तब याज्ञवल्क्यजी बोले—ऐ प्यारी ! तूने अच्छा कहा और अच्छा माँगा। तू पहले भी मुझे इसी कारण भली और प्यारी लगती थी। अब मेरे निकट आओ, मैं तुझे अमर जीवन की शिक्षा देता हूँ। भली भाँति मन लगाकर इस संपत्ति को लो, जिसको पाकर मैं यह ससार की सपत्ति तुच्छ जान विष्ठा की तरह छोड़ता हूँ। जो कुछ मैं सिखाऊँ, उसमें निदिध्यासन करना।

(६४) फिर ऋषिजी ने उसे यों सिखाया—ऐ प्यारी ! पति के लिये पति प्यारा नहीं होता, अपने लिये पति भी प्यारा होता है। ऐ प्यारी ! स्त्री के लिये स्त्री प्यारी नहीं होती, अपने लिये स्त्री भी प्यारी होती है।

(६५) ऐ प्यारी ! सतान भी सतान के लिये प्यारी हीं होती, अपने लिये सतान भी प्यारी होती है। ऐ प्यारी ! धन भी धन के लिये प्यारा नहीं होता, अपने लिये धन भी प्यारा होता है।

(६६) अरी मैत्रेयी ! ब्रह्म-धर्म भी ब्रह्म-धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, वरन् अपने लिये ब्रह्म-धर्म भी प्यारा लगता है। ऐ प्यारी ! क्षत्रिय-धर्म भी क्षत्रिय-धर्म के लिये प्यारा नहीं होता, वरन् अपने लिये क्षत्रिय धर्म भी प्यारा होता है।

(६७) अरी मैत्रेयी ! लोक भी लोकों के लिये प्यारा नहीं लगता, वरन् अपने लिये लोक भी प्यारा होता है। ऐ प्यारी ! देवता भी देवता के लिये प्यारे नहीं होते, अपने लिये देवता भी प्यारे होते हैं।

(६८) अरी मैत्रेयी ! भूत भी भूतों के लिये प्यारे नहीं होते, अपने लिये भूत भी प्यारे होते हैं। अरी ! शरीर भी शरीर के लिये प्यारा नहीं होता, अपने लिये शरीर भी प्यारा है। बहुत क्या कहूँ, मन, इन्द्रियाँ, क्या बाह्य, क्या भीतर की, सब सबके लिये प्यारे नहीं, वरन् सब आत्मा के लिये प्यारे हैं।

(६९) इसलिये आत्मा ही वास्तव में सबसे प्यारा है और यही अविनाशी जीवन है, इसी के पीछे सब प्यारे हैं, और इसी की सब विभूतियाँ और छाया हैं। इसी को

पाकर अमर जीवन पाते हैं। इसी के प्रताप से सब मनोरथ सब पदार्थ मुफ्त छाया के समान मिल जाते हैं। ऐ प्यारी यही आत्मा देखना चाहिए, इसी को सुनना चाहिए, इसी को मनन करना चाहिए, इसी को निदिध्यासन करना चाहिए।

(७०) अरी मैत्रेयी ! आत्मा के देखने, सुनने, और पहचानने से सब देखे-सुने और पहचाने जाते हैं, आत्मा के पाए सब पाए जाते हैं, जिस तरह सूर्य पाया, तो धूप अपने आप मिल जाती है, या दीपक पाया तो प्रकाश अपने आप मिल जाता है।

(७१) ऐसे ब्रह्म (ब्राह्मण) को भी दूर करो जो आत्मा से भिन्न ब्रह्म (ब्राह्मण) को जानता है। ऐसे क्षत्रिय को भी दूर करो जो आत्मा से भिन्न क्षत्रिय को जानता है। ऐसे लोकों को भी दूर करो, जो लोक को आत्मा से भिन्न जानता है।

(७२) ऐसे देवताओं को भी दूर करो जो आत्मा से भिन्न देवता को जानता है। ऐसे भूतों को भी दूर करो जो आत्मा से भिन्न भूतों को जानता है, वरन् उन सबको दूर करो जो सबको आत्मा से भिन्न जानता है। ऐ प्यारी ! यह ब्राह्मणत्व, यह क्षत्रियत्व, ये लोक, ये वेद, ये भूत, यह शरीर, यह सब क्या भीतरी क्या बाहरी, क्या यहाँ क्या वहाँ, सबका सब आत्मा है। जैसा क्या इधर की धूप

क्या उधर की धूप, क्या दायें क्या बायें, क्या नीचे क्या ऊपर, सबकी सब धूप सूर्य है, इसी तरह क्या ब्राह्मणत्व क्या क्षत्रियत्व, क्या लोक क्या परलोक, क्या देवता क्या गंधर्व, क्या भूत क्या भूत समूह, क्या शरीर क्या शरीरी, क्या प्राण क्या प्राणी सबके सब यही आत्मा है।

(७३) अरी प्यारी! जिस तरह यह सब आत्मा की विभूतियाँ आत्म-रूप हैं, उसके उदाहरण तू मुझसे सुन, जैसे यह सब आत्मा है, मैं तुझसे बतलाता हूँ। जैसे एक नगाड़ा बजाते हैं, तो उसमें जो ऊँची नीची रागनियाँ निकलती हैं, सब उसी नगाड़े के शब्द की विभूतियाँ होती हैं, या जैसे एक नरसिंहा फूँकते हैं, तो उसमें से जो ऊँची-नीची रागनियाँ निकलती हैं, सब नरसिंहे की ध्वनि की विभूतियाँ होती हैं, या जिस तरह वीणा बजाते हैं तो सब रागनियाँ जो वीणा से निकलती हैं सभी वीणा की आवाज की विभूतियाँ होती हैं। इसी तरह यह सब इसी आत्मा की विभूतियाँ हैं।

(७४) अरी मैत्रेयी! जिस तरह नगाड़ा या तबला के शब्द की पहचान से उसके सब पचम मद्धिम (ऊँच-नीच) स्वर पहचाने जाते हैं, और उसी के पाए सब अपने आप पाए जाते हैं, या जिस तरह नरसिंहा के शोर के पहचानने से उसके उतार-चढ़ाव (वा पचम-मद्धिम स्वर) अपने आप पहचाने जाते हैं, और उसके पाए सब पाए जाते हैं,

या जिस तरह वीणा की आवाज के पहचानने से सब रागनियाँ अपने आप पहचानी जाती हैं, और उसके पाए सब पाई जाती हैं, उसी तरह इस आत्मा के पहचानने से सब पहचाने जाते हैं, और इस आत्मा के पाए सब पाए जाते हैं।

(७५) अरी मैत्रेयी! इसी आत्मा को जान। इसी को पहचान। इसी को पा। इसी के जानने से सब जाने जावेंगे। इसी के पहचानने से सब पहचाने जावेंगे। इसी के पाने से सब पाए जावेंगे। यही अमर जीवन है। यही अविनाशी धन है। यही सबका मूल है।

(७६) जिस तरह जलती आग में धुआँ, चिनगारियाँ और लपटें भिन्न-भिन्न हुई उठती हैं, अरी! उसी तरह इस आत्मा से क्या ऋग्वेद, क्या यजुर्वेद, क्या सामवेद, क्या अथर्ववेद, सबके सब श्वासों की भाँति अपने आप उठते हैं। अरी प्यारी! जिस तरह मनुष्य सुगमता से साँस लेता है, उसी तरह अपने आप इस महान् आत्मा से ये वेद उठते हैं। वरन् कहानियाँ, पुराण, उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, भाष्य, जो कुछ रचना (विद्याएँ) हैं, क्या लौकिक क्या पारलौकिक सब इसी की विभूतियाँ हैं और इसी के साँस हैं।

(७७) अरी प्यारी! देख, जैसे समस्त नदियों का एक समुद्र स्रोत है, इसी तरह सारी गरम और ठंडी वस्तुओं का एक त्वक् ही स्रोत है, समस्त रसों का, क्या मीठा क्या

फीका, एक जिह्वा ही स्रोत है , समस्त रंग क्या नीला क्या पीला, सबका एक नेत्र ही स्रोत है , समस्त गंध क्या सुगंध क्या दुर्गंध, सबका एक नाक ही स्रोत है , समस्त शब्द क्या मधुर क्या कटु (अप्रिय), सबका एक कान ही स्रोत है , और समस्त संकल्प क्या भले क्या बुरे, सबका एक मन ही स्रोत है ।

(७८) इसी तरह सब विद्याएँ, क्या सांसारिक, क्या ब्रह्मविद्या, सबका स्रोत एक बुद्धि ही है , समस्त कर्म, क्या ग्रहण क्या त्याग, सबका एक हाथ ही स्रोत है , समस्त सुख, क्या बाह्य क्या अभ्यंतर, सबका एक उपस्थ ही स्रोत है , इसी तरह सब विसर्ग (त्याग), क्या अच्छे क्या बुरे, सबका गुदा ही स्रोत है , और सब गतियों का, क्या जाना क्या आना, एक पाँव ही स्रोत है । इसी तरह सब वेदों का, क्या ऋग्, क्या यजु , क्या साम, क्या अथर्व, एक वाणी ही स्रोत है । और ये सब स्रोत भी उन्हीं की तरह इस आत्मा से निकलते हैं, और स्रोतों का स्रोत यही आत्मा है ।

(७९) ऐ प्यारी ! जिस तरह एक नमक का डला ही गलकर समुद्र हो रहा है और पानी दिखाई देता है, इसी तरह यही आत्मा संसार-रूप होकर संसार दिखाई देता है । तो भी जब समुद्र का पानी कुछ लेकर चखते हैं, तो नमक ही मालूम होता है । इसी तरह इस संसार में, जिसको लेकर खोज करो, यही सच्चिदानंद आत्मा ही

अधीन है, अपने आप मिल जाती है। और यही मूल जो आत्मा है अविनाशी और अमर है, इसमें अहंता जब होती है तो अमर जीवन पाता है। और छाया तो बदलती रहती है, अविनाशी नहीं वरन् नाश हो जाती है। इसलिये शरीर जो छाया का बना हुआ है, अविद्या से उसमें स्वाभाविक अहंता हो रही है, और उसकी मृत्यु से अपनी मृत्यु का निश्चय करता है।

(८५) किंतु, जब आत्मज्ञान से शरीर को अनात्मा वरन छाया जानता है, और आत्मा में सच्ची अहता पाता है, तो अमर जीवन पाता है, और इस शरीर के दूर होने पर ब्रह्मलोक के भोग छाया के समान मुफ्त मिल जाते हैं। पर वे जो अपने आत्मा को नहीं जानते वरन् देह में अध्यास करते हैं, अनजान हैं, और शरीर के मरने से मरते तथा उसके जन्म से जन्मते हैं। इसलिये मैत्रेयी के प्रश्न पर कि "मुझे अमर जीवन दान करो" ऋषि ने आत्मा की शिक्षा दी, जिससे मैत्रेयी ने अमर जीवन पाया। अब भी जो कोई आत्मा को इस तरह पहचानता है कि "मैं तो शरीर नहीं, वरन् पूर्ण सच्चिदानद आत्मा हूँ, और सब मेरी विभूतियाँ मेरे साथ हैं", उसी तरह अमर जीवन पाता है जैसा मैत्रेयी ने पाया।

(८६) फिर, चूँकि सब प्रासव्य और मनोरथ छाया के समान हैं, और छाया का यह नियम है कि जो कोई

अपनी छाया को पकड़ना चाहता है और उसके पकड़ने को उसकी तरफ दौड़ता है, तो छाया भी उससे आगे भागती जाती है, हाथ नहीं आती। मगर वह जो उसे नहीं चाहता, जिधर जाता है छाया अपने आप उसी के साथ-साथ पीछे लग जाती है।

(८७) इसी तरह अनजान मनुष्य परिच्छिन्न शरीर में अहंता का निश्चय करता हुआ अर्थ-काम की, जो आत्मा की छाया है, इच्छा करता और उन्हें लेना चाहता है और उनकी ओर दौड़ता है, किंतु चूँकि यह उसी की छाया है, उससे बढ़कर आगे दौड़ती है, हाथ नहीं आती, वरन् उतना ही मिलती है जितना कि उसके पाँव के नीचे सम्बध रखती है। कर्मों के कारण जो भोग चाहते हैं उतने ही पाते हैं, जो उनके कर्म के अधीन हैं, सब नहीं मिल जाते।

(८८) परन्तु वह जो आत्मा को सबका मूल जानता है और उसमें सच्ची अहंता (अहंभाव) पा जाता है, और नाशवान् छाया को तुच्छ जानता उसकी परवाह नहीं करता, वरन् सन्यास करता है, तब सब पदार्थ, सब भोग छाया की भाँति उसके पीछे दौड़ते हैं, वह नहीं चाहता, परन्तु वह अपने आप उपस्थित होते हैं, क्योंकि छाया बिना मूल के कहाँ रहे, कहाँ जाय। इस तरह ज्ञानी नहीं भी चाहता, तो भी बिना चाहे भोग मुफ्त मिलते हैं।

(८९) किसी रूप से भी छाया सा शरीर जब तक स्थिर

रहता है, कर्म-संबंध से संक्षिप्त भोग उतने ही मिलते हैं जित
कि कर्मों के अधीन हैं। जब यह शरीर छोड़ता है, तो कर्म
संबंध भी दूर हो जाता है, ब्रह्मलोक के भोग उसके पीछे
अपने आप पड़ते हैं, और सत्यसंकल्प सत्यकाम होता है।

(९०) यही कारण था कि मैत्रेयी ने धन का भाग
लिया, अमर जीवन का भाग माँगा, क्योंकि ये वस्तुएँ तो
अपने आप छाया की तरह आत्मा के साथ रोगे-छोंगे मे
मिल जाती हैं। और यही कारण था कि याज्ञवल्क्य मुनि
ने पुष्कल धन होने पर भी उन सबको यों ही छोड़ दिया
जैसे कोई घर का मैला बाहर फेंक देता है।

(९१) ऐ प्यारो! भारतवर्ष में स्त्रियाँ मैत्रेयी के
समान थीं कि तुच्छ संसार और क्षुद्र संपत्ति की ओर
दृष्टि नहीं करती थीं। तुम तो भारत के पुरुष हो, फिर
क्यों रात-दिन संसार की उन्नति और धन कमाने में अपनी
खबर भी नहीं रखते? बचपन में पाश्चात्य भाषा की शिक्षा
पाने और लौकिक कानून तथा विद्याओं के उत्तीर्ण करने
में यत्न करते हो, फिर युवावस्था में धन कमाने और
भोगों के भोग में प्यारा जीवन खो देते हो। शोक! कि
मुफ्त प्यारे जीवन को नष्ट करते हो।

(९२) आयु भी खोते हो, समस्त प्राप्तव्य भी नहीं मिलते,
वरन् उतने ही मिलते हैं जो प्रारब्ध में हैं। क्योंकि वे तो
तुम्हारी छाया हैं, छाया की ओर दौड़ोगे, तो वह तुमसे पहले

दौड़ जायगी, हाथ नहीं आ सकती, वरन् उतनी ही आ सकती है जो तुम्हारे पाँव तले है। विचित्र मूर्खता है कि वह सामने भागी जाती है और तुम उसके पीछे पड़ते हो। अतत छाया नहीं थकेगी, तुम ही थककर गिर जाओगे। जब मृत्यु हुई, तो बी० ए० पास कहाँ और वह तहसीलदारी वह इक्स्ट्रा ऐसिस्टेंटी की आशाएँ कहाँ? फिर जन्म-मरण ससार विद्यमान है, कहीं गधे हुए लादे जाओगे, कहीं बैल के जन्म में मार खाओगे। क्यों नहीं अभी सँभलते हो? आओ, मेरी सुनो।

(६३) इस लोभ को छोड़ो। अपने आत्मा में लगो। ज्यों ज्यों तुम इन मनोरथों को छोड़ोगे त्यों त्यों ये तुम्हारे पास आवेंगे। इसी से लिखा है और यह किसी की बात सच भी है कि "बिन माँगे मोती मिलें, माँगे मिले न भीख।" तुम्हें चाहिए कि असल को पाओ, नकल तो खुद साथ है। अरी अविद्या! तेरा सत्यानाश! तू क्यों हमारे भारत म आ गई? और आर्य भाई जो ऋषियों-मुनियों की सतान हैं, क्यों उन्हें दबा लिया?

(६४) अनर्थ यह हुआ है कि आर्य भाई पाश्चात्य भाषा की शिक्षा पाकर वेदों में परिवर्तन करना चाहते हैं, और नूतन समाज बनाकर अपनी कपोलकल्पना से भक्ति करते हैं, जैसे पाश्चात्य भी करते हैं। दूसरे मुक़ाबले पर ब्रह्म-समाज करते हैं। जिस तरह अँधेरे में मुर्ग लड़ते है, इस

तरह विवाद और उत्तर में पत्र छापते हैं। ऋषियों-मुनियों पर विद्या-दोष का लांछन लगाते हैं, अपने आपको बी० ए० पास के कारण गौरवशाली समझते हैं, यद्यपि कुछ नहीं जानते।

(६५) क्योंकि वे देह से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं जानते, जैसा कि विरोचन ने समझ लिया था, और अपने शरीर की रक्षा और भोगों के लिये ससार की उन्नति में प्रयत्न करते अपनी चिंताओं के अनुसार देशोन्नति के संकल्प करते हैं, और भारतीय भाइयों को मूर्ख और जंगली जानते हैं, जैसे कि पाश्चात्यों के विचार हैं।

(६६) ऐ भाइयो ! पहले अपने आपको पहचानो कि तुम क्या रूप हो ? जब तक पहले कोई अपने आपका ही ज्ञान नहीं रखता, दूसरे की क्या जाँच कर सकता है। वह जो अपने आपकी समझ नहीं रखता है, बावला होता है, क्योंकि बावले को यही कहते हैं कि यह तो अपने आपकी भी सूझ नहीं रखता। जब कि तुम अपने आपकी भी सूझ नहीं रखते, तो बी० ए० पास की शिक्षा के कारण ज्ञानी-विज्ञानी ऋषि-मुनि नहीं हो सकते। फिर किस प्रकार आध्यात्मिक बातों का सशोधन कर सकते हो ? यदि उसका सशोधन नहीं कर सकते, तो यह आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज और गुरुसिंह सभा नहीं, तो क्या है।

(६७) मैं तुमसे विनती करता हूँ, इस प्रकार की

देशोन्नति से बचो। पहले अपनी पहचान करो, प्राकृतिक वावलेपन से निकल आओ, फिर देखो किसमें देश की उन्नति है। मेरे भाई ! ऐसा न हो कि मेरा उपदेश अप्रिय या अरुचिकर प्रतीत हो, इसलिये मैं अधिक नहीं कहता, प्रयोजन की बात पर आता हूँ कि माया एक आत्मा की छाया है, और सब मनोरथ (काम-भोग) मायामय या छाया रूप हैं। आत्मा के पाने से सब अपने आप मिल जाते हैं, और उनको छोड़ने से वे पीछे पड़ते हैं, और उनके चाहने से वे आगे भागते हैं, बुद्धिमान् उनकी परवाह नहीं करते।

(६८) यह नहीं मान लेना चाहिए "कि जब माया छाया है, और उसका संसार भी माया का कार्य अर्थात् छाया-रूप है, तो जिस तरह धूप भी सूर्य की छाया है और स्वाभाविक रीति से उससे उतरती है, उसी तरह आत्मा से माया भी स्वाभाविक रीति से उतरती होगी। या जैसे सूर्य यदि चाहे कि उससे धूप न उतरे और ऐसा हो नहीं सकता, तो इसी तरह आत्मा भी शायद विवश होगा कि उससे संसार होता रहे और वह उसमें फँसा रहे।" वरन माया छाया की तरह इस ख्याल से वर्णन की गई है, जैसे सूर्य-किरण या नर-छाया सूर्य या मनुष्य के सिवाय कुछ सत्ता नहीं रखती, वरन् उसी की विभूति वही रूप है।

(९९) लेकिन माया अविद्या तक तो निःसंदेह विवश करती है। जब अविद्या जाती है, तो फिर अधीन हो जाती है, जैसे ईश्वर के अधीन होती है। क्योंकि माया अपने आप चीजें नहीं बना सकती, जैसे मिट्टी अपने आप चीनी प्याला नहीं बन जाती, वरन् जैसा कुम्हार चाहता है वैसा रूप माटी धारण करती है। इसी तरह जैसे आत्मा चाहता है, वैसे माया भी पदार्थों और मनोरथों की विभूति में बदलती है। यह विचार कि माया अपने आप आत्मा के भोग और मुक्ति के लिये रूप बदलती है, कपिल मुनि का विचार है जो ठीक नहीं, वरन् वेद की श्रुतियों के विरुद्ध है।

(१००) क्योंकि माया वास्तव में जड़ है। जड़ वस्तुएँ अपने आप नहीं बदलतीं, वरन् उनके बदलाने और बनाने के लिये चेतन आत्मा का होना आवश्यक है। सूर्य और धूप तो दोनों जड़ है, इसलिये सूर्य के अधीन धूप नहीं। आत्मा तो चेतन है, माया उसके वश में है। जिस तरह वह चाहता है, उसे नाच नचाता है। निःसंदेह उसी की विभूति है, उससे कुछ पृथक् वह सत्ता नहीं रखती, तो भी उसके अधीन है।

(१०१) देखो, मनुष्य का उठना-बैठना या चलना-फिरना मनुष्य की शानें (आकृति वा चेष्टा) हैं, उसके स्वरूप से कुछ अधिक वस्तु नहीं हैं, तो भी उसके वश में हैं। क्योंकि जब वह चाहता है तो उठता है, जब वह चाहता है तो बैठता है, जब वह चाहता है तो चलता है।

जब वह चाहता है तो नही चलता। कोई उठना-बैठना या चलना-फिरना उसे विवश नही करना यद्यपि वे सब उसी की चेष्टा और उसी की छाया हैं।

(१०२) इसी तरह माया भी यद्यपि आत्मा की विभूति, आत्मा की छाया है, तो भी आत्मा को विवश नहीं करती, वरन् जिस तरह वह चाहता है, उसी तरह नाचती है, जैसे मनुष्य भी जिस तरह चाहे छाया को चला सकता है। फिर क्योंकर कपिल मुनि का विचार ठीक समझा जाय ? वरन् श्रुतियों में सृष्टि के आरभ में आत्मा की इच्छा सुनते है कि "उसने चाहा कि म अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ", और ऐसा हो गया। जब कि श्रुति भगवती सकेत करती है कि आरभ में आत्मा की इच्छा के अनुसार संसार उत्पन्न होता है, तो किस प्रकार ठीक हो सकता है कि स्वाभाविक रीति से उससे जगत् उत्पन्न होता है।

(१०३) फिर, इस हेतु कि कणाद और उनके शिष्य तथा आजकल के स्वामी दयानद और उनके शिष्य ख़याल करते हैं कि सब वस्तुओं के परमाणु (वह अणु जिनके खड न हो सकते हों) आत्मा के साथ है और उन्हीं के सयोजन से वह ससार बनाता है, यह भी भूल है। क्योंकि अकेला आत्मा जब कुछ भी नहीं था उस समय उसने सब कुछ बनाया, ऐसा वेदों मे सुनते हैं।

(१०४) जब कि हम उसे उस समय अकेला और

अद्वितीय सुनते हैं, तो किस प्रकार यह निश्चय कर सकते हैं कि उसके साथ परमाणु भी थे ? तो फिर वह अकेला या अद्वितीय नहीं रह सकता, क्योंकि श्रुति विस्तार और ताकीद के साथ विश्वास दिलाती है कि "ऐसा अकेला था कि कुछ भी कल्प तक विद्यमान न था।" जब कि श्रुति साक्षी देती है कि कल्प तक भी साथ न था, तो परमाणु-वादी परमाणुओं को तो संभव सत् अर्थात् अनादि सत् मानता है, कल्प तक भी नहीं मानता, क्योंकर उस समय निश्चय करता है ? निदान, वेद के विरुद्ध सब लोग अपनी कपोलकल्पना करते हैं, जो विश्वास के योग्य नहीं।

(१०५) उनकी आपत्ति कि "जब वह ऐसा अकेला था क्योंकर उसने इच्छा की और किस प्रकार किस सामग्री और यन्त्रों से उसने संसार बनाया" उचित नहीं है, क्योंकि हम उसे सर्वशक्तिमान् सुनते और सर्वज्ञ जानते हैं। वेदों के मन्त्र समर्थन करते हैं कि वह बिना हाथों के पकड़ता है, बिना पाँवों के चलता है, बिना आँखों के देखता है और बिना कानों के सुनता है।

(१०६) इसी तरह वह बिना मन के सोचता-समझता इच्छा करता है, और यही उसकी महिमा और माया है। और इसी माया से, बिना उपादान और बिना साधन के संसार बनाता है, वरन् आप ही प्रत्येक महिमा में आया हुआ प्रकाशमान होता है। उसे फिर परमाणुओं की क्या

अपेक्षा, और साधनों की क्या आवश्यकता ? जो चाहता है सो करता है। परम स्वाधीन है। तथास्तु।

(१०७) अकेला है, पर नाना रूप हो जाता है, असग है, पर सगवाला हो जाता है, एक है, पर अनेक हो जाता है। कुछ कठिनाइयाँ नहीं रखता। यह भी नहीं कि कपिलजी के विश्वासानुसार प्रकृति अपने आप जगत् बनती है। वरन् जिस तरह एक बडा बुद्धिमान इजीनियर इमारत बनाता और कोठियों और इमारतों की नींव डालता है, उसी तरह आत्मा भी सब कुछ करता हुआ अकर्त्ता है।

(१०८) यह न मान लेना चाहिए कि "बुद्धिमान् इजीनियर तो उपादान और साधनों के अधीन है, जब तक उस अकेले के पास सामग्री नहीं होती, तो वह किस प्रकार इंजीनियर की तरह ससार बना सकता है ?" वरन् जैसा निर्मल जल में बिलोने से झाग और बुदबुद-रूप विभूतियाँ निकलती हैं, उसी तरह स्वच्छ, स्थिर आत्मा में एक माया का आवेश संसार बनता है।

(१०९) सच तो यों है कि जिस तरह एक बुद्धिमान् जादूगर बिना यत्र और सामग्री के आकाश में उडता और उतर आता है, परतु वास्तव में न उडता और न उतरता है, उसी तरह यह आत्मा भी जादूगर की तरह ससार बनाता है और वास्तव में नहीं बनाता। इसी कारण ससार इसका कौतुक-स्थान कहलाता है। इस कौतुक को ही सस्कृत

में माया कहते हैं, और जादूगर या कौतुकी को मायावी। इसी कारण वेद की श्रुतियाँ कहती हैं कि माया को प्रकृति जानो और मायावी को महेश्वर मानो। इस प्रकार के मन्त्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसकी माया ही, जो कौतुक है, संसार का उपादान है और मायावी, जो इसका स्वरूप है, कर्त्ता है। अत महिमा वा विभूति तो बदलती है, स्वरूप या भूमा नहीं बदलता। और जिस तरह वह चाहता है, हर महिमा वा विभूति में आता है। यही सच है। यही वेद के अनुकूल है। जो कोई इसके विरुद्ध विश्वास करता है, काफिर (ईश्वर-निंदक) है, और अद्वैत की गंध भी नहीं रखता।

(११०) पाश्चात्य लोग जो ख़याल करते हैं कि ईश्वर असत् से सत् करता है, यह भी ठीक नहीं। जो स्वयं असत् है, वह सत् नहीं हो सकता। जो सत् है, वह असत् नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो सके, तो असत् से सब कुछ उत्पन्न हो सके, और इसी तरह बंध्या का सुत, आकाश-कुसुम की टहनी और कीकर फलदार भी हो जाता। और यह संभव नहीं, इसलिये उनका विचार भी वृथा है।

(१११) यह भी नहीं मान लेना चाहिए कि "वह सर्वसंपन्न या बेपरवाह है, उसे संसार के बनाने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि कोई भी काम जो निष्प्रयोजन होता है, व्यर्थ होता है, और जो कोई प्रयोजनवश कार्य

करता है वह सर्वसंपन्न या बेपरवाह नहीं होता।" वरन् यों समझो, जैसे महासुन्दर प्रेमपात्र यदि बेपरवाह वा सर्वसंपन्न भी हो, तो भी दर्पण में अपना मुँह देख देखकर प्रसन्न होता है, वैसे ही यह महान् प्रभु परमात्मा अपने देखने के लिये जगत् बनाता है।

(११२) जिस तरह एक महासुन्दर बेपरवाह पुरुष कोठी बनाता है, उसमें एक शृंगार का कमरा बनाता है, फिर उसमें शृंगार की मेज रखता है, फिर उस पर कलईदार आईना रखता है, और उसमें दृष्टि करके अपना रूप देखकर आनंदित होता है। इसी तरह परमात्मा ने अपने देखने के लिये धरती और आकाश एक उत्तम कोठी बनाई है, यह संसार एक शृंगार का कमरा बनाया है, धरती उसमें शृंगार की मेज के समान है, और उस पर मनुष्य एक क़लईदार आईना रक्खा गया है, क्योंकि मनुष्य का शरीर तो मानों आईने की चौखट के समान है, और उसका हृदय एक शीशे का निर्मल टुकड़ा भीतर जड़ा हुआ है, जिसके पीछे अविद्या की क़लई लगाई गई है, उसमें वह प्रतिबिंब की भाँति किरणें मारता हुआ अपने आपको देखता है। यही उसका विलास और यही उसकी इच्छा संसार की उत्पत्ति की है। दूसरा कुछ भी तात्पर्य नहीं।

(११३) जब वह बेपरवाह भी दर्पण देखता है, तो अपनी बेपरवाही या स्वतंत्रता से नहीं निकल जाता, इसी

तरह आत्मा भी अपने दर्शन के लिये मनुष्य में आया अपने पूर्णत्व से नहीं निकल जाता है। क्योंकि मुख भी एक प्रकार का अपना अंग होता है, जैसा वह विना दर्पण के अपना दर्शन नहीं पाता, इस तरह आत्मा भी जो असली अपना आप (स्वरूप) है, क्योंकर दिखाई दे ? क्योंकि लिखा है कि जब यह आत्मा ही होता है तो किसको कौन देखे ? वरन् जब यह एक अकेला अनेक होता है, तो दूसरा दूसरों को देखता है।

(११४) इसी कारण मुख भी किसी कारण से लौकिक दृष्टि से अकेला होता है, किस प्रकार वह अपने आपको देखे ? वरन् जब वह दर्पण में आया दूसरा-सा होता है, तो दूसरा हुआ दूसरे को देखता है। इसलिये आत्मा तो वास्तव में एक अकेला है, किस प्रकार अपने आपको देखे ? इसी कारण अपने दर्शन के लिये अपनी माया से वह भी संसार के रूप में दूसरा-सा और सत्-सा हुआ मनुष्य के मनोमुकुर (या हृदयदर्पण) में अपना सौंदर्य देखने को आया है।

(११५) अपने सौंदर्य का दर्शन तो संसार के बनाने में मुख्य तात्पर्य है, जो उसके पूर्णत्व या वेपरवाही में अंतर नहीं लाता, किंतु लौकिक दृष्टि से दूसरे चमत्कारों का भी स्पष्टीकरण है जो संसार की बनावट में उसकी विचित्र कारीगरी और विचित्र कौतुक सिद्ध होते हैं। इसलिये

अपने समस्त चमत्कारों का स्पष्टीकरण भी संसार का हेतु है। जिस प्रकार प्रेमपात्र भी जो सुन्दर होता है, छुपा नहीं रहता, वरन् परदों और झरोखों से दृष्टि करता अपनी सुन्दरता दिखाता है, उसी तरह सुन्दर आत्मा भी जिसके सौंदर्य की प्रभा सर्वत्र दीप्तिमान् है, संसार के परदे में झाँकी और दर्शन देता है।

नहीं छुपता मिसाले बू छुपाये लाख परदों में,
मजा पड़ता है जिस्म गुल पैरहन को नेहिजारी का।

यही उसका दर्शन देना संसार के बनाने का प्रयोजन है, जो किसी कारण से उस पर परदा भी है, क्योंकि ज्यों-ज्यों परदे में झाँकी होती है, त्यों-त्यों प्रेमियों का प्रेम भड़कता है। इस तरह स्वयं ही प्रेमी, स्वयं ही प्रेमपात्र, स्वयं ही परदा होकर बहुत रूप हुआ संसार की विभूति में प्रकट हुआ है।

(११६) फिर चूँकि संसार के देखने से एक एक से एक-एक वस्तु में (क्या लोक, क्या परलोक, क्या संसार, क्या नरक, क्या स्वर्ग, क्या बंध, क्या मोक्ष सबमें) नियामकता और विचित्रताएँ पाई जाती हैं, कोई भी व्यर्थ और निष्प्रयोजन नहीं, वरन् प्रत्येक उसके समस्त चमत्कारों और पूर्ण बुद्धिमत्ता को प्रकट करता है। यह किस प्रकार हो सकता है कि सूर्य की छाया की भाँति प्राकृतिक रूप से वह प्रकट हुआ हो? क्योंकर हाथ की पाँच

अँगुली बनाई गई हैं ? बीच की अँगुली बड़ी, अँगूठा और कनिष्ठिका (चौथी अँगुली) सबसे छोटी और ऐसे ढग से रक्खी गई हैं कि उसे चाहे मुट्ठी करें चाहे खोल दें। किसी चीज को पकड़ें तो पकड़ सकते हैं किसी गिरह को खोलना चाहें तो हाथ से खोल सकते हैं। शत्रु को मुक्का मारना चाहें तो मार सकते हैं, भाले का काम देता है। लड़के को शिक्षा देना चाहें, तो थप्पड़ का काम देता है, और भी बहुत-से प्रयोजन उससे निकलते हैं जिसकी चिंता में समस्त ससार के वैद्य वा डाक्टर दग वा चकित हैं।

(११७) वरन् यदि समस्त ससार के वैद्य वा डाक्टर मिलकर चिंता करें कि इस बनावट के सिवाय कोई दूसरी आकृति हाथ की बनाई जाय, जिससे ये सब काम भी हो सकें, तो कदापि चिंता न कर सकेंगे। और इसी तरह आँख के परदे और उसकी बनावटें और मुख्य-मत्था फिर उनका लगाना सोचें, तो विचित्र बुद्धिमत्ता और कौशल चातुरी बनानेवाले की दिखाई देती है। और मनुष्य तथा प्राणियों के एक-एक अग में, वनस्पतिवर्ग, खनिजवर्ग, और धरती-आकाश में पदार्थ-वेत्ताओं की बुद्धि स्तभित होती है, फिर किस प्रकार हो सकता है कि यह बनावट विना बुद्धिमानी के है ?

(११८) यद्यपि उसकी बनावट की शैली से उसकी अपार बुद्धिमत्ता और बड़ी इंजीनियरी पाई जाती है,

तो भी विना साधन और विना उपादान के वह बनाता है इसलिये आश्चर्य है, और इसी कारण उसे खयाली या काल्पनिक कहते हैं। फिर कहीं तो दोहरे खयाल से, कहीं इकहरे खयाल से बनाता दोहरा संसार रचना है। वह जो दोहरे खयाल से बनाता है, उसे नित्य या सत खयाल कहते हैं, वह जो इकहरे खयाल से बनाता है, उसे स्वप्नमात्र जानते हैं। इसलिये विचित्र सामर्थ्य, विचित्र शक्ति रखता है, जिससे बढ़कर कोई दूसरी शक्ति, दूसरी सामर्थ्य नहीं।

(११६) जो कोई श्रुतियों के विरुद्ध प्रकृति या परमाणु को निश्चय करता है, या असत् से सत् मानता है, झूठा है। वह जो कहता है कि ईश्वर परमाणुओं से संसार बनाता है, उसे भी दूर करो। वह जो कहता है कि वह नहीं बनाता, वरन् उसके भोग के लिये अपने आप प्रकृति संसार बनाती है, उसे भी दूर करो। वह जो कहता है कि असत् से सत् करता है, उसे भी दूर करो।

(१२०) वह तो जादूगर की तरह जादू से संसार बनाता है। जैसे जादूगर भी अनहुई वस्तु दिखाता है, वैसे संसार भी नहीं हुआ पर दिखाता है। ऐ परम शक्तिमान जादूगर! कृपा कर, हमारे मायाविद् शिष्यों को इस जादूगर से बचा ले। अपने जादू से बढ़कर आश्चर्य माया के कारण हमारे शिष्यों पर परदा मत डाल। वरन् वही जो तेरी इच्छा है उन्हें अपना दर्पण आत्मा को दर्शानेवाला कर

ले, वे अपने हृदय-दर्पण मे तुझे देख-देख हमारी तरह आनंद पावें। ऐ कृपालु ! ऐ दयालु ! उन्हें विषयों की चाट से रोक दे। तेरे विषयों की चाट एक लेसदार शीरा है, और मेरे भाषाविद् शिष्य बेचारे विद्या की कमजोरी के कारण निर्बल मक्खियाँ हैं। नि संदेह जैसे शीरा भी मीठा होता है, विषय भी मीठे होते हैं, जिस तरह मक्खी मीठे के लोभ में उसमें पड़ती और फँसती है, ये न पड़ें और न फँसें।

(१२१) क्योंकि मक्खी नही जानती कि मैं उसके लेस से नही निकल सकूँगी, वरन् अपनी बुद्धि की कमजोरी से मिठाई के लालच से उसमें जा पड़ती है, और ज्यों-ज्यों पर मारती और तड़पती है, अधिक काँप खाती है, अंतत उसी में डूब मरती है। इसी तरह बेचारे भाषाविद् अपनी विद्या की कमजोरी से विषयों में यों जा पड़ते हैं, जैसे एक बलवान् साँड़ हरे खेत में जा पड़ता है, परंतु उसमें यों लेस पा जाता है जैसे कि एक निर्बल मक्खी खाँचे के शीरे में फँसती और मरती है। पर मैं तो अपनी रचनाओं और अनुवादों से एक पंखा हिलाता हूँ। वे जो इस पंखे की हवा में आ जाते हैं बचते हैं। किंतु जो इस पंखे की हवा भी नहीं खाते, ऊपर-ऊपर या इधर-उधर निकल जाते हैं, जा फँसते हैं। मैं भी उनके बचाव का कोई उपाय नहीं करता, तेरा प्रसाद ही वाछित है। अपनी कृपा से उन्हें मेरे पखे की हवा के नीचे ला, ताकि मै विषय-रूपी शीरे से उन्हें

आत्म-पुष्पोद्यान दिखलाऊँ, और जंगली चिड़िया से स्वर्ण-चिड़िया बनाऊँ।

(१२२) इस पुष्पोद्यान में उन्हें मधु-मक्षिका की भाँति रस उठाना सिखाऊँ, और ब्रह्मलोक के सूर्य-यूप में इस रस से अमृत बनाना बतलाऊँ, ताकि वह इसी यूप मे मिलाप पाते हुए अक्षय अमृत खावें और मृत्यु के बधन से मुक्ति पावें। कैसी बड़ी बात है कि यदि मेरे हाथ से ये बेचारी छोटी मक्खियाँ भी सूर्य के यूप की देवी-मक्खियाँ हो जायँ। और तेरी कृपा में कुछ भी दूर नहीं। तू कृपालु-दयालु है, जो चाहे सो कर सकता है, ऐसा कर दे। तथास्तु।

(१२३) अब मैं ऐ भाइयो! तुम्हें वैदिक कहानी सुनाता हूँ जिससे तुम्हें सुगमता से ज्ञात हो जाय कि क्योंकर आत्मा अपनी बुद्धिमत्ता से ससार बनाता है? क्योंकर मनुष्य में वह प्रविष्ट होता है? क्योंकर वही परमात्मा मनुष्य बन आया है? क्यों यह ऐसा हुआ? क्योंकर मनुष्य के पद में उसका दर्शन होता है? किस प्रकार देवता भी उसमें प्रविष्ट हुए उसी से जीविका पाते हैं? क्यों वास्तव में वही सबका स्वामी और स्रोत है? और किस प्रकार उसके विचार से जाग्रत् और स्वप्न का ससार बनता है? इति।

(१२४) यद्यपि ये बातें बड़ी सस्कृत-विद्या की अपेक्षा करती हैं, तो भी भाषा जाननेवालों के लिये वैदिक कहानियों से जतलाना मनोरजक और सहज बोधगम्य ख़याल करता

हूँ। इसलिये ऋग्वेद ऐतरेय शाखा में जो कुछ कि सुनता हूँ, यहाँ अनुवाद करता हूँ।

अध्याय आठवाँ

(१) हम सुनते हैं कि जब प्रजापति इंद्र को और कश्यप को शिक्षा दे चुके, और इंद्र ने यही शिक्षा देवताओं में प्रचलित की, तो कश्यप ने अपने पुत्र मनु को और सनकादिक ऋषियों को, जो त्रिजन्मा (त्रिधा) उत्पत्ति में उत्पन्न हुए थे, यही सिखलाया, और ये सनकादिक ऋषि सृष्टि की उत्पत्ति में इसी शिक्षा का प्रचार करते थे और जनता को न्याय (करनी-भरनी) और प्रसाद की ओर बुलाते थे।

(२) किंतु न्याय (कर्मकाड) के [illegible] तो उन पर खुले, प्रसाद के भेदों (रहस्यों) से [illegible] रहा, इसलिये वे कर्मकाड में और शास्त्रों [illegible]) [illegible] लग गए, पर [illegible] को न जाना, जीवन औ [illegible] उत्त [illegible] उनमें वे [illegible] के विवेक [illegible] ये [illegible] लिये कु [illegible] और [illegible]

(३) उनमें एक का नाम वामदेव ब्राह्मण था, जो अच्छा स्वच्छ हृदय रखता था, किंतु उसे एक पिछले जन्म का ऐसा पाप था, जो दूसरे जन्म का कारण था, और यही आवरण था जिसके कारण उसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं अनुभव होता था। तो भी महावाक्य उसमें बीज के समान प्रभाव डालते थे, जैसे कोई बीज भूमि में बोया जाय, तो नियत समय तक वह अकुर नहीं लाता, जब समय आता है तो अपने आप फिर अकुर लाता है।

(४) दूसरे जन्म के आवरण के कारण जो आनेवाला था उसमें अकुर (फल) नहीं लाता था, तो भी वह यज्ञ, तप और व्रत से गोड़ाई करता था, और सनकादिक मुनियों की शिक्षा की वर्षा से उसे सींचता था। अतत वह उनमें युवावस्था में मर गया, और पितृयाण-सड़क पर चलता हुआ चद्रलोक में सोमराज हो गया, वहाँ के स्वर्ग के भोग भोगकर फिर नीचे लोकों में आया और उसी नियम से, जैसा कि हमने कर्मकाड के प्रकरण में पचाग्नि-विद्या से सकेत किया है, वर्षा के द्वारा भूम्यग्नि में होम होकर अन्न हुआ, फिर ब्राह्मणाग्नि में होम हुआ उसका वीर्य हो गया, और फिर ब्राह्मणी अग्नि में जो पचम होम की अग्नि है, होम हुआ गर्भ में आया, जो दूसरा जन्म था।

(५) जब वह ईश्वरीय नियम से उत्पन्नावस्था के समीप हुआ और अपने समस्त कर्मों को उसने उपस्थित

पाया तो यह शिक्षा भी, जो सनकादिकों से उसने आत्मा के विषय पाई थी, उसे स्मरण आई और अपने आत्मा का उसने पता लगाया, किंतु वहाँ भावी जन्म के कारण आवरण नहीं उठा था, अब जो आनेवाला जन्म हो चुका, उसी शिक्षा की स्मृति से आवरण उठ गया, और उसे आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई दिया और वह प्रसाद में प्रविष्ट हो गया।

(६) आश्चर्य यह हुआ कि उसे पहली उपासना के कारण, जो चमत्कार का कारण थी, भाषणशक्ति भी गर्भ में आ गई और गर्भ में बातचीत करने लग गया, और उसकी माँ तथा जो लोग उसके निकट बैठे थे उसकी वाणी सुनकर आश्चर्य करते थे कि यह गर्भ में विचित्र लड़का आया है जो प्राकृतिक नियम के विरुद्ध पेट में ही बोलता है।

(७) कोई कहे यह गर्भ नहीं, वरन कोई भूत पेट में आ गया है। कोई कहे यह भूत नहीं, वरन् पवित्रात्मा पेट में आया है, क्योंकि वैदिक बातें करता है, भूत का काम नहीं जो वैदिक मंत्र पढ़े। इस तरह नगरों और ग्रामों में आश्चर्य की चर्चा फैल गई। क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, झुंड के झुंड उसे देखने आते और उसकी माँ के निकट बैठते और गर्भ से बातचीत करते, ईश्वर की माया का आश्चर्य करते।

(८) होते-होते वह झुंड भी और उसके वे पहले के संबंधी भी आए, जिनके बीच में वह जप-तप करता

सनकादिक मुनियों के पास शिक्षा पाता था। जब वे आए और उन्होंने बातचीत करनी चाही, तो गर्भ में वह हँसा और बड़ा कहक़हा मारा। उन्होंने कहा—"ऐ लड़के! अभी तू गर्भ से बाहर नहीं आया, किस प्रकार तूने बात करने की शक्ति पाई? और तू कौन है और क्यों हँसता है?"

(९) वामदेव बोला—"ऐ भाइयो! मैं तुम्हें जानता और पहचानता हूँ, लेकिन तुम मुझे नहीं जानते-पहचानते, इसलिये अपनी माया के आश्चर्य से हँसता हूँ। मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि मैं कौन हूँ? मैं वही वामदेव नाम का तुम्हारा संबंधी हूँ जो तुम में उत्पन्न होकर बहुत समय तक तुम में रहा, तुम्हारे साथ मिलकर तप, यज्ञ, व्रत, नियम करता था, और फिर तुम्हारे साथ सनकादि मुनियों से आत्मा की शिक्षा पाता था।" और वही सब बातें, जो उनमें हुई थीं, वामदेव ने प्रकट कीं और अच्छे पते लगाये जिससे उन्हें विश्वास हो गया कि वास्तव में यही वामदेव है।

(१०) फिर उसने वर्णन किया कि "भाइयो! तुम जानते हो कि मैं तुम्हारे साथ सनकादिक मुनियों के पास आत्मा की शिक्षा पाता था और तुम भी पाते थे। किंतु मुझे भावी जन्म का रोग था, इसलिये सनकादिक मुनियों की वाणी मुझ पर यथेष्ट प्रभाव नहीं डालती थी, और यह परदा बिना दूसरा जन्म लेने के दूर होने के योग्य नहीं था,

क्योंकर मुझे आत्मा प्रत्यक्ष होता ? जिस तरह बीज बोया गया हो, और उस पर एक पत्थर रख दिया गया हो, तो किस प्रकार अंकुर निकल सकता है ? भावी जन्म का पाप मेरे मन मे एक कठोर पत्थर था, जो कुछ सनकादिक मुनियों ने मन के खेत में बोया था, उस समय अंकुर न लाया।

(११) अब जो मे तुम में से सो गया और दूसरे जन्म में उठा, तो आनेवाले जन्म का पत्थर समाप्त हुआ। वही शिक्षा का बीज अंकुर लाया। अब मैं अपने आत्मा को उन्ही की वाणी से प्रत्यक्ष पाता हूँ, और मे निश्चय करता हूँ कि 'मैं ही मनु हूँ, मे ही सूर्य हूँ, वरन् सबमें सब कुछ हूँ।'

(१२) ऐ भाइयो ! मै गर्भ ही में देखता हूँ कि "मैं अनादिकाल से बार-बार इन देवताओं, वरन् क्या पशु, क्या पक्षी, क्या कीट-पतंग सबकी योनियों में, जो अगणित हैं, अगणित बार आया, कभी देवता, कभी गंधर्व, कभी सूर्य, कभी प्रजापति, कभी मनुष्य, कभी गाय, कभी घोड़ा, ऊँट आदि हुआ हूँ, जिसकी अब मे तुम्हें गिनती नहीं बतला सकता, यद्यपि मे प्रत्यक्ष देखता हूँ।"

(१३) ऐ भाइयो ! मै अनादिकाल से इस संसार में योनियाँ पलटता चला आया हूँ, जो एक कठोर लोहे के पिंजड़े के अनुसार कहा जा सकता है, और मे बलवान् पक्षी की तरह इस ससार के पिंजरे में बंदी था। यद्यपि वह

संसार-रूपी पिंजरा लोहे से भी कठोर है, तो भी मुझ बलवान पक्षी के बाहुबल के आगे कुछ भी सत्ता नहीं रखता।

(१४) किंतु मुझे अविद्या के कारण और उस पिंजरे के साथ आसक्ति के कारण पिंजरा कड़ा सा हो रहा था जो टूटता नहीं था। अब मैं सनकादिक मुनियों को धन्यवाद अर्पण करता हूँ कि उन्होंने मुझे आत्मबल की शिक्षा प्रदान की और मुझे जतला दिया कि 'तुम तो एक बलवान् पक्षी हो, यह संसार का बंधन तुम में कहाँ है? क्या कहीं सिंह भी कच्चे तार से बंदी हो सकता है, क्या बलवान् पक्षी भी कच्चे डोरों में बँधा रहता है?' परंतु मैं आनेवाले जन्म की रुकावट के कारण विश्वास नहीं करता था, स्वीकार तो करता था।

(१५) अब जो रुकावट का पत्थर अपने आप दूर हो गया और उनकी शिक्षा का बीज गर्भ में अंकुरित हुआ। मैंने मदमाते पक्षी की तरह आत्मबल से इस पिंजड़े को तोड़ दिया और प्रत्यक्ष आत्मा पाया। अब मैं स्वयं सब कुछ, और सबसे पृथक् पूर्ण स्वतंत्र वा मुक्त हूँ। तथास्तु।" ऐसा वामदेव गर्भ में बोला।

(१६) आश्चर्य मत करो। अपने आत्मा की पहचान की महिमा है कि मैं अपने आपको सर्व-रूप देखता हूँ, औ यही आत्मज्ञान है जो इस ग्रंथ में भी प्रविष्ट

और वह यज्ञ और तप, जो मैं करता था, उनका फल है कि मैं गर्भ में बोलता हूँ। मेरी माया का यही दैवी विधान है।

(१७) ऐ भाइयो ! जो कुछ कि सनकादिक ऋषियों ने तुम्हें शिक्षा दी है, सच है। उस पर ध्यान करो और ध्यान करके विश्वास करो, तुम भी प्रसाद पाओगे। तुम्हारे मनों में पाप और संशय (अविश्वास) है, जिससे तुम प्रसाद में नहीं आए। क्या तुम अब मेरी साक्षी नहीं देखते कि मैं इस प्रसाद के कारण किस विचित्र शक्ति में आया हूँ ? क्या कोई गर्भ में भी बातचीत कर सकता है ?

(१८) देखो, मैं तुम्हारे सामने गर्भ में जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ, बोलता हूँ, और उस बड़े प्रसाद का निश्चय करता हूँ कि मैं सबमें सब कुछ हूँ। क्या मैं भी जब तुम में था तुम्हारी तरह नहीं डरता था कि यह ईश्वरीय अभिमान है, हम अकिंचन (अधीन) मनुष्य हैं ? पर अब जो अपने आत्मा की पहचान पाई और शरीरों तथा योनियों को कपड़ों की तरह बदलते देखा, तो निश्चय करता हूँ कि "मैं अनादि-अनत, आदि-अंत, बाह्य-भीतर हूँ।" ऐ मृत्यु ! तेरा डंक कहाँ ? ऐ चिता ! तेरी तपन कहाँ ?

(१९) ऐ भाइयो ! संसार मुझे यों दिखाई देता है जैसे भात का एक ग्रास होता है, और यमराज जिसे फारसीवाले मलकुलमौत कहते हैं, एक चटनी है। और मैं उसे इस प्रकार खाता हूँ जैसे एक बलवान् मनुष्य एक ग्रास के साथ

गया जाता है और स्वादिष्ट निश्चय करता है। यह ईश्वरीय अहंकार नहीं, वरन् मैं अपने आत्मा की बड़ाई करता हूँ। यह अहंकार नहीं, वरन् मेरी महिमा है।

(२०) मैं भी जब तक तुम में था, अपने शरीर के ज्ञान से, जो दुर्बल था, तुम्हारी तरह डरता था, और इस निश्चय को नास्तिकता समझता था। किंतु तुमसे बढ़कर यह अंतर था कि मैं सनकादिक मुनियों के वचन को मानता था, यद्यपि पूर्ण विश्वास नहीं करता था। इस कारण से मैंने अब प्रसाद पर प्रसाद पाया।

(२१) मैं सच कहता हूँ, वे जो तुम्हें डराते हैं कि यह निश्चय नास्तिकता है, विरोचन के शिष्य हैं, और वही नास्तिकता में हैं। परंतु यह तो ठीक आत्मा की पहचान है, विरोचन स्वयं नहीं समझा, दूसरों को क्या बतलावे। उनका दृष्टांत ऐसा है जैसे अंधा अंधे को राह दिखाता है अंततः दोनों गड्ढे में गिरते हैं। शरीर स्वयं तम है, वह जो शरीर में अहंकार रखता है, तम अर्थात् अँधेरे में चलता है। किंतु आत्मा ज्योति है, जो इस अंधकार में चमकती है। वे जो इस ज्योति में अहंकार रखते हैं, प्रकाश में चलते हैं। और यह स्पष्ट है कि अंधकार का नाम ही नास्तिकता है। इसलिये "मैं शरीर हूँ" "मैं तुच्छ जीव हूँ," यही नास्तिकता है, "मैं ज्योति हूँ, मैं सच्चिदानंद हूँ" यही सत्यता, साक्ष्य और ठीक बोलना है।

(२२) ऐ भाइयो ! सच जानो, जो अंधकार में चलता है, वही ठोकर खाता है। जो ज्योति और प्रकाश में चलता है, वह कभी ठोकर नहीं खाता, क्योंकि दिन में चलनेवाला कभी ठोकर खाते नहीं देखा। यह निश्चय तो अब मैं दिन की तरह देखता हूँ, अंधा है जो इस दिन को रात बतलाता है, उसकी कदापि न सुनो।

(२३) वे जो आत्मा को नहीं जानते, स्वयं अंधकार के समान हैं। अंधकार ज्योति के निकट नहीं आया करता क्योंकि उसमें जो उसकी बुराई छुपी हुई है, ज्योति में खुल जाती है। इसलिये वे जो इस निश्चय को नहीं मानते, वास्तव में पापी हैं और उनके पाप उनके अंधकार में छुपे हैं। जो इस निश्चय को नहीं मानते, वे इसके निकट नहीं आ सकते। ऐसा न हो कि उनके पाप खुल जायँ, इसलिये इस निश्चय से डरकर इसे नहीं मानते और इसे नास्तिकता समझते हैं।

(२४) ऐ भाइयो ! यही निश्चय है जिस पर आता है प्रसाद पर प्रसाद। यही विवेक है जिस पर मिलती है क्षमा पर क्षमा। यही ज्ञान है जिस पर मिलती है मुक्ति पर मुक्ति। इसी को ढूँढ़ो, इसी को पाओ, इसी को पाता हुआ मनुष्य ब्रह्म होता है। इसी को पाकर जंगल की चिड़ियाँ सोने की चिड़िया हो जाती हैं। मैं तो इस निश्चय से धन्य-धन्य हो गया हूँ, और इसी ज्ञान से कृतकृत्य हूँ।

(२५) जब वामदेव ने इस प्रकार उन्हें शिक्षा दी, तो आश्चर्य ने उन्हें आ घेरा और कहा कि तू कब तक हमें उधेड़बुन में रक्खेगा ? सच-सच कहो, तुम कौन हो ? वामदेव एक हमारा स्वधर्मी अकिंचन जीव था, हमारी आँखों में इसी अकिंचनता में मर गया। यदि भूत हो, तो भी बता दो। यदि किसी देवता का अवतार हो, तो भी बतला दो। हैरान न करो।

(२६) तब वह बोला—"मैंने तो कहा, पर तुम विश्वास नहीं करते। मैं सच कहता हूँ, पर तुम नहीं मानते। जो कोई मेरी सुनता है, मैं उसे अनंत जीवन मुक्ति में प्रदान करता हूँ। पर तुम सुनते हुए नहीं सुनते। तुम्हारे शिर के कान तो खुले हुए हैं, पर हृदय के कान बंद हैं। तुमने सनकादिक मुनियों से सुना, पर निश्चय नहीं किया। ऐ अनजानो ! यदि मेरी बात को नहीं मानते, तो मेरे कामों को तो मानो कि अभी उत्पन्न नहीं हुआ और गर्भ में बोलता हूँ, क्या कहीं ऐसा हुआ है ?

(२७) ऐ अविश्वासियो ! मैं अविद्या के कारण तुम में बेचारा-सा वामदेव के रूप में रहा, और मरा तो क्या हुआ। अब तो तुम मुझे प्रसाद पर प्रसाद मिला हुआ देखते हो। जब कि मैं बेचारा होकर तुम में रहा और मर गया तथा कुछ प्रसाद न पहुँचा सकता था, तो तुमने मेरे लिये शोक किया और बरसों रोते ... जो मैं प्रसाद

से भाग्यवान् होकर आया हूँ, तुम मेरी प्रशंसा नहीं करते, वरन् मुझे भूत ठहराते हो।

(२८) मैं सच कहता हूँ कि तुम्हारे मनों में बड़ा पाप है। तुमने सनकादिक मुनियों को, जो ब्रह्माजी के पुत्र हैं, झुठलाया और फिर मुझे भी, जो प्रसाद और आश्चर्य से आया हूँ, झुठलाते हो। चेत जाओ, और अपने आपको सँभालो। न तो मैं भूत हूँ न चुड़ैल, न प्रेत, वरन् वही वामदेव हूँ, जो तुम में था। किंतु अब जो मैं प्रसाद पाया हुआ निश्चय करता हूँ "मैं ही प्रेत या चुड़ैल हूँ, मैं ही अवतार हूँ, मैं ही इंद्र हूँ, मैं ही प्रजापति हूँ। मुझसे कुछ भी बाहर नहीं है, वरन् मैं सबमें सब कुछ हूँ।"

(२६) तब उन्होंने निश्चय किया कि यह भूत नहीं, वरन् वही वामदेव है जो हमारा संबंधी था, क्योंकि सब पते जो लगाता है ठीक है। आश्चर्य नहीं कि सनकादिकों की शिक्षा के फल से इसने यह प्रसाद पाया हो। इसलिये सच जानते हुए उस पर विश्वास कर लिया और क्षमा माँगी। ऐ वामदेव! हमें क्षमा प्रदान करो। हमने विश्वास किया है कि तू वही वामदेव है जो हमारा संबंधी था, और प्रसाद पर प्रसाद पाकर तू आया है।

(३०) किंतु हम बड़ी अविद्या के कारण अपने आत्मा को नहीं जानते। निःसंदेह सनकादिकों ने हमें बहुत समझाया-बुझाया, पर हमारे पापों के कारण वह परदा, जो

वाणी से उठता है नहीं उठा, इसलिये अविश्वास रहा। तू श्रद्धा रखता था और उनके वचनों को माना था, इसलिये तूने प्रसाद पर प्रसाद पाया, जो हम अपनी आँखों के सामने देखते हैं। अब हमें भी इस प्रसाद में बुला और यह भेद की बात बतला जो तू आप देखता है। हम भी तेरी कृपा से तत्त्व-पदार्थ पावेंगे।

(३१) तब वामदेव बोला—ऐ भाइयो! यह आत्मा अकेला है, अपने सौंदर्य में अद्वितीय है, और अपने कामों में सर्वशक्तिमान् है। इसके सिवाय कोई दूसरा नहीं जो उसको देखे, इसलिये उसे चाव है कि वह अपने आपको देखे। जैसे सुन्दर स्त्री को चाव होता है कि उसे कोई देखे, किंतु जब वह परदे में रक्खी जाती है, तो उसी चाव के कारण वह अपने पास आरसी रखती है, और आप ही अपने आपको उसमें देखकर प्रसन्न होती है।

(३२) परदे में स्त्री का मुख भी अकेला होता है, दूसरा नहीं जो उसे देखे, और मुख भी अकेला है, इसलिये क्योंकर अपने आपको देखे? किंतु आरसी के द्वारा यद्यपि एक मुख दो नहीं हो जाता, तो भी दो-सा होता अन्य-सा हो जाता है, और जहाँ यह अकेला दुकेला सा होता है, अकेला दुकेले को देखता है। इसी तरह सुन्दर स्त्री भी आरसी में दूसरी स्त्री होकर अपने आपको देखती है।

(३३) यह आत्मदेव तो उससे बढ़कर अकेला और

सुन्दर है, क्योंकि न तो वह कोई गुण रखता है न अंश, वरन् सब गुणों और अशों से पवित्र है और सौंदर्य-रूप है, क्योंकि समस्त सौंदर्य और शोभा-सुषमा इसी की किरणें और इसी की प्रभा हैं, क्योंकर वह अपने आपको देखे? पर वह सौंदर्य-रूप है, इसलिये देखने का चाव अनादि-अनत है, इसलिये उसे भी दर्पण की आवश्यकता है ताकि वह उसमें भिन्न-सा होकर और एक से दो-सा होता हुआ प्रेम पूरा करे और अपना दर्शन पावे।

(३४) परंतु उदाहरण मे यद्यपि मुख एक होता है, और आरसी के द्वारा दो-सा प्रतीत होता है, किंतु आरसी तो भिन्न वस्तु उसके समान विद्यमान होती है। यहाँ तो सिवाय आत्मा के दूसरी वस्तु भी नहीं, जो आरसी का उपादान हो सके, वरन् यहाँ स्वयं ही दर्पण, स्वय ही देखनेवाला, स्वय ही दिखाई देनेवाला होता है।

(३५) इस विषय में आश्चर्य मत करो। जैसे कोई जादूगर दो या तीन नहीं हो जाता, तो भी जादू के कारण दो या तीन हुआ दिखाई देता है। इसी तरह यह आत्मा भी जादूगर है और अपने जादू के कारण स्वय ही दर्पण, स्वयं ही देखनेवाला, स्वयं ही दृश्य होता है। और उसी जादू को संस्कृत में "माया" बोलते हैं।

(३६) यह बात सबको मालूम है कि जादूगर का जादू उसके अधीन होता है, उसे कुछ हानि या भय नहीं दे सकता,

तो भी दूसरों को भय, हानि और हर्ष का कारण हो जाता है। देखो, जादूगर जब जादू से सिद्ध होकर दिखाई देता है, तो लड़कों को डराता है, मगर उसी जादूगर को नहीं डराता। इसी तरह आत्मा की माया भी आत्मा पर कुछ प्रभाव नहीं डालती, वरन् उसी के अधिकार में होती है, तो भी उसी को, जब वह दूसरा सा होता है, डराती और बंध-मोक्ष का व्यवहार करती है। इस तरह अपने दर्शन के लिये आया, दर्पण में उतरा, विचित्र संसार में आया है।

(३७) किंतु, जब वह इस दर्पण में आया हुआ संसार में विषयों से उपराम होकर वैदिक नियमानुसार उस दर्पण को स्वच्छ करता है, और उस विधि से जो साक्षात्कार के लिये नियत हुई है, उसमें दृष्टि करता है, तो फिर अपने आपको अकेला देखता संपूर्ण (अद्वितीय) होता है, और समस्त जादू का संसार दूर (पलायन) हो जाता है। फिर वही पूर्ण स्वतंत्र का स्वतंत्र होता है। यही उसकी प्रारब्ध है।

(३८) तब वे बोले—ऐ वामदेव ! हमें विस्तारपूर्वक बतलाओ कि क्योंकर वह अपनी माया से भिन्न होता है ? और उसका दर्पण क्या है ? और क्योंकर वह इस दर्पण को तैयार करता है ? और क्योंकर दर्पण में उतर आता है ? और क्योंकर दर्पण में आया संसारी होता है ? और क्योंकर वह उसमें दृष्टि करता है ? और क्योंकर फिर वह अद्वितीय होता इस जादूघर से निकलता है ? और

क्या-क्या इस जादूगरी में वह कारीगरियाँ करता ।

(३६) * तब वामदेव बोला—ऐ भाइयो ! आरंभ यही एक अकेला आत्मा था। दूसरा कुछ भी कल्पित न थ तब उसने चाहा कि मैं अपना दर्शन करूँ और अपने लि दर्पण बनाऊँ । परंतु जिस तरह एक बड़ा इंजीनिय मिस्त्री पहले चिंता करता है, फिर उसकी लकड़ी, पत्ति और कीलें तैयार करता है, फिर उन्हे जोड़ता और भीत शीशा लगाता है ; उसी तरह उसने विचार करके अप आत्मा से आकाश को बनाया, आकाश से वायु व बनाया, वायु से अग्नि को बनाया, अग्नि से जल को बनाय और जल से पृथ्वी को बनाया जो सब पदार्थों व मूल (बुनियाद) है।

(४०) आश्चर्य मत करो कि उसने अपने आत्मा यह क्योंकर बनाया जब कि उसके पास सिवाय आत्मा दूसरा कुछ उपादान न था ? वरन् जिस तरह पानी बिलो से झाग प्रकट होती है, उसी तरह उसके संकल्प से ती गुणवाली माया झाग की तरह प्रकट हुई, जो उसी क विभूति उससे पृथक् नहीं, और वही सकल्प-रूप थी इसलिये आप ही उपादान और आप ही कर्त्ता हुआ, जैसे

---

* यहाँ से ऐतरेय उपनिषद् का पहला अध्याय पहला खण् आरम्भ होता है।

सर्प अपने लंबे होने, गोल होने और टेढ़े होने में स्वयं ही उपादान और स्वयं ही कर्त्ता होता है।

(४१) फिर उसने चाहा कि मैं संसार के लोक बनाऊँ जिनमें संसारियों के भोग के लिये उनके अनुसार वस्तियाँ भी हों, और मेरे क़लईदार दर्पण (शीशे) के लिये शृंगार के कमरे हो जायँ। संस्कृत-भाषा में ये ऊपर और नीचे के लोक कहलाते हैं। उसने उन पंच तत्त्वों से पहले अंड उत्पन्न करके फिर ये लोक भी बनाये। संक्षेप में वे लोक चार हैं। अंभ, मरीचि, मर और आप (अंभो मरीचिर्मरमाप)।

(४२) जो प्रदेश देवलोक से लेकर ऊपर का है, वही 'अंभ' कहलाता है, यद्यपि उसमें भी बहुत से लोक हैं, तो भी वह सब समष्टि-रूप से अंभ कहलाते हैं। और अंभ शब्द का अर्थ संस्कृत में द्रव की खानि है, जो वास्तव में जल है। और चूँकि वह पंचतत्त्वों के मिलाप से, जो सूक्ष्म हैं, बनाया गया है, और पानी अर्थात् द्रव की उसमें अधिकता या प्राधान्य है, इसलिये उसका नाम अंभ रक्खा गया है।

(४३) देखो, एशिया में यद्यपि हिंदुस्तान और चीन आदि बहुत देश हैं, किंतु जिस तरह समष्टि-रूप से उन सबको एशिया बोलते हैं, इसी तरह देवलोक से ऊपर जितने लोक बनाये गये हैं, उन सबको सामूहिक रूप से अंभ बोलते हैं।

(४४) दूसरा लोक मरीचि है, और वह उतना ही विशाल है जितने में ऊपर नीचे तक सूर्य की किरणें फैलकर समाप्त होती हैं। विशालता अर्थात् खुलापन या आकाश को संस्कृत में अंतरिक्ष बोलते हैं। यद्यपि यह अंतरिक्ष अंभ॰ में भी है, किंतु उसका उतना भाग जिसमें चारों ओर से सूर्य की किरणें फैलकर समाप्त होती हैं, मरीचि कहलाता है, क्योंकि मरीचि संस्कृत में सूर्य की किरणों का ही नाम है। जितने अंतरिक्ष में किरणें फैलती हुई समाप्त होती हैं, उतने अंतरिक्ष को मरीचि बोलते हैं, क्योंकि वह सूर्य की किरणों वाला है, इसलिये मरीचि है।

(४५) तीसरा लोक मर है और उसे मातलोक भी बोलते हैं, क्योंकि मर और मात संस्कृत में मृत्यु का नाम है। जहाँ तक मृत्यु या मरने का निश्चय होता है, वही मर या मृत्युलोक कहलाता है, और धरती उसकी अंतिम सीमा है, इसी में प्राय जन्म-मरण का बर्ताव होता है। यद्यपि दूसरे लोकों में भी जीवधारियों के शरीरों की मृत्यु होती है और मातलोक में पतित होते हैं, परंतु चूँकि वहाँ उनके शरीर पार्थिव नहीं होते, वरन् आम्भिक और सूक्ष्म होते हैं, तथा कर्मों के समाप्त होने पर शोक और दुःख की अग्नि से तेल की भाँति पिघल जाते हैं, उनमें नाश (अभाव) का तो निश्चय होता है, मृत्यु का निश्चय नहीं होता।

(४६) यहाँ मातलोक में तो शरीर स्थिर रहता है और प्राण उठते हैं, पीछे लाश (अर्थात् मृतक की लोथ) रह जाती है, इसलिये यहाँ केवल मृत्यु का वर्ताव होता है, इसी कारण इसको मातलोक कहते हैं।

(४७) चौथा लोक आप है। उसे पाताललोक भी बोलते हैं। इस हेतु कि उसमें पानी सबसे अधिक है, इसलिये उसे आप भी कहते हैं। क्योंकि आप का अर्थ वास्तव में जल है। जो संस्कृत-भाषा जानता है उसे भली भाँति समझ सकता है। और इसी कारण कि यह सबसे नीचे का लोक है, इसे पाताललोक भी बोलते हैं।

(४८) इन चारों लोकों में से प्रत्येक में बहुत-बहुत लोक सम्मिलित हैं। जिस तरह एक अम्भ लोक में हेतु वर्णन किया गया है, उसी तरह सबमें जान लेना चाहिए। और प्रत्येक यद्यपि उपर्युक्त पंचतत्त्वों से बनाया गया है, किंतु सबमें जलों का प्राधान्य है, किसी में अधिक, किसी में न्यून। इसी कारण शास्त्रों में उन सबको हम जल ही बोलते हैं। और यहाँ यही अम्भ, मरीचि, मर, आप नाम किसी कारण से पानी के नाम से संबंध रखते हैं। और दूसरा कारण भी रखते हैं, जो ऊपर लिख दिया गया है। इस प्रसंग में आगे जहाँ जलों का उल्लेख करेंगे, वही पंच-तत्त्व जानने चाहिएँ जिनमें जलों का प्राधान्य है।

(४९) फिर जिस तरह बुद्धिमान् मिस्त्री तरते (पट्टियाँ)

तैयार करता है, और एक दूसरे को ऊपर-नीचे ठोंक देता है, उसी तरह परमात्मा ने भी इन लोकों को इसी अड के भीतर, जो वृत्त है और परमात्मा के शृंगार का बँगला है, एक दूसरे में ठोंककर खड़ा कर दिया है। अम्भ की चूल तो देवलोक में फँसा दी और उसे ऊपर रक्खा, नीचे उसके मरीचि को फँसाया, इसलिये अम्भ और मरीचि की सीमाबंदी (चारदीवारी) में देवलोक सम्मिलित है। इसी कारण देवलोक अम्भ की प्रतिष्ठा कहलाता है।

(५०) फिर मरीचिलोक को दूसरी ओर से भूमि में ठोंक दिया, जो मर्त्तलोक है, और उसके नीचे पाताललोक बना दिया, जो दूसरी ओर उसके नीचे धन्वाकार वृत्त में है, जिसे सस्कृत मे अंड बोलते हैं। इस प्रकार इन लोकों को वृत्त के भीतर ठोंककर स्थापित कर दिया है। यद्यपि ये सब चार लोक हैं, प्राय शास्त्रों में इनके भीतरी लोक, जो बड़े हैं, गिनकर चौदह लोक भी वर्णन किए हैं, सात ऊपर के और सात नीचे के, इस प्रकार चौदह लोक अर्थात् सात सात लोक बोला करते है।

(५१) चूँकि वे सब इन चार लोकों के भीतरी लोक है, उस श्रुति के विरुद्ध नहीं है जो चार लोक वर्णन करती है, और हमने भाषाविदों के लिये स्पष्ट लिख दिया है ताकि अन्य शास्त्रों के वचन से उन्हें आश्चर्य न उत्पन्न हो।

(५२) जब आत्मा इस प्रकार ये चार लोक समस्त

प्राणियों के कर्मों के फल देने के लिये श्रागादियों (बस्तिया) की तरह तैयार कर चुका, तो जिस तरह बुद्धिमान् इंजीनियर सोचता है कि यद्यपि पट्टियाँ एक दूसरे में फँसा दी गई है, किंतु जब तक उनमें मेखें और पेंच न लगेंगे, तब तक ये दृढ़ और स्थिर नहीं होगी।

(४३) इसी तरह परमात्मा ने भी देखा कि ये लोक तैयार तो हो गए हैं, परतु जब तक इनके लोकपाल (देवता या मलायक) तैयार नहीं होंगे, ये किस प्रकार स्थिर रह सकेंगे ? इसलिये उसने चाहा कि मैं उनके लोकपालों को भी बनाऊँ, जो इनका परिपालन और रक्षा करें। वह जो किसी को पालता और रक्षा करता है, वह उसी का रब या देवता होता है। चूँकि ये लोकपाल भी इन लोकों का परिपालन और रक्षा करते हैं, इसी कारण तत्त्ववेत्ता इनको लोकों के रब या देवता बोलते हैं। और इस कारण कि ये इनकी स्थिति के उत्तरदाता हैं, इन्हें उर्दू-भाषा में मुअक्किल बोलते हैं। संस्कृत में इनको लोकपाल या अधिष्ठात्री देवता भी कहते हैं।

(४४) फिर उसने यह सोचकर उन्हीं पानियों से जो पचतत्त्वों से बनाए गए थे और जिससे ये लोक निर्माण किए गए थे, थोड़ा-सा पानी लेकर उसे भली भाँति जोश दिया और मथित कर सूक्ष्म किया, और उससे प्रथम विराट् पुरुष बनाया जिसे संस्कृत में प्रजापति या हिरण्यगर्भ

या ब्रह्मा भी कहते हैं, और उसका रूप शिर से पैर तक इसी तरह बनाया जैसे कि छोटे-से मनुष्य का है।

(५५) फिर उसने उस बड़े मनुष्य की लोथ पर, जो उपर्युक्त जलों से बनाई गई थी, ध्यान किया। पहले उसके मुख की ओर दृष्टि की और चाहा कि उसका मुँह खुल जाय। अत. उसकी आज्ञा और संकल्प से उसका मुँह खुल गया, जैसा कि किसी प्राणी का अण्ड फट जाता है।

(५६) जब उसका मुँह खुला, तो उससे उसकी वाणी उत्पन्न हो गई। वाणी से अग्नि, अग्नि से लोकपाल बनाया जो अग्नि देवता कहलाता है और जिसे सूफी लोग आतिश का मुअक्किल कहते हैं।

(५७) फिर नाक खुल गई। नाक से श्वास, श्वास से वायु, और वायु से वायु का देवता उत्पन्न हो गया।

(५८) फिर आँखें खुलीं। आँख से चक्षु, चक्षु से सूर्य और सूर्य से उसका देवता उत्पन्न हो गया।

(५९) फिर कान खुले। कान से श्रोत, श्रोत से दिशाएँ और दिशाओं से उनका देवता उत्पन्न हो गया।

(६०) फिर त्वचा खुल गई। त्वचा से रोम, रोम से वनस्पतियाँ और वनस्पतियों से उनका देवता उत्पन्न हो गया।

(६१) फिर हृदय खुला। हृदय से मन, मन से चद्रमा और चंद्रमा से उसका देवता उत्पन्न हो गया।

(६२) फिर नाभि खुल गई। नाभि से अपान, अपान से मृत्यु और उसका देवता, जो यमराज कहलाता है, उत्पन्न हो गया।

(६३) फिर उसका लिंग खुला। लिंग से वीर्य, वीर्य से पानी और उसका देवता उत्पन्न हो गया। इस तरह एक-एक अंग से इंद्रिय, शक्तियाँ, उनके स्थान और देवता क्रमानुसार उत्पन्न हो गए।

(६४) यहाँ हृदय का तात्पर्य वही मांस का टुकड़ा है जो कमल के रूप में छाती के भीतर रक्खा हुआ है, जिसमें मन रहता है। और नाभि से तात्पर्य वह मकान या स्थान है जहाँ सब प्राण कर्मों के बंधन में बाँध दिए गए हैं। और अपान से तात्पर्य वह अपानशक्ति है जो जीवन के विरोधी को शरीर से पृथक् निकालती रहती है, उसका देवता यमराज है। जिसे फारसी में मलकुलमौत बोलते हैं।

(६५) लिंग वास्तव में जनन-शक्ति का स्रोत है, और वीर्य से उसका अनिवार्य-संबंध होने के कारण उसे वीर्य शब्द से श्रुति में वर्णन करते हैं।

(६६) जब इस प्रकार आत्मा ने सब लोकपाल (देवता) संकल्प से बना दिए और उन्हें मेखों की तरह उन लोकों में दृढ़ता के लिये ठोंक दिया, तो मानों वे देवता एक बड़े विचित्र संसार-समुद्र में डाल दिए गए। ऐ भाइयो ! इस विचित्र संसार-समुद्र का हाल सुनो कि क्या-क्या सयानपें

त्रा चतुराइयाँ इसमें रक्खी गई हैं। यद्यपि मुख्य प्रयोजन संसार का बनाना वही शृंगार का बँगला है, जो वर्णन किया गया है, तो भी जो चणिक सयानपे इसमें उसने बनाई हैं, उनसे भी एक विचित्र समुद्र-सा हो गया है।

(६७) इस संसार-समुद्र में अविद्या, लालच और कर्मों से उत्पन्न हुआ दु ख और शोक तो मानों पानी है, बड़े-बड़े रोग, बुढ़ापा और मृत्यु मानों उसमें मछलियाँ हैं, और अनादि व अनत उसमें दो किनारे हैं।

(६८) विषयों के भोग से जो सुख होता है वही उसके टापू हैं, जहाँ प्राणी कुछ आराम पाता-सा ख़याल करता है, और पाँचों इद्रियाँ उनके विषय हैं, विषयों की तृष्णा मानों उस पर वायु चलती है जिससे बड़े-बड़े पाप और अपराध-रूपी लहरें उसमें उठती हैं।

(६९) फिर, रौरव आदिक नरक और उसमें प्राणियों के क्रंदन से उठता हुआ जो शब्द है, वही इस समुद्र का जोश-रूप शब्द है, और उसमें जहाज़ियों (यात्रियों) का तोशा (सामान) मानों सत्कर्म दान, दया और शम, दम आदिक हैं। और आत्मा की पहचान मानो पक्का जहाज है जिससे यह समुद्र तिर जाता है। और महात्माओं का सत्संग मानों उसमें पार होने का एक नियत मार्ग है जिस पर यह जहाज चलता है।

(७०) कैवल्य-मुक्ति और क्रमश मुक्ति उसके मानों

वार-पार है। ऐसे समुद्र में ये देवता डाल दिए गए हैं। इसलिये कर्मों से जो इन देवताओं की प्राप्तिरूप मुक्ति है, कुछ नहीं, वरन् ससार ही रहता है। जब तक कि यह आत्मा का साक्षात्कार नहीं करता, ससार-समुद्र से पार नहीं होता। यह श्रुति का यहाँ तात्पर्य है।

(७१) ऐ भाइयो ! जब ये देवता भी जिनकी तुम उपासना करते हो, इसी समुद्र में गिराए गए हैं, तो तुम इनकी उपासना से यह समुद्र नहीं तैर सकते। ये तो स्वय इस समुद्र में गिराए गए हैं, क्योंकर तुम्हें तार दें ? हाँ, इनकी उपासना से चित्त की शुद्धि और दूसरी गति होती है जो अतत सासारिक है।

(७२) फलत, परमात्मा ने इस प्रजापति को, जो इन लोकों और देवताओं का आत्मा पुरुष है, भूख और प्यास लगा दी। जब कि उसे क्षुधा तृषा लगी, तो देवता जो उसके अग हैं, वे भी भूखे-प्यासे हो गए। जैसे मनुष्य जब भूखा-प्यासा होता है तो उसके अग भी भूखे प्यासे हो जाते हैं।

(७३) जब ये देवता और प्रजापति भूखे प्यासे हुए, तो भूख और प्यास के कारण चिल्लाए। जैसे बालक भी भूख से चिल्लाता और माँ से भोजन माँगता है, इसी तरह देवताओं ने भी परमात्मा से कहा कि हमारे लिये निवास-स्थान नियत करो जहाँ हम बैठकर भोजन भी करें, और

फिर हमारे लिये भोजन भी बनाओ, अन्यथा इस भूख-प्यास के कारण हम नहीं रह सकते।

(७४) अत परमात्मा ने उनके लिये उन्हीं पानियों से एक गाय बनाई, और उनके पास लाया कि यह तुम्हारे भोजन और भोग का भवन हो सकता है। परंतु उन्होंने कहा कि हमारे लिये यथेष्ट नहीं है। फिर वह एक घोड़ा बना लाया। कहा, यह भी पर्याप्त नहीं। इसी तरह हरएक पशु और पक्षी बना लाया। उनके भोग के लिये पर्याप्त नहीं हुआ। ये समस्त पशु-पक्षी जो संसार में दिखाई देते हैं, उनमें देवता भोग तो पाते हैं, किंतु तृप्त नहीं होते।

(७५) फिर परमात्मा प्रजापति की आकृति पर, जो उनकी ज्योति है, एक सचित्त मनुष्य बना लाया। ये (देवता) उसे अपनी ज्योति में उसकी आकृति देखकर प्रसन्न हुए। कहा, नि संदेह यह यथेष्ट और ठीक है। इसी कारण श्रुति भगवती कहती है कि मनुष्य ही वास्तव में सुकृत है, क्योंकि वही यज्ञादिक कर्मों से देवताओं को तृप्त कर सकता है।

(७६) उन देवताओं ने यह सचित्त मनुष्य पाकर परमात्मा को धन्यवाद अर्पण किया, क्योंकि इसमें उनके सारे भोग मिल सकते थे। फिर परमात्मा ने कहा कि तुम सब इस मनुष्य में अपने-अपने नियत स्थानों में प्रविष्ट हो जाओ। अत ये देवता उसकी आज्ञा पाकर उस ब्रह्मपुर में

उसी तरह प्रविष्ट हो गए, जैसे कि बडे-बडे श्रीमान् राज-सभा के लिये राजघर में प्रविष्ट होते हैं।

(७७) अग्नि का देवता वाणी होकर अपनी ज्योति (मुख) में प्रविष्ट हो गया, वायु का देवता श्वास होकर अपनी ज्योति (नासिका) में आ गया, सूर्य का देवता चक्षु होकर अपनी ज्योति (आँख) में आ गया, दिशाओं का देवता श्रोत्र होकर कान में आ गया, और वनस्पतियों का देवता रोम होकर त्वचा में आ गया, चन्द्रमा का देवता मन होकर हृदय में आ गया, मृत्यु का देवता यमराज होकर नाभि में आ गया, जल का देवता वीर्य होकर लिंग में आ गया।

(७८) फिर भूख-प्यास तो अपनी कोई ज्योति नहीं रखते थे, क्योंकि वे तो गुणों की भाँति देवताओं को लगे थे। उन्होंने कहा—ऐ परमेश्वर! हम कहाँ रहें? हमारे लिये भी कोई स्थान नियत करो। उसने उनको कहा—देखो तुम एक गुण वा आधेय हो, और गुण या आधेय बिना आधार या गुणी के स्थान नहीं पा सकता। धीरज धरो, तुम्हें इन सब देवताओं में, क्या आध्यात्मिक क्या आधिदैविक, भागीदार कर देता हूँ।

(७९) अत परमात्मा ने उन्हें ऐसा कर दिया। यही कारण है कि जिस देवता के लिये मनुष्य आहुति देता है, भूख-प्यास भी उसके साथ बाँटा पाती है और शांत हो जाती हैं।

(८०) फिर उसने देखा कि ये लोक और लोकपाल तो बना दिये, उनको भूख-प्यास भी मिल गई, और उनके भोजन के लिये मकान भी हो गया, परंतु जब तक उनका भोजन नहीं बनाऊँगा, वे क्योंकर जीवित रहेंगे? अत उसने उन्हीं पानियों से कुछ लेकर उसे जोश दिया और गाढ़ा कर दिया। उससे मूर्ति अर्थात् शरीर बनाया, और यही शरीर भोजन है।

(८१) जब यह मूर्ति-रूप भोजन तैयार होकर उस (मनुष्य) के आगे रक्खा गया, तो जैसे चूहा बिल्ली को देखकर चिल्लाता और भागना चाहता है, वैसे वह उसे काल भगवान् जानता हुआ चिल्लाया और भागना चाहा, किंतु भाग न सका।

(८२) उसने वाणी से उसे खाना चाहा, न खा सका। यदि वाणी से खा सकता तो अब भी भोजन का नाम लेने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता।

(८३) फिर उसने उसे नाक से खाना चाहा, न खा सका। यदि नाक से खा सकता तो अब भी उसके सूँघने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता।

(८४) फिर उसने आँख से खाना चाहा, न खा सका। यदि आँख से खा सकता तो अब भी देखने से तृप्त हो जाता। पर ऐसा नहीं होता।

(८५) फिर उसने कानों से खाना चाहा, न खा सका।

यदि कानों से खा सकता तो अब भी सुनकर तृप्त हो जाता।

(८६) फिर उसने त्वचा से खाना चाहा, न खा सका। यदि खा सकता, तो अब भी उसे छूने से तृप्त हो जाता।

(८७) फिर उसने मन से खाना चाहा, न खा सका। अगर खा सकता, तो अब भी कल्पना करने से तृप्त हो जाता।

(८८) फिर उसने लिंग से खाना चाहा, न खा सका। यदि खा सकता, तो अब भी मैथुन से खा सकता।

(८९) फिर उसने अपान से खाना चाहा और खा गया। यही भीतर के प्राण वास्तव में खानेवाले हैं और देह भोजन है। ज्यों-ज्यों वह यह भोजन करता है, त्यों त्यों बाहर के भोजन से उसका स्थूल शरीर बनता रहता है। इस तरह यह समस्त वृत्त, उसके लोक और देवता, (आध्यात्मिक, आधिदैविक) मनुष्य में प्रविष्ट हुए जीवन बिताते हैं। इसलिये मनुष्य ही वास्तव में इस वृत्त का केंद्र है।

(९०) जिस प्रकार वृत्त और उसके व्यास सब केंद्र से स्थापित होते हैं, ये सब चराचर मनुष्य से स्थिर हैं। कुछ तो उसके भोजन हैं, कुछ भोजन के यंत्र या साधन हैं, और प्राण-देवता जो सब देवताओं का पिता है, वास्तव में खानेवाला है, और यह भोजन अर्थात् निरोग देह के कारण

से स्थिर है। इसलिये अब भी यही अनुभव होता है कि जो खाता है, वही जीवित रहता है।

(६१) जब यह मनुष्य इस वृत्त का केंद्र हो गया, यही वास्तव में ब्रह्मपुर या परमात्मा का दर्पण तैयार हुआ, जिसमें उसका दर्शन होता है, और इसी में सारे देवता उसी तरह प्रविष्ट होकर अपने-अपने घरों में अपने पदों के अनुसार विराजमान हो गए, जैसे किसी राजा की प्रतीक्षा में सभासद्‌गण पहले ही एकत्रित हो जाते हैं।

(६२) फिर परमात्मा ने सोचा कि जब कोई अपना घर बनाता है, स्वयं उसमें नहीं बसता, तो वह घर सून्न हो जाता है। जब कोई दरबार होता है और दरबारी इकट्ठा होते हैं, दरबार का अधिपति यदि उसमें न आवे, तो वह भी व्यर्थ होता है। क्या दूल्हा के बिना बरात भी हो सकती है? क्या दर्पण में जब तक स्वयं न उतरे, दिखाई दे सकता है? मुझ बिन ये सब व्यर्थ हैं।

(६३) फिर उसने यह भी सोचा कि जिसके लिये कोई समूह होता है, वह यदि उसमें बसे, तो समूह का वह अंश नहीं हो जाता, वरन उस समुदाय का वह स्वामी होता है। देखो, घर के अंश ईंट, लकड़ी आदि होते हैं और उन्हीं के समुदाय से घर बनाया जाता है, और बसनेवाला भी यद्यपि घर के भीतर रहता है, पर उसका अंश या अंग नहीं होता, वरन् उसका स्वामी होता है।

विषय करूँगा, तो फिर मै विचार करूँगा कि मै कौन हूँ।

(९८) पहले मै अपने पुर को जानूँगा, फिर बरात को जानूँगा, क्योंकि पुर तो मेरे लिये एक सवारी है, और क्या आँख, क्या नाक, क्या कान सबके सब देवता बरात में कोई किसी सेवा के लिये और कोई किसी सेवा के लिये नियुक्त होते हैं, उनमें मै ही दूल्हा हूँ, जिसके लिये ये सब हैं, और जिस तरह शीशे में अपना आप दिखाई देता है, उसी तरह उसमें विवेक से मैं अपने आत्मा को देखूँगा।

(९९) फिर, मै उनमें आया विचार करूँगा कि, जिस तरह व्यापारी दीपक के प्रकाश में व्यापार करते हैं और दीपक उनके व्यापार से संबंध नहीं पाता, उसी तरह ये सब मुझ दीपक के प्रकाश में व्यापार करते हैं, किंतु मै व्यापारी नहीं हो जाता, ये आपस में झगड़ालू हैं, मैं इनका साक्षी हूँ, ये तो अंधकार हैं, मै ज्योति हूँ, जो इस अंधकार में चमकता हूँ। इस तरह सोच-समझकर मैं अपने आपको इनके भीतर देखूँगा।

(१००) जब इस तरह सोचकर उसने मनुष्य के भीतर प्रविष्ट होने का संकल्प कर लिया, तो फिर उसने सोचा कि मै किस मार्ग से उसमें उतरूँ? सब मार्गों से तो मेरे सेवक प्रविष्ट हुए हैं, मेरे स्वयं जाने का कोई मार्ग है?

(१०१) अंततः उसने मस्तिष्क की खोपड़ी को खोलकर

ब्रह्मरंध्र के द्वारा मनुष्य में शोभा पाई। इसी कारण ब्राह्मण इसको ब्रह्म का द्वार कहते है, और इसी को 'विद्दति' तथा 'नॉदन' बोलते हैं। वह जो मृत्यु में इस मार्ग से जाता है, स्वर्ग को जाता है, इसी कारण इसको नॉदन बोलते हैं।

(१०२) जब यह इस प्रकार इस मनुष्य में प्रविष्ट हुआ, तो उस अविद्या के कारण जो मन-रूपी शीशे के पीछे लगाई गई है उसे अपना आप मानने लग गया, और यही निश्चय करने लग गया कि "मैं मनुष्य हूँ, और जो उसके धर्म हैं वे मेरे हैं।"

(१०३) उसकी तीन अवस्थाएँ और तीन निद्राएँ भी अपनी मानने लग गया। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन तो मनुष्य के शरीर की अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् में उसका स्थान नेत्र है, स्वप्न में उसका स्थान मन है, और सुषुप्ति में हृदयाकाश है। नेत्र में आया सब बाह्य वस्तुएँ देखता है, मन में आया मनोमय जगत् देखता है जिसे स्वप्न कहते हैं हृदयाकाश में आया अपने परमात्मस्वरूप ब्रह्म में आराम करता है। इस तरह रात-दिन तीन लोक में फिरता सा होता है।

(१०४) और तीन निद्राएँ उसकी ये हैं। पहली वह नींद है जो पिता में गर्भित होता है, दूसरी निद्रा उसकी माता के उदर में है, तीसरी निद्रा उसकी अपने शरीर में है। यद्यपि अपने शरीर में सोया हुआ बाहर के संसार के लिये

जागता है, किंतु जिस आत्म-दर्शन के लिये वह आया है उसे नहीं पाता, इसलिये आत्म-साक्षात्कार तक यद्यपि सामान्य रीति से जागता है, पर वास्तव में सोया हुआ है।

(१०५) किंतु जब कोई अत्यंत कृपालु गुरु वेदों के महावाक्य-रूप नरसिंहों को उसे सुनाता है, और विवेक-विचार से उसे इस (हृदय-रूप) दर्पण में निजस्वरूप पर दृष्टि डालना सिखाता है, जैसी कि इस वेदानुवचन की शिक्षा है, तब वह निजस्वरूप को देखता वा अनुभव करता है, इस अनादि प्राकृतिक नींद से जागता है, और फिर 'अन्वय-व्यतिरेक' के नियम से इन्हीं अवस्थाओं और इन्हीं नींदो में फिरता हुआ अद्वैत देखता निश्चय करता है कि "न तो मैं जाग्रत् हूँ, न स्वप्न, न सुषुप्ति, वरन् ये तीनों अवस्थाएँ मेरी सैर के स्थान हैं।"

(१०६) "जब मै जाग्रत् में आता हूँ, तो नासूति सैर करता हूँ अर्थात् जाग्रत् जगत् में विचरण करता हूँ, जब मैं स्वप्न में जाता हूँ, तो मलकूती सैर करता हूँ, अर्थात् स्वप्न संसार में विचरण करता हूँ, और जब मैं सुषुप्ति में जाता हूँ, तो जबरूती सैर करता हूँ, अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में विचरण करता हूँ। क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, सब मेरे स्थान हैं, और मै उनमें एकरस हूँ, वरन् उनमें नहीं फिरता, ये ही तीनों अवस्थाएँ, माला की मणियों के समान, जो तार में हैं, फिरती हैं, और मै तो माला के सूत की

तरह उनका आधार वा अधिष्ठान हूँ, जिसमें ये आती-जाती हैं।"

(१०७) "परंतु, जिस प्रकार बादलों के चलने से चंद्रमा भी चलता दिखाई देता है, उसी तरह उनकी चाल भी बुद्धि को मुझमें प्रतीत होती है, और यह उसकी भ्रांति है।" "मैं तो अचल सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ", ऐसा जब भान करता है, तो उस समय वह वास्तव में जागता है, नहीं तो सोया हुआ ही कहलाता है। और उसका यह जागना बिना श्रुति-वाक्य के नहीं होता। और महावाक्य ही वास्तव में उसका जगानेवाला है। और महावाक्य ही उस समय उसका गुरु है।

(१०८) जब वह महावाक्य के कारण अपने आपको देखता है कि "यह मैं हूँ", तो तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) से वह एक ही छलाँग में कूद जाता है, और तुरीयावस्था (लाहूत) में, जो उसका निज आत्मस्वरूप है, प्राप्त हो जाता है। यह उसकी विचार-रूप छलाँग क्या ही विचित्र है, इसी कारण इस चौथे पद में देखता है कि "यह मेरा स्वरूप है", इसी कारण उसको दूसरे 'इदंद्र' बोलते हैं।

(१०९) संस्कृत-भाषा में 'इदं' नाम 'यह' का है और 'द्र' नाम देखने का है। वह जो यह देखता है, इदंद्र होता है। और इसी को संक्षिप्त करके वेदविद् इंद्र कहते हैं।

और शिक्षित पुरुष इसी नाम से उसे स्मरण करते ह। जिस प्रकार शिक्षित सभासद् राजा को भी उसके नाम से नहीं पुकारते, वरन् उपाधि से स्मरण करते हैं, जैसे 'जी महाराज', 'जी भगवन्' ऐसे नामों से बोलते हैं, उसी प्रकार शिक्षित लोग उसका वास्तविक नाम आत्मा नहीं लेते, वरन् इंद्र के नाम से, जो सांकेतिक नाम है, स्मरण करते हैं।

(११०) और यह स्पष्ट है कि क्या राजा, क्या देवता, और क्या पति इसमें प्रतिष्ठा नहीं समझते, जब अपने असली नाम से संबोधित किए जाते हैं, वरन् तब ही वे प्रतिष्ठा-प्राप्त समझे जाते हैं जब स्त्री अपने पति को ऐ देवदत्त के पिता, या ऐ ब्रह्मदत्त के भ्राता, और राजा का सेवक राजा को ऐ दयावान्! ऐ न्यायकारी! ऐ दीनबंधु! और देवता का उपासक देवता को दयालु, कृपालु, त्रिलोकीनाथ आदि नामों से संबोधित करते हैं। इसलिये वेदज्ञ ब्राह्मण इंद्र और ईश्वरादिक नामों से परमात्मा को स्मरण करते हुए आशीर्वाद माँगते हैं।

(१११) जब कि मनुष्य और देवता भी परोक्ष के प्यारे हैं और अपने गुणों से प्रसन्न होते हैं, परमात्मा भी, जो उन सबका मालिक महान् देव है, इसी सम्मान के योग्य है। इसलिये भक्त लोग आत्मा के प्रत्यक्ष नाम से रुष्ट होते हैं, बल्कि जो कोई बिना सभ्यता के इस भेद के परिणाम को जतलाता है, उसे अस्वीकार करते और झुठलाते हैं।

(११२) ऐ भाइयो ! अब उसकी तीनों नींदों के भेद मुझसे सुनिए कि जब वह अविद्या से काम करनेवाला होता है और यज्ञ आदिक शास्त्रीय कर्म करता है, तो इस लोक में आकर वह पितृयाण सड़क से चन्द्रलोक को जाता है, और वहाँ जब भोग समाप्त हो जाते हैं, तो वर्षा में उतरता फिर अन्न हो जाता है, और पुरुष अग्नि में हवन हुआ रक्त आदि होता वीर्य हो जाता है। यही उसका पहला गर्भ है, और यही पहली नींद है।

(११३) इस वीर्य को, जो पिता के अंग अंग से निचोड़ की भाँति निकलकर वीर्यकोष में एकत्रित होता है, पिता उसे अपने में धारण करता है जैसा कि माँ भी गर्भ के समय कुक्षि में उसे धारण करती है। जब पिता इस वीर्य को माँ के उदर में अर्पण करता है, तो यही उसका पहला जन्म है, मानों माँ के उदर में गर्भ होता और पिता के वीर्यकोष से जना जाता है।

(११४) जब इस तरह पिता उसे जनता है, अर्थात् अपने वीर्य का दान देता है, तो फिर माँ उसे अपने में उसी तरह एक कर लेती है जैसा कि चूचियाँ भी, जो दूदियाँ बनती हैं, उससे एक होती हैं, बल्कि जिस प्रकार वह अपनी दूदियों की रक्षा करती है, उसी तरह गर्भ की भी वह रक्षा करती है, क्योंकि वह जानती है कि मेरे पति देवता का आत्मा अर्थात् वीर्य मुझसे एक हुआ है, इसी

कारण जो खाद्य वस्तुएँ गर्भपात करती हैं नही खाती, ऐसी वस्तुएँ खाती है जो उसे दृढ़ करती हैं।

(११५) जब कि स्त्री अपने पति के आत्मा (वीर्य) को इस प्रकार अपने में पालती है, तो पति उसे अपने आत्मा की पालनेवाली जानता हुआ उसका भी पालन करता है, वरन् उस (बच्चे) के जन्म से पहले और जन्म के बाद अपने आपको उसमें आया हुआ जानता है, और जात-संस्कारादिक शास्त्राज्ञाएँ पालन करता है, और यही विचार करता है कि मै ही पुत्र-रूप होकर जन्म लूँगा।

(११६) उसका कारण यह है कि जब यह बाप यहाँ से चल देता है तो यही पुत्र, जो उसका दूसरा आत्मा (शरीर) है, इस संसार में स्थानापन्न रहता है, और फिर इस पुत्र का भी पुत्र, इसी तरह परपरा-क्रम से निरतर जगत् में वह रहता है। इस तरह से पिता ही मानों पुत्र-रूप होकर इस (संसार) में स्थापित होता है। यदि वह इस पुत्र को, जो उसका दूसरा आत्मा है, न उत्पन्न करे, तो उसकी परपरा संसार से जाती रहे। इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति इन लोकों की रक्षा के लिये पुत्र उत्पन्न करे, क्योंकि मनुष्य ही इस वृत्त का केंद्र है, और सब लोकांतर्लोक इसी के कारण स्थिर है, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया गया है।

(११७) जब यह माँ में गर्भित हुआ नियत समय पर निकलता है, तो वीर्य की दृष्टि से यही इस ससारी का दूसरा जन्म है, और यही पिता पुत्र-रूप होकर शास्त्रों के अनुसार पुण्यकर्मों के करने के लिये पिता का स्थानापन्न होता है और उत्तराधिकार पाता है।

(११८) किंतु इसका पिता-रूप दूसरा आत्मा (शरीर) फिर कृतकृत्य हुआ परलोक को चला जाता है, और जोंक की तरह दूसरा शरीर पाता है, यही उसका तीसरा जन्म है। इसी कारण पिता और पुत्र एक ही ख़याल किया गया है। और एक ही ससारी पिता पुत्र होकर लोक-परलोक में स्थानापन्न होता ससारी कहा जाता है।

(११९) ऐ भाइयो ! इस तरह जो कोई कर्म करता है, कर्मफल की दृष्टि से ससारी होता है। वह जो शास्त्र के विरुद्ध पाप रूप कर्म करता है, वह अधोगति पाता है, इस संसार-समुद्र में डूबता है, और वह जो शास्त्रीय कर्म करता है, वह ऊपर के लोकों में चढ़ता सोमराज होता है, और फिर गिरता है। वह भी इसी ससार में रहता है, जैसा कि कोई टापुओं (उपनिवेशों) में विश्राम पाता है।

(१२०) किंतु, वह जो पहले निष्काम कर्म करता हुआ मन के दर्पण को स्वच्छ करता है, और फिर उस दर्पण में अपने स्वरूप पर दृष्टि करता हुआ निश्चय करता है कि

"मैं सच्चिदानंद हूँ," वह तो इस संसार-समुद्र को तर जाता है, और न्याय से निकलकर प्रसाद में आ जाता है। ऐ भाइयो! तुम भी न्याय के नहीं वरन् प्रसाद के अभिलाषी हो जाओ, और अपने मनोमुकुर में विवेक करके आत्मा को देखो जैसा कि मैंने देखा और प्रसाद पर प्रसाद पाया। इस तरह वामदेव ने गर्भ में ही उन्हें समझाया जो अब तक जना नहीं गया था।

(१२१) फिर तो जन्म के पश्चात् उसने सनकादिकों की भाँति इस विद्या की शिक्षा दी, और अंत में जब उसके इस जन्म के कर्म भी समाप्त हुए, तो अपना शरीर छोड़कर अपने स्वरूप में प्राप्त हुआ, सत्यसंकल्प सत्यकाम और आप्तकाम होकर अमृत हो गया, हाँ वह अमृत हो गया।

अध्याय नवाँ

(१) * जब इस प्रकार वामदेव की विचित्र घटना हुई जैसा कि ऊपर लिखी गई है, तो न्याय (कर्मफल) से निकल

---

* यहाँ से अब ऐतरेय उपनिषद् का तीसरा अध्याय आरंभ हुआ। इसी अध्याय के नंबर ४९ तक यह समस्त उपनिषद् सविस्तर वर्णन करके समाप्त कर दी गई है।

कर प्रसाद (ज्ञान) के अभिलाषी ब्राह्मणों ने उस सर्व-रूप की प्राप्ति के लिये, जो ब्रह्मविद्या से मिलती है और वामदेव आदिक आचार्यों से परंपरा से आरंभ से चली आई है, विचार किया। उस समय के अभिलाषी तो क्या बल्कि अब भी विचारवान् इस आत्मा के दर्शन के लिये परस्पर एकत्रित होकर ध्यानपीन करते और एक दूसरे से पूछते हैं कि वह कौन आत्मा है कि जिसको हम "यह हमारा आत्मा है" इस प्रकार प्रत्यक्ष उपासना करें?

(२) वह कौन-सा आत्मा है जिसे वामदेव प्रत्यक्ष देखकर कि "मैं यह हूँ" अमृत हो गया? आओ, हम भी उसके समान विवेक करके उसे देखें और उसमें अहंता का निश्चय करें ताकि हम भी वामदेव के समान इस संसार-समुद्र से तर जायँ और अमृत हो जायँ, और इस न्याय (कर्मफल) से निकलकर प्रसाद (ज्ञानफल) में आ जायँ।

(३) जब इस तरह उन्होंने परस्पर पूछा और आत्मा की खोज में प्रयत्न किया, तो उन्हें स्मरण आया कि श्री वामदेव ने हमें गर्भ में सिखाया है कि इस मनुष्य में दो ब्रह्म (सगुण-निर्गुण) प्रविष्ट हुए हैं। एक तो वही प्रजापति जो मनुष्य की आकृति में जलों (अम्भ) से बनाया गया था और फिर इंद्रिय व देवता तथा लोकरूप होकर इस तरह खुला जैसा कि कोई लिपटा हुआ कपड़ा खुलता है, फिर जो आँख कान नाक मन आदिक रूप होकर हममें

प्रविष्ट हुआ है और भूखा प्यासा होता है, और यह शरीर जिसका भोजन है तथा जो उसे खाता है, जब भोग समाप्त होते हैं, तो फिर कपड़े की तरह लिपटा जाता है, इस शरीर से निकलकर देवयान और पितृयाण-सड़क पर चलता उत्क्रांत होता चंद्रलोक में निकलता और फिर उतरता संसारी होता है।

(४) और दूसरा वह है जो सर की खोपड़ी फाड़ कर ब्रह्मरंध्र के मार्ग से छाया की तरह शीशे में आया है, जिसके उजाले में यह दूसरा ब्रह्म (प्रजापति) फैलने-सुकड़नेवाला व्यापार करता और संसारी होता है, और दोनों (ब्रह्म) विधिवत् शरीर में प्रविष्ट होकर इस शरीर से एक हो गए हैं। उनमें वह कौन-सा है जिसको हमें आत्म-रूप करके उपासना करनी चाहिए ?

(५) निदान, इन तत्त्वदर्शी विद्वानों ने वामदेव की शिक्षा से यह जान लिया कि शरीर तो एक पुर या भोजन है, और वह जो पहले देवता-रूप फिर इंद्रिय-रूप होकर दूसरे नियत मार्गों से बरात या राज-सभासदों (दरबारियों) की तरह प्रविष्ट हुआ है, एक प्राणात्मा है, जो इस (शरीर) को खानेवाला है, और इसी के लिये यह अन्न खाया जाता है, जो खाये हुए शरीर के बदले बदलता रहता है, और यह प्राणात्मा भूखा-प्यासा ससारी है, किंतु वह दूसरा जो ज्योतिस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्स्वरूप है, जिसके

प्रकाश में यह (प्राणात्मा) काम करता, फैलता, सुकड़ता, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म-मरण संसार का बर्ताव करता है, वही उसका दूल्हा है और वही नित्य मुक्त है।

(६) इस दूल्हा-रूप नित्य मुक्त आत्मा को, जो इस प्राण-रूप बरात में आया हुआ एकरूप हो रहा है, विवेक करके हमको देखना चाहिए, और इसी को अपना असली आत्मा जानकर अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि इसी के अनुभव और इसी के निश्चय से कि "यह मैं हूँ" हम वामदेव की तरह अमृत और मुक्तस्वरूप हो जायँगे। जब तक इस शरीर में अहंता का निश्चय है, तब तक हम मनुष्य हैं, और जब हम इस प्राणात्मा में अहंता का निश्चय पाते हैं, तो मनुष्य की जाति से कटकर प्रजापति की जाति में आ जाते हैं, द्विजाति होते यज्ञादिक का अधिकार पाते हैं, और पिता-पुत्ररूप होकर ऊपर-नीचे संसार में संसारी और भोगी होते हैं।

(७) देखो, वह जो अपने शरीर में अहंता का भाव रखता है, स्वयं शरीर है, और वही साधारण मनुष्य है, वही आदिमनुष्य का पुत्र है, क्योंकि यह शरीर आदिमनुष्य (आदम) के वीर्य से परंपरा से बनता चला आया है, परंतु वह सूक्ष्म मनुष्य (प्राणात्मा) जो इसके भीतर आँख कान नाक मन-रूप होकर प्रविष्ट हुआ है, वह प्रजापति का पुत्र है, मनुष्य (आदम) का पुत्र नहीं। क्योंकि वामदेव की शिक्षा

से सुन लिया है कि वह सूक्ष्म मनुष्य वही है जो प्रजापति से देवता-रूप होकर जना गया है, और भूख-प्यास के कारण इंद्रिय-रूप होकर इस मनुष्य में आया है।

(८) फिर चूँकि यह शरीर, जो-मनुष्य और आदम का पुत्र है, स्वयं अन्न है क्योंकि प्रजापति का पुत्र सूक्ष्म शरीर, जो उसके भीतर आया हुआ इससे एक हो रहा है, नित्य इसे खाता है, और इसकी जगह बाहर का अन्न स्थान लेता है। यही कारण है कि जन्म के आरभ में यह शरीर बालक होता है, और भीतर से ईश्वर का पुत्र इसे खाता और अन्य अन्न से यह बढ़ता भी रहता है। इसी तरह यह युवक हो जाता है। फिर तो उतना ही अन्न इसका स्थान लेता है जितना भीतर का मनुष्य, जो प्रजापति के वंश से है, इसे खाता है। फिर इसके बाद तो यह शरीर उतना भी बदला नही पाना, वरन प्रजापति के पुत्र का अन्न हुआ घटता जाता है, इसी को बुढ़ापा कहते हैं।

(६) जब यह बुढ़ापे में यहाँ तक पुराना हो जाता है कि फिर बिलकुल अन्न से बदलने नहीं पाता, तो प्रजापति का पुत्र, जो सूक्ष्म शरीर है, उसके आहार के योग्य नहीं रहता है। और यह तब होता है जब उस (सूक्ष्म शरीर) के भोग के कर्म समाप्त होते हैं। इस अवस्था में प्रजापति का पुत्र इसे छोड़कर इससे अलग हो जाता है, यह गिर जाता है और मिट्टी में मिल जाता है, क्योंकि इसे कुछ भी

कर्मों के भोगने से संबंध नहीं, वरन् यह तो आहार और स्वयं भोग रूप है।

(१०) जिस मनुष्य को देह में अहंता का निश्चय है, वह भी वास्तव में शरीर है, और वह स्वयं अन्न है और स्वयं मृत है, उसे कर्मों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो भोक्ता या खानेवाला या जीवित नहीं। इसी कारण से शूद्र, जो शरीर में अहंता रखता है, वास्तव में मनुष्य या मनुष्य पुत्र हैं। जब कि उस पर कर्मों का प्रभाव नहीं, स्वयं नाशवान है, वरन् वह तो अंदर के प्राण, जो रखता है, सेवा करने का प्राण है। यही कारण है कि उसे यज्ञादिकों का अधिकार नहीं वरन द्विजातियों की सेवा का अधिकार है ताकि वह उनकी सेवा से ही स्वच्छ, पवित्र होवे और उनके उपदेशों से जब तक कि वह शरीर के अहंकार से निकलकर, जो मनुष्य-जाति है, प्रजापति के पुत्र रूप अहंकार में न आवे, तब तक यज्ञ आदिक नहीं कर सकता। किंतु वे जो विरोचन की शिक्षा के कारण संभव नहीं कि अब उसमें से निकलें, वही मनुष्य वास्तव में चांडाल और म्लेच्छ हैं।

(११) सृष्टि के आरंभ में द्विजाति बच्चा भी अपने शरीर में अनादि अहंता का निश्चय रखता है, और बिना धार्मिक शिक्षा के यदि उसे स्वतंत्र छोड़ दें, तो यद्यपि पाश्चात्य विद्या में अद्वितीय निकले, तो भी वह

शरीर को अपना आप निश्चय करता है, यद्यपि वह बुद्धिमान् हुआ जान सकता है कि "आत्मा भी एक सूक्ष्म वस्तु मेरे भीतर वसती है, किंतु वह मे नहीं, वरन् मेरे में वसती है, जब तक वह मुझमें वसती है, मैं जीवित हूँ, जब वह चली जायगी, तो मै मुरदा हो जाऊँगा; यह जीवन मुझमें मॉगा हुआ था या अन्य प्राणात्मा से उधार हुआ है।" यद्यपि वह प्राणात्मा के द्वारा जीवित रहता है, तो भी वह विना प्राणात्मा के जड़ शरीर है, इसलिये उस पर शुभ कर्मों का प्रभाव कुछ भी नहीं होता, क्योंकि प्राणात्मा (प्राण) का पैतृक पाप उसमें चला आता है, जो उसे सेवा की आत्मा निश्चय कराता है।

(१२) किंतु जब वह दस संस्कारों के पालन से, जो द्विजातियों में शास्त्र के द्वारा चले आते हैं, आठ-नौ वर्ष के पश्चात् सूचना पा जाता है कि "यह शरीर तो कपड़े की भॉति बदलता है, नित्य अन्न से नया वनता जाता है, यह मैं नहीं हूँ, वरन् वही प्राणात्मा हूँ जो उसके भीतर उसे खाता बदलाता नचाता और पालता है, वही मैं हूँ", उस समय यह मनुष्य-जाति से कटकर ईश्वर की संतति में प्रविष्ट हो जाता है, क्योंकि मनुष्य का प्राणात्मा (प्रजापति का पुत्र) प्रजापति का अग वा अंश है, जैसा वामदेव की शिक्षा से प्रकट हो चुका है। उस समय उसका नया जन्म प्राणात्मा-रूप (रूहानी) होता है, और प्रजापति का पुत्र तथा

उसका उत्तराधिकारी हो जाना है, यह पहला जन्म जो शरीर का है मनुष्य का है, यह दूसरा जन्म जो प्राणात्मा से है, प्रजापति की जाति का है। चूँकि यह जन्म प्रत्येक का पीछे शिक्षा और वाणी से होता है, इसी कारण इस जाति के लोगों को द्विजन्मा या द्विजाति कहते हैं, और वही प्रजापति के उत्तराधिकारी लोग यज्ञादिक कर्मों के, जो प्रजापति के कर्म हैं, अधिकारी होते हैं।

(१३) यद्यपि द्विजाति बालक भी इस प्राणात्मा में अहंता पाता मनुष्य-जाति से कटकर प्रजापति के वश में आ जाता है, और यज्ञादिक कर्मों से पितृयाण सड़कों के द्वारा सोमराज होकर उत्तम देवतादि योनियों में प्रविष्ट हो जाता है, तो भी भोगों के समाप्त होने पर फिर कर्मों के लिये गिरता ससारी होता है, परन्तु वह व्यक्ति तो देहात्मा की दृष्टि या कर्त्ता-भोक्ता की दृष्टि के कारण यहाँ जन्मता-मरता है। इसलिये यह द्विजाति अच्छा भी है, तो भी ससारी भूख प्यास आदिक पैतृक पापों से पापी होता है, मोक्ष नहीं पाता।

(१४) परन्तु यह दूसरा आत्मा जो दूल्हा है और बरात में उनके व्यापार की साक्षी के लिये आया है, अकर्त्ता, अभोक्ता, असगात्मा, साक्षीस्वरूप है, जो अपने सौंदर्य के दर्शन के लिये इस दर्पण में उतरा है। वही हमारी असली अहंता है, वही हमें उपासना चाहिए, और उसी पर दृष्टि

करनी चाहिए। प्रसाद उसी पर निर्भर है। उसी के विवेक से हम मोक्ष पा सकते हैं, उसी की पहचान से हम प्रसाद में प्रविष्ट हो सकते हैं, और उसी की अहता से हम अमृत हो सकते हैं, जैसा कि श्री वामदेव भी हुआ है।

(१५) निदान, वामदेव की शिक्षा में हमने जो दो ब्रह्म शरीर में प्रविष्ट हुए सुने हैं, दोनों इसके शरीर में इसी के आत्मा हो रहे हैं। उन दोनों में से एक उपासना करने के योग्य है, और हमको पता लगाना चाहिए कि वह कौन सा है ? इस तरह पता लगाते-लगाते उनको यह सूझ पड़ी कि दोनों इस शरीर में अनेक भिन्न-भिन्न इंद्रियों से बर्ताव करते हुए चेष्टा करते हैं। जिस (इंद्रिय वा करण) से वे गति करते हैं, वह परमात्मा नहीं, वरन् वह जो उन्हें (अर्थात् इंद्रियों वा करणों को) पाता हैं, वही अभिप्रेत, वही प्राप्तव्य, और वही परमात्मा है।

(१६) अब हमें ज्ञात करना चाहिए कि किसके कारण से ये वस्तुएँ ज्ञात होती हैं ? और कौन है जो ज्ञात करता है ? विचार करने से हमें ज्ञात होता है कि चक्षु-इंद्रिय के कारण यह रूप-रंग देखता है, श्रोत्र-इंद्रिय के कारण यह शब्द सुनता है, घ्राण-इंद्रिय के कारण यह गंध ग्रहण करता या सूँघता है, जिह्वा-इंद्रिय के कारण यह बोलता है, और रसना-इंद्रिय से खट्टा-मीठा रस लेता है। ये सब करण व भिन्न-भिन्न ज्ञानेंद्रियाँ एक ही प्राणात्मा हैं, जो

प्रजापति से देवता रूप होकर उत्पन्न हुए और फिर इन्द्रिय-रूप होकर शरीर में प्रविष्ट हुए हैं।

(१७) यद्यपि हमको वामदेव ने सिखा दिया है कि यह अनेक रूप इन्द्रिय-देवता एक ही प्रजापति है, तो भी हम स्वय विचार करके इसे सत्य पाते हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि एक ही अत करण नेत्रों मे आया चक्षु होता रूप-रग को दिखाने का साधन होता है, वही कान में आया श्रोत्र होता शब्दों के सुनाने का साधन होता है, वही नाक में आया घ्राण होता दुर्गंध और सुगध के विवेक का कारण होता है, और फिर वही हृदय के भीतर मन-रूप हुआ उन्हीं दिखाई हुई वस्तुओं की स्मृति का और शुभाशुभ के ज्ञान का कारण होता है और विवेक के लिये सोच-समझ का साधन होता है।

(१८) क्योंकि जो चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और रसना के द्वारा हम पाते हैं, इन सबको हृदय के भीतर मन के द्वारा सोचते और स्मरण करते हैं, उनकी अच्छाई और बुराई को छाँटते हैं, और छाँट छाँट तथा सोच-सोच कर उन्हें निश्चय करते हैं। यदि मन इन्द्रियों से भिन्न होता, तो किस प्रकार इन्द्रियों का दिखाया हुआ मन से सोचा जाता और स्मरण किया जाता और क्योंकर बुद्धि से निश्चय किया जाता ? वरन् जो देखता है वही स्मरण करता है, और जो जानता है वही सोच करता है, और जो सोच करता है

वही निश्चय करता है। इसलिये एक ही अंत करण विशेष-विशेष भवन में आया हुआ और विशेष-विशेष विवरण से फैला हुआ वृत्ति-रूप होकर भिन्न-भिन्न काम करता इंद्रिय और मन और बुद्धि भिन्न-भिन्न नाम पाता है, वास्तव में एक ही प्राण है।

(१६) फिर चूँकि हमको याद पड़ता है कि सनकादिकों की शिक्षा के द्वारा जो हमको वेद (ज्ञान वा उपनिषद्) सिखाया गया है और कौशीतकी ऋषि के द्वारा फैला है, उसमें भी यही सुनते हैं कि यह आत्मा पहले मन में प्रविष्ट होता या उतरता है, और मनोवृत्ति के द्वारा अर्थात् उसके साथ कंठ में सीढ़ी लगाता (उतरता) बातचीत करता है, और वही मनोवृत्ति यहाँ वाणी कहलाती है, और फिर उसी मनोवृत्ति से नेत्र में आता चक्षु से देखता है और वही मनोवृत्ति यहाँ चक्षु-इंद्रिय नाम पाती है।

(२०) वाजसनेयी श्रुति का भी यही उद्देश्य है। क्योंकि वह कहती है कि मन करके ही वह देखता है, मन करके ही सुनता है। तो इस प्रकार की श्रुतियों से भी जाना जाता है कि एक ही मन अनेक रूप होकर विशेष-विशेष स्थानों में इंद्रिय कहलाता है, और वही सोच-विचार के समय मन, और वही निश्चय के समय बुद्धि, और वही स्मृति के समय चित्त, और वही अहंता के निश्चय के समय अहंकार कहलाता है। और समस्त एक ही प्राण-देवता

प्रजापति है। क्योंकि लिखा है कि जो प्राण है, वही प्रज्ञा है, और जो प्रज्ञा है, वही प्राण है। क्योंकि वही जब केवल खाता, पचाता, बनाता, निकालता या खींचता है, प्राण कहलाता है, जब वह जानना चाहता है, तो प्रज्ञा कहलाता है, इसलिये एक है। केवल काम करता प्राण और विचार करता अंतःकरण कहलाता है। और यही प्रजापति वामदेव की शिक्षा में हमने सुना है कि पहले देवता-रूप होकर उठा, और फिर ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय-रूप होकर बरात और नौकर की तरह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ।

(२१) जब कि विवेचना और श्रुतियों से ज्ञात हो गया है कि एक ही परमेश्वर प्रजापति पिता-पुत्ररूप होकर फैला है, संक्षिप्त शरीर में आहुति और भोजन पाने के लिये आया है, और उस परमात्मा दूल्हा की बरात हुआ है, वरन् उसका चाकर और सेवक है, तो हमको उसी (एक) का अवलंबन करना चाहिए और उसी में अहता का निश्चय करना चाहिए, और उसी के दर्शन से हम मुक्ति पानेवाले होंगे। क्योंकि यह (प्रजापति) यद्यपि बड़ा विचित्र काम करनेवाला और विचित्र भोग पानेवाला है, तो भी उस (परमात्मा) का मजदूर और सेवक है, वरन् सब भोग और सेवाएँ उसी में और उसी के लिये कल्पना करता है, क्योंकि बिना उसके यह कुछ भी नहीं कर सकता।

वही निश्चय करता है। इसलिये एक ही अंतःकरण विशेष-विशेष भवन में आया हुआ और विशेष-विशेष विवरण से फैला हुआ वृत्ति-रूप होकर भिन्न-भिन्न काम करता इंद्रिय और मन और बुद्धि भिन्न-भिन्न नाम पाता है, वास्तव में एक ही प्राण है।

(१६) फिर चूँकि हमको याद पड़ता है कि सनकादिकों की शिक्षा के द्वारा जो हमको वेद (ज्ञान वा उपनिषद्) सिखाया गया है और कौशीतकी ऋषि के द्वारा फैला है, उसमें भी यही सुनते हैं कि यह आत्मा पहले मन में प्रविष्ट होता वा उतरता है, और मनोवृत्ति के द्वारा अर्थात् उसके साथ कंठ में सीढ़ी लगाता (उतरना) वातचीत करता है, और वही मनोवृत्ति यहाँ वाणी कहलाती है, और फिर उसी मनोवृत्ति से नेत्र में आता चक्षु से देखता है, और वही मनोवृत्ति यहाँ चक्षु-इंद्रिय नाम पाती है।

(२०) वाजसनेयी श्रुति का भी यही उद्देश्य है। क्योंकि वह कहती है कि मन करके ही वह देखता है, मन करके ही सुनता है। तो इस प्रकार की श्रुतियों से भी जाना जाता है कि एक ही मन अनेक रूप होकर विशेष-विशेष स्थानों में इंद्रिय कहलाता है, और वही सोच-विचार के समय मन, और वही निश्चय के समय बुद्धि, और वही स्मृति के समय चित्त, और वही अहंता के निश्चय के समय अहंकार कहलाता है। और समस्त एक ही प्राण-देवता

कहीं स्त्रियों के साथ उसे लीला कराता है, कहीं गाड़ियों की सवारी होता हुआ उसे सवार कराता है। तत्काल घोड़े, तत्काल सड़कें, तत्काल बाग-बागीचारूप उसके लिये हो जाता है।

(२४) वरन् मृत्यु के पश्चात् न्याय के पद में बुराइयों के बंधन से मुक्त हुआ भलाइयों के बंधन में स्वर्ग और अप्सरा नियत काल तक रचता ऊर्ध्वलोक की सैर कराता है, और भोग समाप्त होने के पश्चात् पुन कर्मों के लिये यहाँ ले आता इद्रियों के बंधन में पड़ता है। और जब यह मन उसी के साक्षात्कार के लिये "मैं परमात्मा हूँ" इस प्रकार के निश्चय में पलट जाता है, तो अच्छाई-बुराई (पुण्य-पाप) के बंधन से स्वयं छूट जाता प्रसाद में आ जाता है, और दूल्हा तो अपने परमानंद में नित्य रहता है, परंतु वह मन छाया की भाँति ब्रह्मलोक के भोग सत्यसंकल्प और सत्यकाम आदिक मुफ्त में उसके लिये रचता और सब कुछ उसमें कल्पता है।

(२५) इससे ज्ञात हुआ कि यह प्राणात्मा, जो हमने अपना आप जाना था और सामान्य मनुष्यता से निकलकर हम द्विजन्मा द्विजाति हुए थे और शरीर-विलासियों (देहाभिमानियों) की अपेक्षा हम आत्म विलासी (प्राणात्माभिमानी) हो गए थे, यद्यपि बड़ा स्वामी है, तो भी इस परमात्मा का चाकर और अनित्य है, और भूख प्यासरूप

(२२) देखो, स्वप्न में जब हम जाते हैं, तब यह दूल्हा आँख नाक कान से उतरता, नाड़ियों के द्वारा हृदय-कोष में घुसता हुआ हृदय के भीतर आकाश में अपने मुख्य अद्वितीय परमानंदस्वरूप में आराम करता है, तो अंत:करण-रूप प्रजापति का पुत्र निवृत्त या बेकार हो जाता है—न तो वह स्वयं कुछ देखभाल कर सकता है, न कुछ सोचता-समझता है, किंतु जब तक ईश्वरीय नियम द्वारा उसकी प्रतीक्षा होती है कि फिर जाग्रत् में इसी शरीर के भीतर वह आवेगा, तो पिता-रूप प्राण अपना काम करता रहता इस शरीर को पालता और खाता है। जब ईश्वरीय नियम के द्वारा उसके भोगों के अंत पर उसके फिर यहाँ दर्शन देने की आशा नहीं रहती, तो यह पिता-रूप प्राण भी निवृत्त या निष्कर्म (बेकार) हो जाता है। उसी को साधारण लोग मृत्यु कहते हैं।

(२३) फिर, क्योंकि हम यों भी देखते हैं कि जब यह दूल्हा (आत्मा) आँख नाक कान से उतरता है किंतु हृदय की पोल में नहीं जाता वरन् नाड़ियों के भीतर ही जाता है, तो यद्यपि ज्ञानेंद्रियों को छोड़ देता है किंतु मन को नहीं छोड़ता, वरन् उस पर उसी तरह आक्रमण किए रहता है जैसा कि जाग्रत् में था, और उस समय मन ज्ञानेंद्रियों के बंधन से मुक्त हो जाता है, इसलिये उसकी सेवा के लिये झटपट विचित्र स्वप्न-राज्य बनाता है—

कहीं स्त्रियों के साथ उसे लीला कराता है, कहीं गाडियों की सवारी होता हुआ उसे सवार कराता है। तत्काल घोड़े, तत्काल सड़कें, तत्काल बाग-बागीचारूप उसके लिये हो जाता है।

(२४) वरन् मृत्यु के पश्चात् न्याय के पद म बुराइयों के बधन से मुक्त हुआ भलाइयों के बधन में स्वर्ग और अप्सरा नियत काल तक रचता ऊर्ध्वलोक की सैर कराता है, और भोग समाप्त होने के पश्चात् पुन कर्मों के लिये यहाँ ले आता इन्द्रियों के बधन में पड़ता है। और जब यह मन उसी के साक्षात्कार के लिये "म परमात्मा हूँ" इस प्रकार के निश्चय में पलट जाता है, तो अच्छाई-बुराई (पुण्य पाप) के बंधन से स्वय छूट जाता प्रसाद में आ जाता है, और दूल्हा तो अपने परमानद में नित्य रहता है, परतु वह मन छाया की भाँति ब्रह्मलोक के भोग सत्यसकल्प और सत्यकाम आदिक मुक्त में उसके लिये रचता और सब कुछ उसमें कल्पता है।

(२५) इससे ज्ञात हुआ कि यह प्राणात्मा, जो हमने अपना आप जाना था और सामान्य मनुष्यता से निकलकर हम द्विजन्मा द्विजाति हुए थे और शरीर-विलासिया (देहा भिमानियों) की अपेक्षा हम आत्म विलासी (प्राणात्मा भिमानी) हो गए थे, यद्यपि बड़ा स्वामी है, तो भी इस परमात्मा का चाकर और अनित्य है, और भूख प्यासरूप

धर्मों से धर्मी है, और उसके सामने कुछ भी सत्ता नहीं रखता, वरन् उसकी छाया है। वही हमारा परम आत्मा है, उसी की उपासना करनी चाहिए, उसी के पाने से हम मोक्ष पा सकते हैं, वही प्रसाद का स्वामी है। यह तो सेवक और कर्मफल का वंदी है। ऐ भाइयो! कर्ममार्ग (करनी-भरनी का विधान) भी अच्छा है, पर प्रसाद ही मांगो। कर्ममार्ग से छुटकारा नहीं, प्रसाद में ही मुक्ति है।

(२६) फिर उन्होंने यों विचार किया कि प्राणात्मा एक छाया की भाँति उसमें कल्पित और उसकी अविनाशी शक्ति है, जो दो प्रकारों में विभक्त है। या तो वह ज्ञान-रूप है या क्रिया-रूप। जब वह एक ही शक्ति छाया की तरह उसमें बोध या ज्ञानेंद्रियों के रूप में तरंगित होती है और जानने का व्यवहार करती है, तो वही देखने या जानने की शक्ति कहलाती है, और संस्कृत मे उसे ही ज्ञानशक्ति बोलते हैं।

(२७) जब वही शक्ति छाया की तरह कर्मों के रूप में तरंगित होती है, तो वही कर्मशक्ति कहलाती है, और संस्कृत में उसे ही क्रियाशक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह कि इस प्राणात्मा में छाया की भाँति तरंगें और विकार उठते हैं। क्योंकि जब वह ज्ञान में विकृत और तरंगित होता है, तो निश्चय होता है कि वह जानता है, जब वह ज्ञान के रूप में नहीं अपितु क्रिया के रूप में बदलता है, तो निश्चय

होता है कि वह करता है। इस तरह जानना और करना इसी सेवक (प्राणात्मा) का उसमें भ्रम होता है। बिना इस (प्राणात्मा) के न तो वह जानता है न करता है, वरन् (अपने स्वरूप में तो वह) ज्ञान और कर्म से निर्लिप्त, अकर्त्ता और अभोक्ता है।

(२८) फिर, यह जो प्राण हमारे भीतर ज्ञान और कर्म के रूप में बदलता है, उसी आत्म-ज्योति के प्रकाश में तरंगित होता है, क्योंकि जब तक प्रकाश न हो, कोई भी काम नहीं कर सकता, अतः घन-सुषुप्ति और मृत्यु में यह प्राणात्मा काम करता नहीं दिखाई देता। इसलिये ज्ञात हुआ कि वह जो उसके भीतर केवल ज्ञान का प्रकाश है, वही परमात्मा है। और चूँकि ज्योति यद्यपि व्यापार की प्रेरणा का कारण होती है, किंतु व्यापारी नहीं हो जाती, इसी तरह यह ज्योति उसके कारबार की प्रेरणा तो करती है, पर स्वयं कारबारवाली नहीं हो जाती, वरन् असंग व साक्षी रहती है।

(२९) यों समझो कि प्राणात्मा तो क्या ज्ञान क्या कर्म दो प्रकार की गति या चेष्टा रखता है, और यह ज्योतिस्वरूप आत्मा गति नहीं रखता वरन् प्रेरणा रखता है। अतः जो भीतर ज्ञान और कर्म की गति रखता है, वही प्राणात्मा है, जो चाकर और छाया है, और वह जो इसमें प्रेरणा करता है और ज्योति है, वही परमात्मा है।

(३०) यह नहीं मान लेना चाहिए कि यह ज्योति कुछ पचभौतिक ज्योति है, नही वरन् परमात्म-ज्योति है जो देखती है। सूर्य यद्यपि ज्योति है, किंतु देखता नही। न तो सूर्य चद्र को देखता है, न चंद्र सूर्य को। इसलिये ये सब पंचभौतिक ज्योति हैं। किंतु वह जो सूर्य-चंद्र और बाहर-भीतर मनोवृत्तियों को भी जानता और देखता है, वही ठीक ज्योति है, जो पंचभौतिक ज्योति की किस्म से नहीं, वरन् वही ब्रह्म है, वही आत्मा है, और ये मनोवृत्तियाँ उसके साक्षात्कार के लिये एक दर्पण-सा हो रही हैं, क्योंकि जब-जब मनोवृत्ति उठती है, तो उसमें यह साक्षी-रूप ज्योति टपकती है, और इन मनोवृत्तियों को देखती फिर वृत्तियों के द्वारा आँख-कान में आकर इनको प्रकाशित करती बाहर की वस्तुओं को भी देखती सुनती है।

(३१) अत ये जो मनोवृत्तियाँ हैं केवल बिचवानी (द्वार) और दर्पण हैं, जिनसे वह पाया जाता है, और वह जो इनमें आया हुआ नहीं, वरन इनके द्वारा सबको पाता है, वही प्राप्तव्य है, वही ज्योति है और वही परमात्मा है। जिस तरह दर्पण की गति से मुख भी हिलता सा होता है, किंतु हिलता नही, उसी तरह इन वृत्तियों की गति से वह भी गति करता-सा गुमान होता है, वास्तव में वह गति और चेष्टा से रहित, केवल द्रष्टा, ज्योतियों की ज्योति है।

(३२) फिर उन्होंने जान लिया कि वह निर्विकार, निरवयव अर्थात् सर्वों कव (देशकाल-वस्तुपरिच्छेद) से रहित है, सबका द्रष्टा है। उसको कोई नहीं देख सकता। क्योंकि क्या मन, क्या प्राण, क्या देह, क्या सूर्य, क्या चन्द्र सब पञ्चभौतिक और जड हैं, और भौतिक तत्त्व देखने की योग्यता नहीं रखते। वह (आत्मा) तो सबको देखता और जानता है। और यह जो देखने की योग्यता रखता है दिखाई देने की योग्यता नहीं रखता, तो भी ज्यों-ज्यों मनोवृत्तियाँ उठती उसमें दिखाई देती हैं, त्यों-त्यों उन्हीं के द्वारा देखनेवाला भी एक साक्षी ज्योति निश्चय होता है। फिर, क्योंकि हम यह भी निश्चय करते हैं कि हमने इन मनोवृत्तियों को देखा, इसलिये हम ही देखनेवाले, हम ही साक्षी हैं। यही निश्चय इस ब्रह्म का देखना है, और यही ढंग इस दर्पण में दृष्टि करने का है, दूसरा ढंग नहीं।

(३३) जब ज्ञात हुआ कि मनोवृत्तियों में वह उनका देखनेवाला है, और उसी तरह निश्चय होता है जैसे कि आँख भी दर्पण में दिखाई देती है, इसलिये उन्होंने जिन वृत्तियों की छाँट की और जिनमें परमात्मा को देखा, उनको यहाँ भी भाषाविदों के लिये उद्धृत करते हैं। वे ये हैं—१ सञ्ज्ञान, २ अज्ञान, ३ विज्ञान, ४ प्रज्ञान, ५ मेधा, ६ दृष्टि, ७ धृति, ८ मति, ९ मनीषा, १० जूति, ११ स्मृति,

१२ संकल्प, १३ क्रतु, १४ रसु, १५ काम, १६ वश, १७ अहंकार, १८ अविद्या, इति। यथा—

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूति स्मृति सकल्प क्रतुरसु कामोवश इति।

(ऐतरेयोपनिषद् अ० ३ खं० १ मं० ४)

(३४) सज्ञान नाम पूर्ण जानकारी का है, जो प्रत्येक जीव को होती है। और यह एक अंत.करण की वृत्ति है। जब यह खुलती है, तो इसके कारण जीती-जागती जान या जीव इसी आत्मा का नाम होता है, क्योंकि सबमें जो जानकारी रखता है वही जीव कहलाता है। वनस्पति में यह वृत्ति नहीं होती। पशुओं में पाई जाती है।

(३५) २ अज्ञान नाम उस पूर्ण बुद्धिमत्ता का है जिस बुद्धि से यह सब ससार बनता और दैवी काम होते हैं। यह भी एक अत करण की वृत्ति है और यही आत्मा इस वृत्ति के कारण ईश्वर कहलाता है।

(३६) ३ विज्ञान नाम उस बुद्धि का है कि जो शिक्षा से बोध (समझ, दानाई) के रूप में प्राप्त होती है, और जिसके कारण लोग विद्वान्, श्रेष्ठ, विचारवान् वा तत्त्ववेत्ता कहलाते हैं। यह भी एक अत करण की वृत्ति है जिसके गुण से यही आत्मा तत्त्ववेत्ता कहलाता है।

(३७) ४ प्रज्ञान नाम प्रतिभा या स्फूर्ति का है। विज्ञान तो युक्ति-क्रम से परिणाम निकालता है, और यह (प्रज्ञान)

एक प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति है जो बिना युक्ति क्रम के तत्काल शुद्ध परिणाम पा जाती है। साधारण मनुष्य इसको फुरना, सहज ज्ञान या अन्तर्ज्ञान (इल्हाम) बोलते हैं। यह (वृत्ति) उन ऋषियों मुनियों को होती है जो आरम्भ में वेद को प्रचार देने के लिये उत्पन्न होते हैं। और यही आत्मा प्रज्ञान के कारण वेद के चलानेवाला ईश्वर कहलाता है।

(३८) ५ मेधा नाम उस अन्तःकरण की वृत्ति का है जो सीखी हुई वस्तु को धारण और रक्षित करती है। और ६ दृष्टि उस वृत्ति का नाम है जो ज्ञानेंद्रियों के द्वारा होनेवाले अनुभवों की जाँच पड़ताल करती है। ७ धृति नाम धारणा का है, यह एक अन्तर्वृत्ति है जिससे मनुष्य समस्त विक्षिप्त विचारों का निरोध कर सकता है, और विक्षेप से धैर्य प्राप्त कर लेता है। इसकी प्रशंसा में साधारण लोग प्रायः कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा सहनशील और धीर-चित्त है। यह गुण इसी वृत्ति के कारण से है।

(३९) ८ मति नाम उसका है जो विचार का काम करती है। ९ मनीषा स्वतन्त्र वृत्ति का नाम है। १० जूति वह वृत्ति है जो शरीर के रोगों और कष्टों को आत्मा में ख्याति देती है। ११ स्मृति, स्मरण करने को जो वस्तु कभी देखी सुनी हो उसे स्मरण १२ सङ्कल्प वह वृत्ति है जो

१२ संकल्प, १३ क्रतु, १४ रसु, १५ काम, १६ वश, १७ अहंकार, १८ अविद्या, इति। यथा—

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञान प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूति स्मृति' संकल्प क्रतुरसु कामोवश इति।

(ऐतरेयोपनिषद् अ० ३ खं० १ म० ४)

(३४) संज्ञान नाम पूर्ण जानकारी का है, जो प्रत्येक जीव को होती है। और यह एक अंत·करण की वृत्ति है। जब यह खुलती है, तो इसके कारण जीती-जागती जान या जीव इसी आत्मा का नाम होता है, क्योंकि सबमें जो जानकारी रखता है वही जीव कहलाता है। वनस्पति में यह वृत्ति नहीं होती। पशुओं में पाई जाती है।

(३५) २ आज्ञान नाम उस पूर्ण बुद्धिमत्ता का है जिस बुद्धि से यह सब् ससार बनता और दैवी काम होते हैं। यह भी एक अंत'करण की वृत्ति है और यही आत्मा इस वृत्ति के कारण ईश्वर कहलाता है।

(३६) ३ विज्ञान नाम उस बुद्धि का है कि जो शिक्षा से बोध (समझ, दानाई) के रूप में प्राप्त होती है, और जिसके कारण लोग विद्वान्, श्रेष्ठ, विचारवान् वा तत्त्ववेत्ता कहलाते हैं। यह भी एक अत करण की वृत्ति है जिसके गुण से यही आत्मा तत्त्ववेत्ता कहलाता है।

(३७) ४ प्रज्ञान नाम प्रतिभा या स्फूर्ति का है। विज्ञान तो युक्ति-क्रम से परिणाम निकालता है, और यह (प्रज्ञान)

वस्तुएँ यह जब नहीं समझता तो तूल अविद्या कहलाती है, और जो आत्मा को नहीं जानने देती वही मूल अविद्या है। तूलाविद्या तो ससारी विद्या के पढ़ने से दूर होती है, और मूलाविद्या आत्मा के विवेक और ज्ञान से दूर होती है। घनसुषुप्ति में तूल और मूल दोनों अविद्या स्वाभाविक होती हैं। वनस्पति और खनिजवर्ग में भी ये दोनों अविद्या अधिक हैं, इसलिये न तो ये पहचानते हैं, न अपने आप को जानते हैं। इसी कारण से सर्वसाधारण उनको जड़ बोलते हैं। किंतु जब सज्ञान वृत्ति स्वाभाविक खुलती है, उसी को चेतन बोलते हैं।

(४२) ऐ भाइयो! इन ब्राह्मणों ने ये सब वृत्तियाँ प्राणात्मा की जानकर ऐसा पता लगाया कि ये सब वास्तव में प्राणात्मा हैं। जिस प्रकार नदी मौज मारती हुई बुलबुला, भँवर और फेन होती है, वैसे ही यह प्राणात्मा भी तरंगित होता इन वृत्तियों के आकार होता है, और स्वयं कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् छाया के समान आत्मा में केंद्रित है। यही वृत्तियाँ जो रूप और नाम रखती हैं, उन्हीं रूप और नामों में आत्मा भी दिखाई देता है, इसलिये अनजान को उसका भेद करना कठिन-सा हो जाता है।

(४३) वरन सबकी सब क्या सज्ञान, क्या अज्ञान, क्या विज्ञान, क्या प्रज्ञान, क्या मेधा, क्या दृष्टि, क्या मति, क्या मनीषा, क्या जूति, क्या स्मृति, क्या संकल्प, क्या क्रतु,

देखी हुई वस्तु को ज्यों का त्यों उपस्थित करके उसी की आकृति पर भीतर दिखाई देती है। १३ क्रतु नाम निश्चय का है, जो एक ऐसी बात पर पक्का होता है कि उसके सिवा जो उस बात के विरुद्ध हो नहीं मानता। १४ रसु नाम प्राण का है जिसके कारण जीवन का व्यवहार होता है।

(४०) १५ काम नाम उस वृत्ति का है जो वस्तु विद्यमान तो न हो किंतु उसी की ओर ध्यान और इच्छा कराती हो। इसी को तृष्णा भी बोलते हैं। १६ वश नाम उस अंतर्वृत्ति का है जो स्त्री की लगन लगाती है। १७ अहंकार नाम एक अंतर्वृत्ति का है जो शरीर में अहं-भाव का संबंध या आत्मा में अहंता का निश्चय कराती है। जब यह शरीर में अहंता का निश्चय कराती है, तो इसे मलिन अहंकार कहा करते हैं, क्योंकि अविद्या और स्वाभाविक मोह से यह ऐसा करती है। और जब यह विवेक के बाद आत्मा में अहंभाव का निश्चय दिलाती है, और शरीर में अनात्मा का निश्चय कराती है, तो इसे शुद्ध अहंकार बोलते हैं। और ज्ञान के कारण मलिन अहंकार शुद्ध अहंकार में बदल जाता है। इसी (शुद्ध अहंकार-रूप वृत्ति) पर प्रसाद और मुक्ति निर्भर है।

(४१) १८ अविद्या नाम मूढ़ता का है। वह दो प्रकार की है—या तूल-अविद्या है या मूल-अविद्या। संसार की

वस्तुएँ यह जब नहीं समझता तो तूल-अविद्या कहलाती है, और जो आत्मा को नहीं जानने देती वही मूल-अविद्या है। तूलाविद्या तो संसारी विद्या के पढ़ने से दूर होती है, और मूलाविद्या आत्मा के विवेक और ज्ञान से दूर होती है। घनसुषुप्ति में तूल और मूल दोनों अविद्या स्वाभाविक होती हैं। वनस्पति और खनिजवर्ग में भी ये दोनों अविद्या अधिक हैं, इसलिये न तो वे पहचानते हैं, न अपने आप को जानते हैं। इसी कारण से सर्वसाधारण उनको जड़ बोलते हैं। किंतु जब सज्ञान-वृत्ति स्वाभाविक खुलती है, उसी को चेतन बोलते हैं।

(४२) ऐ भाइयो ! इन ब्राह्मणों ने ये सब वृत्तियाँ प्राणात्मा की जानकर ऐसा पता लगाया कि ये सब वास्तव में प्राणात्मा हैं। जिस प्रकार नदी मौज मारती हुई बुलबुला, भँवर और फेन होती है, वैसे ही यह प्राणात्मा भी तरंगित होता इन वृत्तियों के आकार होता है, और स्वयं कुछ सत्ता नहीं रखता, वरन् छाया के समान आत्मा में केंद्रित है। यही वृत्तियाँ जो रूप और नाम रखती हैं, उन्हीं रूप और नामों में आत्मा भी दिखाई देता है, इसलिये अनजान को उसका भेद करना कठिन-सा हो जाता है।

(४३) वरन् सबकी सब क्या संज्ञान, क्या अज्ञान, क्या विज्ञान, क्या प्रज्ञान, क्या मेधा, क्या दृष्टि, क्या मति, क्या मनीषा, क्या जूति, क्या स्‌ संकल्प, क्या क

क्या काम, क्या रसु, क्या वश, क्या अहंकार, क्या अविद्या, सब उसी प्रज्ञान के नाम हैं, जो वास्तव में आत्मा है। जैसे क्या कुल्हड़ (आबखोरा), क्या चीनी का प्याला सब मिट्टी के नाम और आकार हैं, और मिट्टी तत्त्व उनसे असंग है, इसी तरह ये सब आत्म-ज्योति में कल्पित हैं।

(४४) जब संज्ञान-वृत्ति उसमें कल्पित होती है, तो उसी को जीव कहते हैं। जब अज्ञान-वृत्ति उसमें कल्पित होती है, तो उसी को ईश्वर कहते हैं। विज्ञान में विज्ञान, प्रज्ञान में प्रज्ञान और मेधा में मेधा इत्यादि संकेत वा नामवाला यही होता है। और जब बुद्धिमान् उसमें से ये सब घटाकर अर्थात् बाध करके उसे देखता है, तो बेनाम और बेनिशान, अद्वितीय, एक अकेले आत्मा की पहचान होती है।

(४५) अब यों समझो कि जो शब्द जिस अर्थ के लिये नियत किया जाता है, जब उस शब्द से उस अर्थ की पहचान हो, तो उसे वाच्यार्थ बोलते हैं, किंतु जब उस शब्द से अभिप्रेत का एक अंश छोड़कर शेष अंश का ज्ञान हो, तो उसे वाच्यार्थ नहीं वरन् लक्ष्यार्थ कहा करते हैं। अत संज्ञान, अज्ञान, प्रज्ञान और मेधा सब नामों से जो वाच्यार्थ है, वह तो प्राणात्मा है, और वह जो इन शब्दों का लक्ष्यार्थ है, वही शुद्धात्मा है। इसलिये भाषाविदों को रहस्यवेत्ता वा लक्ष्यार्थ पहचाननेवाला होना चाहिए, अर्थात् उनको चाहिए कि

उसमें से प्रज्ञावृत्ति को हटा करके अवशिष्ट भाग को प्रज्ञान का लक्ष्यार्थ ख़याल करें।

(४६) क्योंकि जब हम उसे प्रज्ञान शब्द से कहते हैं तो जानना चाहिए कि आत्मा और अंतःकरण की प्रज्ञावृत्ति मिलकर प्रज्ञान शब्द का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ है। किंतु रहस्यज्ञ (तत्त्ववेत्ता) को चाहिए कि उसमें से प्रज्ञावृत्ति को हटाकर शेष भाग (शुद्ध आत्मा) को प्रज्ञान का लक्ष्यार्थ समझे। यही रहस्यज्ञता है। और इसी कारण आत्मा के वर्णन में वाणी स्तंभित (अशक्त) है, क्योंकि उसका न कोई रूप है न कोई रेख है, क्योंकर वाणी जतलावे। तो भी वाणी उसे रहस्य और संकेत से जतला सकती है। इसलिये हम कहते हैं कि ये सब नाम उसी के हैं, और यह इन नाम-रूपों से निर्लिप्त है।

(४७) क्योंकि, जब एक वृत्ति उससे दूर होती है दूसरी आ जाती है, और दूसरी दूर होती है तीसरी आती है, किंतु यह अकेला आत्मा, जो-जो वृत्ति उस पर आ लगती है, उसी का रूप होता उसे देखता है। इसी कारण हम निश्चय कर सकते हैं कि अब वह वृत्ति गयी और यह आई। वह जो इन वृत्तियों के होने न होने का और इनके संयोग और वियोग का साक्षी या गवाह है, वही हमारा आत्मा है, इन सब आकृतियों से पवित्र है, और मुख की तरह दर्पण में आया हुआ वृत्ति-रूप होना चमक

मारता इन्हें भी प्रकाशित करता है। वास्तव में प्रज्ञान उसी का नाम है। अंतर्वृत्ति तो उससे प्रकाशित हुई प्रज्ञा कहलाती है, इसलिये वही वास्तव में प्रज्ञान है।

(४८) किंतु ये अंतर्वृत्तियाँ भी उसी आत्म-ज्योति से प्रकाशित हुई उसी तरह प्रज्ञान-रूप होती हैं, जैसे सूर्य से प्रकाश पाकर चंद्र प्रकाशित होता है। ये वृत्तियाँ बदलतीं नाना रूप नाना नाम पाती हैं, और वह इनका महल (अधिष्ठान) इनमें प्रतिबिंबित एक आन पर रहता है, बदलता नहीं। इसी कारण बड़े-बड़े सूफी (विचारवान्) लोग इन वृत्तियों का नाम महिमा वा विभूति और उस ज्योति का नाम भूमा वा स्वरूप बोलते हैं, और निश्चय करते हैं कि विभूति बदलती है और भूमा नहीं बदलता।

(४९) अब उनकी भाषा में यों समझो कि वही प्राणात्मा जो इसकी छाया और सेवक है, और कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता, वास्तव में इसकी विभूति वा महिमा है। और यह ज्योति जो उसका अधिष्ठान और उन वृत्तियों में प्रतिबिंब डालती है और जिसे आत्मा नाम से बोलते हैं, स्वरूप वा भूमा है। और यह आत्मा की विभूति (ज्ञान) ब्रह्मा, इंद्र, प्रजापति आदि देवता होती इसी में केंद्रित रहती है, और इसी की ज्योति से ज्योतिर्मय और इसी के अस्तित्व से अस्तित्ववान् होती नाना रूप जगत्

होकर दिखाई देती है। इसलिये श्रुति भगवती निश्चय करती है कि --

(५०) यही ब्रह्मा है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, वरन् समस्त देवता और पंचतत्त्व भी यही है। क्या पृथ्वी, क्या वायु, क्या आकाश, क्या जल, क्या सूर्य, क्या तारे, सब ज्योतियाँ और ये सब जीवधारी पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि यही आत्मा है, और ये सब इसी की विभूतियाँ हैं, और यह (आत्मा) सब विभूतियों का भूमा, प्रत्येक में आया हुआ लक्ष्य या संकेत की विधि से ज्ञानियों को दिखाई देता है।

(५१) जो बीज से उत्पन्न होता है, जो अंडों से उत्पन्न होता है, जो जरायुज से उत्पन्न होता है, जो मैल से उत्पन्न होता है, जो धरती फाड़कर निकलता है, सबके सब क्या घोड़ा, क्या गाय, क्या मनुष्य, क्या हाथी, जो कुछ कि है, ये सब चलनेवाले, उड़नेवाले, स्थावर-जंगम सब प्रज्ञान ब्रह्म म केंद्रित और प्रज्ञानस्वरूप हैं।

(५२) जिस प्रकार दर्पण देखनेवाले के हाथ में होता है और देखनेवाला आप ही उसमें होता है, उसी तरह ये सब मिथ्या उसी के आश्रय और उसी के चमत्कार और दर्पण हैं। इसलिये सब जगत् प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञाप्रतिष्ठा है, और यही प्रज्ञान ब्रह्म है।

(५३) इस तरह ये ब्राह्मण भी वामदेव की शिक्षा के

मारता इन्हें भी प्रकाशित करता है। वास्तव में प्रज्ञान उसी का नाम है। अंतर्वृत्ति तो उससे प्रकाशित हुई प्रज्ञा कहलाती है, इसलिये वही वास्तव में प्रज्ञान है।

(४८) किंतु ये अंतर्वृत्तियाँ भी उसी आत्म-ज्योति से प्रकाशित हुई उसी तरह प्रज्ञान-रूप होती हैं, जैसे सूर्य से प्रकाश पाकर चंद्र प्रकाशित होता है। ये वृत्तियाँ बदलतीं, नाना रूप नाना नाम पाती हैं, और वह इनका-महल (अधिष्ठान) इनमें प्रतिबिंबित एक आन पर रहता है, बदलता नहीं। इसी कारण बड़े-बड़े सूफी (विचारवान्) लोग इन वृत्तियों का नाम महिमा वा विभूति और उस ज्योति का नाम भूमा वा स्वरूप बोलते हैं, और निश्चय करते हैं कि विभूति बदलती है और भूमा नहीं बदलता।

(४६) अब उनकी भाषा में यों समझो कि वही प्राणात्मा जो इसकी छाया और सेवक है, और कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता, वास्तव में इसकी विभूति वा महिमा है। और यह ज्योति जो उसका अधिष्ठान और उन वृत्तियों में प्रतिबिंब डालती है और जिसे आत्मा नाम से बोलते हैं, स्वरूप वा भूमा है। और यह आत्मा की विभूति (ज्ञान) ब्रह्मा, इंद्र, प्रजापति आदि देवता होती इसी में केंद्रित रहती है, और इसी की ज्योति से ज्योतिर्मय और इसी के अस्तित्व से अस्तित्ववान् होती नाना रूप जगत्

हुआ। इस तरह वामदेव ने अपने पहले जन्म के साथी और संबंधियों को सुनाया और वे उसके अनुसार विचार करते अमृत हुए।

(५५) यहाँ कदाचित् भाषाविदों को आश्चर्य होगा कि यह किस तरह संभव है कि वह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ ? तो उसको यही आश्चर्य नहीं करना चाहिए वरन् और भी बहुत-सी बातें आश्चर्य की इसमें ये हैं कि पहले बिना साधन बिना उपादान कारणों के उसने आकाश आदि तत्त्वों को बनाया, उसके सतोगुण अंश से छाँटकर लोक बनाये, और फिर प्रजापति को बनाकर उसके अंगों से देवता निकाले जो मनुष्य में प्रविष्ट हुए। वरन् आख्यान की तरह यह कहना सहज बोधार्थ है। अन्यथा जिस प्रकार स्वप्न में धरती और आकाश और उसके भीतर ही देखने वाला एक स्वप्न-शरीर भी रहता है, और फिर उससे ऐसा संबंध पा जाता है कि उसी कल्पित शरीर को अपना आप समझता है, वैसी ही यह समस्त सृष्टि की दशा है। और आत्मा का संबंध उसी अविद्या की विचित्रता से शरीर के साथ प्राप्त है, जो सबको विदित है, इसलिये उस कठिन भेद को वामदेव ने कहानी के रूप में सुनाया है ताकि सहज बोध्य हो जाय।

(५६) तात्पर्य यहाँ यह नहीं है कि इस कहानी की ओर इस प्रकार दृष्टि की जाय कि यह घटना कब हुई

अनुसार ध्यान करते और अपने आत्मा को प्रज्ञान-रूप जानते तथा सर्व-रूप मानते हुए उसी तरह, जिस तरह वामदेव मृत्यु के पश्चात् प्रसाद में प्रविष्ट हुआ, वे भी सत्य-काम और सत्यसंकल्प हो गए, और जीवन में ही आत्मसाक्षात्कार के आनंद से जीवन-मुक्ति को प्राप्त हुए। वह भी जो अब इसी तरह ध्यान करके इस आत्मा को संकेत अर्थात् लक्ष्यार्थ से पा जाता है, और निश्चय करता है कि "मै ब्रह्म हूँ, मै सर्व-रूप हूँ," यहाँ नक़द अमृत होता है। और शरीर के दूर होने से सत्यसकल्प आदिक ऐश्वर्य मुफ्त मिल जाते हैं। यही उसके प्रसाद का पद है और यही उसके चढ़ने की निसेनी (सीढ़ी) है। आवे जिसका जी चाहे, किसी को भी रोक नहीं। वे जो इस जीने पर चढ़ने से डरते हैं पापी हैं। पापों के कारण उनके भीतर अंधकार है, इस जीने पर आते काँपते हैं, और नित्य मूर्खता में रहते हैं।

(५४) इस प्रसग का संक्षिप्त सार यह है कि यही अकेला आत्मा जिसके सिवाय दूसरा कुछ भी विद्यमान न था, विना साधन विना उपादान कारण के अपनी माया से जैसे जादूगर अनहोनी माया दिखाता है, इस तरह इसने सात लोक, प्रजापति और प्रजापति से देवता उत्पन्न करके और मनुष्य बनाकर उन्हीं देवताओं को मनुष्य में प्रविष्ट किया और फिर आप भी अपने दर्शन के लिये उसमें प्रविष्ट

हुआ। इस तरह वामदेव ने अपने पहले जन्म के साथी और सबधियों को सुनाया और वे उसके अनुसार विचार करते अमृत हुए।

(५५) यहाँ कदाचित् भाषाविदों को आश्चर्य होगा कि यह किस तरह सभव है कि वह मनुष्य म प्रविष्ट हुआ? तो उसको यही आश्चर्य नहीं करना चाहिए वरन् और भी बहुत-सी बातें आश्चर्य की इसम ये हैं कि पहले बिना साधन बिना उपादान कारणों के उसने आकाश आदि तत्त्वों को बनाया, उसके सतोगुण अश से छॉटकर लोक बनाये, और फिर प्रजापति को बनाकर उसके अंगों से देवता निकाले जो मनुष्य में प्रविष्ट हुए। वरन् आख्यान की तरह यह कहना सहज बोधार्थ है। अन्यथा जिस प्रकार स्वप्न में धरती और आकाश और उसके भीतर ही देखने वाला एक स्वप्न-शरीर भी रहता है, और फिर उससे ऐसा सबध पा जाता है कि उसी कल्पित शरीर को अपना आप समझता है, वैसी ही यह समस्त सृष्टि की दशा है। और आत्मा का सबध उसी अविद्या की विचित्रता से शरीर के साथ प्राप्त है, जो सबको विदित है, इसलिये उस कठिन भेद को वामदेव ने कहानी के रूप में सुनाया है ताकि सहज बोध्य हो जाय।

(५६) तात्पर्य यहाँ यह नहीं है कि इस कहानी की ओर इस प्रकार दृष्टि की जाय कि यह घटना कब हुई

अनुसार ध्यान करते और अपने आत्मा को प्रज्ञान-रूप जानते तथा सर्व-रूप मानते हुए उसी तरह, जिस तरह वामदेव मृत्यु के पश्चात् प्रसाद में प्रविष्ट हुआ, वे भी सत्य-काम और सत्यसकल्प हो गए, और जीवन में ही आत्मसाक्षात्कार के आनंद से जीवन-मुक्ति को प्राप्त हुए वह भी जो अब इसी तरह ध्यान करके इस आत्मा को संकेत अर्थात् लक्ष्यार्थ से पा जाता है, और निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ, मैं सर्व-रूप हूँ," यहाँ नक़द अमृत होता है। और शरीर के दूर होने से सत्यसकल्प आदिक ऐश्वर्य मुफ़्त मिल जाते हैं। यही उसके प्रसाद का पद है और यही उसके चढ़ने की निसेनी (सीढ़ी) है। आवे जिसका जी चाहे, किसी को भी रोक नहीं। वे जो इस जीने पर चढ़ने से डरते हैं पापी हैं। पापों के कारण उनके भीतर अंधकार है, इस जीने पर आते काँपते हैं, और नित्य मूर्खता में रहते हैं।

(५४) इस प्रसंग का सक्षिप्त सार यह है कि यही अकेला आत्मा जिसके सिवाय दूसरा कुछ भी विद्यमान न था, बिना साधन बिना उपादान कारण के अपनी माया से जैसे जादूगर अनहोनी माया दिखाता है, इस तरह इसने सात लोक, प्रजापति और प्रजापति से देवता उत्पन्न करके और मनुष्य बनाकर उन्हीं देवताओं को मनुष्य में प्रविष्ट किया और फिर आप भी अपने दर्शन के लिये उसमें प्रविष्ट

हुआ। इस तरह वामदेव ने अपने पहले जन्म के साथी और संबंधियों को सुनाया और वे उसके अनुसार विचार करते अमृत हुए।

(५५) यहाँ कदाचित् भाषाविदों को आश्चर्य होगा कि यह किस तरह संभव है कि वह मनुष्य में प्रविष्ट हुआ? तो उसको यही आश्चर्य नहीं करना चाहिए वरन् और भी बहुत-सी बातें आश्चर्य की इसमें ये हैं कि पहले बिना साधन बिना उपादान कारणों के उसने आकाश आदि तत्वों को बनाया, उसके सतोगुण अंश से छाँटकर लोक बनाये, और फिर प्रजापति को बनाकर उसके अंगों से देवता निकाले जो मनुष्य में प्रविष्ट हुए। वरन् आख्यान की तरह यह कहना सहज बोधार्थ है। अन्यथा जिस प्रकार स्वप्न में धरती और आकाश और उसके भीतर ही देखने वाला एक स्वप्न-शरीर भी रहता है, और फिर उससे ऐसा संबंध पा जाता है कि उसी कल्पित शरीर को अपना आप समझता है, वैसी ही यह समस्त सृष्टि की दशा है। और आत्मा का संबंध उसी अविद्या की विचित्रता से शरीर के साथ प्राप्त है, जो सबको विदित है, इसलिये उस कठिन भेद को वामदेव ने कहानी के रूप में सुनाया है ताकि सहज बोध्य हो जाय।

(५६) तात्पर्य यहाँ यह नहीं है कि इस कहानी की ओर इस प्रकार दृष्टि की जाय कि यह घटना कब हुई

और क्योंकर हुई ? वरन् तात्पर्य यहाँ यह है कि जिस प्रकार कोई स्वय ही इमारत बनाकर उसमें बसता है, और स्वय उस इमारत का अंश नहीं हो जाता, उसी तरह सब संसार मनुष्य के आश्रय है और मनुष्य एक विशेष भवन है, आत्मा उसके भीतर बसता है। जब इस प्रकार सुनकर उसे निश्चय करता है, तो भीतर ही अन्वय-व्यतिरेक के नियम से वह तत्काल मिल जाता है। उस समय वह भली भाँति सच्च मालूम होता है।

(५७) दूसरा परिणाम यह है कि जिस प्रकार वामदेव ने निश्चय किया कि "मैं ब्रह्म हूँ, मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ," इस प्रकार निश्चय करना वास्तव में साक्षात्कार है, दूसरा कोई कारण साक्षात्कार का नही। वे जो आँखों से देखना माँगते हैं, गलत है, कभी ऐसा नहीं होता, वरन् सब ख़याल, भ्रम और डरावा है।

(५८) इसी कारण व्यासदेव ने इस प्रसंग पर सूत्र लिखा है कि "मैं ब्रह्म हूँ" यह निश्चय वामदेव की तरह शास्त्रीय दृष्टि है, ईश्वरीय दावा नही। किंतु अनजान मनुष्य इस भय से कि यह तो ईश्वरीय दावा है इधर ध्यान नहीं करते, यद्यपि यह नहीं है, वरन् यही विश्वास यही निश्चय यही ज्ञान मुक्ति का हेतु नियत हुआ है। जो इस प्रकार नहीं निश्चय करता, यद्यपि तप-जप करता है मोक्षार्थी नहीं होता, हाँ तप-जप का

फल स्वर्ग इत्यादि पाता है, और फिर गिरता है।

(५६) इसी • प्रसंग को यजुर्वेद आरण्यक भाग में यों लिखा है कि पहले सबसे ब्रह्म हुआ। उसने अपने आत्मा को यों जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ।" इससे वह सर्व रूप हो गया। ब्रह्म ही नहीं वरन् देवताओं में भी जिस जिसने अपने स्वरूप को इस प्रकार देखा कि "मैं ब्रह्म हूँ" वह भी सर्व रूप हो गया। फिर श्रुति कहती है कि यह नहीं ख्याल करना चाहिए कि ऐसा निश्चय देवताओं को ही उचित है, वरन् ऋषि-मुनि और मनुष्यों में भी जिसने इस प्रकार आत्मा को देखा है कि "मैं ब्रह्म हूँ" सबमें सब कुछ हो गए।

(६०) देखो, वामदेव गर्भ में भी देखता हुआ बोला कि "मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ" और यही निश्चय करता सर्व-रूप हो गया। फिर ऐसा भी श्रुति कहती है कि कदाचित् कोई कहे कि भूतकालिक ऋषियों में ही इस निश्चय की शक्ति थी, अब हम में कठिन है। इसलिये स्पष्ट आज्ञा करती है कि अब भी जो कोई ऐसा निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" सर्व-रूप हो जाता है।

(६१) फिर स्वयं ही श्रुति उसके लिये जो विरुद्ध निश्चय करता है कि "मैं दास हूँ, वह स्वामी है" यों तिरस्कार

• देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय पहला, ब्राह्मण चौथा, मं० १० ।

करती है कि जो व्यक्ति इस प्रकार विश्वास करता है कि "मै और हूँ, और वह और है, और मे दास हूँ, वह ईश्वर है" वह कुछ नहीं जानता और देवताओं का पशु है। क्योंकि जिस प्रकार एक गाय बहुत आदमियों को दूध देती है और वे सब उसकी रक्षा करते और बाँधे रखते हैं, जिससे कि किसी दूसरे के पास न चली जाय, इसी तरह ऐसे विश्वासी को देवता डराते और चौकसी रखते हैं कि कही ज्ञान न पा जाय, इसलिये उसके हृदय में भय डालते रहते हैं कि वह कहीं ऐसा निश्चय न करे।

(६२) क्योंकि जब वह निश्चय करेगा, तो हमारा स्वामी हो जायगा। अब तो हमको मानता, हमारी भेंटें चढ़ाता वा हमें बलि देता यज्ञ करता है, फिर ऐसा नहीं करेगा। इसलिये उसके हृदय में भय डालते हैं कि यह निश्चय अच्छा नहीं, ईश्वरीय दावा है, नहीं करना चाहिए, सेवक और भक्त बने रहना चाहिए। ईश्वर भक्ति और दासता से ही प्रसन्न होता है। देखो, संसार में जैसे राजा भी चाटुकारिता (.खुशामद) और सेवा से प्रसन्न होता है, वैसे ही ईश्वर भी चाटुकारिता पर प्रसन्न है। यह निश्चय तो उसी तरह का है जैसे कोई कहे "मैं राजा हूँ" तो क्या राजा प्रसन्न होगा? क्या उसे शत्रु न समझेगा?

(६३) फिर आप ही श्रुति कहती है कि जब एक की बहुत-सी गायें होती हैं, यदि एक भी गाय उनमें से निकल

जाय, तो उन शेप पर सतोप नहीं होता, उसकी खोज में निकलता और उसे पकडता है। अत कैसे हो सकता है कि जब एक विश्वासी बहुत देवताओं की सेवा करता हो और उसे कोई ज्ञानी उनके बधन से निकालना चाहे, वे निकलने दें ? इसलिये देवता नहीं चाहते, कोई इसका निश्चय करे कि "मैं ब्रह्म हूँ।"

(६४) देखो, डरपोक मनुष्य तो इधर देवी, उधर महादेव, इधर इन्द्र उधर दूसरा कोई देवता जैसे गणपति या भैरव को मानता है, और सबको नियत भेंट देता है, उन्हें पूजता है, और वे सब उससे आहुति या भेंटों के द्वारा भोग पाते हैं और उसके मन मे बैठे उसके मन को इस निश्चय से डराते हैं जिस पर मुक्ति नियत है, किस प्रकार सभव है कि ज्ञानी जन उन्हें समझा सकें जो तो देवताओं के कठोर चुंगल में आए हुए हैं और उनके पशु हो रहे हैं।

(६५) पर जब कोई बलवान् पुरुष वेदों पर श्रद्धा करके ऋषि-मुनि के वाक्यों और निश्चयों को जानता हुआ निश्चय करता है कि "मैं ब्रह्म हूँ," तो फिर बात उलटी हो जाती है, अर्थात् वही देवता जो उपास्य थे सेवक हो जाते हैं, और यह उनका स्वामी। क्योंकि इस निश्चय से यह सबका स्वामी हो जाता है, और देवता का भी आत्मा हो जाता है, इससे फिर कोई उसके इस ज्ञान में

करती है कि जो व्यक्ति इस प्रकार विश्वास करता है कि "मै और हूँ, और वह और है ; और मै दास हूँ, वह ईश्वर है" वह कुछ नहीं जानता और देवताओं का पशु है। क्योंकि जिस प्रकार एक गाय बहुत आदमियों को दूध देती है और वे सब उसकी रक्षा करते और बाँधे रखते हैं, जिससे कि किसी दूसरे के पास न चली जाय, इसी तरह ऐसे विश्वासी को देवता डराते और चौकसी रखते हैं कि कहीं ज्ञान न पा जाय, इसलिये उसके हृदय में भय डालते रहते हैं कि वह कहीं ऐसा निश्चय न करे।

(६२) क्योंकि जब वह निश्चय करेगा, तो हमारा स्वामी हो जायगा। अब तो हमको मानता, हमारी भेंटें चढ़ाता वा हमें बलि देता यज्ञ करता है, फिर ऐसा नहीं करेगा। इसलिये उसके हृदय में भय डालते हैं कि यह निश्चय अच्छा नहीं, ईश्वरीय दावा है, नहीं करना चाहिए, सेवक और भक्त बने रहना चाहिए। ईश्वर भक्ति और दासता से ही प्रसन्न होता है। देखो, ससार में जैसे राजा भी चाटुकारिता (,खुशामद) और सेवा से प्रसन्न होता है, ऐसे ही ईश्वर भी चाटुकारिता पर प्रसन्न है। यह निश्चय तो उसी तरह का है जैसे कोई कहे "मै राजा हूँ" तो क्या राजा प्रसन्न होगा ? क्या उसे शत्रु न समझेगा ?

(६३) फिर आप ही श्रुति कहती है कि जब एक की बहुत-सी गाएँ होती हैं, यदि एक भी गाय उनमें से निकल

देवताओं के आश्रय हैं, देवता मनुष्य के आश्रय है, और मनुष्य का वही आत्मा ब्रह्म है जो सबका स्वामी है। इसलिये मनुष्य को अपनी देह के संबंध के कारण, जिस प्रकार राजा प्रजा का पालन करता है, उसी तरह देवताओं के पालन के लिये यज्ञादिक निष्काम करने चाहिएँ, और "मैं ब्रह्म हूँ, उनका स्वामी सर्व-रूप हूँ" ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

(७५) यह तो उन्हें खबर नहीं, विरुद्ध इसके स्वामी होकर दास बनते हैं और नजरें-भेंटें तथा बलियाँ धन-दौलत के लिये देते हैं, जिससे कुछ भी लाभ नहीं। क्योंकि जो कुछ प्रारब्ध है उसे तो ब्रह्मा भी नहीं पलट सकता, सखी सरवर क्या कर सकता है? अथवा पीर पीरों से क्या हो सकता है?

(७६) मेरे विचार से उस ब्राह्मण की तरह होना चाहिए जिसका उल्लेख उदाहरण की तरह मैं आगे करता हूँ। देखिए, दो ब्राह्मण तप के लिये वन में गये, जहाँ सिंह, व्याघ्र, श्वान आदि हिंसक जंतु विद्यमान थे। जब वे तप करने लगे, तो वे (जंतु) आकर उन्हें कष्ट देते थे।

(७७) एक ब्राह्मण ने चिंता की और प्रत्येक का आहार एकत्रित किया। जो जंतु आवे उसका आहार थोड़ा सा उसे दे देवे, और फिर जब वह चला जाय तो दूसरे दिन अवश्य आवे, बरन् अपनी बिरादरी के दूसरे पशुओं को भी साथ ले

थे। और साँझे के टट्टू की तरह ऐसा उपासक निःसंदेह मरण पाता है।

(७२) जब कि वैदिक कर्मों की यह दशा है, तो जिन्होंने इन भूत-प्रेतों को उपास्य मान रक्खा है, उनका क्या हाल होगा। हम देखते हैं कि कुछ तो पीर पीराँ की ग्यारहवीं देते हैं, फिर सखी सरवर का रोट भी देते हैं, गुरु साहब का कड़ा प्रसाद भी कराते हैं, देवी की भेंटें भी देते हैं। जितने भी यक्ष, सिद्ध और मरी-मसान हैं, सबके दिन नियत हैं, और उनको उनके नियत दिनों पर भेंटें-नज़रें देते हैं।

(७३) जब कोई आवश्यकता पड़ती है तो प्रत्येक को ध्यान करते सबसे माँगते हैं, ऐ पीर पीराँ! ऐ सखी सरवर! लालाँवाले! ऐ देवी-देवता! मेरे लड़के को अच्छा कर दो। और वे उन पर चंदावाले टट्टू के मालिकों की तरह ध्यान नहीं करते, अंत में वे (उपासक) मर जाते हैं। बल्कि लड़का तो मर ही जाता है, और उसकी कुशल में जो नज़रें बाँधते हैं, यदि वे न दें, तो फिर उन्हें फौरन् आ पकड़ते हैं।

(७४) मैं शोक करता हूँ ऐसे हिंदुओं पर, जो भराइयों और चेलियों के निश्चय पर तो साँझे के टट्टू हो जाते हैं, पर वेद की श्रुतियों के अनुसार "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चय नहीं करते। यह अविद्या नहीं तो क्या है? मूर्खता नहीं तो क्या है? वेदों का यह तात्पर्य है कि सांसारिक लोक

देवताओं के आश्रय हैं, देवता मनुष्य के आश्रय है, और मनुष्य का वही आत्मा ब्रह्म है जो सबका स्वामी है। इसलिये मनुष्य को अपनी देह के सम्बन्ध के कारण, जिस प्रकार राजा प्रजा का पालन करता है, उसी तरह देवताओं के पालन के लिये यज्ञादिक निष्काम करने चाहिये, और "मैं ब्रह्म हूँ, उनका स्वामी सर्व-रूप हूँ" ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

(७५) यह तो उन्हें खबर नहीं, विरुद्ध इसके स्वामी होकर दास बनते हैं और नजरें-भेंटें तथा बलियाँ धन-दौलत के लिये देते हैं, जिससे कुछ भी लाभ नहीं। क्योंकि जो कुछ प्रारब्ध है उसे तो ब्रह्मा भी नहीं पलट सकता, सखी सरवर क्या कर सकता है? अथवा पीर पीरों से क्या हो सकता है?

(७६) मेरे विचार से उस ब्राह्मण की तरह होना चाहिए जिसका उल्लेख उदाहरण की तरह मैं आगे करता हूँ। देखिए, दो ब्राह्मण तप के लिये वन में गये, जहाँ सिंह, व्याघ्र, श्वान आदि हिंसक जन्तु विद्यमान थे। जब वे तप करने लगे, तो वे (जन्तु) आकर उन्हें कष्ट देते थे।

(७७) एक ब्राह्मण ने चिंता की और प्रत्येक का आहार एकत्रित किया। जो जन्तु आवे उसका आहार थोड़ा सा उसे दे देवे, और फिर जब वह चला जाय तो दूसरे दिन अवश्य आवे, वरन् अपनी बिरादरी के दूसरे पशुओं को भी साथ ले

आवे, क्योंकि पशु का यही काम है, जहाँ भोजन मिले वहाँ नित्य समय पर आ जाता है। इस प्रकार उस ब्राह्मण को तो उनके बचाव से अवकाश न मिला।

(७८) पर दूसरे ने चिंता की कि यदि इनको खूराक दी जायगी तो अधिक बखेड़ा होगा, इसलिये अपने चारों ओर अग्नि प्रदीप्त कर दी और तप करने लगा। यह सबको ज्ञात ही है कि प्रत्येक वन्य पशु प्रकाश से भयभीत होता है। कोई भी उसके निकट न आया, और निर्विघ्न अपना काम वह करता रहा।

(७९) ऐ भाइयो! देवी-देवता भी उस भेदवादी को, जो उनको नजरें देता है, डराते और उसको आत्मा की पहचान का अवकाश भी नहीं देते हैं, परंतु वह जो बुद्धिमान् है, एक ही ज्ञानाग्नि प्रकाशित करता है, फिर तो ये सब भाग जाते हैं, किसी को भी सामर्थ्य नहीं होती कि उसे कुछ कष्ट देवे, क्योंकि वह तो सबका आत्मा होता है, कौन है जो अपने आत्मा को कष्ट दे?

(८०) ईश्वर भी एक महानात्मा है, जो सब देवताओं का स्वामी है, परन्तु वह (ज्ञानी) तो उसका भी आत्मा होता है, क्योंकर विचार उत्पन्न हो सकता है कि "अहं ब्रह्मास्मि" के निश्चय में वह (ईश्वर) अप्रसन्न और कष्ट देगा? कदापि नहीं। वरन यही तो उसका प्रसाद है! अभेदता में सबको आनंद है। वे जो इसे (अहं

के निश्चय से डराते हैं राक्षस हैं, वरन् विरोचन के शिष्य हैं। उनकी कदापि नहीं सुननी चाहिए। चाहे यह भेद (रहस्य) ज्ञात हो या न हो, प्रत्येक आर्य को इस निश्चय (मैं ब्रह्म हूँ) का अवलम्बन करना चाहिए। क्योंकि सुवर्ण को सुवर्ण कहना ही ठीक है, सुवर्ण को पीतल कहना ठीक नहीं। और चूँकि ज्ञानियों की रत्न-पारखी दृष्टि और वेद की श्रुतियों से भी यही सच है, तो उसके विरुद्ध विश्वास करना भेद-वाद और कुफ्र है।

(८१) कुछ भाषाविद् कहते हैं कि यद्यपि यह सत्य है, तो भी इस निश्चय में अहंकार पाया जाता है, इसलिये भी यह निश्चय अच्छा नहीं। तो हम जतला देते हैं कि अहंकार और बड़प्पन का रूप अनजान को एक ही ज्ञात होता है यद्यपि अहंकार बुराई है और बड़प्पन बड़ाई या उत्तमता है। और यह सदाचार के पंडित जानते हैं कि बड़प्पन प्रशंसनीय है और अहंकार निंदनीय।

(८२) "मैं ब्रह्म हूँ" इस निश्चय में आत्मा का बड़प्पन है, अहंकार नहीं। अहंकार तब होता है जब कोई काम आँखों के सामने तो आने पर दूसरे से हुआ हो, और झूठा निश्चय करे कि "मैंने किया है, उसकी क्या शक्ति थी?", और यह बुरा है। इसी भेद के लिये हम एक वैदिक आख्यान का अनुवाद करते हैं जिससे इसका भेद आप लोगों को ज्ञात हो जायगा।

आवे, क्योंकि पशु का यही काम है, जहाँ भोजन मिले वहाँ नित्य समय पर आ जाता है। इस प्रकार उस ब्राह्मण को तो उनके बचाव से अवकाश न मिला।

(७८) पर दूसरे ने चिंता की कि यदि इनकी ख़ूराक दी जायगी तो अधिक बखेड़ा होगा, इसलिये अपने चारों ओर अग्नि प्रदीप्त कर दी और तप करने लगा। यह सबको ज्ञात ही है कि प्रत्येक वन्य पशु प्रकाश से भयभीत होता है। कोई भी उसके निकट न आया, और निर्विघ्न अपना काम वह करता रहा।

(७९) ऐ भाइयो! देवी-देवता भी उस भेदवादी को, जो उनको नजरें देता है, डराते और उसको आत्मा की पहचान का अवकाश भी नहीं देते हैं, परंतु वह जो बुद्धिमान् है, एक ही ज्ञानाग्नि प्रकाशित करता है, फिर तो ये सब भाग जाते हैं, किसी को भी सामर्थ्य नहीं होती कि उसे कुछ कष्ट देवे, क्योंकि वह तो सबका आत्मा होता है, कौन है जो अपने आत्मा को कष्ट दे?

(८०) ईश्वर भी एक महानात्मा है, जो सब देवताओं का स्वामी है, परंतु यह (ज्ञानी) तो उसका भी आत्मा होता है, क्योंकर विचार उत्पन्न हो सकता है कि "अहं ब्रह्मास्मि" के निश्चय में वह (ईश्वर) अप्रसन्न और कष्ट देगा? कदापि नहीं। वरन् यही तो उसका प्रसाद है। अभेदता में सबको आनंद है। वे जो इस (अहं ब्रह्मास्मि)

(८६) उसने एक तिनका उसके आगे रख दिया कि
को जलाओ। उसने जहाँ तक सामर्थ्य था जलाने के लिये
क लगाई, किंतु न जला सका। इसलिये डरा और अपने
पको शक्तिहीन जानता हुआ लौट आया और देवताओं
कहा—मैं नहीं जानता कि यह कौन यक्ष है, मैं तो
के सम्मुख दुर्बल वरन् अशक्त ठहरता हूँ।

(८७) फिर उन्होंने वायु-देवता को कहा, ऐ मातरिश्वा!
इसको जानो कि यह कौन यक्ष है? उसने कहा—
च्छा। तब वह उसके पास गया। अभी वायु-देवता ने कुछ
ीं कहा था कि यक्ष बोला—तू कौन है जो निधड़क
ाँ आया है? उसने कहा कि मैं वायु का देवता हूँ और
तरिश्वा मेरा नाम है, क्या तू मुझे नहीं जानता?

(८८) उसने कहा—तुममें क्या गौरव है और क्या
क्ति है? बतलाओ। उसने उत्तर दिया कि मैं जो कुछ धरती
है चाहूँ तो एक क्षण में उड़ा दूँ। उसने एक तिनका
कालकर उड़ा दो। उसने जहाँ तक

(८३) * हम सामवेद की तलवकारशाखा केनोपनिषद् में सुनते हैं कि ब्रह्म ने, जो आत्मा है, देवताओं को असुरों पर विजय दी। जब इस प्रकार ब्रह्म ने देवताओं को उन पर विजय दी, तो वे गौरवान्वित हो गए और उन्होंने अहंकार किया कि यह हमारी विजय है, हम ही थे जो ऐसी विजय लाभ की, हमारा ही यह काम था और हमारी ही यह बड़ाई है, क्यों न हम अपनी बड़ाई करें ? हम तो बड़ाई के योग्य हैं। कौन है जो हमारी शक्तियों का सामना या अनुमान कर सके ?

(८४) जब ब्रह्म ने उनका अहंकार देखा, तो उसे तोड़ने के लिये संकल्प से यक्ष के रूप में वह शरीरधारी होकर आया। उन्होंने न पहचाना कि यह कौन यक्ष है। उन्होंने मिलकर अग्नि-देवता को कहा--ऐ जातवेद ! इसको जानो कि यह कौन यक्ष है ? उसने कहा--अच्छा।

(८५) तब वह उसके पास गया। अभी अग्नि-देवता ने कुछ नहीं कहा था कि यक्ष बोला--तू कौन है जो निधड़क यहाँ आया है ? उसने कहा--मैं अग्नि-देवता हूँ, और जातवेद मेरा नाम है, क्या तू मुझे नहीं जानता ? उसने कहा--तुम में गौरव क्या है ? और क्या शक्ति है ? बतलाओ। उसने उत्तर दिया--मैं जो कुछ धरती में है, चाहूँ तो दम में भस्म कर दूँ।

---

* देखो केनोपनिषद् अध्याय दूसरा, खंड पहला और दूसरा।

(८६) उसने एक तिनका उसके आगे रख दिया कि इसको जलाओ। उसने जहाँ तक सामर्थ्य था जलाने के लिये शक्ति लगाई, किंतु न जला सका। इसलिये डरा और अपने आपको शक्तिहीन जानता हुआ लौट आया और देवताओं को कहा—मैं नहीं जानता कि यह कौन यक्ष है, मैं तो इसके सम्मुख दुर्बल वरन् अशक्त ठहरता हूँ।

(८७) फिर उन्होंने वायु-देवता को कहा, ऐ मातरिश्वा! तुम इसको जानो कि यह कौन यक्ष है? उसने कहा—अच्छा। तब वह उसके पास गया। अभी वायु-देवता ने कुछ नहीं कहा था कि यक्ष बोला—तू कौन है जो निधड़क यहाँ आया है? उसने कहा कि मैं वायु का देवता हूँ और मातरिश्वा मेरा नाम है, क्या तू मुझे नहीं जानता?

(८८) उसने कहा—तुममें क्या गौरव है और क्या शक्ति है? बतलाओ। उसने उत्तर दिया कि मैं जो कुछ धरती में है चाहूँ तो एक क्षण में उड़ा दूँ। उसने एक तिनका निकालकर रख दिया कि इसे उड़ा दो। उसने जहाँ तक शक्ति थी उसे उड़ाना चाहा, किंतु न उड़ा सका। इसलिये डरा और अपने आपको अशक्त जानता हुआ लौट आया, और उसने कहा—मैं नहीं जान सकता कि यह कौन है। मैं तो इसके आगे कमजोर वरन् अशक्त ठहरता हूँ।

(८६) फिर उन्होंने इंद्र को कहा—ऐ भगवन्! तुम तो इसे जानो कि यह कौन यक्ष है। उसने कहा—अच्छा। तब

वह उसके पास गया। अभी वह निकट नहीं पहुँचा था कि वह यक्ष अंतर्द्धान हो गया, क्योंकि वह उसे अपना मुँह दिखाना नहीं चाहता था और उसका अधिक तिरस्कार करना चाहता था, इसलिये उस यक्ष की जगह एक स्त्री-रूप में सशरीरी हो गया। तब इंद्र ने देखा कि अभी तो यहाँ यक्ष दिखाई देता था, अब उसकी जगह बड़ी बलवती स्त्री उमा (पार्वती) दिखाई देती है, जो हम सबकी माँ है। यह क्या आश्चर्य है?

(६०) तब इंद्र जरा आगे बढ़ा और उससे पूछा, "ऐ माता! यहाँ यक्ष कौन था?" उसने कहा—बेटा! वह ब्रह्म था जिसके बदौलत तुमने असुरों पर विजय पाई, और जिस विजय के कारण तुम गौरव और अहंकार करते हो। तुम तो क्या बैल भी अपने चरने पर डकारता है, जंगली गधा भी जंगल में रींघता है। तुम भी देवलोक में बकबक करते हो कि हमने विजय की, हमारा ही यह काम था। क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारे बल, तुम्हारी शक्तियाँ अपनी नहीं, वरन् सब इसी की दी हुई हैं? क्या बुद्धिमान् यदि कोई वस्तु माँग लाता है, तो उसका स्वामी हो जाता है? और उसके कारण जो काम करता है, तो क्या अपना किया समझता है? फिर क्यों तुममें ऐसा अहकार हो गया?

(६१) उस दिन से देवताओं ने अच्छी तरह से जान लिया कि हम कुछ भी सत्ता नहीं रखते, जब कि हमारा

पृष्ठपोषक, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सबका आत्मा, सबसे बड़ा है, जिसे चाहे विजय दे, जिसे चाहे पराजय दे। कोई भी विजय नहीं पाता, परन्तु वही, कोई भी पराजय नहीं पाता, मगर वही। उसी के चरित्र और उसी का सब विलास है।

(६२) इसी कारण ये तीनों देवता सब देवताओं से श्रेष्ठ देवता निश्चित हुए हैं, क्योंकि सबसे पहले इन्होंने ब्रह्म को देखा और यही उससे मिले। और इन्हीं का घमंड पहले टूटा, और ये तीनों अग्नि-देवता या वायु-देवता या इन्द्र हैं। इनमें से यद्यपि तीनों ने उसे देखा, परन्तु ये दोनों तो यक्ष ही जानते लौट आए, किंतु इन्द्र ने देखा भी और उमा पार्वती के कारण यह भी जाना कि यह ब्रह्म है। इसलिये वह उन दोनों से भी बड़े पदवाला निश्चित हुआ। यह उसी के देखने और पहचानने की श्रेष्ठता (बड़ाई) है। आत्म-रूप करके जानना, जो उसका साक्षात्कार है, उसकी तो क्या ही महिमा है।

(६३) फिर उन्होंने उमादेवी से पूछा कि माँ! किस तरह उसे हम सदैव भी देखें और पावें? उसने कहा—बेटा! उसका पाना बहुत कठिन है। यह तो जिस तरह बिजली चमकती है, उसी तरह चमकता और गुप्त हो जाता है। यह जो बादल और बिजलियाँ चमकती हैं, उन सबमें है, और यह ही उनमें आया चमकता है। यह तो तुम्हारे अभिमान तोड़ने के लिये आँख की झपक की तरह देहवान्

होकर आया था, और पलक मारने में अंतर्द्धान हो गया था। यही इसका अधिदेव पद है। किंतु इस तरह इसका देखना वास्तव में इसका साक्षात्कार नहीं। साक्षात्कार का कारण दूसरा है, और वह यह है कि जिस तरह बाहर सबमें व्यापक है, उसी तरह यह तुम्हारे भीतर भी व्यापक है।

(६४) जब तुम अंतर्मुख होकर अपना आत्म-रूप मानकर पहचानोगे, तो अभेदता पाओगे, अन्यथा बड़ी भक्तियों और बड़े पुण्यों से अपने भक्तों और विश्वासियों के लिये यह कभी-कभी बिजली की चमक की तरह या आँख की झपक की तरह सशरीरी हो आता है, और अंतर्द्धान हो जाता है। परंतु साक्षात्कार चाहो, तो अपने भीतर की मनोवृत्तियों को देखो। ये जो मन में संकल्प उठते हैं, उनमें साक्षी आत्मा की ज्योति प्रतिबिंबित होती है। यही उसका अध्यात्मस्वरूप है। उसे जो पहचानता है और अपना आत्मा जानता है, उससे मिलाप पाता है।

(६५) अधिदेव-रूप में जो मिलता है उससे एक नहीं होता है, वरन् भय रहता है, अध्यात्म में उससे एक होता स्वतंत्र वा बेपरवाह हो जाता है, और इसकी अधिदेव विभूतियाँ सब उसी की हो जाती हैं, क्योंकि सबके भीतर सबका आत्मा वही है। इसी कारण उसको तद्वन नाम से उसकी उपासना करनी चाहिए। संस्कृत में तद्वन नाम उसका है जो ईश्वर को अपना आत्मा करके भजन करता है कि

"मैं ब्रह्म हूँ"। और यह अहंकार नहीं वरन् उसका बड़प्पन है। यह जो तुमने विजय पाने में अभिमान किया अहंकार है। और यह उसका महत्त्व है। और यही तद्वन है। जो उसकी तद्वन उपासना को जानता है, उसको सब भूत (प्राणी या पदार्थ) चाहते हैं, और उसी के हो जाते हैं। इस तरह उमादेवी ने देवताओं को अहंकार और बड़प्पन में भेद कर दिखाया और कहा कि इन्ही बड़प्पन का अवलंबन करो। और इस अवलंबन में शम, दम, तप शुभकर्म और वेदों का पढ़ना दत्तचित्त से आरंभ करो तो तुम्हारे भीतर में ही चिंतन और ध्यान से आत्म-रूप होकर दिखाई दे जायगा, और उससे तुम अभेदता पा जाओगे। मैं इसी तरह उससे अभेदता पाई हूँ, और तुम सब इसी कारण मेरी विभूतियाँ हो। और जो ऐसा जानता है, अपने पाप दूर करके स्वर्गलोक में अनंत समय तक रहता है। इस तरह पार्वती भी शिक्षा देकर अंतर्धान हो गई।

(६६) ऐ प्यारो! फिर तो उनका घमंड टूट गया और उन्हें चटक लग गई कि किस प्रकार हम उससे अभेदता पावें और उसकी महिमा में प्रविष्ट होवें? उन्होंने पार्वती के कथन के अनुसार शम दम तप जप आरंभ कर दिया। और तप-जप करके साधन संपन्न हुए, तो सत्संग की मार्ग करके अपने भीतर उसे ढूँढ़ने लगे। और यह नियम है कि जो ढूँढ़ता है, वह पाता है। फिर उन्हें

(१०५) जो नाक से नहीं सूँघा जाता, वरन् नाक जिससे सूँघती है, उसे तुम ब्रह्म जानो। यह ब्रह्म नहीं जिसकी तुम सेवकाई वा उपासना करते हो।

(१०६) फिर उन्होंने परीक्षा के रूप में एक दूसरे को कहा कि भला इस ज्ञान में कुछ कच्चापन तो नहीं है। पहले ने कहा—"यदि तू जानता है कि मैं अच्छी तरह जानता हूँ" तो अभी तू नहीं जानता, वरन् थोड़ा जानता है, क्योंकि लिख चुके हैं कि वह ज्ञात व अज्ञात नहीं। जो कुछ तू जानता है कि मेरे भीतर है वह भी थोड़ा है, और जो कुछ तू जानता है कि देवताओं के भीतर है, वह भी थोड़ा है। अभी तुझे अधिक विचार करना चाहिए।

(१०७) दूसरे ने उत्तर दिया—"न तो मैं कह सकता हूँ कि मैं जानता हूँ और न यह कह सकता हूँ कि मैं नहीं जानता, परंतु वह जो हमारे इस कथन को समझता है कि मैं नहीं जानता और जानता हूँ, वही जानता है।"

(१०८) जिसने कहा कि "मैंने जाना", उसने नहीं जाना। जिसने कहा—"नहीं जाना", उसने जाना। क्योंकि वे जानते हैं जो कहते हैं कि नहीं जाना जा सकता। और वे नहीं जानते जो कहते हैं कि वह जाना * जा सकता है।

* जानने से अभिप्राय यहाँ उस ज्ञान से है जो मन और ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त हो।

सच तो यों है कि प्रत्येक जानकारी का जो साक्षी है उसे जो जानता है, वही अमृत हो जाता है। जब कुछ आत्मा का भी ज़ोर हो, तो ज्ञान से अमृत हो जाता है। जब तक आत्मबल नहीं, तो विद्या भी कुछ फल नहीं देती, क्योंकि दृढ़ विश्वास भी सुनने और जानने में आवश्यक है।

(१०६) यहाँ जीवन में यदि इस प्रकार जान लिया, तो सत है, नहीं जाना, तो बड़ी हानि है। जो बुद्धिमान प्रत्येक वस्तु में विचार करके उसे पाता है, यहाँ से जाता अमृत होता है। यही उन्होंने जाँच की और "हम ही सबमें सब कुछ हैं" ऐसा निश्चय किया। इस तरह "मैं ब्रह्म हूँ और सबमें सब कुछ हूँ," यह आत्मज्ञान है, अधकार या भूल नहीं, बड़प्पन है, अहंकार नहीं। अहंकार तो वही था जो उन्होंने (अर्थात् देवताओं ने) अपने विजयलाभ करने पर किया था, जिसके लिये आत्मा सशरीर होकर यक्ष के रूप में उन्हें दिखाई दिया। इस ज्ञान में तो वही उनका आत्मा हुआ और मुक्ति का कारण हुआ। इसलिये, ऐ भाइयो! हमने भी अहंकार और बड़प्पन में अंतर दिखला दिया है, ताकि माया जाननेवाले इस निश्चय को अस्वीकार न कर सकें।

(११०) अब हम निवेदन करते हैं कि जो बात श्रुति, युक्ति, अनुभव से सिद्ध हो, ठीक होती है, और "मैं ब्रह्म हूँ" यह निश्चय श्रुतियों, युक्तियों और बुद्धिमानों के अनुभव से सिद्ध कर दिखा दिया है कि इसी पर प्रसाद निर्भर है। अब

इस पर इनकार वास्तव में शुद्धात्मा का इनकार है। और वह जो ईश्वर का अपराध करता है, क्षमा होगा, परंतु वह जो शुद्धात्मा का अपराध करता है, कभी क्षमा नहीं किया जायगा। इसी को आत्म-हत्यारा अर्थात् आत्मा का तिरस्कार करनेवाला कहते हैं।

(१११) वेद का मंत्र आज्ञा देता है कि वह जो अपने आत्मा का तिरस्कार करता है कि "मै पापी हूँ, अपराधी हूँ, सेवक या दास हूँ" उन अंधतम लोकों को मरकर प्राप्त होता है जहाँ से फिर मुक्ति की आशा नहीं। स्मृतियों में भी आया है कि सब पापों का प्रायश्चित्त तो शास्त्र ने लिखा है, किंतु आत्मा के तिरस्कार का प्रायश्चित्त कहीं नहीं लिखा। इसलिये कदापि अपने आत्मा का तिरस्कार न करो। ज्ञान होने पर तो अपने आप यह निश्चय जारी हो सकता है। जब ज्ञान भी न हो, तो कर्म और उपासना की रीति से यही निश्चय करो, और यह विश्वास पक्का करो कि "मैं ब्रह्म हूँ, मै सबमें सब कुछ हूँ, और मै सबमें और सब मुझमें हैं"। इसी उपासना के कारण मृत्यु में देवयान-सड़क मिलेगी, और ब्रह्मलोक में स्वयं ब्रह्माजी उसे उपदेश करेंगे। उस समय वह इस उपासना का ज्ञान भी पावेगा।

(११२) उसको जो इसकी उपासना करता है, यदि कोई बात बाधक न हो और यहाँ ही विचार करने और महात्माओं के सत्संग से ज्ञान हो जाय, तो प्रत्यक्ष मुक्ति है।

और जिसको किसी प्रकार के कारण ज्ञान न हो, तो मृत्यु में उसके निकट यमदूत नहीं आ सकते, वरन् भाग जाते हैं। क्योंकि वास्तव में सिद्ध हुआ है कि यही सबका मालिक है। किंतु अपने आपको जानता नहीं, इसलिये संसारी होता है। पर जब नहीं जानता हुआ उसकी उपासना करता है, तो यद्यपि बर्राट मारता है, तो भी यम तो भाग जाता है।

(११३) उदाहरणत कल्पना करो कि किसी के घर में चोर लगे और घरवाला सोता हुआ बर्राट मारता हो कि "चोर चोर," तो चोर यह नहीं निश्चय करता कि यह जागता है या यों ही बर्राट मारता है, वरन् यह बात सुनते ही भाग जाता है। इसी तरह "मैं ब्रह्म हूँ," वह जो अनजान होकर भी यही निश्चय करता है, यम तो यह विवेचना नहीं करता कि समझ से कहता है या नासमझी से कहता है, वरन् यह निश्चय सुनते ही भाग जाता है। इसलिये यही नियत हुआ है कि इसी निश्चय पर मुक्ति निर्भर है और यही निश्चय प्रसाद में प्रविष्ट करता है।

(११४) ऐ भाइयो! सब कोई मैदान में घोड़ा दौड़ाता है, बाजी किसी एक के नाम होती है। सब कोई अखाड़े में कुश्ती लड़ता है किंतु पटका कोई एक ही पाता है। परंतु प्रत्येक घोड़दौड़ में अश्वारोही (शहसवार) ख़याल होता है, और प्रत्येक अखाड़े में पहलवान निश्चय होता है, और

प्रत्येक अपने-अपने पद के अनुसार पारितोषिक पाता है।

(११५) आप भी इस निश्चय के क्षेत्र में घोड़ा दौड़ाएँ और इस अखाड़े में लड़ें। यदि बाजी मार ली, तो यहाँ ही पटका आपका है, यदि बाजी नहीं मिली, तो देवयान-सड़क तो यों ही पारितोषिक में विद्यमान है। और स्वयं ब्रह्मा इसकी शिक्षा देगा और प्रत्यक्ष आत्मा दिखला देगा। यही वेदों का वादा है, किंतु धन्यवाद है कि हम तो बाजी ले गए, और आजकल पटका हमारे नाम है। अब ज्ञानकाड में भाषाविदों के लिये इतना हम यथेष्ट समझते हैं। वह जो इसे पढ़ता, सुनता, विचार करता और विश्वास करता है, प्रत्यक्ष मोक्ष पाता है। तथास्तु, इति शम्।

ॐ ! ॐ !! ॐ !!!



तीसरी शिक्षा

अर्थात

बंध और मोक्ष

अध्याय पहला

(१) वामदेव की कहानी में तुम सुन चुके हो कि मनुष्य में दो ब्रह्म प्रविष्ट हुए हैं, किंतु भाषा जाननेवाला एक ही ब्रह्म या प्राणात्मा अपने में पाता है। इसमें कर्त्ता-भोक्ता जीव और साक्षी आत्मा का अंतर नहीं करता, इसलिये मुक्त नहीं होता, वरन् उपासना के बंधन में रहता है। इस हेतु इस प्रकरण में उन दोनों का भली भाँति विवेचन किया जाता है ताकि वह कर्त्ता-भोक्ता के पद से अकर्त्ता-अभोक्ता या साक्षी के पद में प्रवेश पावे और संसार के बंधन से मुक्त हो जावे।

प्रत्येक अपने-अपने पद के अनुसार पारितोषिक पाता है।

(११५) आप भी इस निश्चय के क्षेत्र में घोड़ा दौड़ाएँ और इस अखाड़े में लड़ें। यदि बाजी मार ली, तो यहाँ ही पटका आपका है, यदि बाज़ी नहीं मिली, तो देवयान-सड़क तो यों ही पारितोषिक में विद्यमान है। और स्वयं ब्रह्मा इसकी शिक्षा देगा और प्रत्यक्ष आत्मा दिखला देगा। यही वेदों का वादा है, किंतु धन्यवाद है कि हम तो बाजी ले गए, और आजकल पटका हमारे नाम है। अब ज्ञानकाण्ड में भाषाविदों के लिये इतना हम यथेष्ट समझते हैं। वह जो इसे पढ़ता, सुनता, विचार करता और विश्वास करता है, प्रत्यक्ष मोक्ष पाता है। तथास्तु, इति शम्।

ॐ ! ॐ !! ॐ !!!

आत्मा अपनी छाया में मिली हुई बद्ध या सगुण कहलाती है, और यही पवित्रात्मा अपनी छाया या प्रकाश से पृथक हुई मुक्त या निर्गुण ब्रह्म कहलाती है। इस तरह यही सगुण, यही निर्गुण है, वास्तव में दो नहीं, वरन् एक ही है, तो भी कर्त्ता और भोक्ता देखने मात्र इसकी छाया में हैं, और इसी के स्वरूप में यों ही कल्पित होता है। वास्तव में न तो यह कुछ कर्त्ता न कुछ भोक्ता है, ज्यों का त्यों द्रष्टा है, और यों ही अनहुआ अभिनय (तमाशा) छाया की भाँति इसे दिखाई देता है। जब यह अपने आपको पवित्र और साक्षी जानता है, तो फिर अभिनय भी नहीं होता। इसलिये यह सब मिथ्या कहलाता है।

(५) देखो, मनुष्य और मनुष्य की छाया दो नहीं होते, वरन् एक ही मनुष्य होता है। क्योंकि जब कोई मनुष्य को पाता है, तो यही निश्चय करता है कि हमने अकेला मनुष्य पाया। यद्यपि उसने छाया को भी उसके साथ पाया है, पर छाया कुछ सत्ता नहीं रखती, इसलिये उसके साथ उसे नहीं गिनता। इसी तरह यह कर्त्ता-भोक्ता आत्मा भी उसकी छाया या प्रकाश है, सिवाय उसके कुछ सत्ता नहीं रखती, तो भी विवेचना के समय कहा जा सकता है कि मनुष्य की छाया मनुष्य से भिन्न है। इसी तरह ज्ञानी भी उसको पृथक् विवेचना करते हैं और इसी विवेक पर प्रसाद अवलम्बित है।

(२) अब यों समझो कि मनुष्य के भीतर जो आत्मा है, वह दो आत्माओं से मिलकर एक हुई है। एक आत्मा तो करने की आत्मा है, दूसरी आत्मा देखने की आत्मा है। वह जो करती है देखती नहीं, वह जो देखती है करती नहीं। किंतु करने की आत्मा देखने की आत्मा से प्रभासित हुई है और देखने की आत्मा करने की आत्मा में भासित हुई है। इस प्रकार परस्पर आभास के कारण एक होकर दिखाई देती हैं। उसका करना और इसका देखना एक दूसरे में कल्पित संबंध पाता है, और यह कर्त्ता-भोक्ता संसारी (जीव) हो रहा है, इसी को बद्ध बोलते हैं। और बद्ध को संस्कृत-भाषा में 'सगुण ब्रह्म' और फारसी में 'मुक़य्यद रूह' कहते हैं।

(३) जब विवेक से उन आत्माओं को अलग करके छाँट लिया जाता है, और देखने की आत्मा को करने की आत्मा से पृथक् जान लिया जाता है, जो अपनी (वास्तविक) आत्मा है, तो फिर अकर्त्ता, अभोक्ता, असंसारी होता है। यही देखनेवाली आत्मा, जो अकर्त्ता अभोक्ता असग समस्त गुणों से निर्लिप्त है, मुक्त कहलाती है, और इसी को संस्कृत भाषा में 'निर्गुण ब्रह्म' तथा फारसी में 'मुतलक रूह' कहते हैं।

(४) और चूँकि वह कर्त्ता-भोक्ता आत्मा भी वास्तव में इस साक्षी आत्मा के बिना कुछ सत्ता नहीं रखती, वरन् इसी की छाया इसी का प्रकाश है, इसलिये यही पवित्र

दिखाई देती है। इसलिये नीलिमा श्वेतता के समान जल का गुण नहीं, वरन् उसमें उसी प्रकार प्रकट है जिस प्रकार दर्पण में मुख प्रकट होता है।

(९) मनुष्य बहुधा रज्जु में सर्प और सीप में रजत देखता है, और यह सबको ज्ञात है कि सर्प वास्तव में रज्जु का गुण नहीं, या रजत सीप का गुण नहीं, तो भी सर्प, जो रज्जु से भिन्न है, रज्जु में, और रजत, जो सीप से भिन्न है, सीप में दिखाई देता है। इसलिये या निश्चय करेंगे कि सर्प का रज्जु में और रजत का सीप में आभास है, और सर्प और रजत तो प्रकट हुए हैं, और रज्जु और सीप उनके प्रकट-स्थान हैं।

(१०) फिर यों समझो कि आभास दो प्रकार का होता है, या तो आभास अपने प्रकाशक में ही दिखाई देता है, उससे बाहर नहीं पाया जाता, या उससे बाहर भी पाया जाता है, और उनमें भी दिखाई देता है। उस पहले को कल्पना या ख्याल और दूसरे को प्रतिबिंब कहा करते हैं। सर्प का रज्जु में और रजत का सीप में आभास काल्पनिक है और दर्पण में मुख का आभास प्रतिबिंबित है।

(११) क्योंकि रज्जु में सर्प या सीप में रजत जो दिखाई देती है, अपने प्रकाशक से बाहर पाई नहीं जाती, इसलिये कल्पित है। और दर्पण में जो मुख दिखाई देता

(६) अब यों समझो कि जिस तरह मनुष्य की छाया मनुष्य में प्रकट होती है और मनुष्य ही उसका प्रकाशक है, इसी प्रकार यह कर्त्ता-भोक्ता आत्मा भी देखने की आत्मा में प्रकट हुई है, और यही देखने की आत्मा उसका प्रकाशक वा द्योतक है। परंतु कर्त्ता-भोक्ता आत्मा दर्पण की भाँति स्वच्छ भी है, इसलिये फिर देखने की आत्मा उसमें उसी तरह प्रकट होती है जिस प्रकार दर्पण में मुख। इसी तरह पारस्परिक प्रदर्शन के कारण वह इसमें और यह उसमें प्रकट होकर एक हो गई हैं, इसलिये उसके धर्म इसमें और इसके धर्म उसमें प्रकट होते हैं।

(७) अन्य का अन्य में दिखाई देना वास्तव में आभास का स्वरूप है। और जो कुछ अन्य में दिखाई देता है उसे प्रकट कहा करते हैं, और जिसमें वह अन्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसे प्रकट स्थान बोला करते हैं। जैसे मुख दर्पण में दिखाई देता है, तो वास्तव में मुख भिन्न है और दर्पण भिन्न। किंतु भिन्न भिन्न में दिखाई देता है, इसलिये यों कहेंगे कि मुख दर्पण में प्रकट है और दर्पण उसका प्रकट-स्थान है।

(८) या कल्पना करो कि पानी में नीलापन दिखाई देता है, तो पानी प्रकट-स्थान है और नीलापन उसमें प्रकट है। क्योंकि जब उसमें से कुछ पानी हाथ में उठाकर देखते हैं, तो सफेद होता है, नीला नहीं होता। अत ज्ञात हुआ कि कुण्ड के जल में जो नीलिमा दिखाई देती है, अनहुई

यही है कि हल्दी के गुणों का उसमें आभास है, गुणी (हरिद्रा) का आभास नहीं।

(१५) मरुस्थल में कभी-कभी रेत का जल दिखाई देता है, और वन की वालुका में या निश्चय होता है कि यह पानी है, किंतु पानी का गुण, जो भिगोना और ठंढा करना इत्यादि है, वह वहाँ नहीं होता, और साथ इसके रेत के गुण भी वहाँ नहीं पाए जाते तो यहाँ वालुका में जल का आभास केवल गुणी का आभास है, गुणों का नहीं।

(१६) मनुष्य यों निश्चय करता है कि मैं अंधा और बावला हूँ, किंतु यह नहीं निश्चय करता कि मैं आँख हूँ या कान हूँ। देखो, अंधापन या बावलापन नेत्रों या कानों का हानिकारी गुण है, उनके गुणों का तो अपने आत्मा में आभास पाता है और गुणी का अपने में आभास नहीं पाता। तो यहाँ भी गुणों का आभास है, गुणी का नहीं।

(१७) फिर, चूँकि मनुष्य यों भी निश्चय करता है कि "मैं देह हूँ" और यों भी कह सकता है कि "देह मेरी है," तो यहाँ इस निश्चय में कि "मैं देह हूँ" गुणी का आभास है। किंतु "मेरी देह है" इस निश्चय से वास्तव में देह उससे भिन्न है जो उसके अधिकार और वाहन में यावज्जीवन आया है। और फिर यह भी निश्चय कर सकता है कि "मैं देह हूँ" या "देह मैं हूँ," तो इस प्रकार

है, दर्पण से बाहर देखनेवाले की गर्दन में भी पाया जाता है, इसलिये कह सकते हैं कि उसी का प्रतिबिंब दर्पण में दिखाई देता है।

(१२) और फिर ये (आभास) बहुत प्रकार के होते हैं। कहीं-कहीं तो केवल गुण का प्रतिबिंब या ख़याल होता है, कहीं-कहीं केवल गुणी (वस्तु) का। कहीं इसका उसमें और उसका इसमें प्रतिबिंब या ख़याल होता है।

(१३) कल्पना करो कि एक स्फटिक का स्वच्छ ग्लास है और लाल मदिरा से परिपूर्ण है, तो यह ग्लास भी लाल निश्चित होगा। यहाँ ग्लास में केवल लालिमा (गुण) का आभास है, गुणी का आभास नहीं। क्योंकि ग्लास लाल है, ऐसा निश्चय होता है, यों नहीं निश्चय होता कि ग्लास मदिरा है। तो ज्ञात हुआ कि मदिरा जो गुणी (वस्तु) है, वह तो ग्लास के भीतर है, और उसका गुण ग्लास में प्रकट हो रहा है, और भिन्न गुणों से ग्लास गुणी हो रहा है।

(१४) देखो, श्वेत वस्त्र को जब हल्दी में रँगकर तैयार करते है, तो यों निश्चय होता है कि कपडा पीला है, यों नहीं कहा जाता कि कपडा हल्दी है। अत सिद्ध हुआ कि वस्त्र से भिन्न हल्दी के पीलापन से वस्त्र पीला हो रहा है, वास्तव में पीला नहीं, क्योंकि जबउसे फिर स्वच्छ करते हैं, तो फिर पीला नहीं होता, और उसका कारण

(२०) इसके अतिरिक्त इस कल्पित सर्प में अपनी लंबाई-मोटाई भी नहीं है। वह भी भिन्न रज्जु की उसमें प्रकट हुई है, क्योंकि जितनी रज्जु लंबी होती है, उतना ही सर्प भी लंबा दिखाई देता है। तो सिद्ध हुआ कि रज्जु की लंबाई वास्तव में प्रतिबिंब की भाँति सर्प की लंबाई दिखाई देती है। इस प्रकार ख़याली या कल्पित सर्प अपने से भिन्न अस्तित्व और भिन्न लंबाई-चौड़ाई से विद्यमान और लंबा चौड़ा पाया जाता है।

(२१) इस प्रकार भाषाविदों को प्रत्येक वस्तु की खोज में अभ्यासी होना चाहिए, और विवेचना के समय युक्तियों से जान लेना चाहिए कि इसमें कौन-कौन से गुण अपने हैं और कौन-कौन से पराये हैं। वे जो किसी कारण से भिन्न न हो सकें, वे गुण तो उसके अपने होते हैं, वे जो उससे किसी प्रकार से पृथक् हो जायँ, वे भिन्न होते हैं। और ये सबके सब भिन्न धर्म क्या ख़याली क्या प्रतिबिंबित जब किसी में भासमान हों, तो हम उन्हें कल्पित के शब्द से निश्चय किया करते हैं।

(२२) अब उपर्युक्त उदाहरण में यों कह सकते हैं कि सर्प तो रज्जु में कल्पित है और रज्जु की लंबाई और अस्तित्व सर्प में कल्पित है। और यहाँ हमारा तात्पर्य यह होता है कि वास्तव में रज्जु सर्प के नाम-रूप से या सर्प रज्जु की लंबाई और अस्तित्व से लगावट नहीं रखता,

पारस्परिक आभास है, क्योंकि आत्मा में देह और देह में आत्मा का आभास पाता है।

(१८) इस प्रकार बुद्धिमान् को चाहिए कि जहाँ-जहाँ जिस-जिस गुण या गुणी से आभास पाया जाय, वहाँ-वहाँ उसी गुण या गुणी से उस आभास का नाम नियत करके उसके अगणित भेद जान लेवे। जैसे हम कह सकते हैं कि सर्प तो रज्जु में प्रकट है, और रज्जु का अस्तित्व तथा लबाई सर्प में प्रकट है, तो यहाँ रज्जु में सर्प के रूप का आभास है, और सर्प में रज्जु के अस्तित्व का आभास है। इस प्रकार अस्तित्वहीन सर्प भिन्न अस्तित्व से विद्यमान होता है।

(१९) उपर्युक्त उदाहरण में सर्प की असलियत (नाम-रूप) तो कल्पित है, परंतु (रसन का) अस्तित्व प्रतिबिंबित है, क्योंकि सर्प की असलियत रज्जु की असलियत से भिन्न है, और रज्जु में दिखाई देती है, रज्जु से बाहर पाई नहीं जाती। और यह नियत हो चुका है कि जहाँ अन्य का अन्य में आभास हो और उससे बाहर पाया न जाय, वह आभास खयाली या कल्पित होता है। किंतु कल्पित मिथ्या होता है, कुछ अस्तित्व नहीं रखता, तो भी रज्जु का अस्तित्व जो सर्प से भिन्न है उसमें प्रकट होता है और उससे बाहर रज्जु में उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार दर्पण में देखा हुआ मुख भी अपनी गर्दन पर स्थिर पाते हैं, तो इस कारण (रसन के) अस्तित्व का आभास सर्प में प्रतिबिंबित है।

जो जाग्रत् के समय उसमें कल्पित होता है। और फिर यों भी निश्चय करते हैं कि वह जो देखता है करता नहीं, वरन् उसके काम इसमें यहाँ कल्पित होते हैं।

(२५) और देखनेवाली आत्मा हमारा अपना आप है, क्योंकि जब हम घनसुपुप्ति में होते हैं, तो जानते हैं कि हम आराम में हैं। करना वास्तव में कष्ट है और कुछ न करना ही सुख है। और चूँकि हम आराम का अनुभव भी निद्रा में पाते हैं, हमारा देखना निजी गुण उस समय भी लुप्त नहीं होता। इसलिये ज्ञात हुआ कि आत्मा का केवल देखना अपना गुण है।

(२६) यह नहीं मान लेना चाहिए कि घनसुपुप्ति में हम आराम की दृष्टि नहीं रखते। क्योंकि जब हम जागते हैं, तो निश्चय करते हैं कि हम दूसरों से बेख़बर और अपने आराम में थे। और बिना अनुभव के निश्चय होता नहीं, इसलिये आवश्यक है कि जो बीती बात का निश्चय करता है, उस समय उसने उसे देखा है, नहीं तो वह इस समय निश्चय भी न करता।

(२७) यह बात सच है कि घनसुपुप्ति में यद्यपि हम दृष्टि रखते थे किंतु समर्थन नहीं, क्योंकि वहाँ हम अपने मन से अलग हो गए थे, और जब जाग्रत् में मन में आए, तो वहाँ की दृष्टि का समर्थन पाते हैं। इस बात से सिद्ध हुआ कि समर्थन तो आत्मा का धर्म नहीं, केवल दृष्टि उसका

जिस प्रकार रज्जु सर्प नहीं हो गया, उसी तरह सर्प लंबा-चौड़ा या विद्यमान भी नहीं हो गया। वास्तव में जिस प्रकार रज्जु सर्प की लगावट से बिलकुल निर्लिप्त है, उसी तरह उसका अस्तित्व और लबाई भी उसमें असंग हैं, यों ही (सर्प में) दोनों अनहुए कल्पित दिखाई देते हैं।

(२३) जब आभास और कल्पित की असलियत ज्ञात हो गई, तो अब प्रयोजन की बात यह सिद्ध हुई कि हमारे भीतर एक आत्मा है जो देखती भी है और करती भी है, परंतु हम कहते हैं कि जो देखती है वह अलग है और जो करती है, अर्थात् कर्त्ता-भोक्ता है, वह अलग है। क्योंकि इस समय जो हम जागते हैं, तो देखना और करना एक ही में पाया जाता है, और नींद में जब सो जाते हैं, तो देखना नहीं होता और करना होता है। देखो, साँस चलते रहते हैं, नाड़ी फड़कती रहती है, भीतर अन्न पचता है। यह सब करनेवाली आत्मा के निजी गुण हैं, और वह देखना उसका निजी गुण नहीं, वरन् भिन्न है, जो प्रतिबिंब की भाँति उसमें कल्पित प्रकट होता है।

(२४) फिर चूँकि जब हम जागते हैं, तो देखना भी होता है और करना भी होता है। इसलिये निश्चय हुआ कि करना तो उस कर्त्ता-भोक्ता आत्मा का अपना काम है, जो निद्रा में भी करती थी और अब भी पूर्ववत् काम करती है, पर उसका देखना अपना नहीं, वरन् पराया है,

चक्षु और श्रोत्र का काम है, और ये सब आत्मा में कल्पित होते हैं।

(३०) आत्मा तो क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति में केवल दृष्टि रखता है। अतः जब सुषुप्ति में सबका अभाव, बेखबरी और अंधकार उसके सामने आता है, तो उन्हें भी बिना निश्चय देखता है, और अपना आनंद भी उसे स्वतः प्राप्त है, क्योंकि जिस प्रकार दृष्टि उसका अपना आप है, उसी प्रकार आराम या सुख भी उसका अपना आप है। और जब जागता है, तो भिन्न निश्चय और भिन्न समझें उसमें, जो वास्तव में अकर्त्ता है, अधिक आ जाती हैं। और उस दृष्टि से मिलकर वही समझें और पहचानें कहलाती हैं। फिर तो देखता और पहचानता प्रत्येक वस्तु से बुद्धिमान् कहलाता है।

(३१) यद्यपि जाग्रत् में अपनी दृष्टि से अतिरिक्त अन्य की समझें, निश्चय और विचार उसमें कल्पित आ जाते हैं, तो भी उसकी निजी दृष्टि और सुख का लोप नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि उन अपने से भिन्न की समझों, निश्चयों और विचारों से, जो वास्तव में मन के व्यापार हैं, कष्ट भी उस (निजात्मा) में कल्पित होता है। और यह स्पष्ट है कि व्यापार ही वास्तव में कष्ट है, और उसका सुख भी यद्यपि दृष्टि की भाँति अपना आप है, उससे कभी भी पृथक् नहीं होता, तो भी इस कष्ट में मिला हुआ पाता है

धर्म है, बल्कि समर्थन मन का धर्म है और वह भी एक शाखा उसी कर्त्ता-भोक्ता आत्मा की है।

(२८) समर्थन या निश्चय भी वास्तव में मन की एक गति है, जो वास्तविक कर्त्ता है, और दृष्टि तो केवल प्रकाश या ज्योति है जो गति नहीं। मन में भी जब यह आत्म-ज्योति आती है और निश्चय का वृत्ति में बदलती है, तो उसे भी प्रकाश करती और देखती है, अन्यथा इस निश्चय का समर्थन हम किस प्रकार कर सकते ? इसलिये आवश्यक है कि इस निश्चय को भी हमने उसी अपनी दृष्टि से देखा है। इसी कारण हम निश्चय का समर्थन कर सकते हैं, और फिर इसका समर्थन के बाद समर्थन भी कर सकते हैं।

(२६) इन बातों से ज्ञात हो सकता है कि आत्मा की दृष्टि न तो जाग्रत् न स्वप्न न सुषुप्ति में लुप्त होती है, क्योंकि सुषुप्ति में यद्यपि निश्चय नहीं रखता, तो भी अपने आराम और दूसरों की बेखबरी की दृष्टि रखता है। जाग्रत् में उसका निश्चय पाता हुआ उस निश्चय की भी दृष्टि रखता है, और अन्य वस्तुओं की भी दृष्टि रखता है, तथा साथ ही उनका निश्चय भी पाता है, बल्कि नेत्र में आया रूप की और कान में आया शब्द की दृष्टि और निश्चय रखता है। तो ज्ञात हुआ कि निश्चय तो मन का धर्म है, आत्मा का नहीं, केवल रूप का ग्रहण या शब्द का श्रवण

उस वस्तु के कारण नया हर्ष मानता है, यद्यपि वह हर्ष नहीं, मन का एक ऐन्द्रिय व्यापार है, तो भी वह (निजी) सुख के अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं।

(३४) जिस प्रकार सिरका मिसरी के विरुद्ध है, उसी प्रकार तृष्णा और लोभ भी अपने सुख से विरुद्ध हैं। पर जिस प्रकार मैदा और घी मिसरी का विरोधी नहीं, वरन् उनसे हलवा बनाया हुआ मिठास देता एक दूसरे की तरह स्वाद देता है, उसी तरह सुख की वृत्ति भी जो उसी मन की ऐन्द्रिय गति है, अपने निजी सुख की विरोधिनी नहीं बल्कि अनुकूल है। और उससे और अपने निजी सुख से बनाई गई मन की दशा हर्ष (खुशी) कहलाती है। तो भी जिस प्रकार हलवे में मिठास तो मिसरी की होती है, घी या मैदे की नहीं, उसी तरह खुशी में आनन्द तो अपने सुख का है जो आत्मानन्द है, सुख-रूप मन की वृत्ति तो वास्तव में उसी प्रकार फीकी है, जिस तरह घी और मैदा भी वास्तव में फीका होता है, तो भी वह वस्तु की तृष्णा की नाई प्रतिकूल नहीं वरन् अनुकूल है।

(३५) क्योंकि जिस प्रकार मैदा और घी हलवे की बनावट में मिसरी की मिठास की भी रोक नहीं करते, उसी तरह यह सुख की वृत्ति भी अपने निजी सुख के प्रकाश में रोक नहीं करती, वरन् दर्पण की भाँति उसके प्रकट में प्रकट स्थान हो जाती है। और वह तृष्णा तथा लोभ

जैसे मिसरी और सिरका की बनाई हुई सिकंजबीन भी शुद्ध मिठाई नहीं होती, वरन् खट्टी-मिट्ठी प्रकट होती है।

(३२) फिर, जब सुषुप्ति में जाता है, तो अपने से भिन्न का कष्ट अपने आप उससे उतर जाता है। वहाँ तो अपने सुख को बिना कष्ट पाता है, इसलिये जागता हुआ निश्चय करता है कि मैं सुख में था। उसका तात्पर्य यह होता है कि वहाँ मुझे कोई कष्ट नहीं रहा था। जाग्रत् में अपने से भिन्न के कष्ट में आया हुआ भी यद्यपि वही सुख रखता है, पर कष्ट की मिलावट से उसे पाता हुआ भी नहीं पाता-सा होता है, जैसा कि सिकंजबीन का चखनेवाला मिठाई पाता हुआ भी नहीं पाता।

(३३) देखो, जब किसी वस्तु की इच्छा होती है, और उसे नहीं पाता, तो उसकी तृष्णा को मन में पाता है। और यह तृष्णा भी मन की एक गति है, जो कष्ट है। और यह सुख जो उसका अपना आप है, उसमें अप्रकट होता जाता है। किंतु जब वह इच्छित वस्तु किसी प्रकार से मिल जाती है, तो वह तृष्णा दूर हो जाती है, और वही अपना शुद्ध सुख बिना कष्ट के अपने भीतर पाता है। इसलिये उस वस्तु का मिल जाना वास्तव में कष्ट दूर होने का कारण है, न केवल कष्ट दूर होने का कारण है वरन् सुख के निश्चय का भी कारण है। और वही सुख की वृत्ति कहलाती है। इस प्रकार इंद्रियों के सुख में अपने सुख को शुद्ध पाता हुआ

बल्कि जिस प्रकार मैदा और घी का फीकापन भी उनमें मिला हुआ है, उसी प्रकार अंत करण की वृत्तियाँ भी इनमें कष्ट-रूप मिली होती हैं। और, फिर चूँकि कर्त्ता-भोक्ता आत्मा के ये व्यापार हैं जो अपने से भिन्न हैं, अपने नहीं जिनका अभाव न हो, और यह आवश्यक है कि भिन्न अत समय तक अपने पास नहीं रहता, वरन् अतत पृथक् होता है, और दूर हो जाता है, इसलिये ये भी नित्य नहीं।

(३६) वरन् जिन विषयों के मिलने से ये वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं तक रहती हैं, और अधिक भोग के कारण चाहे विषय दूर भी न हों, तो भी रुचि जाती रहती है, और उनकी विद्यमानता में भी ये हर्ष और सुख की वृत्तियाँ लुप्त व तिरोहित हो जाती हैं, और उन विषयों की सम्हाल तथा पालन में अन्य कष्ट अगणित होते हैं, इसलिये नाशवान् और तुच्छ हैं। परतु दूर होना या तिरोहित होना केवल उन अत करण की वृत्तियो के धर्म हैं, जो मनोवृत्तियाँ हैं। वह अपना सुख जो उनमें प्रकट होता है, यद्यपि दूर या तिरोहित नहीं होता, तो भी प्रकट नहीं रहता, इसलिये मनुष्य विचार करता है कि मेरा सुख जाता रहा।

(४०) जैसा कि कोई दर्पण में अपना मुख देखे और दर्पण के दूर होने से फिर न देखे, तो निश्चय करे कि मेरा मुख नहीं रहा, यद्यपि मुख तो उसका अपना आप कभी दूर नहीं होता, किंतु बिना दर्पण वह प्रकट नहीं होता।

वृत्तियाँ तो मिरका की भाँति उसके प्रकाश में बाधक होती हैं, इसलिये अपना स्थायी सुख भी यद्यपि अविनाशी है पर प्रकट नहीं होता।

(३६) विषयों का भोगना दो प्रकार का है, या तो अनुकूल या प्रतिकूल। वे जो अनुकूल हैं, उनके मिलने से तो मन की सुख-रूप वृत्तियाँ उठती हैं और अपना आनंद उसमें प्रकट होता है, और प्रतिकूल मिलने से दु ख-पीड़ा और शोक-रूप मानसिक वृत्तियाँ उठती हैं, जो उस निजी सुख या आनंद को ढाँपती और उसके प्रकट होने को रोकती हैं। इसलिये अत करण की वृत्तियाँ भी दो प्रकार की हैं—अनुकूल या प्रतिकूल। वे जो अनुकूल हैं, सुख-रूप वृत्तियाँ हैं, और वे जो प्रतिकूल हैं, दुख-रूप वृत्तियाँ हैं।

(३७) किंतु आनंद तो उसका अपना आप है, जैसे कि दृष्टि भी उसका अपना आप है। और यह सब सुख-दु ख रूप वृत्तियाँ भी उसी प्रकार औरों की उसमें कल्पित हैं जैसा कि खयालों की निश्चय-रूप भिन्न मनोवृत्तियाँ भी उसमें कल्पित हैं। और यह सब उसी कर्त्ता-भोक्ता आत्मा की शाखाएँ हैं जिसको पृथक् करके दर्शाने का हम यत्न कर रहे हैं।

(३८) अनुकूल विषयों के मिलने से यद्यपि सुख और हर्ष आ जाता है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, तो भी वह शुद्धानंद नहीं, जैसा कि हलवा भी शुद्ध मिठाई नहीं,

वृत्ति में भी मन मौज नहीं मारता, तो स्वयं मन भी स्वच्छ दर्पण की भाँति हो जाता है, और वही अपना आनंद उसमें प्रकट होता है, और अपनी दृष्टि भी उसमें प्रकट होती है। उस समय शुद्धानंद प्रत्यक्ष अनुभव होता है, जो परमानंद कहलाता है, और इसी को साधारण लोग समाधि कहते हैं।

(४३) विषयों के मिलने से तो बिजली की तरह सुख और आनंद की वृत्तियाँ उठती हैं, और बिजली की तरह सुख प्रकट होता है। पर समाधि में बिना विषयों के, जब मन स्थिर हो जाता है, उसी तरह यह आनंद प्रकट होता है जैसे कि जलपूर्ण कुण्ड में जब निर्मल जल स्थिर होता है और सूर्य अपने आप उसमें दिखाई देता है। विषयों के भोग से सुख तो पलक-झलक में पाता था, यहाँ जब तक वह मन को रोके रखता है, तब तक पाता है। और साथ इसके वहाँ शुद्धानंद नहीं पाता, क्योंकि लहरों में भी यद्यपि सूर्य का चमकारा झाँकी देता है, तो भी पूरे सूर्य की झाँकी नहीं होती, वरन् आँख को उसकी झलक दिखाई देती है, यहाँ स्थिर जल में तो उसकी पूरी झाँकी होती है और उसे देर तक पाता है।

(४४) फिर चूँकि विषयों का मिलना उसके अधिकार में नहीं होता, वरन् प्रारब्ध पर होता है, और यहाँ तो मन का रोकना उसके अपने अधिकार में होता है, जब

इसी तरह सुख और आनद की वृत्तियाँ, जो कर्त्ता-भोक्ता आत्मा की तरंगें हैं, दर्पण के समान होती हैं, और अपना निजी सुख वा आनंद उनमें प्रकट होता है। जब ये वृत्तियाँ दूर हो जाती है, तो वह प्रकट नहीं होता। और देखने में मनुष्य समझता है कि मेरा आनंद दूर हो गया, यद्यपि उसका आनद अपना आप है जो नित्य है। इसलिये वह आनंद पाता हुआ भी नहीं पाता-सा होता है।

(४१) किंतु वह जो जानता है, वह नहीं पाता हुआ भी उसे पाता है, क्योंकि बुद्धिमान् जानता है, कि जैसे दर्पण के अभाव से मेरे मुख का अभाव नहीं हो जाता, ऐसे ही इन वृत्तियों के जाने से मेरा आनंद भी, जो अपना आप है, नहीं चला जाता। हाँ यह अवश्य है कि वह प्रत्यक्ष नहीं रहा है, तो भी यदि प्रत्यक्ष करना उसका प्राप्तव्य हो, तो विषयों के अतिरिक्त अन्य कारण से भी हो सकता है। और वह यों है कि विषयो का लोभ उनके दोष के स्मरण से उखाड़ दे, जैसे जब सन्यासी का लोभ किसी विषयों में नहीं रहता और भोजन-भिक्षा पर सतोष करता है, तो फिर विषय के मिलने या न मिलने से सुख या दुःख नहीं पाता, वरन् एकात में एकातस्थित होकर नेत्र मूँद कर उन सब मनोवृत्तियो को रोकता है।

(४२) जब अभ्यास से उसकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं, और किसी निश्चय या विचार या सुख वा दुःख की

खाने में, पहनने के आनंद पहनने में, और स्त्रियों के आनंद स्त्रियों में है, कदापि नहीं। क्योंकि ये सब विषय किसी कारण से उस कर्त्ता भोक्ता आत्मा की तरंगों के हेतु होते हैं, और जब उनमें ये तरंगें भीतर होती हैं, तो यही अपना आनंद उनमें टपकता है। अनजान जानता है कि खाने या पहनने या स्त्री से आनंद आया, यह उनका आनंद है।

(४८) किंतु तनिक ध्यान दे, तो उसकी समझ ठीक हो जाय। और वह सोच सकता है वरन् अनुभव कर सकता है कि जब प्यास न हो, तो पानी अच्छा नहीं लगता, भूख न हो तो भोजन आनंद नहीं देता, विषय-कामना न हो तो स्त्री कुछ भी आनंद नहीं देती, वरन् बहुधा जब तीक्ष्ण ज्वर होता है, तो अच्छे भोजन कड़वे लगते हैं और स्त्रियों की चटक मटक बुरी लगती है, नपुंसक मनुष्य स्त्री की निकटता से कुछ भी आनंद नहीं पाता। तो ज्ञात हुआ कि न तो भोजनों में, न वस्त्रों में और न स्त्रियों के सहवास में आनंद है, आनंद तो अपने आप में है। ये सब (विषय) किसी विशेष कारण से उन वृत्तियों की तरंगों के लिये हेतु हैं। जब वे वृत्तियाँ उठती हैं, तो अपना आनंद उनमें प्रकट हुआ विविध रूपों में आनंदवाला होता है।

(४९) विवेचना करने से सिद्ध हुआ है कि जब वीर्य का आवेग होता है और युवावस्था का स्वास्थ्य होता है,

चाहे उसे रोक सकता है, इसलिये वह तो विषयों की खोज और प्रयत में कष्ट उठाता भाँति-भाँति के दु:ख-शोक में ग्रस्त होता है, फिर भी आवश्यक नहीं कि उसे सफलता हो, और यह तो न कुछ प्रयत्न करता है न परिश्रम वरन् मुफ्त पाता है।

(४५) फिर विषयों के भेद अगणित हैं, और प्रत्येक के कारण भाँति-भाँति की वृत्तियाँ अपने से भिन्न (कर्त्ता-भोक्ता) आत्मा में उठती हैं, और उनके धर्मों से मिला हुआ वह आनद भी विविध भाँति का प्रकट होता है। देखो, भोजन के आनंद और, पहनने के आनंद और, तथा स्त्रियों के आनद और हैं। और उनका उदाहरण उसी तरह है जैसे जलेबी का स्वाद और, लड्डू का स्वाद और तथा शकरपारे का स्वाद और है। पर बुद्धिमान् जानते हैं कि एक ही मिसरी जलेबी, लड्डू और शकरपारे में आई हुई दूसरी प्रकार की मिठास देती है।

(४६) इसी तरह यही अपना आनद खाने, पहनने और स्त्रियों में विविध भाँति का होकर प्रकट होता है, पर यह जिसको शुद्ध मिसरी मिलती है सबके स्वाद का आनन्द उड़ा ले जाता है। इसी तरह समाधि में जो व्यक्ति शुद्धानद विना विषयो के पाता है, सबका आनद मुफ्त उड़ा ले जाता है।

(४७) अनजान मनुष्य जानता है कि खाने के आनंद

अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिये एकत्र हो जाते हैं। वह तो इसकी इच्छा को और यह उसकी इच्छा को पूरा करते हैं। और यह इच्छा ही दुःखरूप थी। इस प्रकार जब दोनों की इच्छा पूरी होती है, तो दुःख-रूप वृत्ति तो शांत हो जाती है और उस शांतवृत्ति में वही अपना नित्य आनंद प्रकट होता है, परन्तु अनजान उसे अपना आनंद नहीं जानते, वरन् पुरुष तो अपने आनंद को अपनी शांतवृत्ति में पाता हुआ स्त्री का आनंद समझता है, और स्त्री अपने आनंद को अपनी शांतवृत्ति में पाती हुई पुरुष का आनंद मानती है, यही भ्रांति है।

(५२) क्योंकि स्त्री जो आनंद पाती है अपना पाती है, किंतु पुरुष उसकी तृष्णा की शांति का कारण है। वैसा ही पुरुष जो आनंद पाता है, वह अपना ही आनंद पाता है, स्त्री तो उसकी तृष्णा को पूरा करने के लिये उसकी शांति का कारण है, क्योंकर हो सकता है कि पुरुष का आनंद स्त्री से और स्त्री का आनंद पुरुष से मिलाप पावे? हाँ, जब वह एक दूसरे की शांति के सहायक होते हैं, तो निश्चय होता है कि पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से आनंद आता है। किंतु इसके अर्थ ये हैं कि स्त्री पुरुष के और पुरुष स्त्री के अपने-अपने आनंद के प्रकट होने में सहायक हैं।

(५३) देखो, जब स्त्री को इच्छा नहीं होती तो पुरुष

तो वीर्य के स्रोत में एक गुदगुदी होती है ताकि वह शुक्रपात करे, और यह गुदगुदी उसी प्रकार की वेदना या कष्ट है जो गर्भिणी स्त्री को बच्चा प्रसव करते समय होती है। क्योंकि हम लिख चुके हैं कि बच्चा वीर्य-रूप होकर पहले पिता में गर्भित होता है, माता के उदर में सींचा हुआ पहला जन्म पाता है, और स्त्री में बोया जाता है। तो स्पष्ट है कि जिस तरह स्त्री का गर्भ निकलने की चेष्टा करता है और उसे कष्ट देता है, और उसके पूर्ण करने के लिये दाया की आवश्यकता होती है, उसी तरह पुरुष में भी जब वह जन्म चाहता है, तो उसके वीर्य-स्रोत में गुदगुदी करता है, और स्त्री की तृष्णा करता है, जो उसे पूर्ण कर सकती है।

(५०) पर स्त्री की कुक्षि में इस वेदना को प्रसव-पीड़ा बोलते हैं, और पुरुष में इसी को कामोत्तेजना कहते हैं। वास्तव में यह कष्ट एक ही प्रकार का है। फिर स्त्री में भी आर्त्तव (मासिक धर्म) के पश्चात् वीर्य के ग्रहण की इच्छा उसी तरह होती है जैसा कि क्षुधा के समय भोजन करने की इच्छा उत्पन्न होती है, और इस ग्रहण की इच्छा को भी काम वा विषय-वासना बोलते हैं। और वह स्त्री भी इस इच्छा के पूरा होने के लिये पुरुष को चाहती है।

(५१) जब कभी ऐसे इच्छुकों का संयोग होता है और कोई शास्त्रीय आज्ञा बाधक नहीं होती, तो वे दोनों अपनी-

अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिये एकत्र हो जाते हैं। वह तो इसकी इच्छा को और यह उसकी इच्छा को पूरा करते हैं। और यह इच्छा ही दुःखरूप थी। इस प्रकार जब दोनों की इच्छा पूरी होती है, तो दुःखरूप वृत्ति तो शांत हो जाती है और उस शांतवृत्ति में वही अपना नित्य आनंद प्रकट होता है, परन्तु अनजान उसे अपना आनंद नहीं जानते, वरन् पुरुष तो अपने आनंद को अपनी शांतवृत्ति में पाता हुआ स्त्री का आनंद समझता है, और स्त्री अपने आनंद को अपनी शांतवृत्ति में पाती हुई पुरुष का आनंद मानती है, यही भ्रांति है।

(५७) क्योंकि स्त्री जो आनंद पाती है अपना पाती है, किंतु पुरुष उसकी तृष्णा की शांति का कारण है। वैसा ही पुरुष जो आनंद पाता है, वह अपना ही आनंद पाता है, स्त्री तो उसकी तृष्णा को पूरा करने के लिये उसकी शांति का कारण है, क्योंकर हो सकता है कि पुरुष का आनंद स्त्री से और स्त्री का आनंद पुरुष से मिलाप पावे? हाँ, जब वह एक दूसरे की शांति के सहायक होते हैं, तो निश्चय होता है कि पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से आनंद आता है। किंतु इसके अर्थ ये हैं कि स्त्री पुरुष के और पुरुष स्त्री के अपने-अपने आनंद के प्रकट होने में सहायक हैं।

(५८) देखो, जब स्त्री को इच्छा नहीं होती तो ५०

यद्यपि उसे पकड़ता है पर वह भाग जाती है। और पुरुष भी जब इच्छा नहीं रखता, तो स्त्री कैसा ही हास-विलास करे कुछ ध्यान नहीं करता , क्योंकि उस समय दूसरे कारण से उन्हें शांति है और निजानंद उनमें टपकता है। हम पशुओं की ओर दृष्टि करते हैं, तो अनुभव से उनमें भी यही बात पाई जाती है। तो ज्ञात हुआ कि विषयों के आनंद में दु ख और क्लेश पहले हैं, और उन्हीं के दूर करने के लिये विषय की चाहना है। जब वे दूर होते हैं, तो अपनी-अपनी शांतवृत्ति में अपने ही आनंद की झलक प्रकट होती है, विषयों में कुछ भी आनद नहीं है।

(५४) क्योंकि जब तक प्राणी भूख या प्यास-रूपी पीड़ाओं में बद्ध नहीं होता, तो खान-पान की वस्तुओं से स्वाद नहीं पाता। और जब स्त्री की कुक्षि वा योनि भी वीर्य-रूप आहार से भूखी नहीं होती, तो वह भी पुरुष से आनद नहीं पाती। और पुरुष भी जब तक अपने वीर्य-स्रोत में गुदगुदी की पीड़ा में व्यस्त नहीं होता, स्त्री से आनद नहीं पाता। इसी कारण से सिद्ध होता है कि विषयों का आनद विशुद्ध नहीं, वरन् पीड़ा और कष्ट से मिला हुआ है जो कोई उनसे आनद ढूँढ़ता है, साथ ही पीड़ा और कष्ट को ढूँढ़ता है।

(५५) और भी बहुत-से कारण हैं जिनसे सिद्ध हो सकता है कि विषयानद के आरभ और अंत में बड़े-बड़े

दु ख और कष्ट है, क्योंकि खाने पीने की वस्तुओं से जो आनंद है, आरंभ में तो भूख और प्यास रूप दु ख है, और अंत में दुर्बलता और अजीर्ण है, इसी प्रकार स्त्री पुरुष के एकत्र होने में भी आरंभ में तो वीर्य की गुदगुदी और वीर्य-ग्रहण की तृष्णा है, और अंत में स्त्री को गर्भ का कष्ट और पुरुष को दुर्बलता है। इसके अतिरिक्त शास्त्रीय आज्ञा के विरुद्ध हो, तो लोक और परलोक के पाप होते हैं, जिसमें लोक और परलोक के दंड मिलते हैं। इसलिये बुद्धिमान् उसे विषयों से नहीं, वरन् दूसरे कारणों से, जो अपने अधिकार में और शास्त्रीय हैं, चाहते या पाते हैं, और इन विषयों में दोष देखते हुए ध्यान नहीं करते।

(५६) कदाचित् भाषाविद् यों पूछे कि ये आनंद दूसरे प्रकार से भी बिना विषयों के किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं, तो हम कहते हैं, यह संभव है। क्योंकि आवश्यक नहीं है कि स्त्री के सहवास से ही मनुष्य को वह आनंद आता है जो भोग में है, इसलिये कि वह आनंद वास्तव में स्त्री से नहीं वरन् अपना है, और जिस प्रकार हो सके, वही शांतवृत्ति उसके लिये आवश्यक है। देखो, युवा पुरुष जब स्त्री के प्रसंग की तृष्णा पाता है, और वह नहीं मिलती तो स्वप्न में कल्पित स्त्री से प्रसंग करके वही शांति पाता है और वही आनंद उठाता है। वहाँ स्त्री तो नहीं, केवल अपना ही खयाल होता है, और वीर्यपात के

भी हो जाता है। अत किस प्रकार विश्वास हो कि विना स्त्री के हम वह आनंद नहीं पाते।

(५७) वरन् ध्यान से सोचें तो वहाँ आरंभ में गुदगुदी वीर्य की पीडा है, और जब उसकी शाति के लिये स्त्री से प्रसग करता है, तो चाह के कारण उसका चित्त एकाग्र होता है, और यहाँ तक चित्त एकाग्र होता है कि उसे उस समय कुछ भी नहीं सूझता, एक अँधेरी-सी आ जाती है, जिससे समस्त वृत्तियाँ रुक जाती हैं, और जब वीर्य निकल जाता है, तो फिर शक्तिहीन हो जाता है, और स्त्री को नहीं चाहता। तो ज्ञात हुआ कि न तो वीर्य की गुदगुदी में आनद है न निकलने में, वरन् पीड़ा और दुर्बलता है।

(५८) हाँ, भोग के समय जो वह आनंद पाता है, उसमें अवश्य वक्तव्य है। यहाँ हमको सोचना चाहिए कि उसकी असलियत क्या है? हमने जहाँ तक सोचा और श्रुतियों से ज्ञात किया तो यही पाया कि वास्तव में भोग में कुछ आनंद नहीं, वरन् भोग एक प्राकृतिक घटना है जिससे मन की दूसरी वृत्तियाँ उसके अँधेरे में रुक जाती हैं, और एकाग्र चित्त के कारण मन पूर्ण रुक जाता है, जैसा कि योग में भी योगी का मन पूर्ण स्थिर होता है, और वही अपना आनंद उसमें पूरा-पूरा प्रकाशित होता है, जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है।

(५६) इस प्रकार चित्त के एकाग्र होने के कारण

(चाहे वह भोग से स्वाभाविक रीति से हो, चाहे वह योग के द्वारा मानसिक रीति से हो) बराबर दोनों की चित्त-वृत्तियाँ रुक जाती हैं, उक्त किसी दशा में मन तरंग नहीं मारता है और शांत आत्मा का पूरा प्रतिबिंब ग्रहण करता है। भोगी तो उसे भोग में और योगी योग में पा जाता है। वही आनंद जो भोगी स्त्री के भोग में पाता है, वही आनंद योगी बिना स्त्री की सहायता के योग में मुफ्त उड़ाता है।

(६०) वरन् भोगी तो दुःख-शोक और दुर्बलता से मिला हुआ आनंद पाता है, योगी न तो आरंभ में वीर्य की गुदगुदी की वेदना रखता है, न अंत में दुर्बलता पाता है, बल्कि अपेक्षाकृत शुद्ध पाता है। और फिर भोगी तो जब तक वीर्य नहीं निकलता पाता है, और वीर्य का पतन उसके अधिकार में नहीं वरन् बल के अधिकार में है, पर योगी का योग तो उसके संकल्प के अधिकार में है, इसलिये भी अंतर है। और यह स्पष्ट है कि जो उस आनंद में अधिकार नहीं रखता कि जहाँ तक चाहे पावे, स्वाधीन की अपेक्षा दोषी है, पूर्ण नहीं। इसलिये भोगी का भोग दोषपूर्ण और योगी का योगपूर्ण है।

(६१) इस बात में तर्क नहीं करना चाहिए कि भोग के समय ही भोगी को आनंद है। क्योंकि हम युवकों को देखते हैं कि वैद्यों से स्तंभन (वीर्यपुष्टि) की ओषधियाँ माँगते हैं और सिद्ध करते हैं कि भोग तक ही आनंद

है, और वे चाहते हैं कि अधिक समय तक रहे, पर ऐसा नहीं हो सकता।

(६२) क्या वे उष्ट्र आदि पशुओं की समता करना नहीं चाहते जो स्तंभन (वीर्यपुष्टि) की इच्छा करते हैं ? ऐ भाइयो ! भोग वास्तव में पशुओं का धर्म है, मनुष्यों का गुण नहीं। जो जिसका गुण होता है, उसी में पूर्ण होता है। उसे तो योग में गति नहीं, इसलिये प्रकृति ने उसे भोग की पूर्ण शक्ति दी है। तुम्हें तो योग में गति है जिसके कारण वह पूर्णानंद प्राप्त हो सकता है। भोग का मार्ग संक्षेप में तो संतति के लिये पैतृक ऋण में मिला है ताकि शास्त्र-विधान से वंश भी बढ़ावें, और योग के द्वारा शुद्ध आनंद, जहाँ तक चाहें, उड़ावें। फिर वे जो उसे नहीं पाते, भोग में पशुओं से सम्मिलित होते हैं, उन्हें मानुषीय जन्म से क्या लाभ है ? आकृति में यद्यपि मनुष्य हैं, स्वभाव में वही पशु हैं।

(६३) हम और भी कारण रखते हैं कि स्त्री के भोग और योगी के योग में एक ही आनंद है, वरन् योगी उससे बढ़ जाता है, क्योंकि हम कह चुके हैं कि जिस कदर स्त्री के भोग में काम की शक्ति से एकाग्रता और अँधेरे के कारण वेखबरी ह [illegible] ही आनंद अधिक होता है। देखो, मदपी म [illegible] में [illegible] हुआ अधिक आनंद [illegible] मा [illegible] लाती [illegible] है

सर्वसाधारण नशा बोलते हैं। और काम भी भोग में काम-मयी अँधेरी लाता है, और नशा उसे दूना करता है तथा अधिक बेखबरी होती है। इसी कारण भोग में आनंद भी अधिक होता है। तो ज्ञात हुआ कि जितनी बेखबरी अधिक, उतना ही आनंद अधिक होता है। और बेखबरी वास्तव में मन का निरोध है, तो यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार मन का निरोध अधिक होता है, उतना ही अपने आनंद का प्रतिबिंब पूरा-पूरा पड़ता है, और योग तथा भोग में वही मन का निरोध है।

(६४) मैं सच कहता हूँ कि मदिरा भी कुछ नहीं करती, वरन् प्राणों को रोकती है, और उनके रुकने से मनोवृत्तियाँ भी रुकती हैं। उसे सर्वसाधारण नशा बोलते हैं। जितना वे नशा अधिक करते हैं, उतना ही मन अधिक रुकता जाता है, यहाँ तक कि अंतत वे अचेत हो जाते हैं, और शरीर तक की भी खबर नहीं पाते। हम देखते हैं कि मदिरा पीते समय मूर्ख जब तक अचेत नहीं हो जाते, प्याले पर प्याला माँगते हैं। अत स्पष्ट हुआ कि ज्यों-ज्यों बेखबरी होती जाती है, त्यों त्यों वे आनंद में उन्नति पाते जाते हैं। ये लोग भी यदि मन का निरोध नहीं चाहते, तो और क्या चाहते हैं ? और मन के निरोध पर ही पूर्णानंद नहीं तो किसमें है ? और यह भी स्पष्ट है कि जैसा योग में मन रुकता है, वैसा मदिरा और स्त्री-भोग में नहीं रुकता। और

है, और वे चाहते हैं कि अधिक समय तक रहे, पर ऐसा नहीं हो सकता।

(६२) क्या वे उष्ट्र आदि पशुओं की समता करना नहीं चाहते जो स्तभन (वीर्यपुष्टि) की इच्छा करते हैं? ऐ भाइयो! भोग वास्तव में पशुओं का धर्म है, मनुष्यों का गुण नहीं। जो जिसका गुण होता है, उसी में पूर्ण होता है। उसे तो योग में गति नही, इसलिये प्रकृति ने उसे भोग की पूर्ण शक्ति दी है। तुम्हें तो योग में गति है जिसके कारण वह पूर्णानद प्राप्त हो सकता है। भोग का मार्ग सक्षेप में तो संतति के लिये पैतृक ऋण में मिला है ताकि शास्त्र-विधान से वश भी बढ़ावें, और योग के द्वारा शुद्ध आनंद, जहाँ तक चाहें, उड़ावें। फिर वे जो उसे नही पाते, भोग में पशुओं से सम्मिलित होते हैं, उन्हें मानुषीय जन्म से क्या लाभ है? आकृति में यद्यपि मनुष्य हैं, स्वभाव में वही पशु हैं।

(६३) हम और भी कारण रखते हैं कि स्त्री के भोग और योगी के योग में एक ही आनद है, वरन् योगी उससे बढ जाता है, क्योंकि हम कह चुके हैं कि जिस कदर स्त्री के भोग में काम की शक्ति से एकाग्रता और अँधेरे के कारण वेखवरी होती है, उतना ही आनद अधिक होता है। देखो, मद्यपी मद्य पीकर नशे में भोग करता हुआ अधिक आनंद पाता है। उसका कारण यह है कि मदिरा एक अँधेरी लाती वेखवरी दिलाती है उसी को

जीवन यापन करते हैं, इसलिये उन्हें शास्त्रीय कष्ट नहीं।

(६७) अब सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार देखने की आत्मा केवल देखना अपना निजी गुण रखती है, उसी तरह परमानद भी उसका निजी गुण है। और दु ख सुखरूप वृत्तियाँ तो उसमें अन्य के धर्म कल्पित हैं, जैसे रज्जु म सर्प। किंतु उन (वृत्तियों) में भी उस (साक्षी आत्मा) का अस्तित्व और आनद उस प्रकार कल्पित है जैसे रज्जु का अस्तित्व भी सर्प में कल्पित होता है, या मुख दर्पण में प्रकट होता है। पर अस्तित्व तो क्या दु ख, क्या सुख सबमें प्रकट है, और आराम केवल सुख-रूप वृत्तिया में प्रकट होता है, दु ख-रूप वृत्तियों में नहीं, इसलिये अनजान सुख-रूप वृत्तियों को तो चाहता है, दु ख-रूप वृत्तियों से भागता है।

(६८) भाषा जाननेवाला अनुभव से जान सकता है कि इसी के अस्तित्व से वे वृत्तियाँ विद्यमान होती हैं, जैसे कि रज्जु के अस्तित्व से सर्प भी विद्यमान होता है, क्योंकि रज्जु यदि न हो, तो सर्प भी नहीं हो सकता, पर सर्प न हो तो यह नहीं कि रज्जु भी न हो। इसलिये ज्ञात हो सकता है कि सर्प का अस्तित्व अपना नहीं, वरन् अन्य रज्जु का उसमें दिखाई देता है।

(६९) यहाँ भी यही दशा है, क्योंकि जब हम सुषुप्ति में जाते हैं, तो यह आत्मा मन से निकलकर हृदयाकाश में

फिर मदिरा तथा भोग में यद्यपि मन रुकता है, परंतु गॅद
होता है, शुद्ध नहीं होता। योग में तो केवल सतोगुण
स्वच्छ जल की तरह होता है।

(६५) और यह स्पष्ट है कि कुण्ड का जल यद्य
स्थिर है, पर निर्मल जल में जो सूर्य का प्रतिबिंब पड़ता
वैसा गॅदले में नहीं पड़ता। मदिरा और भोग में रजोगु
तमोगुण की मिलावट रहती है, योग में केवल सतोगुर
इसलिये स्त्री और मद्य का भोग जो आनंद देता है व
मैला और गॅदला है, और योग का निर्मल। इसलिये भो
में यद्यपि आनद है, पर योग में परमानंद है। और व
अपना आप है, जो स्थिर और निर्मल मन ही में प्रकट हो
है, चाहे वह विषयों के द्वारा हो, चाहे वह योग से हो।

(६६) इसलिये ज्ञात हुआ कि विषयों में भी इस
परमानंद के विंदु हैं जो किसी कारण से उनके भोगों
भोगे जाते हैं। और वे जो अनजान हैं, उन्हीं विंदुओं प
अपनी जान खोते हैं, जैसे कुत्ते भी हड्डी पर लड़ते हैं। प
परमानद तो मुक्त योगी उड़ाते हैं। न तो उन्हें उसमें को
झगड़ा है, न कोई कष्ट, और न कोई बेइख्तिया
(अधीनता)। इसलिये शास्त्र मनुष्य को विषयों से रोकत
और परमानन्द की ओर आकर्षित करता है, क्योंकि उस
इसके पाने की योग्यता है। परतु पशुओं में तो इस
पाने की गति भी नहीं, वे तो उन्हीं विंदुओं को पा

वे भी विद्यमान होते और शरीर में सदैव काम करते तथा शरीर का अनन्तकालिक जीवन होता, परन्तु मृत्यु में ये सब जाते रहते हैं, इसलिये ज्ञात हुआ कि उनमें भी अपना अस्तित्व नहीं वरन् दूसरे का है, क्योंकि अन्य अनन्त-काल तक पास नहीं रहता, अन्त पृथक् हो जाता है।

(७२) जीवन में भी उनमें दोष और हानि पाई जाती है। जब पाचन दूषित होता है, तो प्राय उत्तम भोजन नहीं पचता। जब यौवनावस्था हो चुकती है, तो फिर अभिवृद्धि शक्ति काम नहीं करती, वरन् बुढ़ापे में शरीर घटकर जीर्ण हो जाता है। और जो पदार्थ दोष या हानिवाले होते हैं, अपना अस्तित्व नहीं रखते। चूँकि ये पंचप्राण भी दोष और हानिवाले हैं, अपना अस्तित्व नहीं रखते, वरन् दूसरे का अस्तित्व उसी प्रकार पाते हैं जिस प्रकार श्वेत वस्त्र भी दूसरे की लालिमा से रँगा हुआ लाल निश्चय होता है।

(७३) अब यों समझो कि वे इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ आदि) जिससे सत्ता वा अस्तित्व पाती हैं उसी से प्राण भी अस्तित्व पाते हैं, क्योंकि ये इन्द्रियाँ भी उसी प्राण का खंड हैं, जो कर्त्ता-भोक्ता आत्मा कहलाता है। और ऊपर सिद्ध हो चुका है कि इन्द्रियाँ भी इसी आत्मा से कल्पित अस्तित्व पाती हैं, इसलिये इन (प्राणों) का अस्तित्व भी इसी आत्मा से उधार में आया है, और कुछ

सुख पाता है, और ये समस्त वृत्तियाँ वरन् स्वयं मन
फिर नहीं रहता। यदि वह होता, तो अपने काम करत
पर वहाँ न तो कुछ दुःख या सुख-रूप वृत्तियाँ और उन
निश्चय या संकल्प रहते हैं और न इंद्रियाँ। यदि वे
होतीं, तो आँख देखती, कान सुनता, जिह्वा बोलती, पर उ
समय कोई भी उनके काम नहीं होते। तो ज्ञात हुआ कि
जाग्रत् काल में इन सबमें अस्तित्व इसी आत्मा का थ
और इसी के पृथक् होने से वे कुछ भी न रहे।

(७०) यद्यपि सुषुप्ति में न तो इंद्रियाँ, न मन और
न उसकी वृत्तियाँ रहती हैं, तो भी पंचप्राण विद्यमान हो
हैं। क्योंकि सोया हुआ मनुष्य श्वास बराबर लेता है, भीत
नाड़ियाँ बराबर चलती रहती हैं और भोजन पचते रह
हैं। यदि ये प्राण विद्यमान न रहते, तो ये काम भी बद ह
जाते। इससे ज्ञात हुआ कि वे सोच-समझरूप ज्ञानेंद्रिय
तो जाती रहती हैं, और ये दूसरी कर्म करने की आत्मा
(पंचप्राण) विद्यमान रहती हैं, ताकि शरीर की रक्
और पालना रहे।

(७१) किंतु जिस प्रकार उसका अस्तित्व उन मानसिक
वृत्तियों में कल्पित है, उसी तरह इन पञ्चप्राणों में भ
कल्पित है, उनका अपना नहीं है, क्योंकि अपना अस्तित्व
अपना आप होता है, और अपना आप अपने से अलग
नहीं हो सकता। यदि उनमें अपना अस्तित्व होता तो

है कि जो देखा जाता है, उसी का निश्चय होता है। सुषुप्ति में वह अपना आनंद देखता था, और यही प्रामाण्य है।

(७६) अब पूछते हैं कि वे समझने और ज्ञान की वृत्तियाँ सुषुप्ति में कहाँ गई थीं? तो तनिक विचार करने से जान सकता है कि सब इसमें उसी प्रकार लय हो गई थीं जिस प्रकार सर्प का अस्तित्व भी रज्जु में लय हो जाता है और रज्जु ही रज्जु दिखाई देती है, सर्प कुछ भी नहीं दिखाई देता। किंतु जाग्रत् में जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं करता, तब तक ये क्रियाएँ उसी प्रकार प्रकट होती हैं जिस प्रकार रज्जु में सर्प प्रकट होता है, जब तक कि रज्जु को वह प्रत्यक्ष नहीं देखता।

(७७) वरन ऐसा कह सकते हैं कि जाग्रत् में वे क्रियाएँ यों ही भासमान होती हैं जिस प्रकार सीप में रजत भासमान होता है। और यह पहले सिद्ध कर चुके हैं कि यह आत्मा स्वयं दृष्टिस्वरूप है, और अब सिद्ध हुआ कि अन्य आत्माएँ केवल आभासमात्र हैं। इस कारण जाग्रत् और स्वप्न में जो संसार दिखाई देता है, केवल दृष्टिरेव सृष्टि है। दृष्टिरेव सृष्टि के सिवाय कुछ भी विद्यमान नहीं। दृष्टि तो आत्मा है और सृष्टि जगत् है, जिसे संसार बोलते हैं।

(७८) जाग्रत् या स्वप्न में जो कुछ करना, पाना, दुःख, सुख, कष्ट और आराम है, सबके सब दृश्य या आभास होते हैं, यह केवल दृष्टि रूप स्वयं उनमें आया हुआ

समय तक ऋण में लिया गया है, पर इनमें वह (साक्षी आत्मा) उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार कि अंतःकरण में कल्पित है। परंतु उन कर्मों की समाप्ति तक, जो इस जीवन के भोग देने के लिये उदय होते हैं, ऋण की भाँति क्या जाग्रत् क्या स्वप्न क्या सुषुप्ति में वह प्रकट रहता है।

(७४) इस प्रकार के अनुसंधान से ज्ञात हुआ कि यह देखनेवाला अर्थात् साक्षी आत्मा वास्तव में दृष्टि-रूप, आनद रूप, अस्तित्व-रूप है, और कोई भी आकृति, कर्म या निश्चय अपना नही रखता, वरन् ये सब घटनाएँ जाग्रत् और स्वप्न में अन्य के धर्मों की भाँति उसमें कल्पित होती हैं। अपने स्वरूप में वह अकर्त्ता, अभोक्ता, केवल द्रष्टा या साक्षी है। इसी आत्मा को सस्कृत में चेतन बोलते हैं, और देखना, आराम तथा अस्तित्व उसका अपना है, क्योंकि सुषुप्ति में भी विद्यमान है, दूर नहीं। और अपने आनद में भी कोई भिन्न पीड़ा या दु ख वहाँ नहीं देखता है, क्योंकि वहाँ सिवाय उसके दूसरा नहीं है जिसे देखे। और दूसरे का निश्चय भी वहाँ नहीं रहा, जिससे अपने आपको तथा अपने आनद को और साथ ही दृष्टि को निश्चय करे।

(७५) परतु, जब जाग्रत् होती है, तो भिन्न मन का निश्चय पाता है। उस समय अपनी सुषुप्ति की असलियत को निश्चय करता है कि मै सुख में था, दूसरा कोई भी मेरे साथ न था, इसी कारण अचेत और अनजान था। और यह स्पष्ट

कि यों ही कल्पना की तरह वह रज्जु में सर्प और सीप में रजत की भाँति भिन्न विचित्रताएँ उसमें कल्पित करता है, जो उससे लगाव नहीं पा सकतीं। इसलिये वास्तव में भिन्न हैं और तुच्छ हैं, और कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता।

(८१) अब यों समझो कि जिस प्रकार मनुष्य की छाया भी दीपक की गति से गति करती है, लंबी और छोटी होती है, कभी दाहिने और कभी बाएँ बदलती है, उसी तरह यह प्राणात्मा भी, जो उसकी छाया है, कर्मों के बंधन में भाँति-भाँति के रूप धारण करती है। पहले तो यह स्थूल और फिर सूक्ष्म हो जाती है। इसकी स्थूलता तो सब तत्त्व, शरीर और देहें हैं, और इसकी सूक्ष्मता यही करने की आत्मा अर्थात् प्राणात्मा है, जो शरीरों में सब कुछ करती है। और भोग पाती है।

(८२) इसके समझने के लिये उचित है कि मनुष्य अपनी जिज्ञासा (छानबीन) करे, क्योंकि स्थाली पुलाक न्याय से जो कुछ इस करने की आत्मा (प्राणात्मा) की विचित्रताएँ यहाँ (इस मनुष्य में) पाई जाती हैं, वही दूसरों में हैं। क्या ऊर्ध्वलोक क्या अधोलोक अर्थात् वहाँ यहाँ, सबकी सब इसी की शाखाएँ हैं, और यही सबका मूल है।

(८३) अब यों समझो कि यह करने की आत्मा एक बड़ा राई का पेड़ है। जिस प्रकार राई का पेड़ बहुत छोटा-सा होता है, परंतु जब बोया जाता है और फैलता है,

परिच्छिन्न वा बद्ध कहलाता है, और यही सुषुप्ति में केवल दृष्टि-रूप बिना दृश्य के अपरिच्छिन्न वा मुक्त कहलाता है, क्योंकि वहाँ वह किसी भी दृश्य के बंधन में नहीं है, वरन् अकेला पूर्ण मुक्त होता है। इस मुक्त को संस्कृत में निर्गुण ब्रह्म और बद्ध को सगुण ब्रह्म बोलते हैं, क्योंकि गुण नाम संस्कृत में बंधन का है। बंधनवाले को सगुण कहा करते हैं, जिसे सूफी लोग मुकय्यद बोलते हैं। और बिना बंधनवाले को निर्गुण कहते हैं, जिसका अनुवाद सूफी लोग 'मुतलक' करते हैं। और हम इस मुक्त को स्वतंत्र कहते हैं और उस बद्ध को परतंत्र।

(७९) इस कारण हम कह सकते हैं कि वही निर्गुण है और वही सगुण है, क्योंकि जब हम दृश्य में भी उसे केवल दृष्टिमात्र पाते हैं, वही अनंतकालिक स्वतंत्र है। पर जब दृष्टि को सृष्टि के साथ तद्रूप निश्चय करते हैं, वही बद्ध है। और ये समस्त नाम-रूप उसी के प्रकाश हैं, उसके सिवा कुछ सत्यता नहीं रखते। अपनी ही किरणों में आप ही प्रकाशित हुआ परिच्छिन्न वा बद्ध है। जब वह अपनी किरणों को अपने में लय करता है, वही पूर्ण स्वतंत्र वा मुक्त है।

(८०) यह प्राणात्मा भी उसी का प्रकाश और उसी की छाया है। छाया या प्रकाश न तो उससे भिन्न होता है और न वही होता है। भिन्न तो इसलिये नहीं कि इसका अस्तित्व बिना उसके नहीं है, और वही वह इसलिये नहीं

किसी वस्तु की आकृति धारण करती हुई उससे एक होती हैं, तो हमारी आत्म-दृष्टि के दिखाने का कारण होती हैं, और इसी कारण इनको समझें (ज्ञानवृत्तियाँ) बोलते हैं। क्योंकि जब ये ज्ञान की वृत्तियाँ इस प्रकार काम नहीं करतीं, तो हमारी आत्म-दृष्टि में पहचान का वर्ताव नहीं होता। पर जब जानने और पहचानने के लिये उसमें काम करती हैं, तो कह सकते हैं कि हम इसे जानते और पहचानते हैं। अत ज्ञात हुआ कि जानना और पहचानना भी एक काम है, जो हमारी दृष्टि में उन्हीं वृत्तियों के कारण कल्पित होता है, परंतु हम वास्तव में न तो जानते न पहचानते हैं, वरन् उस वस्तु को और उस जान-पहचान को भी एक साथ देखते हैं, क्योंकि देखना तो हमारा अपना है, किंतु जान पहचान के वर्ताव हमारे अपने नहीं, वरन इसी भिन्न करनेवाली आत्मा (प्राणात्मा) के धर्म हैं।

(८७) जिस प्रकार नेत्र से मनोवृत्तियाँ निकलती हैं, उसी तरह कान से भी निकलती हैं, और शब्द की जान-पहचान का काम करती हैं, परंतु हम वास्तव में न तो शब्द को जानते और पहचानते हैं, वरन् शब्द और उसकी जान-पहचान को अपनी आत्म-दृष्टि से केवल देखते हैं। और यह पहले लिख आए हैं कि निश्चय बिना दृष्टि के नहीं होता, और हम स्पष्ट रूप से शब्द और उसकी जान-पहचान का निश्चय करते दिखाई देते हैं, तो ज्ञात

नो सबसे बड़ा पेड़ हो जाता है। इस तरह यह (प्राणात्मा भी मिथ्या अर्थात् तुच्छ है, सत्ता नहीं रखता, तो भी वह उस आत्मा के अस्तित्व में अस्तित्ववान् हुआ कर्म के जल से हरा-भरा होकर संसार-रूप अगणित शाखाओं में फैलता है।

(८४) इस प्राणात्मा का काम, जो करने की आत्मा है दो प्रकार का है—या तो ज्ञानवाला है या ज्ञानरहित। क्योंकि जब वह ऐसा काम करती है जिससे उसकी करतूतें समझ सोच और सूझरूप होती हैं, तो वह ज्ञानात्मा कहलाती है, और जब उसके काम सोच-समझ के नहीं होते, तो उसे शक्ति वा करने की आत्मा बोलते हैं।

(८५) देखो, जब किसी बात के विषय में मन के भीतर हम स्मरण करते हैं, तो यह ज्ञान की आत्मा तरंग करती उन्हीं रूपों के अनुसार, जो स्मरण किए जाते हैं, बनती हुई हमारी अपनी दृष्टि के आगे उठती है, और वही निश्चय वा ज्ञान की वृत्तियाँ कहलाती हैं। और जब हम नेत्र खोल कर किसी वस्तु की ओर दृष्टि करते हैं, तो यही वृत्तियाँ सूर्य की किरणों के समान नेत्रों द्वारा बाहर निकलती हैं, और उस वस्तु पर लगकर उसी तरह उसकी आकृति पर बनती हुई उससे एक हो जाती हैं, जैसा कि सूर्य की किरणें भी किसी वस्तु पर पड़ती हुई उससे एक होती हैं।

(८६) जब ये मनोवृत्तियाँ आँख से निकलती हैं, और

जान-पहचान में विशिष्ट होती है। और वैसे ही कान के मार्ग से जब जान-पहचान की वृत्तियाँ निकलती हैं, तो कान की इंद्रिय भी किरण की तरह उनके साथ मिलकर निकलती है, शब्द का आकार होकर उससे एक होती है, और उसके सुनाने और जान-पहचान के लिये विशिष्ट होती है।

(६०) इस प्रकार चक्षु में रूप के लिये, कर्ण में शब्द के लिये, जिह्वा में स्वाद के लिये, नासिका में गंध के लिये और त्वचा में शीतोष्ण के लिये पाँच भिन्न भिन्न इंद्रियाँ केंद्रित हैं जो इस करनेवाली आत्मा (प्राणात्मा) की भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं। उर्दूवाले उन्हें हवास बोलते हैं और भाषाविद् उन्हें ज्ञानेंद्रियाँ कहते हैं, क्योंकि ये रूप, शब्द, रस, गंध और स्पर्श के ज्ञान का विशेष काम करती हैं।

(६१) इनका काम यही है कि जब ये किसी वस्तु पर किरण की भाँति जा पड़ती हैं, तो उसके अज्ञान को उसी प्रकार दूर करती हैं जिस प्रकार सूर्य की किरण जिस पर जा पड़ती है उसके अँधेरे को दूर करती है। भौतिक अँधेरा एक ऐसी घटना है, जहाँ होती है, उसके अंशों को ढाँप लेती है, नेत्र को देखने नहीं देती। इसी तरह अज्ञान भी एक ऐसी घटना है कि हमारी आत्म दृष्टि को उन्हें दिखाने नहीं देती, वरन् जिस प्रकार आँगन में अँधेरा छाया हुआ स्वयं ही दिखाई देता है, उसी प्रकार सबमें अज्ञान भी छाया हुआ है, और जब तक ये भिन्न इंद्रियाँ अपना

हुआ कि हम शब्द को और उसकी जान-पहचान को अपनी आत्म-दृष्टि से केवल देखते हैं। किंतु ये जान-पहचान के काम इसी भिन्न आत्मा (प्राणात्मा) के धर्म हैं जो हम में कल्पित होते हैं, वास्तव में हम तो केवल देखते हैं।

(८८) वे जो जान-पहचान का काम करती हैं, वास्तव में मनोवृत्तियाँ हैं, और वही फिर स्मरण के समय भी हमारे भीतर पूर्ववत् जान-पहचान का काम करती हैं, किंतु दूसरी शाखाएँ भी मन से भिन्न निकलती हैं, जो आँख, कान, नाक में रहती हैं और जान-पहचान का काम नहीं करतीं, वरन् आँख में केंद्रित इंद्रिय तो हमारी दृष्टि के लिये विशेष रूपों के दिखाने का साधन होती है, और कान की इंद्रिय विशेष-शब्द के सुनाने के लिये विशिष्ट होती है। यही कारण है कि नेत्र के द्वारा हम रूप तो देख सकते हैं और उसकी जान-पहचान भी कल्पित पाते हैं, परंतु शब्द का श्रवण और उसकी जान-पहचान नहीं पाते।

(८९) और फिर चूँकि हम कान के मार्ग से शब्द का श्रवण और उसकी जान-पहचान पाते हैं, किंतु रूप का दर्शन और उसकी जान-पहचान नहीं पाते, तो ज्ञात हुआ कि आँख के रास्ते से सब जान-पहचान की वृत्तियाँ, जो मनोवृत्तियाँ हैं, निकलती हैं, तो साथ ही उनके आँख की इंद्रिय भी किरण की तरह निकलकर उस वस्तु की आकृति होती हुई उसमें एक होती है और उसी के दिखाने और

जान-पहचान में विशिष्ट होती है। और ऐसे ही कान के मार्ग से जब जान-पहचान की वृत्तियां निकलती हैं, तो कान की इन्द्रिय भी किरण की तरह उनके साथ मिलकर निकलती है, शब्द का आकार होकर उसमें रम जाती है, और उसके सुनाने और जान-पहचान के लिए विशिष्ट होती है।

(६०) इस प्रकार चक्षु में रूप के लिए, कानों में शब्द के लिये, जिह्वा में स्वाद के लिये, नासिका में गंध के लिये और त्वचा में शीतोष्ण के लिये पाँच भिन्न-भिन्न इंद्रियाँ केंद्रित हैं जो इस करनेवाली आत्मा (प्राणात्मा) की भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं। उर्दू वाले उन्हें हवास बोलते हैं और भाषाविद् उन्हें ज्ञानेंद्रियाँ कहते हैं, क्योंकि ये रूप, शब्द, रस, गंध और स्पर्श के ज्ञान का विशेष काम करती हैं।

(६१) इनका काम यही है कि जब ये किसी वस्तु पर किरण की भाँति जा पड़ती हैं, तो उसके अज्ञान को उसी प्रकार दूर करती हैं जिस प्रकार सूर्य की किरण जिस पर जा पड़ती है उसके अँधेरे को दूर करती है। भौतिक अँधेरा एक ऐसी घटना है, जहाँ होती है, उसके अंशों को ढाँप लेती है, नेत्र को देखने नहीं देती। इसी तरह अज्ञान भी एक ऐसी घटना है कि हमारी आत्म-दृष्टि को उन्हें दिखाने नहीं देती, वरन् जिस प्रकार आँखों में अँधेरा छाया हुआ स्वयं ही दिखाई देता है, उसी प्रकार सबमें अज्ञान भी छाया हुआ है, और जब तक ये भिन्न इन्द्रियाँ अपना

अपना काम नहीं करती, तब तक वह दूर भी नही होता, और हमारी आत्म-दृष्टि में स्वयं ही दिखाई देता है।

(६२) यही कारण है कि जिस-जिस वस्तु पर इन इंद्रियों का काम नहीं हो जाता, हम तब तक उसका अज्ञान निश्चय करते हैं कि हम उसे नहीं जानते। किंतु जब किसी वस्तु में इन इंद्रियों से हम बर्ताव कर चुकते हैं, तो निश्चय करते हैं कि हम उसे जानते-पहचानते हैं। इस कारण से ज्ञात हुआ कि ये इंद्रियाँ भी विशेष काम करती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अज्ञान दूर कर देती हैं। और जब इस प्रकार अज्ञान दूर हो जाता है, तो हमारी आत्म-दृष्टि भी उन्हें देखती है जिस प्रकार कि आँख भी जब सूर्य की किरण से किसी वस्तु का अँधेरा दूर हो जाता है, तो उसे देखती है। परतु यह स्पष्ट है कि सूर्य की किरण प्रत्येक वस्तु का अँधेरा तो दूर करती है, पर उसे स्वयं नहीं देखती, इसी तरह आँख भी अज्ञान को दूर करती है, स्वयं नहीं देखती, वरन् देखती तो वही आत्मा है जो देखनेवाली है, और वही हमारी आत्मा और वही साक्षी है।

(६३) अब विश्वास हो सकता है कि क्या मनोवृत्तियाँ, क्या ज्ञानेंद्रियाँ, सबकी सब अज्ञान के दूर करने के यन्त्र या साधन हैं, स्वयं दृष्टि नहीं, और उसी तरह जड़ हैं जिस प्रकार कि सूर्य की किरणें। किंतु दर्पण की तरह स्वच्छ है और हमारी साक्षी आत्मा की द्योतक हैं। और आत्मा

में प्रकट हुआ जहाँ-जहाँ वे (इंद्रियाँ) अपना काम
ती हैं उनको, उनके कामों को, और उन वस्तुओं को
जिनमें ये काम करती हैं, एक साथ देखता है। उसकी
ष्टि का कभी भी लोप नहीं होता। जब वस्तु में अज्ञान
ता है तो उन्हें अज्ञात देखता है, जब उनमें ज्ञानेंद्रियाँ
म करती हैं तो उन्हें ज्ञात देखता है। इसलिये जैसा वे
ती हैं और जिस गुण से गुणवान् होती हैं, वह उन्हें ज्यों
त्यों प्रकाशता है, और स्वयं बेपरवाह या स्वच्छंद है।

(१४) अज्ञात के अर्थ न मालूम के हैं, ज्ञात के अर्थ
मालूम के हैं। जब तक कोई वस्तु अज्ञान के गुण से गुणवान्
होती है, उसे अज्ञात बोलते हैं, और जब इन मनोवृत्तियों
। ज्ञान की इंद्रियों से उस वस्तु का अज्ञान दूर होता है,
जैसा कि वर्णन किया गया है, और फिर वह (वस्तु)
ज्ञान के गुण से गुणवान् होती है, तो उसे मालूम या ज्ञात
बोला करते हैं। चूँकि विद्या का गुण या ज्ञान का बर्ताव
इस वस्तु में इन्हीं वृत्तियों के कारण होता है, इसलिये
वास्तव में यही मनोवृत्तियाँ और ज्ञानेंद्रियों की किरणें ज्ञान
या समझ की असलियत हैं। वह साक्षी जो दृष्टि-रूप और
कूटस्थ है, स्वयं समझ-बूझ नहीं, वरन् उनमें बद्ध हुआ
बुद्धिमान् या विद्वान् कहलाता है।

(१५) पाश्चात्य विद्वान्, जो आजकल तत्त्वज्ञान का
दावा करते हैं, इस समझ की आत्मा को और इस साक्षी

अपना काम नहीं करती, तब तक वह दूर भी नहीं होता, और हमारी आत्म-दृष्टि में स्वयं ही दिखाई देता है।

(६२) यही कारण है कि जिस-जिस वस्तु पर इन इंद्रियों का काम नहीं हो जाता, हम तब तक उसका अज्ञान निश्चय करते हैं कि हम उसे नहीं जानते। किंतु जब किसी वस्तु मे इन इंद्रियो से हम बर्ताव कर चुकते हैं, तो निश्चय करते हैं कि हम उसे जानते-पहचानते हैं। इस कारण से ज्ञात हुआ कि ये इंद्रियाँ भी विशेष काम करती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अज्ञान दूर कर देती हैं। और जब इस प्रकार अज्ञान दूर हो जाता है, तो हमारी आत्म-दृष्टि भी उन्हें देखती है जिस प्रकार कि आँख भी जब सूर्य की किरण से किसी वस्तु का अँधेरा दूर हो जाता है, तो उसे देखती है। परतु यह स्पष्ट है कि सूर्य की किरण प्रत्येक वस्तु का अँधेरा तो दूर करती है, पर उसे स्वय नही देखती, इसी तरह आँख भी अज्ञान को दूर करती है, स्वयं नही देखती, बरन् देखती तो वही आत्मा है जो देखनेवाली है, और वही हमारी आत्मा और वही साक्षी है।

(६३) अब विश्वास हो सकता है कि क्या मनोवृत्तियाँ, क्या ज्ञानेंद्रियाँ, सबकी सब अज्ञान के दूर करने के यंत्र या साधन हैं, स्वय दृष्टि नहीं, और उसी तरह जड़ हैं जिस प्रकार कि सूर्य की किरणें। किंतु दर्पण की तरह स्वच्छ हे और हमारी साक्षी आत्मा की द्योतक हैं। और आत्मा

नमें प्रकट हुआ जहाँ-जहाँ वे (इंद्रियाँ) अपना काम रती हैं उनको, उनके कामों को, और उन वस्तुओं को ी, जिनमें ये काम करती हैं, एक साथ देखता है। उसकी ष्टि का कभी भी लोप नहीं होता। जब वस्तु में अज्ञान ोता है तो उन्हें अज्ञात देखता है, जब उनमें ज्ञानेंद्रियाँ ाम करती हैं तो उन्हें ज्ञात देखता है। इसलिये जैसा वे ोती हैं और जिस गुण से गुणवान होती हैं, वह उन्हें ज्यों त्यों प्रकाशता है, और स्वयं बेपरवाह या स्वच्छंद है।

(६४) अज्ञात के अर्थ न मालूम के हैं, ज्ञात के अर्थ लूम के हैं। जब तक कोई वस्तु अज्ञान के गुण से गुणवान ती है, उसे अज्ञात बोलते हैं, और जब इन मनोवृत्तियों ज्ञान की इंद्रियों से उस वस्तु का अज्ञान दूर होता है, सा कि वर्णन किया गया है, और फिर वह (वस्तु) न के गुण से गुणवान् होती है, तो उसे मालूम या ज्ञात ला करते हैं। चूँकि विद्या का गुण या ज्ञान का बर्ताव वस्तु में इन्हीं वृत्तियों के कारण होता है, इसलिये स्तव में यही मनोवृत्तियाँ और ज्ञानेंद्रियों की किरणें ज्ञान समझ की असलियत है। वह साक्षी जो दृष्टि-रूप और स्थ है, स्वयं समझ बूझ नहीं, वरन् उनमें बद्ध हुआ द्धिमान् या विद्वान् कहलाता है।

(६५) पाश्चात्य विद्वान्, जो आजकल तत्त्वज्ञान का ा करते हैं, इस समझ की आत्मा को और इस साक्षी

को नहीं जानते। यद्यपि वे अपनी बुद्धि को स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे बुद्धिमान् कहलाते हैं, तो भी वे इस रहस्य से अनभिज्ञ हैं कि यह (करने-भोगने वा समझ की) आत्मा भिन्न है, और वह (देखने की आत्मा) भिन्न। वलिक कुछ तो केवल मस्तिष्क का गुण मानते हैं, जो कुछ भी कारण नहीं रखता। हाँ, यह तो अवश्य है कि इन दोनो आत्माओं का स्पष्टीकरण मन और मस्तिष्क की स्वस्थ अवस्था में होता है, इसलिये इस संबंध के कारण उनको भ्राति होती है कि यह मस्तिष्क का धर्म है। यह उसी प्रकार का भ्रम है जैसा कि स्फटिक का श्वेत ग्लास लाल मदिरा से भरा हुआ लाल निश्चय होता है। इन मनोवृत्तियों का प्रकट-स्थान वास्तव में मस्तिष्क है, और उनके धर्म मस्तिष्क में उसी तरह दिखाई देते हैं, जैसे मदिरा की लाली ग्लास में दिखाई देती है।

(६६) यदि तनिक भी विचार करें और अपनी युक्ति के हठ को छोड़ दें, तो तत्काल उस आत्मा के, जो समझ की आत्मा है, कायल (निश्चयात्मा) हो जायँ। क्योंकि यह नियम है कि जो जिसका स्वाभाविक गुण होता है, वह कभी भी उससे पृथक् नहीं होता, वरन् वही पृथक् होता है, जो भिन्न होता है। सुषुप्ति में मस्तिष्क स्वस्थ भी होता है, परंतु ये समझें उस समय उसमें नहीं होतीं, और जाग्रत् में भी जब निर्विकल्प समाधि होती है, तो मस्तिष्क इनसे रहित होता है, किंतु जब समाधि और सुषुप्ति

से हम निकलते हैं, तो फिर इन्हें मस्तिष्क में पाते हैं।

(६७) निःसंदेह समझ की वृत्तियाँ हमारी जान-पहचान के शस्त्र या साधन हैं, और मस्तिष्क उनका स्थान है, जहाँ उन्हें हम रखते और उनका वर्त्ताव करते हैं। और स्वप्न के समय वे मस्तिष्क से उतरकर सूक्ष्म नाड़ियों में जाती हुई हमको ज्ञात होती हैं, और हम भी उनके साथ उतरते दृष्टिगोचर होते हैं। वरन् जब तक हम हृदयाकाश में नहीं उतर जाते, तो इन्हीं नाड़ियों में एक विचित्र स्वप्न-संसार रचते हैं, और उसकी जान-पहचान इन्हीं साधनों से करते हैं। पर जब हम हृदयाकाश में उतर जाते हैं, तो इन्हें भी छोड़ जाते हैं। यही सुषुप्ति है। उस समय हमारी अपनी दृष्टि तो होती है किंतु उन आत्माओं के काम, जो जान पहचान हैं, नहीं होते, इसलिये हम बेखबर या बेसमझ तो हो जाते हैं, परंतु जिस तरह बुद्धिमानी के समय बुद्धि को देखते हैं, यहाँ बेसमझी या बेखबरी को भी देखते हैं, क्योंकि जागकर अपनी बेखबरी को स्वीकार करते हैं।

(६८) हम लिख चुके हैं कि यही बेसमझी वास्तव में जहल या अज्ञान है। और चूँकि सुषुप्ति में समझ का वर्त्ताव, जो भिन्न आत्मा का है, नहीं होता, हम में अज्ञान का गुण भी दूसरे का आरोपित होता है। इसी कारण हम अपने आपको अज्ञान के गुण में देखते हैं, किंतु पहचानते नहीं, क्योंकि "यहाँ बेसमझ हैं", ऐसा निश्चय नहीं पाते,

वरन् केवल बेखबरी या नासमझी को और अपने आपको देखते हैं। और जाग्रत् में जब यह समझ की आत्मा किसी कारण हम में दूसरे को आ जाती है, तो हम अपने अज्ञान को दूर करते हैं, और वहाँ जो उसे दिखाई देता था, उसका निश्चय भी करते हैं तथा पहचानते हैं कि हम बेख़बर, बेसमझ या अज्ञान हो गये थे। तो इस प्रकार के विचार से हम जान सकते हैं कि क्या ज्ञान और क्या अज्ञान, दोनों हम में दूसरों के धर्म कल्पित हैं। हम दोनों से पृथक् केवल दृष्टिस्वरूप, आनंदस्वरूप, सतस्वरूप हैं। और यह अज्ञान भी उसी आत्मा का मूल है, कि जो करने की आत्मा (प्राणात्मा) है।

(९९) ये आत्माएँ (वृत्तियाँ) सुपुप्ति के समय इस अज्ञान में उसी तरह लय हो जाती हैं जिस तरह कि वृक्ष की शाखाएँ और पत्ते उसके बीज में लय होते हैं, और इसी अज्ञान से यों निकलती हैं जिस प्रकार बीज में से भी उत्तम लहलहाती शाखाएँ, पात और फूल निकलते हैं।

(१००) सच तो यों है कि अज्ञान की असलियत समझ का न होना नहीं, वरन् यही समझ की आत्मा जब लपेट खाती है और लिपट जाती है, अज्ञान है, और यही जब फैलती है और नाना वृत्तियाँ रूप शाखा-प्रतिशाखा होती है, तो समझ कहलाती है। विचार करनेवाले पुरुष पर स्पष्ट हो सकता है कि जब यह ज्ञान की वृत्तियाँ लपेट

भाती हुई मस्तिष्क से उतरकर भीतर को एकत्रित हो जाती है, तो नींद आती है, और जब पूरे तौर पर हृदय के भीतर एकत्रित हो जाती हैं और बेसमझ हो जाती हैं, तो सुषुप्ति आ जाती है। इसलिये ज्ञात हुआ कि अज्ञान वास्तव में समझ की आत्मा का सकुचित होना है, ज्ञान का न होना नहीं।

(१०१) क्लोरोफार्म के सूँघने से भी ये समझ की वृत्तियाँ झटपट सकुचित हो जाती हैं, और वह मूर्च्छित-सा या मृतवत् हो जाता है। इस कारण से सिद्ध हो सकता है कि इनका सकुचित या लिपट जाना अज्ञान है, और इनका खुल जाना तथा सोच-विचार और निश्चय का काम करना ज्ञान है। यदि ये वृत्तियाँ प्राकृतिक रूप से एकत्रित होती हैं, तो निद्रा कहलाती है। यदि बिना प्राकृतिक रीति से एकत्रित होती हैं, तो मूर्च्छा कहलाती है। किंतु जब ये खुलती हैं और मस्तिष्क, कान, आँख तक आ जाती हैं, तो जाग्रत् होती है, उसी को सचेत बोलते हैं। और जब ये मस्तिष्क से बिलकुल संबंध छोड़ देती हैं, तो मृत्यु होती है। इससे ज्ञात हुआ कि ज्ञान और अज्ञान ... का अपना धर्म नहीं, अन्य का धर्म है, हाँ ... प्रकट-स्थान अवश्य है।

(१०२) और भी बहुत-से कारण हैं जिनसे ... है कि यह मस्तिष्क का अपना गुण नहीं, ...

वरन् केवल बेखबरी या नासमझी को और अपने आपको देखते हैं। और जाग्रत् में जब यह समझ की आत्मा किसी कारण हम में दूसरे की आ जाती है, तो हम अपने अज्ञान को दूर करते हैं, और वहाँ जो उसे दिखाई देता था, उसका निश्चय भी करते हैं तथा पहचानते हैं कि हम बेखबर, बेसमझ या अज्ञान हो गये थे। तो इस प्रकार के विचार से हम जान सकते हैं कि क्या ज्ञान और क्या अज्ञान, दोनों हम में दूसरों के धर्म कल्पित हैं। हम दोनो से पृथक् केवल दृष्टिस्वरूप, आनंदस्वरूप, सतस्वरूप हैं। और यह अज्ञान भी उसी आत्मा का मूल है, कि जो करने की आत्मा (प्राणात्मा) है।

(९९) ये आत्माएँ (वृत्तियाँ) सुषुप्ति के समय इस अज्ञान में उसी तरह लय हो जाती हैं जिस तरह कि वृक्ष की शाखाएँ और पत्ते उसके बीज में लय होते हैं, और इसी अज्ञान से यों निकलती है जिस प्रकार बीज में से भी उत्तम लहलहाती शाखाएँ, पात और फूल निकलते हैं।

(१००) सच तो यों है कि अज्ञान की असलियत समझ का न होना नहीं, वरन् यही समझ की आत्मा जब लपेट खाती है और लिपट जाती है, अज्ञान है, और यही जब फैलती है और नाना वृत्तियाँ रूप शाखा-प्रतिशाखा होती है, तो समझ कहलाती है। विचार करनेवाले पुरुष पर स्पष्ट हो सकता है कि जब यह ज्ञान की वृत्तियाँ लपेट

होती है, जैसा कि विचार के समय भी मस्तिष्क के भीतर ध्यान में बाहर का चक्र तो नहीं होता, तो भी उसकी समझ होती है।

(१०५) स्वप्न में भी यद्यपि जगत् भीतर विद्यमान नहीं होता, तो भी उसकी समझ जगत् के रूप में मनुष्य का निद्रा के समय दिखाई देती है, तो सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क जगत् के रूप पर नहीं था, वरन् यही आत्मा जो समझ की आत्मा है, जगत के रूप पर बन जाती है, और यही बाहर जगत् में फैलकर जगत् की आकृति पर बनती हुई जगत् को अपने से बाहिर दिखाती है। अतएव ज्ञात हुआ कि यह ज्ञान और अज्ञान मस्तिष्क का धर्म नहीं, वरन् मस्तिष्क से भिन्न समझ की आत्मा का धर्म है, जो मस्तिष्क में यावज्जीवन केंद्रित है।

(१०६) पाश्चात्य विद्वानों का यह विचार है कि जब सूर्य की किरणें आँख पर पड़ती हैं, और उसके पर्तों के भीतर प्रथम दृष्टि-पटल (retina) पर प्रत्येक वस्तु का चित्र छापती है, तब वह वस्तु दिखाई देती है। सो यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि सूर्य या दीपक की किरणें वस्तु से लौटकर हमारी आँख में दृष्टि-पटल पर चित्र छापने और उनके दिखलाने का कारण होती तो उन चित्रों का भी ज्ञान हो जाता, जो कि हर समय आँख में छपते हैं। परंतु मन की अनुपस्थिति के कारण ज्ञात नहीं होते।

ऐसी वस्तु नहीं जो किरण की तरह आँख-कान से निकल कर वस्तुओं का पता लगावे। परंतु ये वृत्तियाँ तो झटपट आकाश तक उसी तरह जा पहुँचती हैं, जिस तरह सूर्य की किरणें भी सूर्य से झटपट धरती तक आ जाती हैं। क्योंकि जब हम चंद्र की ओर दृष्टि करते हैं, तो ये (वृत्तियाँ) चंद्र में वरन् तारों में जा लगती हैं, उनके रूप में बनती उनसे एक होती हुई उनकी दृष्टि और जान-पहचान का काम करती हैं, और चद्र से लगकर शीतल शांत होती हुई हमारे नेत्र और मस्तिष्क को ठढक देती है।

(१०३) फिर जब हम किसी से दो-चार होते हैं, तो एक दूसरे की मनोवृत्तियाँ परस्पर घात-प्रतिघात करती हैं, और हम निश्चय करते हैं कि हमारी दृष्टि उसकी दृष्टि से लड़ती है। और जब हम चद्र या किसी वस्तु की ओर देखते हुए आँखें मीचते हैं, और फिर मन में उसका ध्यान करते हैं तो ये मनोवृत्तियाँ, जो असली चद्र से टकराकर भीतर प्रविष्ट हुई थीं, मन के भीतर उसी चद्र का आकार एक नया चंद्र बनाकर दिखाती हैं जो मानसिक चद्र कहलाता है।

(१०४) अत जहाँ समझ और वस्तु एक होती है, वहाँ तो वस्तु प्रत्यक्ष विद्यमान होती है, और जहाँ केवल समझ होती है और वस्तु की आकृति पर बनती है, किंतु वस्तु उसके भीतर प्रवेश नहीं पाती, तो वह केवल उसका ज्ञान

(१०७) और यदि बाहर की वस्तुओं के चित्र नेत्र में छपकर वस्तु के दिखलाने का कारण भी होते, तो आँख क्योंकि बहुत छोटी वस्तु है, और जो चित्र उस पर छपते हैं बहुत ही छोटे होते हैं, इसलिये ये वस्तुएँ भी छोटी मालूम होनी चाहिए थीं, परन्तु ऐसा नहीं होता। वरन् क्या मनुष्य, क्या नदी, क्या पहाड़, क्या आकाश, सबको हम पूर्ण लंबाई-चौड़ाई में देखते हैं, संक्षिप्त और छोटा नहीं।

(१०८) नेत्र में दृष्टि-पटल पर चित्र उलटे और संक्षिप्त छपते हैं, जैसा कि फोटो के शीशे या गोल दर्पण पर दृष्टिगोचर होते हैं, परंतु हमको सीधे और पूरे परिमाण में दिखाई देते हैं। जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि हमारा मन बाह्य किरणों से आँख पर छपी हुई वस्तुओं से परिचित नहीं होता।

(१०९) वरन् बाह्य वस्तु पर पहले बाहर के प्रकाश की किरणें पड़ती और अँधेरे को दूर करती हुई उसकी आकृति धारण करती हैं। फिर दृष्टि की किरणें आँख से निकलकर उसी प्रकाशित वस्तु पर पड़ती हुई उसके रूप के आकार होती हैं, और इस दृष्टि पर सवार विज्ञान-आत्मा किरण की तरह निकलकर उस वस्तु का रूप धारण करती है। जब इस प्रकार यह विज्ञान किसी वस्तु का रूप धारण करता है, तो आत्म-दृष्टि उसे अनुभव करती है, जिससे वस्तु का ज्ञान होता है। यही कारण है कि पूरे

परिमाण की वस्तु से परिचय होता है, क्योंकि सूर्य की किरण, दृष्टि की किरण और विज्ञान वा समझ की आत्मा की किरण का गुण है कि जिस वस्तु पर पड़ती है, उसके बराबर उसके रूप पर बन जाती है। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि बाहरी किरणों के कारण जो चित्र आँख में छपता है उससे मन परिचित नहीं होता, वरन् उस रूप से परिचित होता है जो मन अर्थात् विज्ञान ने ग्रहण किया हो।

(११०) कल्पना करो कि उनके घमंड को मान भी लें, तो भी दार्शनिक नियम से वह (सिद्धांत) स्थिर नहीं रहता, क्योंकि नेत्र में जो दृष्टि-पटल वे नियत करते हैं, स्वयं शरीर है, और शरीर का गुण यह है कि यदि उस पर एक रेखा या चिह्न करें और फिर उसी पर दूसरी रेखा वा चिह्न लगा दें, तो दोनों बिगड़ जाते हैं। जैसे एक कागज के टुकड़े पर मोहर करें और फिर उसी मोहर को या दूसरी मोहर को वहाँ छाप दें तो दोनों मोहरों के चित्र बिगड़ जायँगे और स्पष्ट होकर दिखाई नहीं देंगे।

(१११) यहाँ भी प्रत्येक क्षण में प्रत्येक वस्तु को हम देखते हैं, जिससे एक चित्र के पश्चात् दूसरा चित्र छपता है। यही कहना होगा कि यह (चित्र) खराब हो जाना चाहिए, न कि ठीक दिखाई देने का कारण। दूसरी आपत्ति यह है कि चित्र तो प्राय आँख में छपते हैं और उनकी दृष्टि बाहर या मस्तिष्क में फिर किस प्रकार होती है ? अत

अवश्य है कि मस्तिष्क के मार्ग से कोई आत्मिक तत्त्व आँख में आवे और उसमें चित्र को घेरे, वही जान-पहचान है। तो इस दशा में भी उन्हें मानना पड़ता है कि कोई वृत्ति मस्तिष्क से उतरकर आँख में आती और चित्र को व्याप्त करती है, जो समझ कहलाती है, परन्तु वह चित्र तो स्वयं समझ नहीं है।

(११२) पाश्चात्य विद्वानों को वाहर देखने में वड़े-वड़े गुमान और अनुमान हैं, जिनका अन्तिम परिणाम उन्होंने यही पाया है कि देखना तो आँख के भीतर है, और वाहर जो अपने स्थान पर वस्तु दिखाई देती है, भ्राति है। ऐसी अवस्था में तो इंद्रियों को प्रमाण नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिस खोज में कोई कारण भ्राति का पाया जाय, तो उनके ज्ञान-यन्त्र प्रमाण नहीं कहलाते, वरन् वही तहक़ीकात के यंत्र प्रमाण होते हैं कि जो अपनी खोज में सत्यता रखते हैं।

(११३) फिर चूँकि ये नियत करते हैं कि जो वस्तु आँख के भीतर छपती है, प्रतिविंवित छपती है, जैसा कि चित्र फोटो के शीशे मे भी प्रतिविंवित छपता है, और उसके सीधा देखने में वड़े-वड़े तर्क-वितर्क करते हैं जो दार्शनिक नियम से ठीक नहीं। फिर उसका कोई कारण भी नहीं वर्णन करते कि जब हम आँख वंद करके किसी वस्तु का ध्यान करते हैं, और उसकी आकृति भीतर

दिखाई देती है, तो किस प्रकार बिना छपने के बन जाती है ? क्योंकि यह तो संभव नहीं कि ध्यान के समय सूर्य की किरणें मस्तिष्क के भीतर जायें और बिना इसके कि वस्तु विद्यमान हो छाप दें।

(११४) ध्यान में तो हम वे वस्तुएँ भी, जो कभी विद्यमान नहीं, कल्पना कर सकते हैं। देखो गणेशजी की आकृति संसार में किसी ने नहीं देखी, पर हम वाणी से ही उसकी आकृति ऐसी अदर ध्यान कर सकते हैं कि जिसका सिर हाथी का और शरीर मनुष्य का होता है। फिर यह कौन-सी वस्तु है जो इस तरह ध्यान के समय आकृतिवान् होती और बदल जाती है ? अत यह मानना पड़ेगा कि यह वही समझ की आत्मा (विज्ञान) है जिसे हम मन या दिल कहते हैं, और यही आँख तथा कान के मार्ग से किरणों की तरह निकलकर जहाँ वस्तु होती है जाती है, उसकी आकृति पर पड़ती है और दिखाने का कारण होती है।

(११५) हाँ, इसमें संशय नहीं कि जहाँ अँधेरा होता है, तो वह अँधेरे की शकल में बनती है। उसके भीतर जो वस्तु होती है, उसके खयाल म अँधेरा उसे रोकता है। सूर्य की किरणें तो उसकी सहायक होती हैं, क्योंकि वे केवल अँधेरे को दूर करती हैं, परंतु वस्तुओं के अज्ञान को नहीं दूर करतीं। और यह समझ की आत्मा (विज्ञान) तो उसकी आकृति पर बनती हुई उसके अज्ञान को भी उसी प्रकार

दूर करती है जिस प्रकार किरणें अँधेरे को दूर करती हैं, और साक्षी आत्मा जो उनमें प्रकट होता है, उन्हें प्रकाशित करता है। यही दृष्टि का स्वरूप है।

(११६) किंतु, जब हम आँख या कान बंद करके उनका फिर ध्यान करते हैं, तो हमारे ध्यान के भीतर वही वृत्ति उनकी आकृति पर बनती है। चूँकि वे विद्यमान वस्तुएँ उसके अधिकार में नहीं होतीं, इसलिये उसे ध्यान या केवल ज्ञान कहते हैं। अत ज्ञात हुआ कि यह करने की आत्मा, जो इस प्रकार बर्ताव करती है, वास्तव में समझ की आत्मा है, और साक्षी उसे भी ध्यान में देखता है। इस समझ की आत्मा को संस्कृत में 'विज्ञान' बोलते हैं, और उस साक्षी को, जो इसमें प्रकट है, विज्ञानमय कहते हैं, क्योंकि वह उस समय विज्ञान में बद्ध है, और यही सगुण ब्रह्म है।

(११७) किंतु जब वह (साक्षी-आत्मा) सुषुप्ति में जाता है, तो इस विज्ञान के बंधन से निकल जाता है, और पूर्ण स्वतंत्र या मुक्त होता है। इसी कारण वहाँ किसी की पहचान का निश्चय नहीं होता, क्योंकि वह तो समझ के बंधन से निकल गया। यही मुक्तस्वरूप या निर्गुण ब्रह्म है। विज्ञान के बंधन में आया वास्तव में भी बद्ध नहीं होता, ...कि उसमें भी वह उसी तरह प्रकट होता है, जिस तरह ...ण में मुख दिखाई देता है। और जिस तरह प्रतिबिंब भी दर्पण में निश्चय के अधीन है, उसी तरह विज्ञान में भी

प्रतिबिंब की भाँति वह साक्षी बद्ध निश्चय होता है, परंतु बिंब तो कभी भी दर्पण के वशीभूत नहीं होता, इसी तरह वास्तव में तो वह बद्ध नहीं होता, तो भी बद्ध-सा निश्चय होता है।

(११८) जब यही विज्ञान नेत्रों से किरण की तरह निकलता है, और आँख में केंद्रित इंद्रिय भी, जो चक्षु कहलाती है, किरण के समान साथ ही निकलती है, तथा विशेष रूप से दिखाने के लिये उसके अधीन होती है, तो उस समय उसे चक्षुमय बोलते हैं। फारसी में चक्षु को बासरह और चक्षुमय को बसीर कहते हैं। जब कान से यही विज्ञान निकलता है, तो उसके साथ कान की इंद्रिय, जो श्रोत्र है, किरण के समान निकलती है और शब्द की पहचान के लिये विशिष्ट होती है, इसलिये इसे श्रोत्रमय कहते हैं। फारसी में श्रोत्र को सामिश्र और श्रोत्रमय को समीश्र बोलते हैं।

(११९) सुतराम्, भिन्न इंद्रियों के बंधन में आकर उन्हीं के नामों से बद्ध नाम पाता है। अधिक क्या लिखें, यही शरीर के बंधन में आया हुआ मनुष्य है, और इन बंधनों से निकला हुआ यही पूर्ण स्वतंत्र परमात्मा है। और वास्तव में तो अब भी बंधनों में आया हुआ वह सचमुच बद्ध या मनुष्य नहीं, उसी तरह मुक्त परमेश्वर है। तथास्तु।

(१२०) दूसरी प्राण-आत्माएँ करने की आत्माएँ हैं। वे

वही है जो शरीर के भीतर खींचती, निकालती, पकाती रोकती और बनाती है, जिसे पंचप्राण के नाम से हम कर्मकांड के प्रकरण में ब्योरेवार लिख आए हैं। और उनके बंधन में आया हुआ यही प्रजापति बद्ध, हर्त्ता-कर्त्ता, और स्रष्टा है। परंतु ये करने की आत्माएँ शाखाओं के समान हैं, वे समझ की आत्माएँ (वृत्तियाँ) शाखा-प्रतिशाखा हैं, और वे ज्ञानेंद्रियाँ उनके पत्ते और फल हैं। इस प्रकार यह करने की आत्मा (प्राणात्मा) शरीर के भीतर फैली हुई कर्मों के भोग के लिये इस शरीर में इस प्रकार स्थिर की गई है जैसे घर में खम्भे, और मनुष्य की आकृति कहलाती है।

(१२१) अब यह सुनो कि वह मुक्तस्वरूप इसमें किस प्रकार बद्ध होता है? वह समझ की आत्मा (विज्ञान), जो शरीर के भीतर सिद्ध की गई है, अनेक वृत्तियों से इस प्रकार विकीर्ण होती है जिस प्रकार सूर्य भी अपनी अनत किरणों में विकीर्ण होता है। किंतु बुद्धिमानों ने समष्टिरूप से उसे चार प्रकारों में नियत किया है, या तो वह संकल्प वा खयाल करती है, या स्मरण करती है, या खोज करती है, या अभिमान करती है। जब सकल्प वा खयाल करती है, तो उसे मन बोलते है, जब स्मरण करती है, तो उसे चित्त बोलते हैं, जब जाँच-पडताल करती है, तो उसे बुद्धि बोलते हैं, जब अभिमान करती है, तो उसे अहंकार कहते हैं।

(१२२) वे जो पचप्राण हैं, उनमें उस चेतन-आत्मा के अस्तित्व का प्रकाश होता है, किंतु उसकी ज्योति का प्रतिबिंब नहीं पड़ता, इसलिये वे विद्यमान तो हैं, पर ज्योतिर्मय नहीं। और उनमें गति उसी प्रकार आ जाती है जिस प्रकार चुम्बक के कारण लोहे में गति आ जाती है। किंतु इन पहचान की आत्माओं अर्थात् अंतःकरण में उस चेतन के अस्तित्व का प्रकाश भी होता है, और उसकी ज्योति का प्रतिबिंब भी पड़ता है, इसलिये वे गतिरूप होने के अतिरिक्त चेतन और ज्योतिर्मय भी हो जाती हैं। परंतु उसकी अहंता का प्रादुर्भाव और किसी में नहीं होता केवल अहंकार में होता है, इसलिये अहंकार का और उस आत्मा का अनजान को अंतर करना कठिन हो गया है, वरन् अहंकार आत्मा और आत्मा अहंकार सबको निश्चय हो रहा है।

(१२३) जबकि अहंकार उस आत्मा में है और उस (आत्मा) की अहंता समस्त गुणों के साथ अहंकार में कल्पित है, तो इस बंधन में आया हुआ वह इस शरीर का अभिमानी होता है। क्योंकि ये सब वृत्तियाँ इसी अहंकार के वश में हैं, और इसी (अहंकार) के लिये बुद्धि दरियाफ्त करती वा सोचती है। सोचने के पश्चात् संकल्प होता है, और करने की आत्माएँ अर्थात् कर्मेंद्रियाँ उठती हुई हाथ-पाँव चलाती हैं, मनुष्य का व्यापार करती है, और

मनुष्य के समस्त व्यापार इसी अहंकार के द्वारा उसमें कल्पित होते हैं, वास्तविक नहीं।

(१२४) चूँकि वह (साक्षी-आत्मा) तो अहंकार, उसके वर्ताव, और उसकी सेना के वर्ताव को केवल देखता है। यही कारण है कि वह अपने अहंकार को भी जानता-पहचानता और उसके वर्ताव को अपने में निश्चय करता है, फिर उन निश्चयों को भी निश्चय करना है, और उन सबको अपनी दृष्टि से केवल देखता है। अपने से भिन्न अहंकार से अहकारी, अपने से भिन्न की खोज से खोज करनेवाला और भिन्न शक्तियों से कर्त्ता-भोक्ता होता है, वास्तव में वह न तो कुछ कर्त्ता न भोक्ता, केवल द्रष्टा है, तो भी दूसरे के बंधनों से बद्ध, जिसमें अहंकार का बंधन सबसे महान् है, बद्ध होता है।

(१२५) जब यह अहंकार के बंधन को विवेक से तोड़ता है, वरन् उसको अपने में भिन्न कल्पित जानता है (और यह तब ही होता है, जब अपने आपको केवल साक्षी पहचानता है), तो फिर यह उनमें प्रकट हुआ भी बद्ध नहीं होता, वरन् वही मुक्त का मुक्त होता है। इस प्रकार बन्धनो से मुक्ति पाकर मुक्त होता है। इसी अहंकार से छूटना वास्तव में मुक्ति है, और यही प्रसाद है। कर्मकाड में इसी अहंकार को निर्वल किया जाता है, ज्ञान से इसी की जड़ उखाड़ी जाती है। इसी अहकार को सूफी

लोग नफ्स नाम देते हैं, वह पहचान की वृत्तियाँ जो इसके अधीन हैं, सब नफ्सानी कहलाती हैं, और ये दूसरी हैवानी।

(१२६) इस प्रकार अहंकार में बद्ध हुआ अहंकारी और प्राण में बद्ध हुआ प्राणी और शरीर के बंधन में आया हुआ मनुष्य कहलाता है। परन्तु उसके ये सामान्य बंधन, जो मनुष्य में ही दिखाई देते हैं, पशुओं में उससे कम और वनस्पतियों में उससे भी कम हैं, क्योंकि उनमें कम इंद्रियाँ हैं। देखो, वनस्पतियों में पंचप्राण तो हैं, अहंकार नहीं, और पशुओं में अहंकार तो है, बुद्धि नहीं। इसलिये वनस्पति का पशुओं से और पशुओं का मनुष्य से अंतर किया जाता है।

(१२७) फिर, मनुष्यों में भी कुछ मंद बुद्धि और कुछ तीव्र बुद्धि हैं। यह सब न्यूनाधिकता उसी करने की आत्मा (प्राणात्मा) की है, कुछ साक्षी-आत्मा की नहीं, वरन् एक अकेला आत्मा क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या वनस्पति, सबका देखनेवाला, साक्षी, सबमें एक है, किंतु जिस-जिस व्यक्ति में प्रकट हुआ है, उसके अहंकार में कल्पित अभिमान का संबंध पाता है, उसी को अपना आप समझता है, और उसी के हानि लाभ को अपने में मानता है। चूँकि ये सब बातें अपनी दृष्टि के अतिरिक्त उसमें भिन्न करने की आत्मा की कल्पित होती हैं, यही कारण है कि देवदत्त की मनोवृत्तियों से जानी-

पहचानी वस्तुएँ यज्ञदत्त के मन से निश्चय नहीं कर सकता, या यज्ञदत्त की मनोवृत्तियों से जानी-पहचानी वस्तुएँ देवदत्त की मनोवृत्तियों से नहीं पहचानता।

(१२८) यदि जान-पहचान भी दृष्टि की तरह उसकी अपनी होती, तो अवश्य था कि देवदत्त का जानना यज्ञदत्त का पहचानना हो जाता। परन्तु देवदत्त की जान-पहचान तो भिन्न आत्मा की इसमे आई है। यद्यपि यज्ञदत्त में भी वह अकेला प्रकट है, किंतु देवदत्त की मनोवृत्तियाँ वहाँ नहीं हैं, वरन् यज्ञदत्त की मनोवृत्तियाँ दूसरी भिन्न हैं, इसलिये वहाँ की समझें यहाँ की और यहाँ की समझें वहाँ की नहीं हो जातीं, वरन् वह सबसे असग और पवित्र आत्मा है और सब उसी में कल्पित होते हैं।

(१२९) जिस प्रकार यही पवित्र इकलौता आत्मा देखनेवाला क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या पशु पक्षी और उनकी व्यक्तियों में प्रकट हुआ है, उसी प्रकार ऊर्ध्वलोक में क्या पितर क्या देवता क्या प्रजापति सबमें यही अकेला पवित्रात्मा साक्षीस्वरूप प्रकट है, और प्रत्येक के अहंकार में अहता का कल्पित संबंध पाता पितर देवता और प्रजापति कहलाता है, किंतु उन (मनुष्य, पशु इत्यादि) के अहकार तो [illegible] वा व्यष्टि [illegible] और इन (देवता, पितर [illegible] अहंकार [illegible]। और उनकी समझे स[illegible]

कारण इनमें आया हुआ यही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ कहलाता है। परन्तु यहाँ भी जो सबमें सब कुछ होता या सबमें सब कुछ जानता है, इसका अपना धर्म नहीं, वरन् उसी भिन्न आत्मा का धर्म है जो मानसिक और प्राण-रूप शाखाओं से ऊर्ध्वलोक में दूसरे चमत्कार से खुलती है और यह उनमें बद्ध हुआ उनके गुणों से गुणवान् होता है, पर अपने स्वरूप में वह ज्यों का त्यों, पवित्र, अकर्त्ता-अभोक्ता केवल साक्षी रहता है।

(१३०) देखो, जब हम सुषुप्ति या समाधि में जाते हैं, तो अपनी संक्षिप्त उपाधियों अर्थात् मानवीय समझों और मानवीय करतूतों से निकल जाते हैं, और स्वतन्त्र तथा साक्षीस्वरूप होते हैं। इसी प्रकार इन्द्र या प्रजापति भी जब सोता या समाधि में होता है, तो यही मुक्तस्वरूप साक्षीमात्र होता है। यही कारण है कि समाधि या सुषुप्ति में सब एक हैं, जाग्रत् में भिन्न शरीरों, भिन्न मनों में आप एक ही अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार यह इकलौता मुक्तस्वरूप भिन्न-भिन्न उपाधियों में आया हुआ नाना रूप से प्रकट हुआ विराट् भगवान् कहलाता है।

(१३१) उन्नति (वृद्धि) में तो सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ यही है, पतन (अल्पता) में अल्प-शक्तिमान्, अल्पज्ञ यही है, किंतु क्या सर्वशक्तिमानता और सर्वज्ञता, क्या अल्प शक्तिमानता और अल्पज्ञता दोनों भिन्न उपाधियों के धर्म हैं, उसके अपने

पहचानी वस्तुएँ यज्ञदत्त के मन से निश्चय नहीं कर सकता, या यज्ञदत्त की मनोवृत्तियों से जानी-पहचानी वस्तुएँ देवदत्त की मनोवृत्तियों से नहीं पहचानता।

(१२८) यदि जान-पहचान भी दृष्टि की तरह उसकी अपनी होती, तो अवश्य था कि देवदत्त का जानना यज्ञदत्त का पहचानना हो जाता। परंतु देवदत्त की जान-पहचान तो भिन्न आत्मा की इसमें आई है। यद्यपि यज्ञदत्त में भी वह अकेला प्रकट है, किंतु देवदत्त की मनोवृत्तियाँ वहाँ नहीं हैं, वरन् यज्ञदत्त की मनोवृत्तियाँ दूसरी भिन्न हैं, इसलिये वहाँ की समझें यहाँ की और यहाँ की समझें वहाँ की नहीं हो जातीं, वरन् वह सबसे असग और पवित्र आत्मा है और सब उसी में कल्पित होते हैं।

(१२६) जिस प्रकार यही पवित्र इकलौता आत्मा देखनेवाला क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या पशु-पक्षी और उनकी व्यक्तियों में प्रकट हुआ है, उसी प्रकार ऊर्ध्वलोक में क्या पितर क्या देवता क्या प्रजापति सबमें यही अकेला पवित्रात्मा साक्षीस्वरूप प्रकट है, और प्रत्येक के अहंकार में अहता का कल्पित सबंध पाता पितर, देवता और प्रजापति कहलाता है; किंतु उन (मनुष्य, पशु इत्यादि) के अहकार तो व्यक्तिगत वा व्यष्टि-रूप हैं और इन (देवता, पितर इत्यादि) के अहकार समष्टि-रूप। और उनकी समझें सक्षिप्त हैं, इनकी समझें व्याप्त। इसी

अधिष्ठान से भिन्न कुछ भी नहीं होता। चूँकि क्या पिता, क्या पुत्र, सब शुद्धात्मा ब्रह्म में कल्पित हैं, इसलिये एक हैं। यह विषय आरम्भ से ईश्वरकृत पुस्तकों में चला आता है।

(१३४) जिस प्रकार एक समतल (सतह) के कई खंड कर दें, तो प्रत्येक खंड अपने सकल से बाहर नहीं होता वरन् उसमें प्रविष्ट होता है, उसी तरह क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी विराट् से (जिसे उर्दू में रहान कहते हैं) भिन्न नहीं, वरन् प्रत्येक वही है, और प्रत्येक जीव ईश्वर से पृथक् नहीं, वरन् वही है। किंतु जो कुछ सकल कर सकता है, वह अंश नहीं कर सकता, इसलिये मनुष्य तो अल्प शक्तिमान् है और विराट् सर्वशक्तिमान। और जिस प्रकार मनुष्य में फैली हुई प्राणात्मा चक्षु, श्रोत्र, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार नाना वृत्तियाँ रूप होती है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ भी जो विराट् की प्राणात्मा है, नाना देवता रूप होता उपास्य होता है, और यह प्रत्येक भिन्न देवता कहलाता है।

(१३५) जिस प्रकार चक्षु का स्थान विशेष नेत्र है, श्रोत्र का कर्ण, उसी प्रकार इन देवताओं के भी विशेष-विशेष स्थान हैं, और सबमें सब कुछ करते हैं। जैसे चक्षु तो विशेषत रूप दिखाने का काम करती है, और श्रोत्र शब्द सुनाने का। इसी तरह देवता भी अपने विशेष काम संसार में करते हैं, एक को दूसरे में प्रवेश नहीं। इन्हीं विशेष कर्मों और विशेष स्थानों के कारण इन्हें उनका देवता

नहीं। वह जो उन्हे भिन्न जानता है उनमें नहीं फँसता, वरन् उपाधि के रूप में भी मुक्त होता उनका साक्षी रहता है, और "मै ब्रह्म हूँ" खुल्लमखुल्ला निश्चय करता है। यही विचार प्रत्यक्ष फल है।

(१३२) जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अपने करने की आत्मा (प्राण व इंद्रियों) से मिला हुआ मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार समस्त धरती और आकाश और जो कुछ उनमें है एक समष्टि शरीर है, और वही करने की आत्मा उस शरीर में मिली हुई विराट् भगवान् कहलाती है, जिसे सूफी लोग रहान अर्थ करते हैं। परंतु जिस तरह मानव-शरीर के विचार से उसकी अंतरात्मा अहंकार (नफ्स) कहलाती है, उसी तरह समष्टि शरीर के विचार से रहान की अंतरात्मा परमेश्वर (अल्लाह) कहलाती है, जिसे हम हिरण्यगर्भ और प्रजापति भी कहते हैं।

(१३३) मनुष्य का शरीर वास्तव में विराट् के शरीर का एक अंश है, और मनुष्य का अहंकार अर्थात् जीव वास्तव में परमात्मा का एक अंश है। परंतु आत्मा तो सबमें एक है। इस प्रकार मनुष्य विराट् और जीव परमेश्वर है, और आत्मा शुद्ध ब्रह्म या पवित्रात्मा है। उसी विराट् और ईश्वर को पिता, इसी मनुष्य और जीव को मिलाकर पुत्र, और इसी आत्मा को शुद्ध ब्रह्म या पवित्रात्मा बोलते हैं, और ये तीनों वास्तव में एक हैं, क्योंकि कल्पित अपने द्योतक वा

अधिष्ठान से भिन्न कुछ भी नहीं होता। चूंकि क्या [illegible]
क्या पुत्र, सब शुद्धात्मा ब्रह्म में कल्पित हैं, इसलिए सब हैं
यह विषय आरंभ से ईश्वरकृत पुस्तकों में [illegible]

(१३४) जिस प्रकार एक समस्त [illegible]
कर दें, तो प्रत्येक खंड अपने [illegible]
वरन् उसमें प्रविष्ट होता है, इसी [illegible]
पशु पक्षी विराट् से (जिसे उर्दू में [illegible]
नहीं, वरन् प्रत्येक वही है, और [illegible]
नहीं, वरन् वही है। किंतु जो [illegible]
वह अंश नहीं कर सकता, इसलिए [illegible]
है और विराट् सर्वव्यापिमान [illegible]
में फैली हुई प्राणात्मा वायु और [illegible]
नाना वृत्तियाँ रूप होती हैं, और [illegible]
विराट् की प्राणात्मा है, [illegible]
होता है, और यह प्रत्येक [illegible]

(१३५) जिस प्रकार [illegible]
का कर्ण, उसी प्रकार [illegible]
स्थान है, और [illegible]
विशेषतः रूप [illegible]
सुनाने का। [illegible]
में करते हैं, [illegible]
कामों और [illegible]

कहते हैं, और इन्हीं के नाम पर उनका नाम होता है।

(१३६) उदाहरणत जो महानात्मा (प्रजापति) की शाखा सूर्य में स्थिर है, आँख तक फैली हुई है और दिखाने का काम करती है, वही सूर्य-देवता कहलाती है। जो उसकी शाखा चंद्रमा में केंद्रित हुई हृदय-कमल तक फैली हुई है और विशेष सोच-समझ का काम करती है, वही चन्द्र-देवता कहलाती है। और उन्हीं को सूफ़ी लोग सूर्य और चन्द्र का मुअकल या देखने-सोचने का फरिश्ता कहा करते हैं। और ये सब देवता या इन्द्रियाँ अपने विशेष काम में बद्ध यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न नाम रखती हैं, किंतु सब प्रजापति की प्राणात्मा की शाखाएँ हैं, जो करनेवाली आत्मा है। और शाखाएँ अपने कुल (मूल) से भिन्न नहीं होतीं, वरन् सबकी सब एक वृक्ष होती हैं, इसलिये ये देवता भी सबके सब एक ईश्वर हैं।

(१३७) इसके अनुसंधान में यद्यपि हमारे पास बड़ी-बड़ी दार्शनिक युक्तियाँ हैं, किंतु हम इसलिये नहीं कहते कि यह सूक्ष्म युक्तियाँ अदार्शनिकों की समझ में नहीं आ सकतीं। उचित है कि हम वैदिक आख्यानों से भाषा जाननेवालों पर उन्हें खोलें। इसलिये हम उन "दो तत्त्ववेत्ताओं का विवाद" वेदों से अनुवादित करते हैं, जो एक सगुण विद्या का विद्वान् अर्थात् इसी करनेवाली आत्मा का ज्ञाता व ज्ञानी था, और दूसरा इस देखनेवाली

आत्मा से भी परिचित था तथा इसको भली भाँति जानता था। पहले का नाम बालाकी गर्गगोत्र का ब्राह्मण है, दूसरे का नाम अजातशत्रु है, जो काशी का राजा था। यह गार्ग्य तो केवल करनेवाली आत्मा (प्राणात्मा) को जानता था और यह राजा देखनेवाली आत्मा को भी पहचानता था।

(१३८) * यजुर्वेद के आरण्यक भाग में हम यों सुनते हैं कि बालाकी नाम ब्राह्मण जो गर्गगोत्र में उत्पन्न होने के कारण गार्ग्य भी कहलाता था, सगुण विद्या का बड़ा ज्ञाता या विद्वान् था, और सगुण ब्रह्म को जानता था। वह अजातशत्रु काशी नरेश के यहाँ आ निकला और कहने लगा कि मैं तुझे ब्रह्म बतलाता हूँ। अजातशत्रु बोला कि मैं तुझे केवल इस वाक्य पर कि "ब्रह्म बतलाता हूँ" सहस्र गौवें देता हूँ। धन्य हो तुम जिसने मुझे इतना भी कहा, और धन्य हूँ मैं कि ब्रह्म के सुनने पर दान देता हूँ। क्योंकि लिखा है कि जनक ही वास्तव में दाता है और जनक ही वास्तव में सुननेवाला है। इसी कारण ब्राह्मण राजा जनक की ओर दौड़ते थे।

(१३९) इस प्रकार राजा को श्रद्धावान् पाकर गार्ग्य बोला, यह पुरुष जो सूर्य में और चक्षु में एक होकर उनका अभिमानी नेत्रों के मार्ग से मन में आया हुआ कर्त्ता-भोक्ता

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय दूसरा आरंभ से।

है, मैं इसे ब्रह्म देखता हूँ और मैं इसी को "ब्रह्म-रूप है" उपासना करता हूँ और तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१४०) राजा ने सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे जानता हूँ। यह उच्च कोटि की एक प्राणात्मा है जो समस्त देह और देहधारियों की सर्वशिरोमणि और शासक है। मैं भी इसका अवलंबन करता हूँ। वह जो इसका अवलंबन करता है, वस्तुत उत्तम पद पाता है, वरन् समस्त देह और देहधारियों का शिरोमणि होता है।

(१४१) तब उसने कहा कि यह पुरुष चंद्रमा और मन के भीतर आया हुआ उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है। मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ, इसी की उपासना करता हूँ, और तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो। राजा ने सिर हिलाया और कहा, नहीं-नहीं, इसमें झगड़ा न करो। मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक विराडात्मा है। इसका श्वेत वेष (पोशाक) है। यही जलों से शरीरी होकर उन्हीं में तैरता वनस्पति के रूप में आया हुआ यज्ञों में काम आता है, जिसे सोम बोलते हैं। इसी को वेदविद् ब्राह्मण सोमराज कहते हैं। इसी को चंद्र, वनस्पति, यज्ञ और मन में उनका अभिमानी जानता हुआ उपासना करता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, दिन-प्रतिदिन उसके वश की

उन्नति होती है, दूध पूत-अन्न सब कुछ उसके होता है, घटता नहीं।

(१४२) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो बिजली, त्वचा और हृदय-कमल में व्यापक है, और उनका अभिमानी हुआ कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१४३) राजा ने सिर हिलाया और कहा कि नहीं नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक तेजोमयी प्राणात्मा है और मैं इसे बिजली, देह की त्वचा और मन के भीतर एक ही देवता हुआ उन्हीं का अभिमानी और तेज में कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, आप भी तेजस्वी होता है और उसकी संतान भी तेजस्वी जीवन व्यतीत करती है।

(१४४) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो बाहर के आकाश और हृदय-आकाश में व्यापक है और उनका अभिमानी हुआ कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ, और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१४५) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक प्राणात्मा है जो सबमें पूर्ण हुई सब कुछ

करती है, और प्रत्यक्ष में उखड़ती नहीं। मैं भी इसे बाहर और भीतर के आकाश में एक ही अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस तरह उपासता है, वह भी संतान और पशुओं से पूर्ण होता है, और उसकी संतति का क्रम भी कभी भंग नहीं होता।

(१४६) तब गार्ग्य बोला—जो पुरुष वायु, श्वासों और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ, और उसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि उसी का अवलंबन करो।

(१४७) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक बड़ी शक्ति की प्राणात्मा है, इसका नाम इंद्र देवता है। यही वैकुण्ठ धाम में रहता है। सब पर विजयी है। इसको किसी ने विजय नहीं किया। इसकी सेना भी नित्य विजयी है। मैं इसकी भी उपासना करता हूँ, और बाहर और भीतर की वायु में एक ही देखता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, नित्य विजयी रहता है, और कोई दूसरा उसका प्रतियोगी या वैरी नहीं हो सकता।

(१४८) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो अग्नि, वाणी और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी की उपासना करो।

(१४९) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक प्राणात्मा है जो समस्त करने की आत्माओं (प्राणों) का मुख है। इसी में आहुति दी हुई सब देवता खाते हैं। मैं भी इसको आग, वाणी और हृदय में एक अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासना हूँ। यह जो इस तरह इसको उपासता है, सबका मुख होता है। सब इसी के द्वारा खाते हैं। उसकी संतान भी ऐसी होती है और उस संतान के भी सब आश्रय या उपजीवी हो जाते हैं।

(१५०) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो पानियों, वीर्य और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ, और इसकी उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१५१) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक प्राणात्मा है। इसे प्रतिरूप बोलते हैं। मैं भी इसको पानियों, वीर्य और हृदय में एक अभिमानी देवता कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। यह जो इसे इस प्रकार उपासता है, उसकी संतति में शुद्ध संतान ही उत्पन्न होती है, उसकी जाति में वर्णसंकर (हराम की) संतान उत्पन्न नहीं होती।

(१५२) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो दर्पणों,

करती है, और प्रत्यक्ष में उखड़ती नहीं। मैं भी इसे बाहर और भीतर के आकाश में एक ही अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस तरह उपासता है, वह भी संतान और पशुओं से पूर्ण होता है, और उसकी संतति का क्रम भी कभी भंग नहीं होता।

(१४६) तब गार्ग्य बोला—जो पुरुष वायु, श्वासों और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ, और उसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि उसी का अवलंबन करो।

(१४७) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक बड़ी शक्ति की प्राणात्मा है, इसका नाम इंद्र देवता है। यही वैकुण्ठ धाम में रहता है। सब पर विजयी है। इसको किसी ने विजय नहीं किया। इसकी सेना भी नित्य विजयी है। मैं इसकी भी उपासना करता हूँ, और बाहर और भीतर की वायु में एक ही देखता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, नित्य विजयी रहता है, और कोई दूसरा उसका प्रतियोगी वा वैरी नहीं हो सकता।

(१४८) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो अग्नि, वाणी और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी की उपासना करो।

पाता है। बीच में नहीं मरता, और कठिन रोग भी उसको नहीं आते।

(१५६) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो दिशाओं, कानों और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी देवता और कर्त्ता भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ, और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१५७) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक प्राणात्मा है, जो जोड़ा हो रहा है और जोड़ा कहलाता है। और इसी को अश्विनीकुमार देवता कहा करते हैं। मैं भी इसे दिशाओं, कानों और हृदय में एक अभिमानी देवता जानता हुआ उपासता हूँ। वह जो इसे दिशाओं कानों और हृदय में एक देवता हुआ उपासता है, जोड़ा बने रहता है, और अपने जोड़े से जुदाई या दूरी नहीं पाता।

(१५८) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो भौतिक अँधेरे और अज्ञान में एक होकर हृदय में अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसकी उपासना करता हूँ। तुम्हें भी ऐसा ही कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१५६) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं। इसमें भी झगड़ा मत करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक देवता है जिसे यमराज बोलते हैं। मैं भी इसे

वस्तुओं और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसकी उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि तुम भी इसी का अवलंबन करो।

(१५३) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह भी एक प्राणात्मा है, जिसे मन-मोहन कहते हैं। मैं भी इसे दर्पणों, स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में एक अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता देवता जानता हुआ उपासता हूँ। वे जो इसकी इस तरह उपासना करते हैं, आप मन-मोहन होते और संतान भी मन-मोहन उत्पन्न करते हैं। उन्हीं पर प्रत्येक देखकर मोहित हो जाता है। वास्तव में यह सदाचार और सौंदर्य का देवता है।

(-१५४) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो इदं, तत् इत्यादि संकेत, और इसके साथ-साथ प्राणात्मा में जीवन का कारण है, और हृदय में एक होकर कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसकी उसासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का अवलंबन करो।

(१५५) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह आयु का देवता है। मैं भी इसे इसी तरह उपासता हूँ। वह जो इसे इस तरह उपासता है, स्वाभाविक जीवन

बोला। क्योंकि प्राणात्माओं की आरंभ से अंतिम पंक्ति तक जितने देवता हैं, वह उसने क्रमानुसार बतलाए, यहाँ तक कि जो आदिसंकल्प-रूप ईश्वर का पद है, उसे भी प्रकट कर दिखाया, और ये सब देवता उसी की शाखाएँ हैं जो हमने करने की आत्मा (प्राणात्मा) विवेक करके दिखलाई हैं। राजा ने सबसे सिर हिलाया और उनकी उपासनाओं के फल और परिणाम भी साथ-साथ वर्णन कर दिए, जिससे कि गार्ग्य जान ले कि राजा उन्हें जानता और पहचानता है। और यह कि निःसंदेह वे सब उपास्य हैं और भिन्न-भिन्न विशेष-विशेष फल देते हैं, किंतु मोक्ष के स्वामी नहीं वरन् 'करनी-भरनी' रूप नियम के अधीन हैं। वह जो प्रसाद की आत्मा है, करनेवाली नहीं, केवल देखनेवाली है। और यह उपास्य सब उस (देखनेवाली आत्मा) की सेवा की आत्माएँ हैं। वास्तव में उसे ब्रह्म कहते हैं, इन्हें तो केवल कहने मात्र में ब्रह्म बोला जाता है, वास्तव में ये ब्रह्म नहीं, बल्कि देवता वा करने की आत्माएँ हैं।

(१६३) जब गार्ग्य इस प्रकार चुपका हो गया, आगे न बोला तो राजा ने कहा—"क्या तुम इतना ही जानते हो, या कुछ ज्ञान और भी है ?" उसने उत्तर दिया कि मैं तो यहाँ तक ही जानता हूँ, आगे नहीं जानता। तब गार्ग्य बोला, मैं आपका शिष्य होता हूँ। मुझे आप बतलावें कि इससे बढ़कर कौन-सा ब्रह्म है ?

अँधेरों, अविद्याओं और हृदय में एक करके जानता-पहचानता हूँ, और उपासता हूँ। वह जो इसे इस तरह उपासता है, दीर्घायु पाता है, और नियत काल तक जीवित रहता है, बीच में नहीं मरता।

(१६०) तब गार्ग्य बोला—यह पुरुष जो प्रजापति, बुद्धि और हृदय में एक हुआ उनका अभिमानी कर्त्ता भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ, और इसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ, कि तुम इसी की उपासना करो।

(१६१) राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं-नहीं, इसमें भी झगड़ा मत करो, क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह एक महान् प्राणात्मा है जो निकटवर्ती देवता है, और सब देवता इसी एक की शाखाएँ हैं। हम इसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं, साधारण लोग इसी को ईश्वर (खुदा तआला) कहते हैं, और यही तत्त्वविदों (हुक्मा) में अक़्ले-अव्वल (महत्) और सूफियों में तअय्युने-अव्वल या आदिकरण (आदिसंकल्प) कहलाती है। मैं इसे प्रजापति, बुद्धि और हृदय में व्यापक देखता हुआ सबका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूँ। वह जो इसे इस प्रकार उपासता है, बुद्धिमान् और विचारवान् कहलाता है, और उसी की सतान भी बुद्धिमान् होती है।

(१६२) तब गार्ग्य चुपका हो गया। आगे कुछ न

बोला। क्योंकि प्राणात्माओं की आरंभ से अंतिम पंक्ति तक जितने देवता हैं, वह उसने क्रमानुसार बतलाए, यहाँ तक कि जो आद्सिकल्प-रूप ईश्वर का पद है, उसे भी प्रकट कर दिखाया, और ये सब देवता उसी की शाखाएँ हैं जो हमने करने की आत्मा (प्राणात्मा) विवेक करके दिखलाई हैं। राजा ने सबसे सिर हिलाया और उनकी उपासनाओं के फल और परिणाम भी साथ-साथ वर्णन कर दिए जिससे कि गार्ग्य जान ले कि राजा उन्हें जानता और पहचानता है। और यह कि निःसंदेह वे सब उपास्य हैं और भिन्न-भिन्न विशेष-विशेष फल देने हैं, किंतु मोक्ष के स्वामी नहीं वरन् 'करनी भरनी' रूप नियम के अधीन हैं। वह जो प्रसाद की आत्मा है, करनेवाली नहीं, केवल देखनेवाली है। और यह उपास्य सब उस (देखनेवाली आत्मा) की सेवा की आत्माएँ हैं। वास्तव में उसे ब्रह्म कहते हैं, इन्हें तो केवल कहने मात्र में ब्रह्म बोला जाता है, वास्तव में ये ब्रह्म नहीं, बल्कि देवता वा करने की आत्माएँ हैं।

(१६३) जब गार्ग्य इस प्रकार चुपका हो गया, आगे न बोला तो राजा ने कहा—"क्या तुम इतना ही जानते हो, या कुछ ज्ञान और भी है?" उसने उत्तर दिया कि मैं तो यहाँ तक ही जानता हूँ, आगे नहीं जानता। तब गार्ग्य बोला, मैं आपका शिष्य होता हूँ। मुझे आप बतलावें कि इससे बढ़कर कौन-सा ब्रह्म है?

(१६८) देखो, जब संरक्षक की वाणी काम करती है, तो वाणी भोक्ता नहीं, वरन् संरक्षक ही भोक्ता होता है। या राजा की सेना देश पर विजय पाती है, तो उसका भोक्ता और स्वामी राजा होता है, सेना नहीं होती। इसी तरह ये देवता जो गार्ग्य ने मनुष्य के शरीर में ब्रह्म दर्शाये, राजा ने उन्हें सेवा करने के देवता सिद्ध कर दिखाये, जो असली आत्मा के सेवक हैं। और आत्मा, जो केवल देखता है, स्वामी है, उसी के भोग के लिये ये सब (देवता) इस (शरीर) में एकत्रित हैं।

(१६९) सोए हुए में उन देवताओं का नाम लेकर पुकारना इसलिये था कि यदि वे देखते या सुनते होते, तो बुलाने से उत्तर दे देते, क्योंकि जिसको जिसके नाम से बुलाया जाता है, वह उत्तर देता है। चूँकि आत्मा के बिना वे जड़ मृतक के समान हो जाते हैं, इसलिये वे बुलाने से उत्तर न दे सके, जब तक कि वह आत्मा उनका स्वामी, जो सबका जीवन है, उनमे न आ जाय। और उसका उनमें आ जाना वास्तव मे जाग्रत् है। और यह श्रुति ने दर्शाया है कि देवताओं के नाम लेने से वह सोया हुआ नहीं जागा।

(१७०) यह नहीं गुमान करना चाहिए कि जिन देवताओं के नाम से सोए हुए को पुकारा गया, वे भी सोये हुए थे, इसलिये उत्तर न दिया। तो यह भी ठीक नही, क्योंकि गार्ग्य उन देवताओ को नित्य कर्त्ता-भोक्ता निश्चय

करता था, और मानता था कि वे शरीर में मृत्यु तक अपना काम करते रहते हैं थकते नहीं (क्योंकि वह जो थक जाता है, दीन होता है, और वह ब्रह्म नहीं हो सकता), और गार्ग्य उन्हें ब्रह्म समझकर उपासना करता था।

(१७१) इस प्रकार सोए हुए के पास ले जाकर राजा ने उसे निश्चय दिलाया कि सेवा करने के देवता आत्मा की सहायता के बिना भोक्ता नहीं, क्योंकि यदि ये स्वयं भोक्ता होते, तो उस समय भी जब वे बुलाए गए थे वाणी को भोगते। यह नियम है कि जिसका जो भोग होता है, जब वह उसे मिले, तो वह भोग लेता है। देखो आग का काम जलाना और प्रकाश देना है, जब उसमें कोई तिनका फेंक दिया जाता है, तो उसी समय उसे जलाती और प्रकाश देती है। यदि ये (देवता) अपने आप कुछ सुनते-समझते होते, तो बुलाने से वाणी को सुनते और समझ का प्रकाश देते। परंतु ऐसा नहीं हुआ। तो जिस तरह तिनका फेंकने से जब न जले तो निश्चय होता है कि यह अग्नि नहीं है, उसी तरह वाणी के न सुनने से निश्चय होता है कि गार्ग्य के उपास्य (देवता) अपने आप वाणी के भोक्ता नहीं। जिस तरह वे वाणी के भोक्ता नहीं, उसी तरह वे देखने, चखने और सूँघने इत्यादि के भी भोक्ता नहीं। सब भोग देने के लिये सेवक और साधन हैं। वह जो सेव्य और भोक्ता है, इनसे पृथक् है, और वही वास्तव में उपास्य है।

(१७२) देखो, सोए हुए में जिस प्रकार शब्द सुनाई नहीं देता, उसी तरह देखने की वस्तुएँ भी यद्यपि पास धरी होती हैं, किंतु दिखाई नहीं देतीं, और ऐसे ही गंध की वस्तुएँ भी पास होती हैं, किंतु सूँघी नहीं जातीं, ऐसे ही मुख में यदि कुछ वस्तुएँ डालें तो न वे स्वाद देती हैं न खाई जाती हैं। इसलिये भाषाविदों को पूरा विश्वास हो सकता है कि जिस प्रकार पत्थर भी भोक्ता नहीं, उसी प्रकार करने की आत्माएँ (प्राण व इंद्रियाँ) भी जो देवता हैं अपने आप भोक्ता नहीं। जिस प्रकार चलाया हुआ पत्थर भी चोट देता है, उसी तरह ये करने की आत्माएँ भी ऐसे चेतन की चलाई हुई चलती और काम करती हैं, वास्तव में पत्थर के समान जड हैं। जिस प्रकार पत्थर को उपास्य ठहराना जड़ को उपास्य ठहराना है, उसी प्रकार करने की आत्मा को भी उपास्य ठहराना जड़ को उपास्य ठहराना है, और क्या शरीर, क्या प्राण और क्या इंद्रिय सबके सब आत्मा के सिवा सगुण ब्रह्म हैं।

(१७३) यह भी खयाल नहीं करना चाहिए कि यद्यपि इन देवताओं का नाम लेकर सोए हुए को पुकारा गया, किंतु जैसे बहुधा जागते मनुष्य का भी नाम लेकर बुलाया जाय, और इस कारण कि उसका ध्यान दूसरी ओर हो और वह न सुने तो वहाँ यह विश्वास नहीं हो सकता कि वह वास्तव में सुनने का भोक्ता नहीं, वरन् खयाल होता है कि

उसका ध्यान नहीं था, इसी तरह उस समय भी हो सकता है कि उन देवताओं का, जो करने की आत्माएँ हैं, ध्यान नहीं था, इसलिये उन्होंने वाणी को पाते हुए भी नहीं सुना और नहीं भोगा, तो यह विचार भी मिथ्या है।

(१७४) क्योंकि गार्ग्य ने ये ईश्वर कल्पना करके वर्णन किए हैं। और यह संभव नहीं कि जब ईश्वर को स्मरण किया जाय, तो वह सुने नहीं, अन्यथा पूजा-पाठ और ध्यान के समय उससे प्रार्थना करना तथा आवाहन करना व्यर्थ होगा। मनुष्य में तो संभव है कि भूल और प्रमाद हो, उसमें भूल और प्रमाद की संभावना नहीं, यह गार्ग्य का निश्चय है। इसलिये उसमें इस विचार का संदेह नहीं आ सकता।

(१७५) यदि कोई आपत्ति करे कि आत्मा भी तो बुलाने से सोए हुए में नहीं उत्तर देता, तो किस प्रकार करने के देवता पर यह दोष आ सकता है? तो यह आपत्ति भी यहाँ बेसमझी की है, क्योंकि गार्ग्य के उपास्य देवताओं का नाम लेकर उसे बुलाया गया, वह किस प्रकार उत्तर दे? यद्यपि ये देवता उसके सेवक और प्रकट-स्थान हैं, और इन सबमें वह (साक्षी-आत्मा) अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता स्वामी है, तो भी जैसे मनुष्य को उँगली या हाथ के नाम से बुलावें तो नहीं उत्तर देता, इसी प्रकार ये देवता भी अंग और इंद्रियों के तद्वत् हैं, किस प्रकार उनके नाम

से वाणी को सुने ? इसी कारण से सेवा करने के देवता के नाम से राजा ने उसे बुलाया और जगाया, न जागा।

(१७६) गार्ग्य के मत में तो यही देवता कर्त्ता, भोक्ता, स्वामी हैं, परंतु इस समय चेतन-आत्मा से पृथक् हैं, अत. सुनते-समझते नहीं। इसलिये सिद्ध होता है कि करने की आत्माएँ सेवका हैं, भोक्ता या सेव्य नहीं। यह भी नहीं मान लेना चाहिए कि करने की आत्माएँ यद्यपि देवता हैं, परंतु मनुष्य के भीतर आई हुई वे सर्वसाधारण के निकट देवता नाम नहीं पातीं, वरन् इंद्रियाँ और प्राण नाम पाती हैं, और उन्हें उन्ही प्रसिद्ध नामों से नहीं बुलाया गया, इसलिये उन्होंने नहीं सुना। तो यह गुमान भी ठीक नहीं, क्योंकि गार्ग्य ने सिद्ध किया था कि जो चंद्रमा में और हृदय में है, वही चंद्र-देवता है और वही स्वामी है। जब उपासना करनेवाला उन्हें पहचानता है, तो क्या वे अपने नामों को नहीं जानते ? जानते तो अवश्य हैं परंतु जिसके कारण उनमें पहचान होती है, वह प्रसाद की आत्मा उनमें प्रकट नहीं, इसलिये वे सब मृतक और जड़ हैं।

(१७७) यदि कोई आपत्ति करे कि "अच्छा आत्मा के नाम लेने से भी तो आत्मा आवाज नहीं सुनता", तो यह भी आपत्ति बेसमझी की है, क्योंकि आत्मा तो कर्त्ता-भोक्ता राजा ने कल्पित किया है, और वह इस समय स्वप्न के भोग पा रहा है, और जाग्रत् के भोग देनेवाले

साधनों से सम्बंध छोड़ गया है, इसी कारण सामान्य लोग उसे सोता हुआ कहते हैं, सोया हुआ क्योंकर सुने ?

(१७८) किंतु प्राण-देवता तो सोया हुआ नहीं, वरन अपना काम करता है। देखो, श्वास लेता है। यदि वह सोच-समझ का गुण रखता, तो अवश्य था कि वाणी का भोग पाता। पर पाता नहीं, इसलिये निश्चय हो सकता है कि वह वास्तव में करने का यंत्र वा साधन है, कर्त्ता का चलाया हुआ उसी तरह चलाया जाता है जैसा कि एक घड़ी चलाई हुई बराबर चलती है, पर वह सुनती-समझती कुछ नहीं, इसलिये जड़ है।

(१७९) यदि कोई आपत्ति करे कि गार्ग्य ने तो भिन्न-भिन्न देवता और उनके भिन्न-भिन्न नाम फल सहित वर्णन किए हैं, और स्वयं राजा ने भी उत्तर में उल्लेख किया है कि प्रत्येक अपने विशेष-विशेष नाम के पुकारे जाने से समझ जाता है, परंतु यहाँ राजा ने प्रत्येक का विशेष नाम नहीं, वरन् सबका नाम लेकर उन्हें बुलाया है, जिससे वे नहीं बोले और समझ न सके। तो यह आपत्ति भी बेसमझी की है, क्योंकि गार्ग्य का तात्पर्य यहाँ भिन्न-भिन्न ईश्वर या उपास्य से नहीं, वरन् एक ही महानात्मा (प्राण) के भिन्न-भिन्न काम और भिन्न-भिन्न नाम से है। ऐसा तो कोई विद्वान् नहीं जो अनेक ईश्वर या उपास्य निश्चय करता हो।

(१८०) और हमने कर्मकांड में इसकी व्याख्या कर

दी है कि याज्ञवल्क्य मुनि ने जले हुए शाकल्य के प्रश्न पर पहले ३३ देवता वर्णन किए, फिर सक्षेप करते-करते एक ही प्राण-देवता सिद्ध किया। इसलिये वास्तव में करने की आत्मा एक है, जिसे सर्वसाधारण संसार का ईश्वर निश्चय करते हैं। और वही अन्य रूप से काम करती देवता या फरिश्ता कहलाती है। किंतु यहाँ यह समझना चाहिए कि वह अपना निजी देखना या समझना नही रखती, वरन् आत्मा के आभास से उसमें देखना या समझना आता है। और चेष्टा भी उसमें उसके स्वाधीन नहीं, वरन् वह भी उसमें श्वास फूँकने से उसी तरह आ जाती है, जैसा कि चुम्बक के कारण लोहे में गति आती है। वास्तव में यह, जो सर्वसाधारण लोग हर्त्ता, कर्त्ता, स्रष्टा उसे जानते और उपास्य स्वरूप ठहराते हैं, ठीक नहीं है, क्योंकि वह बद्ध और जड़ है, यद्यपि करने का साधन या यंत्र है।

(१८१) वह दूसरी आत्मा देखने की यद्यपि निजी देखना रखती है, करना या निश्चय या समर्थन निजी नहीं रखती, तो भी इस प्राण-देवता (सेवक) की सेवाएँ उसमें कहने मात्र सबंध पाती हैं। और इन दूसरों के कामों से वही (साक्षी-आत्मा) कर्त्ता-भोक्ता होता है, वही सेव्य और वही मुक्त है, जिसे निर्गुण कहते हैं, और उसी की पहचान पर मुक्ति निर्भर है।

(१८२) वास्तव मे यों है कि यही आत्मा ईश्वर है, पर

देखना तो इसका निजी गुण है, और कर्त्ता-भोक्ता परधर्म इसमें कल्पित है। वे जो ईश्वर को नित्य कर्त्ता और नित्य भोक्ता मानते हैं, वास्तव में भूल करते हैं, क्योंकि वे इसी प्राणात्मा को जो करने की आत्मा है ईश्वर जानते हैं, और देखना गुण जो (साक्षी) आत्मा का है इसमें कल्पित आया हुआ इसी (ईश्वर) का पाते हैं, इसलिये इसे (अर्थात् ईश्वर को) अकर्त्ता, अभोक्ता और माया से कर्त्ता भोक्ता मानते हैं, और यही इस अविवेक का यहाँ फल है।

(१८३) अब कदाचित् भाषाविद् यह दरियाफ्त करे कि फिर क्यों राजा ने हाथ से उसे हिला-हिला जगाया और क्यों जोर से पुकारा ? तो इसका कारण यह है कि जैसे तिनकों को आग पर रखकर हिलाते और फूँकते हैं, ताकि भिन्न अग्नि तिनकों पर प्रज्वलित हो जाय। इसी तरह हिलाने और उच्च स्वर द्वारा पुकारने से तात्पर्य यह था कि ये सेवक देवता जो गार्ग्य के उपास्य हैं, उस चेतन-आत्मा से प्रज्वलित और दीप्तिमान् हो जायँ, चुनाँचि वे दीप्तिमान् हो गये। इसलिये वह सोया हुआ जाग उठा और उसके आने से वह सोचता-समझता हो गया, और सत्कारपूर्वक राजा से बातें करने लग गया।

(१८४) राजा का तात्पर्य यह था कि इन करने की आत्माओं से अतिरिक्त एक दूसरी शुद्धात्मा भी है, जो केवल ज्योति है, जिसके कारण से ये काम करने की

आत्माएँ प्रकाशित होती हैं। और वह शुद्धात्मा कुछ करत नहीं, नित्य आनंद में है, उसमें कर्त्ता-भोक्ता-धर्म इन सेवकाओं की सेवाओं से कल्पित आ जाता है। सुषुप्ति में उसका अपना आनंद पाया जाता है। और जैसे दूर गए को जोर से पुकारते हैं और वह नहीं सुनता है, वैसे ही यह साक्षी-आत्मा भी इन (इंद्रियों इत्यादि देवता) से बहुत दूर थी, और शब्द न सुन सकी, इसलिये सोए हुए को राजा ने हाथ से हिलाया ताकि उस (साक्षी-आत्मा) से ये देवता प्रज्वलित हो जायँ।

(१८५) इन बातों से यह परिणाम निकला कि वह जो देखने की आत्मा है, वह कुछ नहीं करती, वरन् नित्य आनंद में है। क्योंकि करना वास्तव में कष्ट है, और स्वामी संभव नही कि कष्ट पावे, कष्ट तो सेवकों को है, जो करते और चलते हैं। और जिसके लिये वह सेवक सेवाएँ करते और चलते हैं, भोग कल्पित उसी के हैं। इसलिये ये सब करने के देवता साधन, सामग्री और सेवक हैं, और वही देखने की आत्मा इनमें शिरोमणि, स्वामी और निर्गुण है। चूँकि इनमें आई हुई वह शुद्धात्मा यद्यपि भोक्ता या कर्त्ता-सी प्रतीत होती है, तो [illegible] वास्तव में न [illegible] न भोक्ता है, वरन् इनके [illegible] और [illegible] है। और वही मनुष्य [illegible] अपना [illegible] से हम [illegible]सको अपना [illegible] हैं।

(१८६) यह आत्मा यद्यपि इकलौता है, विकारी नहीं, और वह करने की आत्मा विकारी शाखा-प्रतिशाखा फैलती है, तो भी यह (साक्षी-आत्मा) उसमें प्रत्येक स्थान पर प्रज्वलित हो जाता है। जैसा उस सोए हुए में जगाने के समय वह प्रज्वलित हुआ वैसा दूसरे जागते मनुष्यों में वही प्रज्वलित है, और इसी तरह चन्द्रलोक और सूर्य-लोक में तथा ब्रह्मलोक में जहाँ जहाँ यह करने की आत्मा फैली है, सबमें वह (शुद्धात्मा) प्रज्वलित हुआ उनमें उनके कामों के कारण कर्त्ता-भोक्ता होता है।

(१८७) मनुष्य में जितने भोग देने के लिये यह करने की आत्मा (प्राणात्मा) कर्म के बंधन में सहित खुली है, मानवीय भोग उसी (साक्षी) के हैं। देवताओं में जितने अधिक भोगों के लिये (यह करने की आत्मा) खुली है, देवताओं के भोग भी उसी के हैं, और ब्रह्मलोक में उत्तम पुण्यों के कारण सत्यसंकल्प-रूप में खुली है, वहाँ सत्यसंकल्प के भोग भी उसी के हैं। वास्तव में वही मनुष्य, वही प्रजापति है, तो भी प्रजापति के लोक में वह (साक्षी) आत्मा इस करने की आत्मा (प्राणात्मा) के कारण सत्यसंकल्प आदिक भोग पाता है, और मनुष्य में इसी के कारण से असत्यसंकल्प आदिक भोग पाता है, वास्तव में स्वयं अकर्त्ता, अभोक्ता, दृष्टिस्वरूप आनंदस्वरूप है ; किंतु अनजान इन सत्यसंकल्प आदि उपाधियों से उसे ईश्वर और असत्यसंकल्प आदि

उपाधियों से मनुष्य मानते हैं, और इन्हीं उपाधियों के कारण उसे बद्ध जानते हैं, यद्यपि वह इनके बंधन के अधीन नहीं (क्योंकि निद्रा में इन बंधनों से वह तत्काल चला जाता है, इसलिये बद्ध नहीं), वही निर्गुण का निर्गुण है। यह गार्ग्य को उसने जतलाया।

(१८८) फिर, चूँकि यह करने की आत्मा (प्राणात्मा) और शरीर गृह की तरह रचे जाते हैं, बिना शरीर के आत्मा कुछ नहीं कर सकती, और बिना आत्मा के शरीर स्थिर नहीं रहता। जैसा कि खभों के आधार पर घर स्थिर होता है, इसी तरह इस करने की आत्मा के आश्रय में शरीर स्थिर है। जिस प्रकार कि खभों के निकालने से घर गिर जाता है, उसी तरह इस करने की आत्मा के उखड़ने से शरीर भी गिर जाता है। इससे ज्ञात हुआ कि समस्त देवता, जो करने की आत्मा है, खभे की तरह इस घर का अंग हैं।

(१८९) यह स्पष्ट है कि जो घर आदि संघात से तैयार होता है, वह घर या उसके अंग के लिये नहीं होता, वरन् दूसरे के लिये होता है जो उसमें रहता और उसके उपयोग का भोग पाता है। यह कोई भी बुद्धिमान् नहीं निश्चय करता कि घर या उसका कोई भी अंग घर या उसके अंग का भोग है, वरन् उसी का जो उस संघात का अंश नहीं, अर्थात् उससे भिन्न जो मनुष्य है, उसका भोग है। जबकि

प्राण अर्थात् करने की आत्मा इस संघात का अंग है, इसलिये भी करने की आत्मा भोक्ता नहीं, वरन् वही आत्मा जो संघात का अंश नहीं, सबसे अलग है, उसका कर्त्ता-भोक्ता है।

(१६०) यदि कोई आपत्ति करे कि आत्मा भी तो संघात में आया हुआ है, उसे भी क्यों नहीं संघात का अंग निश्चय किया जाता ? तो हम बतलाते हैं कि यह आपत्ति मिथ्या है, क्योंकि राजा ने उसे हाथ से जगाया और उसमें बुलाया। यदि वह संघात में प्रविष्ट होता, तो इससे क्यों निकल जाता और फिर क्यों उसमें आ जाता ?

(१६१) देखो, मनुष्य घर में आता-जाता है, घर का अंग नहीं हो जाता, क्योंकि घर का कोई भी अंग घर से अस्तित्व पर्यंत पृथक् नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य घर के संघात का अंश या अंग नहीं, वरन् स्वामी और उसका भोक्ता है। आत्मा भी नींद में इस संघात से निकल जाता और जाग्रत् में आ जाता है, परन्तु करने की आत्मा (प्राणात्मा) इसका अंग है, यावज्जीवन इससे नहीं उखड़ती। इसलिये वही प्राण इसका मालिक या कर्त्ता-भोक्ता नहीं, वरन् वही आत्मा, जो नींद में अलग हो जाता और जाग्रत् में आ जाता है, उसका स्वामी, कर्त्ता-भोक्ता, इससे असंग है।

(१६२) दूसरा कारण यह है कि भोग कर्मों के कारण से होता है। संघात का संघात से या संघात के अंश का

संघात से अपने कर्मों से संबंध नहीं, वरन् वही संबंध है जो अंश का संघात से होता है। और आत्मा का कर्म-संबंध भोग पर्यंत है और विविध है। जब उसे जाग्रत् के भोग पाने होते हैं, तो जागता है। जब नींद के भोग पाने होते हैं, तो सो जाता है। और फिर जाग्रत् में भी (भोग) विविध हैं, कभी दुःख कभी सुख, कभी मोह कभी विवेक, कभी भलाइयों कभी बुराइयों के संबंध दिखाई देते हैं, किंतु अंश का पूर्ण से एक ही प्रकार का संबंध होता है, विविध नहीं होता।

(१६३) देखो, क्या छत, क्या दीवारें, क्या दीवार की ईंटें, क्या खंभे, सबको घर के साथ एक संबंध परस्पर जोड़ने का है, उससे विभिन्न नहीं। परंतु मनुष्य को उसमें बैठना-सोना, खाना-पीना, गरम-ठंढी हवा पाना, कभी इस कमरे कभी उस कमरे में आना-जाना विविध अपेक्षा विविध संबंध होते हैं, इसलिये मनुष्य भोक्ता है, घर भोग्य है। और शरीर भी सहित करने की आत्माओं के, जो गार्ग्य ने दिखलाईं, एक ही प्रकार का मिलाप-संबंध यावज्जीवन रखते हैं। आत्मा विविध कर्म-संबंध रखता है, इसलिये भी प्राण कर्त्ता-भोक्ता नहीं, यही आत्मा, जो देखने की आत्मा है, उनका स्वामी और उनका कर्त्ता-भोक्ता है।

(१६४) फिर, इस हेतु कि खंभे, ताक़, लकड़ी, दरवाज़ा इत्यादि, जो घर के अंश व अंग हैं, अपने कर्मों के

कारण अपना जन्म या अस्तित्व नहीं पाते, वरन् सब मनुष्य के लिये बनाए जाते हैं। और मनुष्य का उनमें भोग पाना अपनी मजदूरी के कारण होता है, चाहे वह स्वयं मजदूरी करके बनाता है या दूसरे से धन देकर तैयार कराता है, या भाड़े पर उसे उपयोग में लाता है। फलत उनकी तैयारी मनुष्य के कर्मों से होती है, अपने कर्मों से नहीं होती, इसलिये देह या प्राणात्मा, जो करने की आत्मा है, अपने-अपने कर्मों से अस्तित्व नहीं पाती, वरन् (साक्षी) आत्मा के कर्मों से बनाई गई है। इसलिये इसका स्वामी और कर्त्ता-भोक्ता भी (वास्तव में साक्षी) आत्मा है, प्राणात्मा नहीं।

(१६५) सर्वप्रकारेण इसमें देखता सुनता जानता मानता केवल आत्मा है, यह करने की आत्मा नहीं। जिस प्रकार घर में उसके अंश और उसकी सामग्री साधन आदि भी यद्यपि मनुष्य की करने की आत्मा के यंत्र वा साधन हैं, पर वे देखते सुनते जानते पहचानते नहीं, इसलिये वे भोक्ता भी घर के नहीं होते, वरन् उसका भोक्ता भी मनुष्य होता है, जो जानता पहचानता है, और वही मालिक है। उसी तरह मनुष्य में क्या शरीर क्या आभ्यंतरिक करने की आत्माएँ (प्राण व इंद्रियाँ) सब करने के साधन हैं, कुछ तो चलने के साधन हैं, कुछ पकड़ने के, कुछ देखने के, कुछ सुनने के, कुछ सोच-समझ विचार

तथा निश्चय के साधन हैं। इनमें से स्वयं कोई भी जानता-पहचानता नहीं, वरन् यही आत्मा जानता-पहचानता है, इसलिये यही इसका स्वामी और यही इसका कर्त्ता-भोक्ता है।

(१९६) यदि कोई आपत्ति करे कि जिस तरह मनुष्य चेतनवाला घर का कर्त्ता-भोक्ता है, देवता भी चेतनवाले सुनते-समझते हैं, वे भी भोक्ता हो सकते हैं। तो हम उत्तर देते हैं कि यह आपत्ति यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि सोए हुए मनुष्य में जो देवता अर्थात् करने की आत्माएँ हैं, उनसे चेतन अलग भोक्ता था, इसलिये उस समय चेतनवाले नहीं थे, अत वे भोक्ता और कर्त्ता भी नहीं, जाग्रत् में जब वे चेतनवाले होते हैं, तो बोलचाल में उन्हें भी भोक्ता कहते हैं। वास्तव में भोक्ता चेतन है, चेतनवाले नही।

(१९७) वह जो चेतनवाले को भोक्ता और कर्त्ता जानता है, अविद्या और भ्राति से जानता है, जैसा कि सर्व-साधारण लोग भी घर का भोक्ता मनुष्य को समझते हैं, यद्यपि मनुष्य भी एक इसी आत्मा का पहला घर है, और फिर उसके द्वारा बाहर का घर वरन् ससार-रूप घर इसी के भोग के लिये तैयार हुआ है, और सबका स्वामी और भोक्ता यही चेतन-आत्मा है। हाँ, क्रम यह है कि पहले उसका शरीर उसका भोग है, फिर उसका घर और फिर सारा संसार। इसलिये मनुष्य, जो घरों का भोक्ता उदाहरण में दिखलाया है, केवल बाह्य रूप से है, क्योंकि सर्वसाधारण

अविद्या के कारण उसे चेतनवाला जानते और भोक्ता खयाल करते हैं। वास्तव में सारे संसार का भोक्ता यही आत्मा है, दूसरा नहीं।

(१९८) यद्यपि सारा संसार, क्या यह क्या वह सब इसी के भोग हैं, परंतु अविद्या और कर्मों के बंधन में कुछ भोग पाता है कुछ नहीं पाता, बरन् कुछ चाहता है, नहीं मिलते, तो अपनी हीनता देखता है, और जब विद्यावान् होता है, तो अपने आपको इन आत्माओं और कर्मों के बंधन से मुक्त देखता है (क्योंकि निद्रा में उसे कोई भी बंधन नहीं होता), तो फिर यह सबका भोक्ता हो जाता है। इस तरह अविद्या और कर्मों के कारण यही बद्ध और विद्या के कारण यही मुक्त होता है, बरन् अपनी स्वतंत्रता में वह कर्त्ता हुआ अकर्त्ता, और भोक्ता हुआ अभोक्ता होता है।

(१९९) जब विद्या के कारण वह अपना स्वरूप अकर्त्ता, अभोक्ता, नित्य मुक्त, अक्षय सुख, सच्चिदानंद जानता है, तो उसे उतनी ही देर है, जब तक कि प्रारब्ध समाप्त नहीं होती, और फिर तो वह सबमें सब कुछ होता हुआ सबका स्वामी, सबका भोक्ता, सत्यसंकल्प होता है। इस प्रकार राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य को सोए हुए मनुष्य के निकट ले जाकर हाथ से हिला-डुलाकर देखनेवाली आत्मा का करनेवाली आत्मा से विवेक कर दिखाया कि "ये जो करने की आत्माएँ हैं बद्ध, जड़ और अनात्मा हैं, और उपास्य

होने योग्य नहीं। यह देखने की आत्मा, जो हाथ से जगाने में इनमें प्रज्वलित हो आई, इनसे अलग, असग, अकर्त्ता, अभोक्ता, आनंदस्वरूप है, और इन्हीं में आई हुई सबकी कर्त्ता-भोक्ता, सबकी मालिक है।" इति।

(२००) यही तेरा आत्मा है, यही उपास्य और सेव्य है, शेष सब सेवा की आत्माएँ हैं। अविद्या के कारण उस सेवा की आत्मा को, जो महान् प्राण है, सर्वसाधारण लोग ईश्वर और उपास्य जानते हैं, यद्यपि वह एक निकटवर्ती करने की आत्मा है, और इसी के लिये सब कुछ करती है। यही उसमें प्रज्वलित हुआ वास्तव में मुक्त परमेश्वर है, और उसी के भीतर आया वह बद्ध नाम पाता है। अतः वही सगुण, वही निगुण, वही बद्ध, वही मुक्त है। ये बंधन और ये देह उसके तेज या प्रकाश हैं, अपने ही प्रकाशों में बदी-सा हुआ ससारी और बद्ध नाम पाता है, वास्तव में न वह बद्ध है न संसारी, अविद्या के कारण अपने तेजों को उपास्य मानता आप दास बनता है। यही उसकी माया है।

(२०१) जब इस प्रकार राजा ने सोए हुए मनुष्य को हाथ से जगाया और वह उठा तो कहा—"क्या तू जानता है कि यह विज्ञानमय पुरुष सोया हुआ कहाँ था और कहाँ से आया ?" तब गार्ग्य ने कहा—"मैं नहीं जानता कि यह कहाँ था और अब कहाँ से आया है।'

(२०२) तब राजा ने कहा—"देख, यह विज्ञानमय

पुरुष, जो केवल देखने की आत्मा है, जब वह सोता था, तो इन करने की आत्माओं की शक्तियाँ विज्ञान से लेकर हृदय-कमल के भीतर जा सोया था। जब इस प्रकार यह हृदयाकाश में, जो उसका सिंहासन है, चला जाता है तो कहा जाता है कि यह सोता है, वास्तव में यह सोता नहीं, वरन् उन करने की आत्माओं का प्रयोग नहीं करता है। और उनकी शक्तियाँ इसके साथ चली जाती है, इसलिये यों कहा जाता है कि वह घ्राण, वाक्, चक्षु और [illegible] की शक्तियाँ तथा मन की शक्ति को अपने साथ ले गया। यहाँ मालूम हो सकता है कि वास्तव में वह अकर्ता अभोक्ता केवल दृष्टि और आनन्द-मात्र है, [illegible] मिलने से वह संसारी और बद्ध होता है। और [illegible] बंधन उसे कोई बाँध नहीं लेते। यदि [illegible] तो [illegible] प्रकार ऐसी सुगमता से नींद में वह उनसे [illegible]।

(७०३) ऐ गार्ग्य ! इस प्रकार की [illegible] सकता है कि वह तेरा आत्मा है, क्योंकि [illegible] हुए का निश्चय करता है कि मैं सो [illegible] फिर इन करने की आत्माओं को वर्त[illegible] करता है कि मैं सूँघता, बोलता, [illegible] समझता हूँ। फिर ये सब गुण तुम [illegible] होते हैं। इन कल्पित कामों के [illegible] नत्र, भोक्ता नहीं हो जाता। तो भी जैसे [illegible]

कहा जाता कि राजा लड़ता है, इस तरह तू भी कर्त्ता-भोक्ता कहलाता है, क्योंकि तुझ बिन दूसरा कौन कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। शिल्पी यदि शस्त्र से कुछ बनाता है, तो शस्त्र कर्त्ता नहीं हो जाता, वरन् कर्त्ता वही होता है जिसके कारण शस्त्र काम करते हैं।

(२०४) इस प्रकार दूसरी आत्मा के कामों से तू कर्त्ता-भोक्ता, संसारी, बद्ध अर्थात् सगुण ब्रह्म है, किंतु स्वरूप में वस्तुतः ज्यों का त्यों निर्गुण, असंग, नित्य मुक्त तू ही है, और दूसरी आत्माएँ सब तेरी सेवा की आत्माएँ हैं। यह शुद्ध आत्मा है, यही परब्रह्म है। इससे बढ़कर आगे कुछ नहीं।

(२०५) देखो, यदि यह करने की आत्माएँ उसे वास्तव में बद्ध कर लेतीं, तो बंधन से बंदी (कैदी), जब तक बंधन तोड़ा न जाय, नहीं छुट जाता। और यह तो इन बंधनों (उपाधियों) के होते हुए भी नींद में यों मुक्त (निरुपाधि) हो जाता है जैसा कि कभी भी बद्ध नहीं हुआ। और स्वप्न तथा जाग्रत् में भी जब सैर करता है, तो यद्यपि इन उपाधियों में वह बद्ध-सा प्रतीत होता है, परंतु तब भी बद्ध नहीं होता, उसी तरह मुक्त का मुक्त है।

(२०६) क्योंकि, देखो, जब यह स्वप्न में आता है, तो यह उसकी मलकूती अर्थात् स्वप्नलोक की सैर है, यहाँ कभी तो महाराजा की तरह होता है, कभी महाब्राह्मण की तरह,

कभी कंगाल, कभी अमीर भाँति भाँति के पराए धर्म पाता उनके धर्मों से धर्मवाला सा होता है। यद्यपि स्वप्न में वह उन्हें अपने धर्म मानता है, किंतु जाग्रत में आया निश्चय पाता है कि वे सब धर्म स्वप्न के अनुरूप मैं देखता था। अतः इस निश्चय से सिद्ध होता है कि वह स्वप्न में आया स्वप्नलोक की सैर करता है, उनके बंधनों में नहीं आ जाता।

(२०७) जाग्रत् में भी आता नासूती अर्थात् जाग्रत्-लोक की सैर करता है, क्योंकि जिस तरह स्वप्न का लोक उसका स्वप्न राज्य है, उसी तरह जाग्रत् का लोक उसका जाग्रत्-राज्य है। यहाँ भी इंद्रियों के बंधन में आया हुआ बद्ध-सा होता है, परंतु वास्तव में बंदी नहीं होता। वरन् जिस तरह स्वप्न राज्य में ख़यालों के बंधन के कारण अनुरूप भोग पाता है, उसी तरह इंद्रियों की उपाधियों में आया हुआ इंद्रियों के अनुरूप भोग पाता है। उन उपाधियों और उन उपाधियों के भोगों में लगावट नहीं पाता, उसी तरह असंग रहता है, जैसे कि स्वप्नलोक में स्वप्न-संसार की सैर करता हुआ असंग रहता है।

(२०८) जाग्रत् और स्वप्न के बंधन उसे बंदी नहीं करते, क्योंकि जहाँ उपाधियाँ किसी को बंदी कर लें, फिर दूसरे लोक में उसे सैर करनी नहीं मिलती। यहाँ तो निश्चय होता है कि वह सम्राट् के समान स्वतंत्र, दोनों

कहा जाता कि राजा लड़ता है, इस तरह तू भी कर्त्ता-भोक्ता कहलाता है, क्योंकि तुझ बिन दूसरा कौन कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। शिल्पी यदि शस्त्र से कुछ बनाता है, तो शस्त्र कर्त्ता नहीं हो जाता, वरन् कर्त्ता वही होता है जिसके कारण शस्त्र काम करते हैं।

(२०४) इस प्रकार दूसरी आत्मा के कामों से तू कर्त्ता-भोक्ता, संसारी, बद्ध अर्थात् सगुण ब्रह्म है, किंतु स्वरूप में वस्तुत ज्यों का त्यों निर्गुण, असंग, नित्य मुक्त तू ही है, और दूसरी आत्माएँ सब तेरी सेवा की आत्माएँ हैं। यह शुद्ध आत्मा है, यही परब्रह्म है। इससे बढ़कर आगे कुछ नहीं।

(२०५) देखो, यदि यह करने की आत्माएँ उसे वास्तव में बद्ध कर लेतीं, तो बंधन से बंदी (कैदी), जब तक बंधन तोड़ा न जाय, नहीं छूट जाता। और यह तो इन बंधनों (उपाधियों) के होते हुए भी नींद में यों मुक्त (निरुपाधि) हो जाता है जैसा कि कभी भी बद्ध नहीं हुआ। और स्वप्न तथा जाग्रत् में भी जब सैर करता है, तो यद्यपि इन उपाधियों में वह बद्ध-सा प्रतीत होता है, परंतु तब भी बद्ध नहीं होता, उसी तरह मुक्त का मुक्त है।

(२०६) क्योंकि, देखो, जब यह स्वप्न में आता है, तो यह उसकी मलकूती अर्थात् स्वप्नलोक की सैर है, यहाँ कभी तो महाराजा की तरह होता है, कभी महाब्राह्मण की तरह,

कभी कंगाल, कभी अमीर, भाँति-भाँति के परण धर्म पाता उनके धर्मों में धर्मवाला सा होता है। यद्यपि स्वप्न में वह उन्हें अपने धर्म मानता है, किंतु जाग्रत् में आया निश्चय पाता है कि वे सब धर्म स्वप्न के अनुरूप में देखता था। अतः इस निश्चय से सिद्ध होता है कि वह स्वप्न में आया स्वप्नलोक की सैर करता है, उनके बंधनों में नहीं आ जाता।

(२०७) जाग्रत् में भी आता नासूती अर्थात् जाग्रत्-लोक की सैर करता है, क्योंकि जिस तरह स्वप्न का लोक उसका स्वप्न-राज्य है, उसी तरह जाग्रत् का लोक उसका जाग्रत्-राज्य है। यहाँ भी इंद्रियों के बंधन में आया हुआ बद्ध-सा होता है, परंतु वास्तव में बंदी नहीं होता। वरन् जिस तरह स्वप्न-राज्य में खयालों के बंधन के कारण अनुरूप भोग पाता है, उसी तरह इंद्रिया की उपाधियों में आया हुआ इंद्रियों के अनुरूप भोग पाता है। उन उपाधियों और उन उपाधियों के भोगों में लगाव नहीं पाता, उसी तरह असंग रहता है, जैसा कि स्वप्नलोक में स्वप्न-संसार की सैर करता हुआ असंग रहता है।

(२०८) जाग्रत् और स्वप्न के बंधन उसे बंदी नहीं करते, क्योंकि जहाँ उपाधियाँ किसी को बंदी कर लें, फिर दूसरे लोक में उसे सैर करनी नहीं मिलती। यहाँ तो निश्चय होता है कि वह सम्राट् के समान स्वतंत्र, दोनों

कहा जाता कि राजा लड़ता है, इस तरह तू भी कर्त्ता-भोक्ता कहलाता है, क्योंकि तुझ विन दूसरा कौन कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। शिल्पी यदि शस्त्र से कुछ वनाता है, तो शस्त्र कर्त्ता नही हो जाता, वरन् कर्त्ता वही होता है जिसके कारण शस्त्र काम करते हैं।

(२०४) इस प्रकार दूसरी आत्मा के कामों से तू कर्त्ता-भोक्ता, संसारी, वद्ध अर्थात् सगुण ब्रह्म है, किंतु स्वरूप में वस्तुत ज्यों का त्यों निर्गुण, असंग, नित्य मुक्त तू ही है, और दूसरी आत्माएँ सव तेरी सेवा की आत्माएँ हैं। यह शुद्ध आत्मा है, यही परब्रह्म है। इससे वढ़कर आगे कुछ नहीं।

(२०५) देखो, यदि यह करने की आत्माएँ उसे वास्तव में वद्ध कर लेती, तो वंधन से वंदी (कैदी), जव तक वंधन तोड़ा न जाय, नही छुट जाता। और यह तो इन वंधनों (उपाधियों) के होते हुए भी नींद में यों मुक्त(निरुपाधि) हो जाता है जैसा कि कभी भी वद्ध नही हुआ। और स्वप्न तथा जाग्रत् में भी जव सैर करता है, तो यद्यपि इन उपाधियों में वह वंद-सा प्रतीत होता है, परंतु तव भी वद्ध नही होता, उसी तरह मुक्त का मुक्त है।

(२०६) क्योंकि, देखो, जव यह स्वप्न में आता है, तो यह उसकी मलकूती अर्थात् स्वप्नलोक की सैर है, यहाँ कभी तो महाराजा की तरह होता है, कभी महाब्राह्मण की तरह

(२१०) तो ज्ञात हुआ कि क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, कोई भी इस सम्राट् को बंदी नहीं कर सकता, बरन् सब इसी के राज्य और इसी के सेवक, इसी के भोग और इसी की विभूतियाँ वा तेज हैं। अपनी ही विभूतियों में आप ही सैर करनेवाला और आप ही बंदी-सा होता पराये के बंधनों से बद्ध और पराये के दुःख पीड़ाओं से दुःखी और पीड़ित सा प्रतीत होता है। तीनों लोकों में फिरता प्रत्येक लोक के बर्ताव और नियम व विधान अपने में मानता मनुष्य-सा निश्चित होता है।

(२११) जब वह इस प्रकार विवेक करके जानता है कि न तो वह प्रत्यक्ष पदार्थों में, न कल्पित पदार्थ में और न बुद्धि-जन्य वा अज्ञान जन्य अवस्थाओं में बंदी होता है, बरन् प्रत्यक्ष में आया हुआ प्रत्यक्ष को, कल्पित में आया हुआ कल्पना को, बुद्धि-जन्य में आया हुआ बुद्धि को, अज्ञानमयी दशा में आया हुआ अज्ञान को देखता है, तो वह क्या अज्ञान, क्या बुद्धि, क्या सोच, और क्या प्रत्यक्ष इन सबसे परे, सबसे अलग, और सबसे पवित्र, उनका साक्षी, देखनेवाला है। यही पद उसका तुरीय है, और यही चतुर्थ पद उसका कैवल्य मुक्ति है। और तेरा भी यही पद है, पर तू जानता नहीं।

(२१२) क्योंकि तू जानता नहीं, इसलिये सैर करता हुआ भी विषयों में बंदी हुआ विषय-स्पर्श के दुःख और सुख तू अपने में मानता है। देखो, यदि कोई तुम्हें मारता है

लोकों में क्या जाग्रत् क्या स्वप्न, जो उसके जाग्रत् और स्वप्न-राज्य हैं, सैर करता है। जिस प्रकार सम्राट् भी अपने राज्य में सैर करता बंदी नहीं होता, वरन् स्वतंत्र है, उसी तरह यह भी अपने साम्राज्यों में, जो जाग्रत्-स्वप्न हैं, फिरता हुआ उनका अधीन नहीं, वरन् उनका स्वामी और पति है, और उसी से ये सब शक्तियाँ पाते उसके लिये काम करते हैं।

(२०६) जिस प्रकार सम्राट् भी अपने सेवकों की शक्तियाँ और उच्च पद छीन लेता है और काम से पृथक् कर देता है, उसी तरह यह भी इंद्रिय-रूपी सेवकों को काम से पृथक् करके सुपुप्ति में, जो उसका सुपुप्ति राज्य है, चला जाता है, फिर किस प्रकार कह सकते हैं कि वह इन्द्रियों या मनोवृत्तियों का बंदी या अधीन है ? कदापि नहीं। सुपुप्ति में भी अविद्या और अज्ञान का बंधन उसमें उसी तरह कल्पित होता है जिस तरह स्वप्न में ख़याल या कल्पना का बंधन होता है, या जाग्रत् में इन्द्रियों का बंधन होता है। यदि सुपुप्ति में अविद्या उसे बंदी करती, तो किस प्रकार जाग्रत् वा स्वप्न में उसे सैर होती ? वरन् जिस प्रकार यह इन्द्रियों और मनोवृत्तियों की शक्तियाँ छीन लेता और उन्हें काम से पृथक् करता हुआ सुपुप्ति में चला जाता है, उसी तरह अविद्या की शक्तियाँ छीन लेता और उन्हें फेंक देता हुआ स्वप्न और जाग्रत् में आ जाता है।

(२१०) तो ज्ञात हुआ कि क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, कोई भी इस सम्राट् को बंदी नहीं कर सकता, वरन् सब इसी के राज्य और इसी के सेवक, इसी के भोग और इसी की विभूतियाँ वा तेज हैं। अपनी ही विभूतियों में आप ही सैर करनेवाला और आप ही बंदी-सा होता पराये के बंधनों से बद्ध और पराये के दुःख पीड़ाओं से दुःखी और पीड़ित सा प्रतीत होता है। तीनों लोकों में फिरता प्रत्येक लोक के बर्ताव और नियम व विधान अपने में मानता मनुष्य-सा निश्चित होता है।

(२११) जब वह इस प्रकार विवेक करके जानता है कि न तो वह प्रत्यक्ष पदार्थों में, न कल्पित पदार्थ में और न बुद्धि-जन्य वा अज्ञान-जन्य अवस्थाओं में बंदी होता है, वरन् प्रत्यक्ष में आया हुआ प्रत्यक्ष को, कल्पित में आया हुआ कल्पना को, बुद्धि-जन्य में आया हुआ बुद्धि को, अज्ञानमयी दशा में आया हुआ अज्ञान को देखता है, तो वह क्या अज्ञान, क्या बुद्धि, क्या शोच, और क्या प्रत्यक्ष इन सबसे परे, सबसे अलग, और सबसे पवित्र, उनका साक्षी, देखनेवाला है। यही पद उसका तुरीय है, और यही चतुर्थ पद उसका कैवल्य मुक्ति है। और तेरा भी यही पद है, पर तू जानता नहीं।

(२१२) क्योंकि तू जानता नहीं, इसलिये सैर करता हुआ भी विषयों में बंदी हुआ विषय-स्पर्श के दुःख और सुख तू अपने में मानता है। देखो, यदि कोई तुम्हें मारता है

तो वास्तव में तुम्हारे शरीर को मारता है, और शरीर और संघात के मिलाप से जीता शरीर पीड़ा पाता है (क्योंकि जब स्पर्शेंद्रिय छूट जाती है, तो फिर यह चोट से पीड़ा नहीं पाता, तो ज्ञात हुआ कि शरीर को सुख-दुःख इंद्रियों के संघातसमूह के कारण से है), और यह उस संघात का धर्म है, तेरा धर्म नहीं। तू तो उसका देखनेवाला साक्षी है, क्योंकि तू उस चोट को, उस संघात को और उसकी पीड़ा को देखता है, और साक्षी देता है कि उसे चोट लगी और पीड़ा हुई। और स्पष्ट है कि जिसे चोट लगती है और पीड़ा होती है वह दूसरा है, और दिखाई देता है। और वह जो उसे देखता है और साक्षी देता है, दूसरा है। फिर किस प्रकार हो सकता है कि तुझे चोट लगी और तुझे पीड़ा हुई?

(२१३) किंतु तू जो अपने आपको साक्षी नहीं जानता, इस अविद्या के कारण उन्हें अपने में मानता है, वरन् अपने आपको संघात जानता है, और यह तेरा निश्चय भी कि "मुझे पीड़ा हुई", उसी प्रकार की भूल है जैसा कि उदाहरण में कहते हैं कि * "मारे जुमा तो फाते खैरा, यह तेरी बड़ियाई"। इस प्रकार तू पराये के पापों से पापी और

---

* लखनऊ में इस तरह कहते हैं कि "मारे घुटना और फूटे कपार।"

पराये के दुःखों से दुःखी होता दीन दास ठहरता है

(२१४) तू विचार करके देख कि जिस प्रकार तू जाग्रत् में जाग्रत्-शरीर को अपना आप मानता है और उसके दुःख-सुख से दुःखी-सुखी होता है, उसी तरह स्वप्न में भी तू कल्पित शरीर को अपना आप मानता है और कल्पित मनुष्यों से धक्के खाता और मारपीट खाता-सा होता है। वहाँ स्वप्न में यद्यपि तू पीड़ा पाता और चिल्लाता है, किंतु वहाँ न तो तेरा शरीर होता है और न कोई मारनेवाला। पर वहाँ ये सब तेरी निद्रा की विचित्रताएँ हैं। ऐसे ही यहाँ जाग्रत् में भी न तो कोई मारता है, न मार खाता है, पर तेरी जाग्रत् की विचित्रताएँ हैं। क्या नींद, क्या जाग्रत्, तेरी अविद्या के रचित लोक हैं, और तेरा ही मोह संक्षिप्त सघात में तुझे अभिमान दिलाता दुःखी-सुखी करता है और भोक्ता बनाता है।

(२१५) जब तू भली भाँति विचार करेगा और जान लेगा कि जैसे सुषुप्ति में जब वह जाता है, तो यहाँ न कोई काम होता है और न कोई अन्य, वरन् ठीक आनंद विद्यमान होता है ; ऐसे ही तेरा स्वरूप वह है जिसे न तो तलवार काट सकती है, न आग जला सकती है, न पानी भिगो सकता है, और न वायु सुखा सकती है, तो जाग्रत् स्वप्न में ये (दैहिक दुःख पीड़ा इत्यादि) तुझे कुछ नहीं कर सकते। यह तब होता है जब वह इन नाड़ियों से

तो वास्तव में तुम्हारे शरीर को मारता है, और शरीर और संघात के मिलाप से जीता शरीर पीड़ा पाता है (क्योंकि जब स्पर्शेंद्रिय छूट जाती है, तो फिर यह चोट से पीड़ा नहीं पाता, तो ज्ञात हुआ कि शरीर को सुख-दुःख इंद्रियों के संघातसमूह के कारण से है), और यह उस संघात का धर्म है, तेरा धर्म नहीं। तू तो उसका देखनेवाला साक्षी है, क्योंकि तू उस चोट को, उस संघात को और उसकी पीड़ा को देखता है, और साक्षी देता है कि उसे चोट लगी और पीड़ा हुई। और स्पष्ट है कि जिसे चोट लगती है और पीड़ा होती है वह दूसरा है, और दिखाई देता है। और वह जो उसे देखता है और साक्षी देता है, दूसरा है। फिर किस प्रकार हो सकता है कि तुझे चोट लगी और तुझे पीड़ा हुई?

(२१२) किंतु तू जो अपने आपको साक्षी नहीं जानता, इस अविद्या के कारण उन्हें अपने में मानता है, वरन् अपने आपको संघात जानता है, और यह तेरा निश्चय भी कि "मुझे पीड़ा हुई", उसी प्रकार की भूल है जैसा कि उदाहरण में कहते हैं कि * "मारे जुमा तो फाते खैरा, यह तेरी बड़ियाई"। इस प्रकार तू पराये के पापों से पापी और

---

* लखनऊ में इस तरह कहते हैं कि 'मारे घुटना और फूटे कपार।"

है, क्योंकि वह अत में स्वामी है। किंतु हृदय के भीतर अविद्या अवश्य रहती है।

(२१८) परंतु वह व्यक्ति धन्य है, जो इसे पहचानकर निदिध्यासन करता है, और जीवन भर जाग्रत् तथा स्वप्न में भी आकर अपने आपको साक्षी जानता सब वर्ताव को उपाधियों के धर्म देखता, और अपने नित्य आनद में स्थित रहता है। वही वास्तव में महाब्राह्मण अर्थात् पूर्ण ज्ञानी है, और वही पूर्ण मुक्त है। वे जो इसे नहीं जानते, वही बद्ध जीव हैं। उस जीवन्मुक्त को तो मृत्यु के पश्चात् फिर ससार नहीं, वरन् वही द्युलोक उसका सिहासन है, अविद्या तत्काल दूर हो जाती है, और सत्यसकल्प आदिक भिन्न हिरण्यगर्भ के धर्म उसमें मुफ्त प्रसाद में आरोपित आ जाते हैं। और यह बद्ध जीव जन्म-मरणरूप ससार पाता है। इस कारण कि अविद्या और मोह में बँधा हुआ है, उसे जीव कहते हैं, और इसे ईश्वर। इस प्रकार राजा ने गार्ग्य को समझाया, और उसने इससे प्रसाद पाकर धन्यवाद अर्पण किया।

(२१९) ऐ गार्ग्य ! यही आत्मा जो अद्वैत, अखंड सुषुप्ति में अकेला सिद्ध हुआ है, यही परब्रह्म है। इसी से समस्त करने की आत्माएँ, जो प्राण कहलाती हैं, निकलीं ’। सर्वलोक, सर्वदेवता और सर्वभूत इससे इस प्रकार ॰ होते हैं जैसे कि अग्नि का प्रकाश अग्नि से उत्पन्न

है और अपने मुख्य लोक में हृदय के कोष के भीतर, जो आकाश है, चला जाता है।

(२१६) इस हृदय के कोष से, जिसे संस्कृत में पुरीतका नाड़ी कहते हैं, एक नाड़ी निकलती है जिससे बहत्तर हजार नाड़ियाँ शाखा-प्रतिशाखा होकर मस्तिष्क को आती जाती हैं, और ये नाड़ियाँ संस्कृत में हिता-नाड़ियाँ कहलाती हैं, क्योंकि जब यह नित्य-नैमित्तिक तथा पुण्य-कर्मों को करता है, तो इस हिता नाम नाड़ियों से निकलता देवयान-सड़क पर चलता हुआ ब्रह्मलोक को जाता है, जहाँ इसकी असलियत पूरी-पूरी इसे खुलती है, और अपने को स्वतंत्र वा मुक्तस्वरूप भी स्पष्ट पाता है। और चूँकि यही उसका अंतिम हित है, और यह नाड़ी उसके पाने का द्वार है, इसलिये इसको हिता-नाड़ी कहते हैं।

(२१७) इन हिता नाम नाड़ियों में से सरकता हुआ हृदय के कोष में उतरकर, आकाश में, जो हृदयाकाश कहलाता है, जब सुख पाता है, तो उसे सुषुप्ति बोलते हैं। वहाँ दूसरी सेवा की आत्मा की पहुँच नहीं, इसलिये अपने निर्गुणस्वरूप को पाता है। और इस प्रकार आनंद करता है जैसे कोई दुधमुँहा शिशु दुग्धपान करके सो जाता है। या कोई महाब्राह्मण अर्थात् पूर्ण ज्ञानी अपने विचार के वेग से अपने साक्षी-आत्मा में स्थित रहता नित्य मुक्त होता है। इसी तरह यह भी स्वाभाविक (स्वरूप में स्थित) होता

है, क्योंकि वह अंत में स्वामी है। किंतु हृदय के भीतर अविद्या अवश्य रहती है।

(२१८) परंतु वह व्यक्ति धन्य है, जो इसे पहचानकर निदिध्यासन करता है, और जीवन भर जाग्रत् तथा स्वप्न मे भी आकर अपने आपको साक्षी जानता नर वर्ताव को उपाधियों के धर्म देखता, और अपने नित्य आनंद म स्थित रहता है। वही वास्तव में महाब्राह्मण अर्थात् पूर्ण ज्ञानी है और वही पूर्ण मुक्त है। वे जो इसे नहीं जानते, वही बद्ध जीव हैं। उस जीवन्मुक्त को तो मृत्यु के पश्चात् फिर संसार नहीं, वरन् वही द्युलोक उसका सिंहासन है अविद्या तत्काल दूर हो जाती है, और सत्यसंकल्प आदिक भिन्न हिरण्यगर्भ के धर्म उसमें मुक्त प्रसाद म आरोपित आ जाते है। और यह बद्ध जीव जन्म मरणरूप संसार पाता है। इस कारण कि अविद्या और मोह में बँधा हुआ है, उसे जीव कहते हैं, और इसे ईश्वर। इस प्रकार राजा ने गार्ग्य को समझाया, और उसने इससे प्रसाद पाकर धन्यवाद अर्पण किया।

(२१९) पे गार्ग्य ! यही आत्मा जो अद्वैत, अखंड सुषुप्ति में अकेला सिद्ध हुआ है, यही परब्रह्म है। इसी से समस्त करने की आत्माएँ, जो प्राण कहलाती हैं निकली हैं। सर्वलोक, सर्वदेवता और सर्वभूत इससे इस प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे कि अग्नि का प्रकाश अग्नि से उत्पन्न

होता है, या जिस प्रकार मकड़ी से जाला के रूप में तारें निकलती हैं। उसकी उपनिषद् यह है कि वह सत्य का भी सत्य है, प्राण भी सत्य है, और वह प्राणों का भी सत्य है। यही उसकी उपनिषद् अर्थात् आत्मज्ञान है।

अध्याय दूसरा

(१) सचित तात्पर्य ऊपर की आख्यायिका का यह है कि "मैं तुझे ब्रह्म बतलाता हूँ" ऐसा गार्ग्य का दावा था, और करने की आत्माओं (प्राणों) को भी, जो उसने ब्रह्म बतलाया, राजा ने जड़ सिद्ध करके इस तरह संसार में उन्हें अंतर्गत किया कि यद्यपि वे उपास्य हैं और उनकी उपासना से फल भी होते हैं, परन्तु वे फल भी संसारी हैं। और फिर देखने की आत्मा को करने की आत्मा से विवेक करके सुषुप्ति में दिखलाया, जहाँ न तो किसी गुण का उसमें संबंध है और न कोई साधन या करने की आत्मा साथ है, और न कोई आत्मा के बिना उपादान है, वरन् उदय अखंड वस्तुमात्र अपना आत्मा वहाँ रहता है। वही आत्मा अकेला, निर्विकार, निरवयव अर्थात् क्यों-कब से रहित अथवा देशकाल वस्तुपरिच्छेद से रहित है, क्योंकि न तो उसके लिये वहाँ साधन हैं न उपादान, जिससे ससार की रचना करे, वरन् आप ही उपादानकारण, आप ही

जगत् का कर्त्ता है। विज्ञानोपाधि में जाग्रत् के समय वही केवल ज्योति सिद्ध होता है, जैसा कि हाथ लगाकर जगाने में राजा ने उसे चेतन, ज्योतियों की ज्योति सिद्ध कर दिखाया। और जाग्रत् में उसी विज्ञानमय से ज्ञानेंद्रियाँ किरणों के समान, जैसे सूर्य की किरणें सूर्य से निकलती हैं, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं।

(२) फिर उसी आत्मा को राजा ने, उन (इंद्रियों) से पृथक् उनकी शक्तियाँ छीनकर अपनी महिमा में, जो विशेषानद है, दिखलाया और सिद्ध किया कि सब इद्रियाँ, जो करने की आत्माएँ हैं, उसमें उसी तरह लय हो जाती हैं जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य डूबते समय सूर्य में लय हो जाती हैं। और जो जिसमें लय होता है, उससे निकलता है, यह नियम है, जिस प्रकार सूर्य की किरणें भी उदय-काल में उसी से फिर निकलती हैं।

(३) और फिर अत में ये उदाहरण दिए कि जिस प्रकार अग्नि की प्रभाएँ अग्नि से उत्पन्न होती हैं, और मकड़ी की तारें मकड़ी से निकलती हैं, उसी तरह आत्मा से क्या करने की आत्माएँ, क्या लोक-परलोक, क्या देवता, जो उनके विधानी और सबके उपास्य हैं, और क्या आकाश से पृथ्वी पर्यंत भूत सबके सब उत्पन्न होते हैं। और ये सब सत् हैं, और यही आत्मा इन सतों का भी सत् है। यही उसकी उपनिषद् अर्थात् पहचान है। इस तरह राजा ने

गार्ग्य को आत्मा ही परब्रह्म प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया।

(४) * अब इसमें जो सूक्ष्म भेद हैं, जिसकी व्याख्या में मूर्त-अमूर्त ब्राह्मण और शिशु ब्राह्मण का वर्णन करते हैं और हम भाषाविदों के लिये कहते हैं, वे ये हैं, कि सामान्य लोग यह जानते हैं, ईश्वर परमात्मा जगत् का कारीगर है। जिस तरह कारीगर बढ़ई लकड़ी से तख्त बनाता है, उसी तरह ईश्वर भी असत् (शून्यता) से सत् (जगत्) बनाता है। और जैसा तख्त से बढ़ई, जो उसका कर्त्ता है, अलग है, उसी तरह ईश्वर भी संसार से अलग है जो किसी ने देखाभाला नहीं।

(५) किंतु इस वेद की आख्यायिका से, जो ऊपर अनुवाद की गई है, ईश्वर आत्मा कारीगर तो सिद्ध होता है, परंतु जगत् से अलग नहीं कहा जाता, क्योंकि समस्त जगत् क्या शरीर, क्या प्राण, सब उसकी प्रभाएँ वा विभूतियाँ सिद्ध की हैं, और वही उसका उपादानकारण और वही उसका रचयिता ठहरता है। और जब कि वही उसका उपादान है, तो असत् से जगत् का अस्तित्व नहीं होता, वरन् सत् से सत् होता है। और दार्शनिक नियम के अनुसार भी यही ठीक है, क्योंकि दार्शनिक तत्त्वदर्शी लोग जानते

---

* बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के दूसरे और तीसरे ब्राह्मण को शिशु और मूर्त-अमूर्त ब्राह्मण कहते हैं।

हैं कि असत् से सत् का होना असंभव है। यदि असत् से कोई वस्तु उत्पन्न हो जाती, तो मनसे मनकी उत्पत्ति हो जाती। और ऐसा होता नहीं। तो सिद्ध होता है कि कार्य अपने कारण में उसी का आत्म-रूप होकर छिपा रहता है, और बर्ताव के समय उसी कारण से प्रकट हो जाता है।

(६) देखो, जब मक्खन का चाहनेवाला दूध को लेता है, मिट्टी नहीं लेता, तो वह जानता है कि दूध में मक्खन केंद्रित है, मिट्टी में नहीं, और कुम्हार दूध को नहीं वरन् मिट्टी को उठाता है, क्योंकि वह जानता है कि प्याला मिट्टी में केंद्रित है दूध में नहीं। यदि असत् से सत् हो सकता, तो मक्खन का बिलोनेवाला मिट्टी में से भी मक्खन बना लेता, और प्याला का बनानेवाला दूध से प्याला बना लेता, या जब कुछ भी उपादान न हो, तो यों ही दूध को दोहनेवाला मक्खन असत् से बना लेता, और इसी तरह प्याला बनानेवाला बिना मिट्टी के प्याले तैयार कर सकता।

(७) देखो, तिरखान भी बिना लकड़ी चौकी नहीं तैयार कर सकता, इञ्जीनियर भी बिना मसाले के घर नहीं बना सकता, तो ज्ञान हुआ कि असत् से किसी वस्तु का बनाया जाना कठिन है, वरन् स्वयं उपादान अपनी दूसरी आकृति या शोभा में, जो कारीगर उसे बनाता है, कार्य होकर

गार्ग्य को आत्मा ही परब्रह्म प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया।

(४) * अब इसमें जो सूक्ष्म भेद हैं, जिसकी व्याख्या में मूर्त-अमूर्त ब्राह्मण और शिशु ब्राह्मण का वर्णन करते हैं और हम भाषाविदों के लिये कहते हैं, वे ये हैं, कि सामान्य लोग यह जानते हैं, ईश्वर परमात्मा जगत् का कारीगर है। जिस तरह कारीगर बढ़ई लकड़ी से तख्त बनाता है, उसी तरह ईश्वर भी असत् (शून्यता) से सत् (जगत्) बनाता है। और जैसा तख्त से बढ़ई, जो उसका कर्त्ता है, अलग है, उसी तरह ईश्वर भी संसार से अलग है जो किसी ने देखाभाला नहीं।

(५) किंतु इस वेद की आख्यायिका से, जो ऊपर अनुवाद की गई है, ईश्वर आत्मा कारीगर तो सिद्ध होता है, परंतु जगत् से अलग नहीं कहा जाता, क्योंकि समस्त जगत् क्या शरीर, क्या प्राण, सब उसकी प्रभाएँ वा विभूतियाँ सिद्ध की हैं, और वही उसका उपादानकारण और वही उसका रचयिता ठहरता है। और जब कि वही उसका उपादान है, तो असत् से जगत् का अस्तित्व नहीं होता, वरन् सत् से सत् होता है। और दार्शनिक नियम के अनुसार भी यही ठीक है, क्योंकि दार्शनिक तत्त्वदर्शी लोग जानते

---

* बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के दूसरे और तीसरे ब्राह्मण को शिशु और मूर्त-अमूर्त ब्राह्मण कहते हैं।

तो फिर तख्त भी जाता रहे। फिर जब तोड़ा जाता है तो लकड़ी में लय हो जाता है। इस लकड़ी को तख्त का उपादानकारण और उर्दू में इसको मादा कहते हैं। ईश्वर आत्मा भी वास्तव में जगत् का उपादानकारण है, क्योंकि उसमें यह जगत् उत्पन्न होता है, और उत्पन्न हुआ उसी में ठहरता है, और दूर हुआ भी उसी में लय होता है। ऐसा श्रुति निश्चय करती है।

(१०) यह तो कोई भी नहीं मान सकता कि ईश्वर परमात्मा न हो और जगत् ठहरा रहे, जैसा तिरखान न हो तो तख्त ठहरा रहता है। इस प्रकार के तर्क और श्रुतियों के द्वारा जगत् का उपादानकारण भी परमात्मा ही निकलता है, जो सत् है, और जगत् भी उसी सत् से निकला उसमें ठहरा हुआ सत् है। और प्राण भी एक उसी जगत् का अंग हैं, वे भी उसी से, जो असली सत् है, निकलते उसी में ठहरते, उसी में अस्तित्व पाते हैं। इसी कारण से राजा अजातशत्रु ने कहा कि प्राण सत् हैं, और वह प्राणों का भी सत् है, यही उसकी पहचान है।

(११) निःसन्देह लकड़ी तख्त का उपादानकारण है, परन्तु कर्त्ता नहीं, क्योंकि जड़ है। वह जो जड़ होता है, उपादान तो हो सकता है, कर्त्ता नहीं हो सकता। फिर यह नहीं कि चेतन कर्त्ता तो हो सकता है, उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि सर्प कभी कुण्डली मारता है, कभी

दिखाई देता है। अत वह कारण ही अपनी दूसरी आकृति या कांति में आया कार्य कहलाता है। फिर किस प्रकार हो सकता है कि यह विचित्र संसार असत् से सत् हो गया हो? वरन् वही ईश्वर-आत्मा अपनी विविध महिमा और विभूतियों में प्रकाशमान हुआ जगत्-रूप हो रहा है, यही सत्य है। और जब कि वेद की श्रुतियाँ भी इसी बात का निश्चय करती हैं, तो तत्त्ववेत्ताओं की युक्ति को और भी दृढ़ता प्राप्त है।

(८) वे जो इसके विरुद्ध जगत् को असत् से सत् मानते हैं, अनजान हैं। तत्त्ववेत्ताओं और श्रुतियों के आगे उनका गौरव, जो अनपढ़ हैं, कुछ भी नहीं है। फिर चूँकि श्रुति स्पष्ट वर्णन करती है कि जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिसमें स्थित रहता है, और विनाश के समय फिर जिसमें लय होता है, वही ब्रह्म है। तो ज्ञात हुआ कि ब्रह्म उसका उपादानकारण भी है, किंतु तिरखान की तरह नहीं, क्योंकि तिरखान जो तख़्त बनाता है, तो फिर वह तिरखान में स्थित नहीं रहता, वरन् संभव है कि तिरखान मर जाय और तख़्त बना रहे। इसी तरह जब तख़्त टूट जाता है, तो तिरखान में लय नहीं हो जाता।

(९) वरन् लकड़ी में तख़्त उत्पन्न होता है और फिर लकड़ी में उत्पन्न हुआ स्थित रहता है। यदि लकड़ी न हो,

तो फिर आग भी जाता रहे। फिर जब आग जाता है तो लकड़ी में लय हो जाता है। इस लकड़ी का आग का उपादानकारण और उसी में इसके साथ रहता है। ईश्वर आत्मा भी यथार्थ में जगत का उपादानकारण है, क्योंकि उसमें यह जगत् उत्पन्न होता है, और उत्पन्न हुआ उसी में ठहरता है, और नष्ट हुआ भी उसी में लय होता है। ऐसा श्रुति निरूपण करती है।

(१०) यह तो कोई भी नहीं मान सकता कि ईश्वर परमात्मा न हो और जगत ठहरा रहे, जैसा निरगान न हो तो सत्त ठहरा रहता है। इस प्रकार के तर्क और श्रुतियों के द्वारा जगत का उपादानकारण भी परमात्मा ही निकलता है, जो सत् है, और जगत् भी उसी सत् से निकला उसमें ठहरा हुआ सत् है। और प्राण भी एक उसी जगत का अंग हैं, वे भी उसी से, जो असली सत् है, निकलते उसी में ठहरते, उसी में अस्तित्व पाते हैं। इसी कारण से राजा अजातशत्रु ने कहा कि प्राण सत् हैं, और यह प्राणों का भी सत् है, यही उसकी पहचान है।

(११) निःसन्देह लकड़ी अग्नि का उपादानकारण है, परन्तु कर्त्ता नहीं, क्योंकि जड़ है। यह जो जड़ होता है, उपादान तो हो सकता है, कर्त्ता नहीं हो सकता। फिर यह नहीं कि चेतन कर्त्ता तो हो सकता है, उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि सर्प कभी कुण्डली मारता है, कभी

लंवा हो जाता है—ऐसा निश्चय होता है। इस प्रकार कुण्डली मारने और लंवा होने का सर्प आप ही उपादान और आप ही कर्त्ता हो जाता है। देखो, देवदत्त खडा होता है और वैठ जाता है, तो वैठने और खड़े होने का देवदत्त ही कर्त्ता, देवदत्त ही उपादान है। इसी कारण ईश्वर परमात्मा चेतन देव में यह आपत्ति नही आ सकती कि वह कर्त्ता तो है उपादान नहीं हो सकता। वरन् निश्चय कर सकते हैं कि वह जगत् का आप ही कर्त्ता आप ही उपादान है।

(१२) जव कि वह जगत् का आप ही कर्त्ता, आप ही उपादान हो सकता है, तो क्योंकर निश्चय करें कि ईश्वर ने जगत् को असत् से सत् किया? वरन् निश्चय कर सकते हैं कि स्वय परमात्मा जगत्-रूप में प्रकाशमान हुआ है। और यही सत्य है, और वही उसका कारीगर है, जैसा कि एक अभिनय करनेवाला जव तरह-तरह के स्वॉग वन-वन आता है, तो आप ही स्वॉगों का कर्त्ता और आप ही उपादान है, वरन् प्रत्येक स्वॉग में जुदा-जुदा रूप धारण करता विचित्र अभिनेता निश्चित होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी जगत् की [illegible] विचित्र [illegible]।

यदि परमात्मा को जगत् का उपादान मानें, तो आवश्य है कि उसे बदलनेवाला भी मानें, परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये मानना चाहिए कि वह असत से बिना उपादान के जगत् बनाता है। तो उसकी यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि जैसा उसका बदलना कठिन है, वैसा असत से सत् होना भी कठिन है। होना नहीं हो सकते।

(१४) जब दीपक में उसकी किरण प्रकट होती है, तो दीपक वास्तव में बदल नहीं जाता, या सूर्य की किरणें सूर्य से निकलती हैं, तो सूर्य विकारवान् नहीं हो जाता, सोने में सोनार भूषण बनाता है, तो सोना ताँबा नहीं हो जाता, मरु में मृगतृष्णा प्रतीत होती है, तो मरु जल नहीं हो जाता, रज्जु में सर्प का भान होता है, तो रज्जु सर्प नहीं बन जाती, सीप में चाँदी का ख्याल उत्पन्न होता है, तो सीप चाँदी नहीं हो जाती है। इसी तरह परमात्मा भी यदि नाना जगत्-रूप होकर दिखाई दिया है, तो वह कुछ जगत् नहीं बन गया।

(१५) वरन् जिस प्रकार चाँदी के विचार में सीप सीप ही है, सर्प के निश्चय में रज्जु रज्जु ही है, मरुस्थल में यदि जल दिखाई देता है, पर बालू नहीं भीग जाती, दीपक यद्यपि अगणित किरणें प्रकट करता है, पर दीपक दूर नहीं हो जाता, वरन् सब किरणें दीपक की विचित्र दृष्टिगोचर होती हैं, इसी तरह परमात्मा भी कुछ जगत्

नहीं हो जाता, वरन् संसार इसी की एक सामान्य चमक है। लाल की चमक-दमक लाल-रूप है, पर लाल अपनी चमक-दमक में दिखाई देता है, बदल नहीं जाता।

(१६) जिस प्रकार दीपक की किरणें दीपक की केवल एक चमक हैं और उससे भिन्न नहीं, या लाल की चमक-दमक उसी की चमत्कारी (स्पष्टीकरण) है, और उससे भिन्न नहीं, उसी तरह नाना रूप जगत् भी चेतन (ज्योति) परमात्मा की चमक है, जो उससे भिन्न नहीं। और यह स्पष्ट है कि दीपक की किरणों का उपादान वही दीपक है, या लाल की चमक-दमक का उपादान वही लाल है। और न तो दीपक बिना दीपक के हो गया है, न लाल संगरेजा तुच्छ पत्थर बन गया है, वरन् दीपक अपनी किरणों में प्रकाशमान और लाल अपनी आब (चमक-दमक) में अनमोल सिद्ध होता है। इसी तरह ईश्वर परमात्मा भी अपनी संसार-रूपी किरणों में परम ज्योतिस्वरूप, सर्वशक्तिमान् प्रकट होता है, क्योंकर विचार करें कि वह तख्त के समान काटा गया है, या मिट्टी के समान गूँधा गया है जो प्याला बनाने में गूँधी जाती है।

(१७) बल्कि जिस तरह देवदत्त अपनी ऊठक-बैठक में देवदत्त ही बना रहता है, या सर्प अपने कुण्डल मारने या लंबे होने में वही सर्प का सर्प बना रहता है, क्योंकि न तो देवदत्त बदलता है न सर्प, केवल उनकी दशाएँ

(विभूतियाँ) बदलती हैं। इसी तरह ईश्वर परमात्मा भी जगत् रूप विभूति में आया हुआ आप नहीं बदलता, वरन् उसकी माया बदलती है। और यह माया उसकी महिमा (विभूति) है, जो उससे भिन्न नहीं।

(१८) जिस प्रकार सर्प कुण्डल की महिमा (आकार) में आवे, या लंबाई की शोभा पावे, या ऊपर को अपना फन उठाकर हिलावे, तो विचित्र आकारों (विभूतियों) में प्रकाश पाता है, पर साँप नहीं बदलता, वरन् आदमी उसे हर रूप में वही साँप पहचानते हैं। इसी तरह परमात्मा भी मानों अपनी माया की विचित्र आकृतियों में एक साथ जगत्-रूप होकर प्रकट हुआ है, तो भी हम उसे हर रूप में वही अपना आत्मा पहचानते हैं, फिर उसकी आकृतियों की विचित्रता पर हम न्योछावर होते हैं, तत्त्ववेत्ता तो स्वय विस्मित हैं।

(१९) यही कारण है कि राजा अजातशत्रु ने उदाहरण में यों जतलाया कि जैसे अग्नि की किरणें अग्नि से उत्पन्न होती हैं, इसी तरह इस ईश्वर परमात्मा से सर्वप्राण, सर्वलोक, सर्वदेवता और सर्वभूत उत्पन्न होते हैं। अत श्रुति का अभिप्राय वहाँ यह है कि जैसे अग्नि अपनी किरणों की आप ही उपादान है, इसी तरह परमात्मा भी इन सबका आप ही उपादान है। किंतु चूँकि अग्नि स्वय जड़ है, उपादान तो हो सकती है, पर कर्ता नहीं हो सकती, वरन्

उसमें से किरणें स्वाभाविक रूप से निकलती हैं। इसलिये दूसरा उदाहरण स्मरण किया कि जैसे मकड़ी भी अपनी तारें शिकार के लिये फैलाती है, वैसा ही उससे जगत् फैला है।

(२०) देखो, मकड़ी अपनी तारें फैलाने में स्वाभाविक रीति से विवश नहीं वरन् चेतन होने के कारण स्वाधीन है, चाहे फैलावे चाहे न फैलावे। इसी तरह यद्यपि जगत् भी परमात्मा की किरणें हैं, परतु अग्नि की किरणों के रूप में उससे विवशत नही प्रकट होती, वरन् उनके प्रकट होने में वह पूर्ण स्वाधीन और पूर्ण सामर्थ्यवान् है। यही स्वाधीनता और यही पूर्ण शक्ति उसकी माया है। वह अपने अधिकार से उन्हें उत्पन्न करता और अपने ही अधिकार से उन्हें लोप करता है, यह श्रुति का अभिप्राय है।

(२१) किंतु मकड़ी में खयाल हो सकता है कि उससे पंचभौतिक शरीर भिन्न है और चेतन जीव, जो उसमें केंद्रित है, भिन्न है, शरीर तो तारो का उपादान है और जीव चेतन कर्त्ता है। इसलिये श्रुति ने अग्नि की किरणों को भी उदाहरण में सम्मिलित किया है कि जिस प्रकार अग्नि का तेज अग्नि से भिन्न नही, उसी तरह जगत् की नाना किरणें भी चेतन से भिन्न नहीं, वरन् उसी की दमक-चमक हैं। इसलिये स्वाधीनता में तो मकड़ी का उदाहरण युक्ततम है, और उसी का प्रकाश होने में अग्नि का

उदाहरण युक्ततम है, और सक्षेप में यह दोनों उदाहरण ठीक उतरते है।

(२२) देखो, अग्नि की किरण या प्रकाश अग्नि से भिन्न नहीं, वरन् अग्नि है, तो भी अग्नि में प्रकट हुई भिन्न नाम रूप पाती है, क्योंकि उसे सर्वसाधारण अग्नि नहीं वरन् किरण या प्रकाश नाम देते है। और यद्यपि वह अग्नि का ही स्वरूप है, तो भी आँखों को झपका देता है, इसलिये उसका स्वरूप भी अग्नि से चमकमात्र कल्पना करते हैं, और फिर विवेचना करने से वह अग्नि के सिवाँ कुछ भी असलियत नहीं रखता, वरन् केवल नाम-रूप मात्र कथनीय है।

(२३) इसी तरह जगत् भी विविध नाम रूप है। प्रकाश की भाँति उस ज्योतिस्वरूप परमात्मा में प्रकट हुआ है, क्योंकि जिस वस्तु में पूर्ण ध्यान से हम देखते हैं, तो या उसकी आकृति है, जो दूसरी वस्तु की आकृति से भिन्न होती है, या उसका नाम है जो हमने उसकी पहचान के लिये औरों से पृथक् कल्पित कर लिया है, शेष नाम और रूप के विना केवल सत् है जो सबमें सामान्य है, और वही सत् परमात्मा है। अतः ज्ञात हुआ कि जिस प्रकार अग्नि में प्रकाश भी अपने नाम रूप से प्रकट होता है, और अग्नि ही उसमें भीतर बाहर व्यापक रहती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु के नाम-रूप में 'अस्ति

भी भीतर-बाहर व्यापक रहती है, और इसी कारण प्रत्येक का निश्चय शब्द "है" से होता है। तो सिद्ध हुआ कि जगत् केवल नाम-रूप है, जो परमात्मा में दिखाई देता है, और परमात्मा की किरणें हैं, जो उससे भिन्न नहीं।

(२४) देखो, अग्नि की किरणों में विना अग्नि के उनकी असलियत का खोज करें, तो केवल यह मिथ्या नाम-रूप ही सिद्ध होगा, इसी तरह जगत् को भी विना "है" के पता लगावें तो नाम-रूपमात्र नमूद—बेबूद अर्थात् मिथ्या ही सिद्ध होगा। क्योंकि जो हो नहीं, किंतु दिखाई दे, वही मिथ्या, वही कल्पित कहलाता है। देखो, मरुस्थल में पानी है तो नहीं, पर दिखाई देता है, इसी कारण सर्व-साधारण उसे मिथ्या कहते हैं। और यहाँ भी यदि विचार से देखें तो किरणों की असलियत अर्थात् नाम-रूप मरुस्थल के जल की भाँति विना "है" के, जो परमात्मा है, मिथ्या है, किंतु जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल बालुका के अस्तित्व में अस्तित्व पाया हुआ सा दिखाई देता है, उसी तरह यह अस्तित्वहीन नाम-रूप जगत् भी परमात्मा के अस्तित्व में प्रकट हुआ सत्-सा दिखाई देता है।

(२५) परंतु जिस प्रकार मृगतृष्णा-स्थल का पानी भी सत् होता है और बालुका उसकी सत् की भी सत् है, उसी तरह जगत् भी सत् है और परमात्मा उसके सत् का भी सत् है। वही परमात्मा की उपनिषद् या पहचान है।

(२६) यह नहीं गुमान करना चाहिए कि "मृगतृष्णा स्थल में यद्यपि पानी का नाम रूप मिथ्या (अस्तित्व हीन) है, किंतु चूँकि उसका पानी प्यास की शांति और स्नानादि की निवृत्ति नहीं कर सकता, इसलिये असत् निश्चित होता है, परन्तु संसार का पानी तो प्यास बुझाता और स्नान का फल देता है, इसलिये किस प्रकार इसे निश्चय करें कि मृगतृष्णा-स्थल के जल के समान यह असत् झलक रखता है" ? तो यह गुमान ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार मृगतृष्णा-स्थल में केवल जल की आकृति और उसका नाम प्रकट हुए है, उसी तरह संसार के जल में उसका रूप और साथ ही उसके गुणों के नाम-रूप भी प्रकट हुए हैं, इसलिये यह तो स्नान इत्यादि का फल देता है, वह नहीं देता।

(२७) देखो, स्वप्न में जब हम नदी चलती देखते हैं, तो वास्तव में वह असत् अवश्य होती है, किंतु जिस प्रकार उसमें रूप साथ है, उसके प्रभाव या गुण भी नाम-रूप से कल्पित होते हैं, इसलिये कि वह स्नान पान का स्वप्न में समस्त फल देती है। इसी तरह जाग्रत् के जल का भी हाल है। किंतु जैसे स्वप्न से जाग्रत् में आए हुए हम उन सबको असत् निश्चय करते हैं, उसी तरह यहाँ की वस्तुएँ उनके प्रभावों और बर्तावों को भी विचार से हम बिना अस्तित्व निश्चय कर सकते हैं, क्योंकि सबमें विद्यमान

"है" मात्र है। यदि उस "है" को अलग समझ लें और उन्हे (क्या वस्तु, क्या प्रभाव) उससे अलग देखें, तो बिना "है" के असत् होंगे, यद्यपि वे प्रभाव डालते हैं। यही पहचान है, यही उसकी उपनिषद्।

(२८) स्वप्न में जो जगत् दिखाई देता है, यद्यपि वह अपना पूरा प्रभाव डालता है और बर्ताव भी होता है, किंतु स्थिरता और शृंखला नही होती, बल्कि एक क्षण मे घोड़ा और दूसरे क्षण में हाथी होता है। परन्तु यहाँ जाग्रत् में भी कल्पित स्थिरता, कल्पित शृंखला होती है, इस कारण अनजान उसे सत् जानता है, वास्तव मे मृगतृष्णा-स्थल के जल के समान असत् है।

(२९) निदान, आत्मा ज्योतिस्वरूप, प्रकाशो का प्रकाश है। समस्त कल्पित किरणें उसी ज्योति की हैं, किंतु कुछ स्थलों में तो केवल प्रकाश की आकृति से प्रकाशमान होता है, कुछ स्थलों में उस प्रकाश की आकृति के तेज से किरणो, प्रभाव और बर्ताव के रूप में भी साथ-साथ प्रकट होता है, कुछ स्थलों में किरणों की स्थिरता और शृंखला को भी मिलाता है। पहला प्रकाश तो मृगतृष्णा-स्थल में होता है, दूसरा स्वप्न के लोक में, तीसरा जाग्रत् के लोक में है। अत क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न, क्या मृगतृष्णा, सबका सब आप ही उन्हीं किरणों में प्रकट होता है। यही सिद्धांत है।

(३०) जहाँ वह किरणें अर्थात् रूप, प्रभाव, बर्ताव,

स्थिरता और शृंखला के रूप में प्रकाशमान होता है, उसी को सर्वसाधारण लोग गैर अर्थात् मुमकिनुलवजूद बोलते हैं (जिसका होना न होना न हो या अर्थात् सत्-असत् दोनों अवश्य न हों उसे मुमकिनुलवजूद या सृष्टि कहते हैं) । और वह स्वरूप सत् का भी सत् अर्थात् सत्-स्वरूप होता है, इसलिये उसकी उपनिषद् अर्थात् पहचान "सत् का भी सत्" है।

(३१) अब हम इसकी किरणों की शृंखला पर भी संक्षिप्त संकेत करते हैं कि पहले सृष्टि के आरम्भ में इसका आभास आकाश के रूप में होता है, और स्थिरता तथा शृंखला की किरणें भी उसके साथ-साथ होती हैं। इसलिये इसी आत्मा का इस आभास में आकाश नाम होता है। फिर इसके बाद वायु के रूप में आकाश निकलता है, उसमें प्रकाशित हुआ यह वायु कहलाता है। और फिर आकाश और वायु में अंतर-रूप आभास लगता है, इसलिये आकाश और वायु दोनों पृथक्-पृथक् ज्ञात होते हैं। और फिर आकाश में कारण का और वायु में कार्य का आभास लगता है, इसलिये निश्चय होता है कि आकाश से वायु उत्पन्न होती है।

(३२) फिर वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से मिट्टी (पृथ्वी) इसी तरह उत्पन्न होते हैं। अत वास्तव में सबके सब आभास (अर्थात् रूप, प्रभाव, बर्ताव,

स्थिरता और शृंखला) इसी ज्योति से उठते हैं । परंतु इनके पारस्परिक संबंध और अंतर और कारण-कार्य के हेतु से ये विचित्र पंचविध भूत उत्पन्न होते दिखाई देते हैं। वास्तव में यही अपने इन आभासों वा प्रकाशों में प्रकाशमान पंचभौतिक रूप में प्रकट होता है, जैसा कि स्वाँगी अपने स्वाँग बनाता है।

(३३) फिर उन पंचविध प्रकाशों अर्थात् भूतों की छाँट होती है, प्रत्येक भूत का तत्त्व (सार) निकाला जाता है। वे तत्त्व (सार) या तो सूक्ष्मतर हैं, या सूक्ष्म या स्थूल। उनमें से जो सूक्ष्मतर निकलते हैं, उन्हें सतोगुण कहते हैं, जो सूक्ष्म निकलते हैं रजोगुण कहलाते हैं, और जो स्थूल प्रकट होते हैं तमोगुण नाम पाते हैं। वास्तव में सब उसी (आत्मा) की किरणें हैं जो मिथ्या होती हैं, और उसी के अस्तित्व में चमकती है।

(३४) प्रत्येक भूत की सतोगुण किरणों की मिलावट से वह करने की आत्मा, जो पूछताछ वा जानने-बूझने का काम करती है, बनाई जाती है, जिसे सर्वसाधारण लोग हृदय या अंत करण बोलते हैं। और उनकी रजोगुण किरणों की मिलावट से वह करने की आत्मा, जो यावज्जीवन शरीर में खींचती, निकालती, रोकती, पचाती, कुछ का कुछ बनाती है, बनाई जाती है, और उसे पंचप्राण बोलते हैं।

(३५) फिर भिन्न-भिन्न सतोगुण की किरणों से

ज्ञानेंद्रियाँ बनाई जाती हैं, और भिन्न-भिन्न रजोगुण की किरणों से वे शक्तियाँ, जो कर्मेंद्रियाँ कहलाती हैं, बनाई जाती हैं। ये सब मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाती हैं। और प्रत्येक भूत की तमोगुण रूप किरणों से शरीर तैयार होता है जो स्थूल शरीर कहलाता है। और इन दोनों (सूक्ष्म और स्थूल शरीरों) के मिलाप से मनुष्य बन जाता है। और इस मनुष्य में प्रकाशित परमात्मा जो इसने की आत्मा है, चमकता-दमकता, देखता-सुनता, बातचीत करता, अपितु समस्त मानवीय व्यवहार करता हुआ मनुष्य दिखाई देता है।

(३६) जैसे अग्नि के सतोगुण से चक्षु, आकाश के सतोगुण से श्रोत्र, वायु के सतोगुण से त्वचा, पृथ्वी के सतोगुण से घ्राण, और जल के सतोगुण से रसना उत्पन्न होती है, जो ज्ञानेंद्रियाँ कहलाती हैं, फिर सबके सतोगुण से मिला हुआ मन होता है। फिर चक्षु तो मुख्य अग्नि का सतोगुण है, इसलिये अग्नि का धर्म, जो रूप है उसे दिखाने का मुख्य कारण होती है। इसी प्रकार श्रोत्र शब्द का, त्वक् शीतोष्ण दशाओं का, घ्राण गंध का और रसना मिठाई-खटाई का कारण या साधन होती है, क्योंकि ये सब प्रकाश या किरणें उन्हीं के धर्म हैं, जिनसे ये ज्ञानेंद्रियाँ प्राण की भाँति निकाली गई हैं, इसलिये वे अपने जनक के धर्म को स्वीकार करके विषय (पदार्थ) का ज्ञान पाती हैं।

(३७) किंतु मन तो उन पंचभूतों के सतोगुण से मिलाकर बनाया गया है, इसलिये सबके धर्मों के प्रभावों वा किरणों को ग्रहण करता है, सबकी जाँच-पड़ताल का कारण वा साधन होता है, और सबकी सोच-समझ का काम करता है। किंतु वे ज्ञानेंद्रियाँ तो बाह्य अंगों अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा में रक्खी गई हैं, यह मन हृदय-कमल और मस्तिष्क में रक्खा गया है, इसलिये भीतर की वस्तुओं का, जो सुख-दुःख या आभास है, पता लगाता है। बाहर की वस्तुओं का पता लगाने के लिये उन्हीं मार्गों से, जहाँ ज्ञानेंद्रियाँ केंद्रित हैं, वह निकलता है। और उन ज्ञानेंद्रियों की सहायता से बाहर के विशेष-विशेष रूप आदि भी दरियाफ्त कर जाता है। पंचप्राण तो भीतर के काम करते हैं, और कर्मेंद्रियाँ बाहर के काम (जैसे चलना, पकड़ना इत्यादि) करती हैं। ये इस मन के संकल्प के अधीन होती हैं। परंतु पंचप्राण आभ्यंतरिक मन के प्रकाश से भी पहले का प्रकाश हैं, इसलिये इस मन के संकल्प के अधीन नहीं होते, वरन् कर्मों के, जो भोग देने के लिये तैयार होते हैं, अधीन होते हैं।

(३८) यद्यपि ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ, मन और प्राण भिन्न-भिन्न रूप वा आभास हैं, किंतु उनका बर्ताव तब होता है जब मन तो प्राणों में और ज्ञानेंद्रियाँ मन व प्राणों में संबंध पाती हैं। क्योंकि जिस प्रकार अग्नि लकड़ी पर

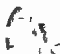
लगने से प्रकाश और दाह का काम करती है, इसी तरह मन प्राणों में, और ज्ञानेंद्रियाँ तथा कर्मेंद्रियाँ मन और प्राणों में लगी हुई अपना-अपना व्यापार करती हैं। यही कारण है कि प्राणों के निकलने से ये सब साथ ही निकल जाते हैं जैसा कि कर्मकांड के प्रकरण में प्राणों के झगड़े से स्पष्ट कर दिखाया है।

(३९) इस प्रकार ये समस्त प्राण, मन व इंद्रियाँ परस्पर संबंध पाई हुई और विविध किरणों व प्रकाशों से संयुक्त एक ही वस्तु होकर आभ्यंतरिक मनुष्य अर्थात् सूक्ष्म शरीर कहलाती है, और उर्दू में इसी को नफ्से-नातिका कहते हैं। और चूँकि यह सूक्ष्मतर तत्त्वों से बनाया गया है, इसलिये इंद्रिय-ग्राह्य और स्थूल भी नहीं होता, पर बुद्धि-ग्राह्य (बुद्धि से जाना जाता) है। और यह शरीर तो भूतों के स्थूल अंशों से बनाया गया है, इसलिये इंद्रिय-ग्राह्य और स्थूल है। और इसी के भीतर वह बुद्धि-ग्राह्य अंकित किया गया है, जैसा कि अनेक बार उल्लेख कर दिखाया है।

(४०) यही नहीं कि मनुष्य का शरीर ही इस तमोगुण से बनाया गया है, वरन समस्त पशु-पक्षी, जो प्राणधारी हैं, सबके शरीर बनाए गए हैं, और उनमें परस्पर अंतर का आभास भी लगाया गया है, इसलिये वे परस्पर भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। और फिर ये सूक्ष्म शरीर भी

प्रत्येक में उसी प्रकार यत्रों के ढग पर प्रविष्ट है जैसा कि मनुष्य मे प्रविष्ट हैं। और प्रत्येक अपना-अपना वर्ताव करते विचित्र स्वभाव दिखाते हैं।

(४१) प्राणधारियों के शरीर ही नहीं वरन् वनस्पतियों के शरीर भी इसी तमोगुण आभास से वनाए गए हैं, और उनके भीतर भी इसी सूक्ष्म शरीर का आभास रक्खा गया है, क्योंकि वे भी प्राणधारियों के समान भोजन करते, पानी पीते और फलते-फूलते हैं। अधिक क्या लिखें, क्या पृथ्वी क्या वायु क्या जल क्या अग्नि क्या आकाश क्या सूर्य क्या तारे, जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इसी तमोगुण आभास से वनाए गए हैं, और उनके भीतर वही सतोगुण और रजोगुण आभास से संयुक्त सूक्ष्म शरीर रक्खा हुआ है, जिस प्रकार मनुष्य मे रक्खा हुआ है। यदि वह (सूक्ष्म शरीर) पृथ्वी में न होता तो पृथ्वी घास-पात को क्योंकर उत्पन्न करती ? या वह गड़ी (दफन की) हुई वस्तु को किस प्रकार खा जाती ? प्रत्येक वस्तु में दृष्टि करके देखें तो क्या अग्नि, क्या जल, प्रत्येक वस्तु को खाकर अपना रूप कर लेते हैं, और उनके भीतर वही पंचप्राण अर्थात् करने की आत्माएँ हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, और वह सबका जीव वा सूक्ष्म शरीर है।

(४२) जिस  भी विभिन्न

वस्तुओं और विभिन्न तत्त्वों से संयुक्त है, उसी प्रकार प्रत्येक के शरीर और देह भी विभिन्न वस्तुओं और विभिन्न तत्त्वों से संयुक्त है। देखो, मनुष्य के शरीर के अंतर्गत अस्थियाँ, मांस, मज्जा, रक्त इत्यादि विभिन्न भाग हैं, इसी प्रकार वनस्पति-वर्ग और खनिज वर्ग में भी हैं, जिनका अनुसंधान प्राय प्राकृतिक विद्या अर्थात् विज्ञान या साइंस में जिओलोजी (पृथ्वी-विद्या) द्वारा होता है। और ये सब उसी तमोगुण रूपी किरणों से निर्मित होते हैं जिनके क्षोभ या उत्ताप से सूक्ष्म-स्थूल, कोमल-कठोर पाए जाते हैं।

(४३) फिर चूँकि उन सब मानव शरीर के अंगों में, जो विभिन्न तत्त्वों के नाश से बना है, एक परस्पर मिलाप या संबंध का आभास लगाया गया है, जिस संबंध के कारण यह एक शरीर दिखाई देता है। इसी प्रकार क्या धरती, क्या आकाश, क्या तारे यद्यपि विभिन्न तत्त्व पृथक्-पृथक् अंग या अंश हैं, तो भी इन सबमें एक परस्पर संबंध का आभास लगाया गया है। जैसे पृथ्वी का संबंध आकाश, जल और वायु से प्रत्यक्ष है, और फिर सूर्य तथा समस्त तारों का आकाश, जल और वायु से प्रत्यक्ष है। तो ये सबके सब एक प्रकाश के कारण एक बड़ा शरीर हैं, इसी को संस्कृत में विराट् कहते हैं और उर्दू में बदने रहान कहते हैं।

(४४) किंतु जिस प्रकार मनुष्य-शरीर में छोटा-सा

सूक्ष्म शरीर या नफ़्स है (जिससे जीव कहा जाता है), इसी प्रकार इस विराट् के शरीर में बड़ा सूक्ष्म शरीर या नफ़्से-कुल्ली है। इसी को दूसरे लोग ईश्वर, रह्मान या ख़ुदा बोलते हैं, और हम हिरण्यगर्भ या प्रजापति कहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य का छोटा-सा सूक्ष्म शरीर उसी के (स्थूल) शरीर के भीतर काम करता है, उसी प्रकार यह बड़ा सूक्ष्म शरीर भी, जो ईश्वर या हिरण्यगर्भ है, सबमें सब कुछ करता है, और इसी के कामों को सामान्य लोग ईश्वरीय काम प्रसिद्ध करते हैं। देखो, पृथ्वी से घास-पात निकलते हैं, आकाश से वर्षा उतरती है, तारे बराबर भ्रमण करते हैं, ये सब काम उसी करने की आत्मा के हैं जो ईश्वर या हिरण्यगर्भ है।

(४५) यह न मान लेना चाहिए कि ईश्वर जो हिरण्यगर्भ है, एक असलियत रखता है, बल्कि जिस प्रकार मनुष्य का सूक्ष्म शरीर ज्ञानेंद्रियों, कर्मेंद्रियों, मन और पंचप्राण-रूप विभिन्न तत्त्वों के प्रकाश से एक बनाया गया है, उसी प्रकार ईश्वर भी, जो हिरण्यगर्भ-रूप समष्टि सूक्ष्म शरीर है, विभिन्न तत्त्वों अर्थात् ज्ञानेंद्रियों, कर्मेंद्रियों, मन और पंचप्राण से एक बनाया गया है।

(४६) जिस प्रकार हमारी ज्ञानेंद्रियाँ आँख, कान, नाक इत्यादि में रहती हैं, उसी प्रकार ईश्वर की ज्ञानेंद्रियाँ भी सूर्य, दिशाओं, आकाश, अग्नि, वायु इत्यादि में केंद्रित

है। और जिस प्रका[illegible] मन हमारे हृदय में रक्खा हुआ है, उसी तरह [illegible] मन चन्द्रमा में केंद्रित है। जिस प्रकार हमारे पंचप्रा[illegible] अंगों में केंद्रित हैं, उसके पंच-प्राण भी विराट् के [illegible] भाग में केंद्रित हैं।

(४७) हम भी नेत्र से देखते हैं, वह भी सूर्य से देखता है, क्योंकि जैसे हमारी आँख हमारे देखने का स्थान है, वैसे ही सूर्य भी, जो उसकी आँख है, उसके देखने का स्थान है। हम कानों से सुनते हैं, तो वह दिशाओं से सुनता है, यही दिशायें उसके कान हैं। हम मन में सोचते-समझते और चिंता करते हैं, वह भी चन्द्रमा में, जो उसका मन है, सोचता और चिंता करता है। और जिस जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर का संबंध हमारे शरीर में है, उसी प्रकार विशिष्ट-विशिष्ट अंग से ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ का विराट् शरीर से संबंध है। जिस प्रकार यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर मिलकर मनुष्य कहलाता है, उसी प्रकार यह ब्रह्मांड और ईश्वर भी मिलकर विराट् पुरुष या भगवान कहलाता है।

(४८) यही कारण है कि ज्ञानी जन निश्चय करते हैं कि मनुष्य विराट् पुरुष की आकृति पर उत्पन्न किया गया है। और हम कहते हैं कि हम उसी की संतान उसी का रूप हैं। हम पुत्र हैं, प्रजापति पिता है। वह धरती और आकाश का सम्राट् है, हम उसी के राजकुमार हैं और उसका उत्तराधिकार पानेवाले हैं। अब यों समझो कि

जब वह सबमें सब कुछ करता है, तो इसी कारण वेदांतियों में उसे समष्टि शब्द से संबोधित करते हैं। किंतु हम जो उसी के अनुरूप अपने संक्षिप्त शरीर विशेष में सब कुछ करते हैं, व्यष्टि शब्द से संबोधित किये जाते हैं।

(४६) हमारा शरीर व्यष्टि है, उसका शरीर समष्टि। हमारा सूक्ष्म शरीर व्यष्टि है, उसका सूक्ष्म शरीर समष्टि। किंतु यह स्पष्ट है कि व्यष्टि अपनी समष्टि से, खंड अपने समग्र (घर) से, और अंश अपने अंशी वा अंग अपने अंगी से पृथक् नहीं हो जाते, वरन् वही होते हैं। इसी प्रकार हमारे नेत्र उसी के नेत्र, हमारे कर्ण उसी के कर्ण और हमारे सिर उसी के सिर हैं।

(५०) यही कारण है कि वेद-मंत्र आदेश करते हैं कि हजारों उसके सिर हैं, हजारों उसके नेत्र हैं, हजारों उसके पाद हैं। यद्यपि हमारे नेत्र और हमारे कर्ण भी उसी के सिर, नेत्र और कर्ण हैं, परंतु सूर्य उसका मुख्य नेत्र है, जो कल्प पर्यंत स्थिर रहता है। हमारे नेत्र ऐसे स्थिर नहीं हैं, इसलिये विशेषता के कारण शास्त्र में उसके विशेष अंग वर्णन किए जाते हैं, और उनमें जो करने की आत्मा अर्थात् प्रजापति की ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ हैं, उन्हें विश्ववानी या देवता कहते हैं।

(५१) यद्यपि हमारी ज्ञानें[illegible] ने की आत्माएँ (पंच-प्राण) [illegible]

(प्रजापति) की शाखाएं हैं, इसलिये ये भी देवता या चिचधानी हैं, तो भी ये हमसे, जो सूक्ष्म शरीर रखते हैं, संबंध रखती हैं। इसलिये इन्हें अध्यात्म कहा करते हैं और उन्हें आधिदैविक।

(४२) अब यों समझो कि प्रत्येक वस्तु में कुछ कुछ चिचधानी देवता सहायक हैं, इसलिये उस वस्तु से संसार का काम होता है, और साथ ही यह अध्यात्म प्राण, जो हमारे करने की व्यक्तिगत आत्मा अर्थात् व्यष्टि सूक्ष्म शरीर है, आधिदैविक की सहायता से कर्मों के अनुसार नियत काल तक शरीर से संबंध पाता है। जिस प्रकार यह संबंध पाता है हम उसे उदाहरण से वर्णन करते हैं। वेदों में उसे बछड़े के उदाहरण से निरूपण किया गया है, क्योंकि उसमें जानने की आत्मा (वृत्ति) तो अपनी नहीं है, वरन् उस देखने की आत्मा की छाया से जान-पहचान की आत्मा (वृत्ति) उठती है, जिसका भ्रांत-संबंध उसी देखने की आत्मा के कारण से कल्पित होता है। इसलिये इसी अज्ञानात्मा के कारण प्रिय बछड़े का उदाहरण दिया गया।

(४३) जिस प्रकार बछड़े के लिये आवश्यक है कि उसके लिये घर, फिरने का कमरा, बाँधने की खूँटी, रस्सी और घास हो उसी तरह इस बछड़े का घर तो शरीर है जिसमें यह रहता है, बिना शरीर के यह काम नहीं कर सकता।

(५४) मस्तिष्क और नेत्र वरन् समस्त अंग इसके फिरने के कमरे हैं, प्रत्येक अंग में यह फिरता अपना काम करता है, किंतु विशेष करके मस्तिष्क, जो इसकी ज्ञान की आत्माएँ (वृत्तियाँ) हैं, खेलने का कमरा है, क्योंकि जो इसकी स्वाभाविक काम की शाखाएँ हैं वे तो प्रत्येक अंग में केंद्रित हैं, और मुख्यत यकृत् उसका मूल है, परंतु ज्ञान की वृत्तियाँ शाखाओं की भाँति इससे निकलकर जब हृदय और मस्तिष्क में फैलती हैं, तो सोच-समझ, ज्ञानेंद्रियों तथा कर्मेंद्रियों का काम करती हैं, इसलिये हृदय और मस्तिष्क ज्ञान-रूपी वृत्तियों के वर्ताव का मुख्य कमरा है।

(५५) प्राण इसकी खूँटी है, क्योंकि जिस प्रकार बछड़ा खूँटी से बँधा हुआ घर से बाहर नहीं निकल जाता, उसी प्रकार जब तक प्राण शरीर में स्थित रहता है यह शरीर भी जीवित रहता है, और जब प्राण अंग-अंग से पृथक् होता है, तो फिर यह शरीर से निकल जाता है। इसी को साधारण लोग मृत्यु कहते हैं।

(५६) *जो कुछ भोजन किया जाता है*, पहला रासायनिक परिवर्तन उसका आमाशय में होता है, उस भोजन में जो स्थूलता और फोंक होता है, पृथक् होकर आँतों के मार्ग से मल होकर बाहर निकल जाता है। वह जो उसका सूक्ष्म रस होता है, यकृत् में जाता है, वहाँ परिपाक

पाता है, उसको स्थूलतम मूत्र के रूप में मूत्राशय में आ जाती है, और लिंग के मार्ग से निकल जाती है। और उसमें से जो सूक्ष्मतम अंश में पकती है, उससे खिल्तें अर्थात् रक्त, पित्त, वात, श्लेष्म कफ आदि धातुएँ बनती हैं, और ये रक्त, पित्त, वात, कफ आदि धातुएँ शिराओं के मार्ग से प्रत्येक अंग में पहुँचती हैं।

(५७) किंतु शिराओं और अंगों में भी फिर ये (धातुएँ) पकती हैं और उनमें भापें धुएँ के रूप में निकलती हैं, जो स्वाभाविक प्राण कहलाती हैं, उनमें बँधा हुआ यह प्राण अर्थात् बछड़ा स्वाभाविक काम करता है, और उन्हीं के संबंध से यह पंचप्राण कहलाता है, क्योंकि संघात रूप से उसके समस्त पाँच काम हैं, जिसकी व्याख्या हम कर्मकांड के प्रकरण में कर चुके हैं।

(५८) फिर, चूँकि यही रक्त, पित्त, वात आदि धातुएँ जब हृदय-कमल में आती हैं, तो वहाँ भी परिपाक पाती हैं, और उनसे एक वाष्प धुएँ के रूप में उठती है जो धमनियों के द्वारा शरीर में फिरती और शरीर को शक्ति व बल प्रदान करती है। इसे चिकित्सक लोग प्राणात्मा कहते हैं। यही वाष्प जब सूक्ष्म नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क में जाती और फैलती है, तो वहाँ इसे दूसरी दशा प्राप्त होती है, और करने की आत्मा की द्योतक होती है, जो जानने या समझने का काम करती है। इसी कारण चिकित्सक लोग इस प्राण

को जीवात्मा या सूक्ष्म शरीर बोलते हैं। इस तरह यह वाष्प भी जो रक्त, पित्त, वात आदि धातुओं से उत्पन्न होती है, चिकित्सक लोग इसे प्राण बोलते हैं, किंतु वास्तव में यह प्राण नहीं वरन् रक्त, पित्त, वात आदि धातुओं की सूक्ष्म वाष्प है, तो भी करने की आत्मा का बधनालय है (क्योंकि जब तक यह सूक्ष्म वाष्प बनी रहती है, वह बछड़े की तरह इसमें बँधा रहता है)। यह मानों शरीर के भीतर इसकी खूँटी है।

(५६) किंतु खूँटी भी बछड़े को नहीं बाँध सकती, जब तक कि रस्सी न हो। प्रत्येक प्रकार का भोजन इसकी रस्सी है, क्योंकि वाष्प-रूप प्राण प्रतिक्षण परिवर्तन पाता है। किया हुआ भोजन इसका शरीर होता है। इसलिये भोजन रस्सी के स्थान पर है। इस प्रकार इस रज्जु और खूँटी से बँधा हुआ यह प्राण शरीर में काम करता है। जब यह वाष्प रूप प्राण अर्थात् उदान-प्राण सड़कता है, तो फिर यह नवयुवक बछड़े की तरह शरीर से निकल जाता है। यही इसका स्वभाव है।

(६०) यह हमारी अपनी कपोल-कल्पना नहीं, वरन् प्राणों की पहचान में शिशु * ब्राह्मण इसी तरह वर्णन करता है। क्योंकि हम आरण्यक भाग में सुनते हैं कि जो

---

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद् अ० २ ब्रा० २

व्यक्ति बछड़े को, उसके घर को, उसके घर के कमरों को, उसकी खूँटी को और उसके बाँधने की रस्सी को जानता है, अपने विरोधी भाइया पर विजय पाता है।

(६१) विरोधी भाई यहाँ यही इन्द्रियाँ और मन है, क्योंकि यही इसे विषयों में लगाते, इसको देखने की आत्मा की पहचान से रोकते हैं, जो इसका उच्चतम मनोरथ है। जब वह इस प्रकार इस बछड़े को इसके पूर्वोक्त साधना सहित जान जाता है, तो फिर उनको विषया से सुगमतापूर्वक रोक लेता है। यही इसकी पहचान का फल है, ऐसा श्रुति वर्णन करती है।

(६२) दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुँह सब सात भाई हैं, जो इसे विषयों में लगाते हैं, अतमुँख नहीं होने देते। इन्हीं को वश में करने के लिये समस्त शास्त्र-विधानों की पालना और उपासना की जाती है। परंतु इस बछड़े की पहचान से फिर ये सुगमतापूर्वक वश में हो जाते हैं।

(६३) यह प्राण वास्तव में बछड़ा है, इसका यहाँ शरीर तबेला (घर) है, और मस्तिष्क इसका फिरने और निकलने का कमरा है, उदान-प्राण इसकी खूँटी है भोजन इसकी रस्सी है, नेत्र के कमरे में सात ग्वाले हैं जो इसे पालते हैं। यह जो नेत्र में लाल डोरे हैं, उनमें रुद्र देवता इसे पालता है, क्योंकि जब क्रोध करता है तो नेत्र लाल हो

जाते हैं। और यह रुद्र-देवता इसकी सहायता में उठता है। यह जो आँखों में पानी है और अश्रु कहलाता है, इसमें बादलों का देवता रहता है और इसे पालता है, क्योंकि जिस प्रकार बादलों से पानी बरसता है, उसी तरह शोक में नेत्रों से भी अश्रु निकलते हैं। इसी तरह वही देवता, जो वर्षा के लिये बादलों में केंद्रित है, मनुष्य के नेत्र में भी केंद्रित है, और बछड़े का ग्वाला है।

(६४) वह जो आँखों में गवाक्ष (प्रकाशग्राही छिद्र) दृष्टि-स्थान है, उसमें सूर्य-देवता बसता है, और इसे देखने के लिये सहायता देता है, क्योंकि बिना सूर्य की सहायता के दृश्य जगत् को यह नहीं देख सकता, इसलिये सूर्य-देवता भी इसका ग्वाला है।

(६५) वह जो नेत्रों में श्याम-चक्र (स्याही का हलका) है, उसमें सूर्य का सचिव अग्नि-देवता बसता है, क्योंकि सूर्य के अस्त होने पर अग्नि उसकी जगह दिखाने का काम करती है। वह जो नेत्र में श्वेतता है उसमें इंद्र-देवता बसता है, और नेत्र के फिराने में इसे सहायता देता है, और इस बछड़े को पालता है। निचली पलक में पृथ्वी का देवता और ऊपर की पलक में आकाश का देवता बसता है, उसे मिट्टी-धूल से बचाता दोनों पलकों को मिलाता है, और आँख की चमक में उसे साफ करता रहता है। इसलिये वह भी इस बछड़े का ग्वाला है। वह जो इस तरह इन ग्वालों

को जानता है, उसकी सेवाओं का भोग भी समाप्त नहीं होता, वरन् अपनी प्रत्येक सेवा के लिये सेवकों को मुक्त पाता है।

(६६) वेद का मंत्र है कि एक औंधा चमस (बिल वा बेल) है, उसमें विश्व-रूप यश रक्खा हुआ है, उसके किनारों पर सात ऋषि रहते हैं, और वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को बतलाता है। चमस नाम एक बरतन का है जो यज्ञ में काम में लाया जाता है, और वह गोल होता है। और बिल (बेल) भी एक प्रसिद्ध वृक्ष का फल है जिसमें भारतीय चिकित्सक लोग औषधि रक्खा करते हैं। यदि बेल के ऊपर चमस को औंधा करके रक्खें, तो ठीक मनुष्य के सिर की आकृति हो जाती है। इसलिये मंत्र में अलंकार-रूप में पढ़ा गया है कि एक औंधा चमस बिल है अर्थात् मनुष्य का सिर है।

(६७) और उसमें विश्व-रूप यश रक्खा हुआ है, अर्थात् यही प्राण जो करने की आत्मा है एक यश है, जो उसमें भरा हुआ है, और वह विश्व रूप है, क्योंकि समस्त जगत् इसी का बना हुआ है, इसके किनारे पर सात ऋषि हैं अर्थात् आँख, कान, नाक, मुँह जो किनारे हैं सात ऋषि हैं, और वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को बताता है।

(६८) दो कान, दो नाक, दो आँख, एक मुँह सब सात ज्ञानेंद्रियाँ, सात ऋषि हैं, जो ब्रह्म को

और वाक् आठवाँ है जो ब्रह्म को अपने भीतर वर्णन करता है। इस प्रकार इन ऋषियों की सभा में ब्रह्म की कथा होती है। और चमस विल मस्तिष्क में, जो यश का पात्र है, यश मिलता है। यह इस मंत्र का तात्पर्य है।

(६६) ये दोनों कान तो मानो गौतम और भारद्वाज ऋषि हैं। दाहिनी ओर गौतम, बाईं ओर भारद्वाज ऋषि बैठा है। ये दोनों आँखें मानो विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि हैं। दाहिनी ओर विश्वामित्र और बाईं ओर जमदग्नि है। ये दोनों नासारंध्र (नाक के छिद्र) मानो वशिष्ठ और कश्यप ऋषि है। दाहिना नासारंध्र वशिष्ठ, बायाँ नासारंध्र कश्यप ऋषि है। वाक् मानो अत्रि ऋषि है, जो ब्रह्म की कथा सुनाता है और खाता भी है। जिस प्रकार कथा जिह्वा से होती है, भोजन भी जिह्वा से होता है, और संस्कृत में जो खाता है उसे भी अत्रि कहते हैं। इस प्रकार जो कोई विश्वास करता है, वह सब भोजनों के खाने का अधिकारी हो जाता है, और सब भोग उसे मुफ्त मिलते हैं। इस प्रकार शिशु ब्राह्मण में लिखा है।

(७०) अजातशत्रु की शिक्षा में यह लिखा था कि प्राण सत् हैं, अतएव शिशु ब्राह्मण के अनुवाद से प्राणों की उपनिषद् वर्णन कर दी गई। अब पूछने योग्य यह है कि वे प्राण क्या हैं ? किस प्रकार वे सत् हैं ? किस प्रकार वे पचभूतों से निकाले गये हैं ? और पंचभूत किस प्रकार

सत् है ? जिनके बाध (नफी) करने से वह सत् का सत् निर्विकार व निरवयवस्वरूप (निर्विवाद) जाना जाता है।

(७१) यद्यपि सारा संसार पंचभूतों का कार्य है और स्वयं अगणित रूप है, तो भी संक्षेप रूप से समस्त दो प्रकार का है, या मूर्त है या अमूर्त, या मरनेवाला या अमर। इनकी वासना-रूप उपाधि से ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कहलाता है। इन्हीं उपाधियों के दूर करने से वह निर्विकार व निरवयव अर्थात् निर्विवाद, सत का भी सत् है। यह इस निश्चय से जाना जाता है, इसलिये मूर्त अमूर्त ब्राह्मण का भी अनुवाद करते हैं।

(७२) * हम इस ब्राह्मण में यों सुनते हैं कि निःसंदेह ब्रह्म के सब दो रूप हैं—या मूर्त है या अमूर्त, या मरनेवाला है या अमर, या परिच्छिन्न है या अपरिच्छिन्न, या चल या अचल, या इंद्रिय-ग्राह्य है या बुद्धि-ग्राह्य, यद्यपि अपने स्वरूप में वह अरूप है, परंतु दूसरे के रूपों से वही रूपी होता है।

(७३) यह आश्चर्य न करना चाहिए कि "वह अरूप किस प्रकार दूसरों के रूपों से रूपी (रूपवाला) हो जाता है"। चूँकि स्वयं रूप रूपी नहीं हो सकता है, या स्वयं शरीर शरीरी नहीं हो जाता, इसलिये जो अशरीरी है

---

* यहाँ से बृहदारण्यकोपनिषद् के दूसरे अध्याय का तीसरा ब्राह्मण आरंभ होता है।

वही शरीरवाला और जो अरूप है वही रूपवाला हो सकता है। यदि अशरीरी शरीरवाला नहीं हो सकता, तो क्या शरीर शरीरवाला हो सकता है? कदापि नहीं। वह तो स्वयं शरीर है। किस प्रकार शरीरवाला निश्चित हो सकता है? इसलिये उनका ख़याल, जो ईश्वर को शरीरवाला होना नहीं मानते हैं, ठीक नहीं है।

(७४) हाँ, यह अवश्य है कि जब वह शरीर की उपाधियों से शरीरवाला होता है, या नाम-रूप उपाधियों से नाम-रूपवाला होता है, तो उसमें ये शरीर या नाम रूप प्रवेश होने नहीं पाते, वरन् वह ज्यों का त्यों शुद्ध, पवित्र, अशरीरी और नाम-रूप रहित रहता है। जिस प्रकार स्फटिक का ग्लास भी लाल मदिरा से भरा हुआ लाल निश्चित होता है, तो भी दूसरे की लालिमा से स्पर्श नहीं पाता है। इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म भी शरीर या नाम-रूप उपाधियों से शरीरवाला और नाम रूपवाला होता है, तो भी उनसे स्पर्श नहीं पाता।

(७५) बल्कि क्या शरीर, क्या नाम, क्या रूप, सब उसी के प्रकाश हैं, और वह अपने ही प्रकाशों से प्रकाशमान होता शरीरवाला और रूपवाला कहलाता है। इस बात का विवरण हम पहले लिख आये हैं। जब वह इन प्रकाशों को दूर करता है, तो वही अशरीरी और अनामरूप, सत् का भी सत्, अपने आनंद में होता है, जैसा

कि सुषुप्ति में अनेक बार सिद्ध कर दिखाया है । अब इस ब्राह्मण में यह सिद्ध करना है कि उन रूपों का जो सबमें सत् दिखाई देते हैं, और जिनसे यह रूपवाला प्रकट हुआ है, बुद्धि से बाध (नफी) करके कि "यह रूप भी वह नहीं" इस निषेध के बाद यह जो शेष अरूप रहता है वही सत् है, और वही सत का भी सत है ।

(७६) जब तक नाम-रूप में उसे पहले न सिद्ध किया जाय और फिर नाम रूप का बाध (निषेध) करके उसे नाम-रूप से रहित न सिद्ध किया जाय, वह किस प्रकार निर्विकार व निरवयव अर्थात् निर्विवाद सतमात्र पहचाना जाय । इसलिये श्रुति भगवती संक्षेप में आदेश करती है कि उस निर्विवाद अरूपी के सारे दो रूप हैं, या मूर्त या अमूर्त ।

(७७) मूर्त नाम आकृति का है, अमूर्त उसके विरुद्ध है, जो रूप नहीं रखता । वह जो मृत्यु पाता है, उसे मर, वह जो मृत्यु नहीं पाता, उसे अमर बोलते हैं । जिसका परिमाण हो सकता है, वह परिमित वा परिच्छिन्न है, जिसका परिमाण नहीं हो सकता वह अपरिमित वा अपरिच्छिन्न होता है । जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाया जा सकता है वह चल हो सकता है जो दूसरी जगह नहीं पहुँचाया जा सकता, वह अचल होता है । जो इन्द्रियों से जाना जा सकता है, वह अनुभूत वा इन्द्रिय ग्राह्य

होता है, जो इंद्रियों से नहीं वरन् बुद्धि से जाना जाता है, वह बुद्धि-ग्राह्य वा अतींद्रिय होता है।

(७८) अब यों समझो कि वास्तव में समस्त पदार्थ दो प्रकार के हैं—मूर्त या अमूर्त। शेष चार प्रकार उन्हीं के गुण हैं, क्योंकि जो मूर्त है वह अंशों वा अंगों से मिश्रित वा सम्मिलित है, और वही मरणशील है वही परिच्छिन्न है, इसलिये वही चल है, और वही इंद्रिय-ग्राह्य या प्रत्यक्ष है। किंतु वह जो अमूर्त है, अंशों में संयोग नहीं पाता। इसलिये वही अमर है, वही अपरिच्छिन्न, वही अचल और वही बुद्धि-ग्राह्य या अतींद्रिय है।

(७९) इसलिये श्रुति भगवती कहती है कि ब्रह्म के दो ही रूप हैं—या तो मूर्त या अमूर्त। और मूर्त को मरनेवाला, परिच्छिन्न, चल, परिज्ञात वा इंद्रिय-ग्राह्य भी कहते हैं, और अमूर्त को अमर, अपरिच्छिन्न, अचल, बुद्धि-ग्राह्य वा अतींद्रिय भी बोलते हैं। वास्तव में समस्त पदार्थ दो प्रकार मूर्त या अमूर्त हैं, और ये दोनों रूप उस निर्विकार व निरवयव अर्थात् निर्विवाद अरूपी सत् के हैं।

(८०) यह मूर्त-रूप जो ब्रह्म का है, आकाश और वायु के अतिरिक्त तीन भूत अग्नि, जल, पृथ्वी का है। यही मरनेवाला है, यही परिच्छिन्न है, यही चल है, यही प्रत्यक्ष वा इंद्रिय-ग्राह्य है। और यही सत् है। इस मूर्त अर्थात्

मरनेवाले, परिच्छिन्न, स्थित, प्रत्यक्ष और सत् के जो तीन भूत अग्नि, जल और पृथ्वी हैं उनका यह सूर्य मंडल सार है, जो प्रत्यक्ष तपता और चढ़ता है। उन्हीं के सत् का यह रस है।

(८१) अब अमूर्त क्या है? यही आकाश और वायु अमूर्त हैं। यही अमर हैं। यही अपरिच्छिन्न, यही अचल यही बुद्धि-ग्राह्य या अतीन्द्रिय और यही सत् है। इन अमूर्त, अमर, अपरिमित, अचल बुद्धि-ग्राह्य सत् के जो दो भूत आकाश और वायु हैं, यह करने की आत्मा (प्राणात्मा) उनका सार है, जो इस सूर्य मंडल के भीतर स्थित है, और सूर्य पुरुष कहलाती है, और यही उनके सत् का रस है। यह अधिदैव है, इसी को हम हिरण्यगर्भ और दूसरे इसी को ब्रह्म या ईश्वर बोलते हैं।

(८२) यह न मान लेना चाहिए कि पहले मूर्त में तीन तत्त्व अग्नि, जल, पृथ्वी वर्णन किए हैं, तो उसमें आकाश या वायु का अंश नहीं, वरन् है यद्यपि बहुत अल्प है, किंतु अधिकता से वे तीन तत्त्व हैं, यह श्रुति का तात्पर्य है। जैसे कि मनुष्य का शरीर मिट्टी के अंश की अधिकता के कारण पार्थिव बोला जाता है, इसी तरह सूर्य में जो करने की आत्मा (प्राणात्मा) है, यह नहीं कि अग्नि, जल, पृथ्वी का सार, जो सतोगुण है, उसमें नहीं है, वरन् है, किंतु बहुत थोड़ा है। आकाश और वायु का सतोगुण अधिकता से

मिलाया गया है, इसलिये वह अमूर्त है, यह अभिप्राय है।

(८३) अब अध्यात्म वर्णन करते हैं। यह जो मूर्त है, अर्थात् इस वायु और आकाश के अतिरिक्त (जो अंतर अर्थात् अतरिक्ष में है) अग्नि, जल, मिट्टी मूर्त है, यही मरनेवाला, यही परिमित, यही चल, यही प्रत्यक्ष वा इंद्रिय-ग्राह्य, यही सत् है। अत मूर्त अर्थात् मरनेवाले, परिमित, चल, प्रत्यक्ष सत् का यह सार है, जो मनुष्य का नेत्र है। इसी सत् का यह सार है और रस है, जो नेत्र का काला भाग है।

(८४) परंतु अमूर्त आकाश और वायु है, और यही तत्त्व अपरिमित, अचल, बुद्धि-ग्राह्य, सत् है। इसी अमूर्त आकाश और वायु का और इसी अमर, अपरिमित, अचल बुद्धि-ग्राह्य सत का यह सार है, जो दाहिनी नेत्र की काली पुतली में करने की आत्मा (प्राणात्मा) है, और मनुष्य का सूक्ष्म शरीर या अंत-करण कहलाता है, उन्हीं का यह रस या परिणाम है। यह अध्यात्म है।

(८५) अब उस करने की आत्मा का रूप क्या है, जो सूक्ष्म शरीर कहलाता है, इसको आप ही श्रुति कहती है कि इस अंतर-पुरुष का रूप भी अब समझना चाहिए। जैसे हल्दी का रँगा हुआ कपड़ा होता है, या स्वच्छ रंग का ऊनी कपडा होता है, या जैसे वीरवहूटी होती है, या जैसे अग्नि की अर्चा (लपट) लाल होती है, या जैसे कमल होता है, या जैसे अकस्मात् विजली चमकती है,

वैसा इसका रूप है। वह जो इसे तत्काल बिजली की तरह वासनावाला जानता है, उसको सब सिद्धि होती है। और यह सत् है।

(८६) यहाँ श्रुति का तात्पर्य यह है कि अंतःकरण का स्वरूप ऐसा है कि जिसमें प्रत्येक वस्तु की समझ की वासना अंकित है, क्योंकि जो-जो हम जानते पहचानते हैं, सबकी दरियाफ्त की वासना चित्र की तरह अंतःकरण में छपती है, और उन वासनाओं के कारण वह चीर-वस्त्र की तरह रँगा रंग का होता है। इसी कारण विविध उदाहरण रंगों के श्रुति ने दिए हैं।

(८७) देखो, जब ये वासनाएँ हमारे भीतर प्रकाशमान होती हैं, तो उन्हीं को मनुष्य अपने विचार या वृत्तियाँ कहता है, और जब ये प्रकाशमान नहीं होतीं, तो सबकी समझें चित्र की तरह शांत भीतर में रहती हैं। अतः वासना नाम उन्हीं समझों का है जो बिना प्रकाशमान हुए हमारे भीतर हैं। किंतु हम में वे बिजली की तरह एक साथ प्रकाशमान नहीं होतीं, वरन् कुछ स्वाभाविक रीति से, कुछ शिक्षा के ढंग पर, कुछ जिज्ञासा व जाँच-पड़ताल के ढंग पर प्रकाशमान होती हैं। और हिरण्यगर्भ में, जो सौर-मंडल के भीतर बतलाया गया है, समष्टि सूक्ष्म शरीर है। उसमें सबकी समझें एक साथ सृष्टि के आदि से तत्क्षण प्रकाशमान हैं, और प्रलय पर्यंत अर्थात् महाप्रलय तक

स्थित हैं। इसलिये वह सर्वज्ञ है, और हम अल्पज्ञ।

(८८) जब अप्रत्यक्ष संसार (आलमे-गैब) से हिरण्यगर्भ (नफ्से-कुल्ली) निकलता है, तो समस्त वस्तुओं की समझें एक साथ बिजली की तरह यों प्रकाशमान होती हैं, कि "यह वस्तु इस प्रकार बनती है, और उस समय बनती है, और उस नियत काल तक स्थित रहती है, वा रहेगी, इत्यादि", और फिर उसके, ये सकल्प महाप्रलय तक एक ही वृत्ति-रूप से स्थिर रहते हैं। इसी कारण से श्रुति ने उसे बिजली की तरह एक साथ प्रकाशमान होना वर्णन किया है, और उसकी जिज्ञासा का फल भी वर्णन किया है कि वह जो इस पर विश्वास लाता है, उसे श्री अर्थात् लक्ष्मी मिलती है।

(८९) किंतु हमारी सब समझें भी यद्यपि समझरूप से हमारे भीतर केंद्रित हैं, तो भी एक साथ एकाएक प्रकाशमान नहीं होतीं, वरन् बालकपन में वही स्वाभाविक रूप से, जितनी आवश्यकता है, प्रकाशमान होती हैं, और युवावस्था में भी उतनी ही जो कि उचित है, और फिर कुछ शिक्षा से और कुछ अनुभव से प्रकाशमान होती हैं। इसलिये अध्यात्म-वासना रूप उपाधि में वह देखने की आत्मा आई हुई अल्पज्ञ कहलाती है, और आधिदैविक उपाधि में आई सर्वज्ञ कहलाती है। वास्तव में क्या सर्वज्ञता क्या अल्पज्ञता, दूसरी करने की आत्मा के धर्म हैं,

जो वासना रूप से अप्रकाशित हुए उनमें अंकित किए गए हैं। चेतनदेव परमात्मा साक्षी उनसे निर्लिप्त है। यह श्रुति का तात्पर्य है।

(६०) अब आप ही श्रुति मूर्त अमूर्त दोनों ब्रह्म के रूप वर्णन करके उनका बाध (निषेध) करती और इस साक्षी, चेतन, निराकार और निर्गुण का उपदेश करती है कि इनके पश्चात् यह उपदेश है "नेति, नेति अर्थात् यह नहीं यह नहीं", वरन् मूर्त-अमूर्त से परे सत् है, जो निर्विकार-निरवयव अर्थात् क्यों क्या से रहित वा निर्विवाद है, और ये सब उसी के कल्पित नाम-रूप हैं, निजी नहीं। इसलिये वह सत् का भी सत् है। प्राण वास्तव में सत् है, जो हिरण्यगर्भ अर्थात् ईश्वर व ख़ुदा है, और वह (साक्षी-आत्मा) इसका भी सत् है। यही उसकी उपनिषद् है।

(६१) श्रुति का अभिप्राय यही है कि सर्वसाधारण लोग मूर्त को मरनेवाला देखते हैं, इसलिये उसका रूप नहीं मानते, परन्तु अमूर्त (करने की आत्मा) अर्थात् प्राण को अमर जानते हैं, उसे ब्रह्म का रूप स्वाभाविक रीति से ख़याल करते हैं, इसी कारण सर्वसाधारण मध्य श्रेणी के बुद्धिमान् लोग विश्वास रखते हैं कि जो सब कुछ करता, सर्वज्ञ, अमूर्त है, वह सत् है।

(६२) परन्तु सिद्ध किया गया है कि वह जो करने की आत्मा सर्वज्ञ, सब कुछ करती है, हिरण्यगर्भ है, और वह

इन्हीं पचभूतों अर्थात् तत्त्वों का सार है, जैसे मूर्त भी इन्हीं पचभूतों का सार है। जिस प्रकार यह भी नाम-रूप से कल्पित इसकी उपाधि होती है, और उसी उपाधि के कारण से यह अव्यक्तात्मा सब कुछ करता, सब कुछ जानता, सर्वज्ञ, अमूर्त निश्चित होता है, वैसे ही यह मूर्त उपाधि में परिच्छिन्न हुआ भी शरीरवाला, अल्पज्ञ जीव, या मनुष्य होता है।

(६३) परतु वास्तव में क्या मूर्त क्या अमूर्त, क्या मर क्या अमर होना दोनों भिन्न (अनात्म) तत्त्वों के धर्म हैं, और क्या समझें, क्या बुद्धियाँ उन्हीं की वासना उन्हीं की सार हैं, जो एकत्रित होकर अत.करण या हिरण्यगर्भ कहलाती हैं। और सब संभव सत् (अर्थात् सदसत्) हैं, अवश्य सत् (अर्थात् वास्तव में सत्) नहीं। वह मूर्त उपाधियाँ तो नियत समय तक सत् हैं, ये अमूर्त उपाधियाँ आत्म-साक्षात्कार तक सत् हैं, क्योंकि साक्षात्कार के पश्चात् क्या मूर्त क्या अमूर्त सब मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये ये सब वास्तव में सत् नहीं, वरन् सत् वही है जो इन सबके निषेध (बाध) से शेष रहता है और कोई भी गुण नहीं रखता। उसे स्रष्टा, पालनकर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, या सर्वज्ञ, इन गुणों से भी बद्ध या नियत करना भूल है, क्योंकि ये सब गुण या रूप अपने से भिन्न हिरण्यगर्भ के धर्म हैं, जो उसमें कल्पित हैं।

(६४) जब वह किसी गुण से भी गुणी नहीं और

किसी नाम से भी नामी नहीं, इसलिये वाणी, बुद्धि और मन की वहाँ तक पहुँच नहीं ("यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह") । अत आवश्यक है कि उसे नाम-रूप, मूर्त-अमूर्त में पहचानते हुए उन उपाधियों का ऐसे निषेध करें, कि न तो वह नाम है न रूप है, न मूर्त है न अमूर्त है, न सर्वज्ञ है न अल्पज्ञ है, सबके निषेध का शेष है। यही सत् है और यही हमारा आत्मा है, और यही विधि उसके ठीक पहचानने की है। इसलिये मूर्त-अमूर्त ब्राह्मण ने क्या मूर्त क्या अमूर्त सब उसी के रूप वर्णन करके फिर "यह नहीं, यह नहीं" (नेति नेति), वरन् इन सबसे परे, मूर्त-रहित, अमूर्त, सबका आत्मा सिद्ध किया है। यही सिद्धांत है, और यही उपनिषद् है। वह जो इस तरह इसे अपना आत्मा, सबका बाध करके शेष समग्र वा अवशिष्ट जानता है, वही ज्ञानी और वही सच्चा है।

(६५) वह जो उसे मूर्तवाला जानता है किसी हेतु से सच्चा है और किसी हेतु से झूठा है। वह भी जो उसे अमूर्त जानता है और सर्वज्ञ मानता है, उसी तरह किसी हेतु से सच्चा है और किसी हेतु से झूठा है, क्योंकि वे सब उपाधियों में फँसते भूलते भटकते हैं। कुछ बंधन और उपाधियाँ उसकी स्थूल मूर्तमात्र हैं, और कुछ बंधन तथा उपाधियाँ उसकी सूक्ष्म अमूर्तमात्र हैं। क्या मूर्त उपाधियों में क्या अमूर्त उपाधियों में सबमें बद्ध का विश्वास आता

है। उसके मुक्त पद की समझ तो इसी तरह अध्यारोप-अपवाद-न्याय वा अन्वयव्यतिरेक से होती है। इसलिये वे भी जो मूर्तवाला मानते हैं और वे भी जो अमूर्तवाला सर्वज्ञ सबका कर्त्ता-हर्त्ता मानते हैं, वास्तव में एक समान हैं।

(६६) यह पहली प्रकार के लोग तो उसके स्थूल प्रकाशों (उपाधियों) में भ्राति रखते हैं, और ये दूसरी प्रकार के लोग उसके सूक्ष्म प्रकाशों (उपाधियों) में भरमते है, और अपनी-अपनी मति के अनुसार निश्चय करते सम्प्रदायियो के नियम से परस्पर झगड़ते हैं। वह जो उसे मूर्ति के प्रकाश वा उपाधि में देखता और उपासना करता है, दूसरे उसे नास्तिक (काफिर वा अनीश्वरवादी) वर्णन करते हैं और उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। और ये दूसरे उसे अमूर्त उपाधि में सबका स्वामी हर्त्ता-कर्त्ता सर्वज्ञ मानते हैं, और बिना अवलम्बन के उपासना करते कहीं आकाशों पर दूर ख़याल वा अनुमान करते हैं, और यों ही ख़याली पुलाव पकाते अर्थात् कपोलकल्पना करते वायु को मुट्ठी में पकड़ना चाहते हैं। परन्तु शोक कि दोनों उसे नहीं जानते।

(६७) अनुभव और वेदों की दृष्टि से यही सत्य है कि क्या मूर्त क्या अमूर्त वह (आत्मा) सबमें सब कुछ है। और क्या मूर्त क्या अमूर्त वह सबसे निर्लिप्त, सबसे परे है, या यों निश्चय करें कि "सब वही है" या यों निश्चय करें कि "मैं वही हूँ"। यही उसकी पहचान और तत्त्व-ज्ञान है।

इसी पहचान पर मुक्ति निर्भर है। आपा जाननेवालों को चाहिए कि पहले इसी निश्चय पर विश्वास लाएँ कि "सब वही है" या "मै वही हूँ", फिर उसको अध्यारोप-अपवाद-न्याय से, जैसा मूर्त-अमूर्त ब्राह्मण में ढग बतलाया गया है, उसका ज्ञान प्राप्त करें। और वह यही ढग है कि सब नाम-रूप उसमें कल्पित हैं, जो कुछ नाम या रूप, या गुण बुद्धि और चिंतन में आवे, सबका बाध वा अपवाद करता जाय। वह जो सबके बाद या अपवाद के पश्चात् उनका अपवाद करनेवाला आत्मा अपना आप है, वही शेष है, वही निर्विकार व निरवयव अर्थात् निर्विवाद व निर्गुण रहेगा। क्योंकि जब सब गुण और 'क्यों-क्या' का वह अपवाद कर लेगा, तो उसका अपना आप जिसने सबका अपवाद किया है, उसका अपवाद नहीं हो सकता, वरन् वही शेष रह सकता है। उस समय "ब्रह्मास्मि" के साक्षात्कार का निश्चय प्राप्त हो सकता है।

(६८) किंतु जिसको यह "अह ब्रह्मास्मि" के साक्षात्कार का निश्चय न प्राप्त हो, उसको चाहिए कि इस पर विश्वास अवश्य लाए, क्योंकि इसी विश्वास के कारण वह देवयान सड़क पर चलता ब्रह्मलोक जायगा, और स्वय प्रजापति उसे शिक्षा देगा। और इसी विश्वास को साक्षात्कार का फल लगा देगा, और अपने साथ प्रसाद में प्रविष्ट कर लेगा। चूँकि यही विश्वास वास्तव में

आत्म-साक्षात्कार का बीज है, इसलिए जिसके पास बीज नहीं वह फल भी नहीं खा सकता। इस प्रकार श्रद्धालु भी सविकल्प मुक्ति पा सकता है। किंतु वह जो विचार से और अध्यारोप-अपवाद-न्याय से साक्षात्कार का फल पाता है, कैवल्य मुक्ति प्राप्त करता है, और प्रसाद में प्रविष्ट होता है। उसके प्राण तो यहाँ ही मृत्यु के समय अपने आत्मा में लय हो जाते हैं, और समष्टि प्राण वायु की तरह भर जाते हैं। फिर तो पूर्ण शक्ति और पूर्ण बुद्धिमत्ता अपने में देखता है। यही प्रसाद है।

(६६) वे जो ऐसा विश्वास नहीं पाते और साम्प्रदायिक पक्षपात से एक दूसरे को झुठलाते, अपनी बुद्धि के अनुसार काम करते और श्रुतियों के तात्पर्य को नहीं सोचते वरन् खींचातानी से उसके अर्थ कुछ के कुछ करते हैं, कदापि मुक्ति के अधिकारी नहीं, वरन् वे सब उपाधिवान् को जानते हैं और स्वयं उपाधिवान् अर्थात् बद्ध रहते हैं। क्योंकि "जैसी मति वैसी गति" यही वेदों का सिद्धांत है। यद्यपि मध्य श्रेणी के बुद्धिमान् सूक्ष्म उपाधियों (करने की आत्मा) को सत् मानते हैं, और इस कारण कि वे उपाधियाँ अमूर्त हैं उन्हें निर्गुण व स्वतंत्र बतलाते हैं। परंतु वे स्पष्ट भूल पर हैं, क्योंकि करने की आत्मा की भी जो व्याख्याएँ हैं उसी प्रकार की उपाधियाँ हैं जैसे मूर्त की उपाधियाँ हैं। इसलिये भाषाविदों को

उनकी संगति से बचना चाहिये, क्योंकि मूर्त के बंधनों वा उपाधियों का बाध करना तो सहज होता है, पर अमूर्त उपाधियों का बाध करना बहुत कठिन होता है। बल्कि उस व्यक्ति को यदि कोई ज्ञानी जतलावे कि 'वह तो कर्त्ता भी नहीं", तो वह इसे समझने और इस उपाधि के निषेध करने के स्थान पर लड़ने को उठता है और उसे नास्तिक कहता है। इसलिये सूक्ष्म उपाधियाँ स्थूल उपाधियों से कठिनतर हैं, और साक्षात्कार का मार्ग रोकती हैं।

(१००) तो भी उसकी स्मृति, उसका भजन, उसकी पूजा उन्हीं उपाधियों में होती है, इसलिये भाषाविदों को चाहिए कि शास्त्र के अनुसार क्या मूर्त क्या अमूर्त सबमें उसे स्मरण करता हुआ उन्हीं गुणों से, जो सर्वज्ञ आत्मिक हैं, प्रत्येक मूर्त-अमूर्त में पूजा करे, और प्रार्थना करे कि "ऐ परमात्मदेव ! अपने प्रसाद और अनुग्रह से हमारी अविद्या का परदा उठाओ और अपने प्रसाद में मिलाप दो, कि हम तेरी प्रतिष्ठा करें और तुम हमारी प्रतिष्ठा करो, ताकि मैं उसी तरह देखूँ 'जो तू है वही मैं हूँ'। और यही तेरा परमपद है और यही तेरी अभेदता है। और यही मेरी मुक्ति और यही मेरा प्रसाद में प्रविष्ट होना है।" वह जो कोई अपनी मनमानी पूजा या बंदगी का विधान ठहराता है, अपनी आयु नष्ट करता है, कुछ भी अंत में प्राप्त नहीं होता। इसलिये वेदों के अनुसार उसे कर्म और उपासना

करनी चाहिए, जिसमें फल भी नियत हैं और भीतर (अंत करण) की शुद्धि भी नियत है। पाश्चात्य विचारों पर उसे नहीं चलना चाहिए, क्योंकि वे स्वय देहाभिमानी विरोचन के शिष्य हैं, और उनका अंतिम परिणाम शुभ नहीं।

अध्याय तीसरा

(१) हम इस पहचान को उदाहरण की रीति से सुगम करते हैं, क्योंकि भाषाविद् जब तक इस करने की आत्मा और देखने की आत्मा में अंतर नहीं करेगा, तब तक मोक्ष नहीं पावेगा। वरन् सबसे कठिन यही है कि करने की आत्मा से देखने की आत्मा अलग करके अपना आत्मा साक्षी जाने, और स्वय पूर्ण ज्ञान के कारण असग, अकर्त्ता, अभोक्ता, द्रष्टा होकर जगत् में रहे। यही जीवन्मुक्ति है।

(२) जितने शरीर अर्थात् मूर्तियाँ हैं, ये तो पुतलियाँ हैं, और करने की आत्मा (प्राण) पतले धागे या तार के समान है जिससे वे बाँधी गई हैं। देखने की आत्मा अभिनय (तमाशा) करनेवाले (पुतलीगर) के समान है, जो तार के द्वारा उन्हें नचाता-टपाता है। जिस प्रकार पुतलियों का तमाशा करनेवाला आप परदे के भीतर होता है, उसी तरह यह साक्षी-आत्मा भी, जो देखने की आत्मा है, परदे के भीतर वरन् उन्हीं पुतलियों और तारों के

भीतर छिपा हुआ उन्हें प्रेरित करता है, और शरीर तथा शरीरधारी उसी प्रेरणा से विचित्र तमाशा करते हैं, जिसमें बुद्धिमानों की बुद्धि चकित (दंग) है।

(३) पुतलीगर की अपेक्षा यह आश्चर्य बढ़कर है कि वह आप ही तमाशा देखता है और आप ही उन्हें प्रेरित करता है। वरन् पुतलीगर तो आप चेष्टा करता तारों को हिलाता और नचाता है, यह स्वयं तो निश्चेष्ट चुम्बक के समान है और उन्हें उसी तरह प्रेरित करता है जिस तरह चुम्बक भी लोहे को प्रेरित करता है। और चुम्बक तो जड़ है, यह चेतन है, इसलिये कर्त्ता भी यही निश्चित होता है, वास्तव में कुछ नहीं करता।

(४) पुतलीगर जिस प्रकार सूक्ष्म तारों को पुतली के प्रत्येक अंग में बाँधता है और तमाशे के समय जिस जिस अंग को हिलाना चाहता है, हिलाता है। उसी तरह मूर्तियों के एक-एक नस-नाड़ी और अंग में करने की आत्मा की गाँठ (गिरह वा ग्रंथि) बाँधी गई है, और उन्हें अपने शासन वा प्रबंध से चेष्टावान् करता जिस जिस अंग विशेष से जो-जो काम लेना अपेक्षित है, बराबर काम लेता है।

(५) देखो, हम हाथ को चाहे ढोल के आकार में करें चाहे बिगुल के आकार में, चाहे तमाचा करें चाहे मुक्का, परंतु इसी करने की आत्मा की गिरहों (ग्रंथियों) से कर सकते हैं। इसी तरह पाँव चलते हैं, हाथ पकड़ते हैं, कभी नाचते हैं,

करनी चाहिए, जिसमें फल भी नियत है और भीतर (अंत:करण) की शुद्धि भी नियत है। पाश्चात्य विचारों पर उसे नहीं चलना चाहिए, क्योंकि वे स्वय देहाभिमानी विरोचन के शिष्य हैं, और उनका अंतिम परिणाम शुभ नहीं।

अध्याय तीसरा

(१) हम इस पहचान को उदाहरण की रीति से सुगम करते हैं, क्योंकि मायाविद् जब तक इस करने की आत्मा और देखने की आत्मा में अंतर नहीं करेगा, तब तक मोक्ष नहीं पावेगा। वरन् सबसे कठिन यही है कि करने की आत्मा से देखने की आत्मा अलग करके अपना आत्मा साक्षी जाने, और स्वय पूर्ण ज्ञान के कारण असग, अकर्त्ता, अभोक्ता, द्रष्टा होकर जगत् में रहे। यही जीवन्मुक्ति है।

(२) जितने शरीर अर्थात् मूर्तियाँ हैं, ये तो पुतलियाँ है, और करने की आत्मा (प्राण) पतले धागे या तार के समान है जिससे वे बाँधी गई हैं। देखने की आत्मा अभिनय (तमाशा) करनेवाले (पुतलीगर) के समान है, जो तार के द्वारा उन्हें नचाता-टपाता है। जिस प्रकार पुतलियों का तमाशा करनेवाला आप परदे के भीतर होता है, उसी तरह यह साक्षी-आत्मा भी, जो देखने की आत्मा है, परदे के भीतर वरन् उन्हीं पुतलियों और तारों के

अंतर्यामी भी इसका नाम करते हैं क्योंकि प्रत्येक के भीतर प्रविष्ट होकर जो उन्हें व्यापार में अनुशासित करता हो, वही संस्कृत-भाषा में अन्तर्यामी कहलाता है।

(८) यह देखने की आत्मा, जो करने की आत्मा के भीतर केवल ज्योति है, न तो कोई रूप रखती है, न चेष्टा। परन्तु चूँकि करने की आत्मा की चेष्टाएँ और शरीरों की आकृतियाँ इसी की चेष्टाएँ और आकृतियाँ निश्चित होती हैं, इसलिये सर्वसाधारण लोग इस करने की आत्मा को निर्विकार व निरवयव अर्थात् क्यों कय से रहित आत्मा निश्चित करते हैं, किंतु जब वे विवेक से शरीरों और करने की आत्माओं को पुतलियों और तारों के समान अपने आपसे भिन्न जानते हैं, और उसी तरह उनको अपने शासन में देखते हैं, जिस तरह पुतलियाँ और तारें भी पुतलीवाले के हाथ में तमाशे के समय होती हैं, और निश्चय करते हैं कि मैं "ज्योति हूँ", "मैं साक्षी हूँ", "मैं सत् हूँ", "यह सब अभिनय मेरे अनुशासन में होता है", तो यही साक्षात्कार है, और यही जीवन्मुक्ति है। क्योंकि जब तक यह इस प्रकार अंतर करके अपने आत्मा को नहीं जानता, वरन् अपने आपको शरीर अर्थात् मूर्तमात्र जानता है, तो उन्हीं करने की आत्माओं की तारों में बँधा हुआ है, मुक्ति नहीं पाता। परंतु जब इसने अपने आत्मा अंतर्यामी को विवेक से जान लिया कि "यह मैं

कभी कूदते हैं, कभी लड़ते हैं, कभी कुश्ती करते हैं, और फिर एक दूसरे अपने आपको बचाते दूसरों को पछाड़ते हैं, और विचित्र-विचित्र तमाशा करते हैं, पर यह तमाशा इसी करने की आत्मा के पैवंध (सबंध) से होता है।

(६) जब यह करने की आत्मा मूर्तियों से संबंध तोड़ती है, तो फिर ये मूर्तियाँ मृतक के समान न तो स्वय अपने आप चलती, न पकड़ती, न नाचती, न कूदती हैं, वरन् पत्थर की तरह रह जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि सब मूर्तिमात्र शरीर पुतलियों की तरह जड़ हैं, और करने की आत्मा-रूपी तार प्रति तार उनके भीतर प्रत्येक अग में और प्रत्येक नस-नाड़ी मे उसी तरह बुद्धिमानी से बाँधी गई है जिस तरह पुतलीगर भी पुतलियो के भीतर तारें बाँधता है।

(७) फिर चूँकि जिस प्रकार मूर्तिमात्र शरीरों के भीतर करने की आत्मा तारों के समान लगाई गई है, उसी तरह करने की आत्मा के भीतर देखने की आत्मा रक्खी गई है, जो उसे व्यापार में प्रेरित करती और इन्द्रियों के द्वारा उसे देखती है। इस तार को, जो करने की आत्मा है, वेदविद् ब्राह्मण सूत्रात्मा बोलते हैं, और इस देखने की आत्मा को सूत्रधारी। क्योंकि सस्कृत में सूत्र का अर्थ तार के हैं और सूत्रधारी का अर्थ तारवाले के हैं। परतु इस कारण कि यह सूत्रधारी मूर्तियों वरन् तारों के भीतर छिपा हुआ उन्हें प्रेरित या चेष्टावान् करता है, इसलिये

(११) अधिकतर खराबी अविद्या की यह है कि अनजान मनुष्य इतना ही विचार नहीं करता कि "मैं शरीर हूँ", वरन् करने की आत्माओं को, जो तारों के समान जड़ हैं और संसार के भीतर सबमें सब कुछ करती हैं, सर्वशक्तिमान् ईश्वर (या कादरे-मुतलक खुदा) मानता है, और अपने आपको, जो शरीर मानता है, उनके हाथ में विवश देखता उसका बँधा हुआ होता है, यद्यपि ये करने की आत्माएँ भी तारों के समान जड़ हैं, बिना असली आत्मा के, जो अंतर्यामी है, वे गति नहीं कर सकतीं।

(१२) विचित्रतम घटना यह भी हुई है कि इसी के अनुशासन से इसी के पहले जन्म के कर्म, जो आरंभ संकल्प में इसी की भावना के अनुसार भोग देने के लिये उदय हुए थे, उन तारों के हिलाने में नियत हुए हैं। इसी के शासन और प्रेरणा से और इसी के कर्मों की जाँच पड़ताल से वे सुख-दु:ख के भोग का अभिनय करते हैं, और यह इस क्षुद्र मानवीय संकल्प से दु:खों को दूर करना चाहता है, पर वे दूर नहीं होते, इसलिये विवश देखता दीन बनता है, यही इसकी माया है। परंतु जब यह अपने आत्मा को, जो अंतर्यामी है, खोजता और पहचानता है, तो देह के अभिमान को छोड़ता अंतर्यामी के अभिमान को पा लेता है और भोग समाप्त होने तक यद्यपि नियत समय शरीर के बंधन के कारण अनात्म दु:ख-सुख भी

तो शरीर पूर्ववत् उन्ही तारों के बंधन में बद्ध रहता है, किंतु यह तो सूत्रधारी पूर्ण मुक्त होता उनका द्रष्टा हो जाता है। वही जीवन्मुक्ति है, जो ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार से मिलती है।

(९) मुक्ति का अर्थ बंधन से निकलना है। वे जो स्वयं बंधन को नही जानते मुक्ति की आशाएँ व्यर्थ करते हैं। प्राय विद्वानों को हम यह निश्चय करते देखते हैं कि हमको हमारे पेशवाओं (गुरुओं वा नेताओं) की शफाअत (सिफारिश) से मुक्ति मिलेगी। किंतु जब हम प्रश्न करते हैं कि तुम्हें बंधन क्या है जिससे मुक्ति माँगते हो ? तो यही कहते हैं कि हम बदा आजिज (अधम पतित दास) हैं, हम बंधनों को भी नही जानते। तो हम आश्चर्य करते हैं कि वे स्वय बंधन को भी नही जानते, मोक्ष कैसे माँगते हैं ?

(१०) बधन तो यहाँ यही है कि जो शरीर मूर्तिमात्र इन तारों में, जो करने की आत्मा है, बँधा हुआ है, और आत्मा का जब तक विवेक नहीं तब तक अहता की स्वाभाविक प्रतीति शरीर मे उसे हो रही है। जब इन उपाधियों वा बंधनों में शरीर नाचता है, तो इसे भी भ्रम होता है कि "मै नाचता हूँ", उसके दु ख-सुख, भूख-प्यास को, अपने दु ख-सुख, भूख-प्यास निश्चित करता है। यही अविवेक इसके बंधन का कारण है। किंतु जब यह इस प्रकार सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी आत्मा का विवेक पाता है, तो जीवन्मुक्ति पाता है।

(११) अधिकतर खराबी अविद्या की यह है कि अनजान मनुष्य इतना ही विचार नहीं करता कि "मैं शरीर हूँ", वरन् करने की आत्माओं को, जो तारों के समान जड़ हैं और संसार के भीतर सबमें सब कुछ करती हैं, सर्वशक्तिमान् ईश्वर (या क़ादरे-मुतलक़ ख़ुदा) मानता है, और अपने आपको, जो शरीर मानता है, उसके हाथ में विवश देखता उसका बँधा हुआ होता है, यद्यपि ये करने की आत्माएँ भी तारों के समान जड़ हैं, बिना असली आत्मा के, जो अंतर्यामी है, वे गति नहीं कर सकतीं।

(१२) विचित्रतम घटना यह भी हुई है कि इसी के अनुशासन से इसी के पहले जन्म के कर्म, जो आरंभ संकल्प में इसी की भावना के अनुसार भोग देने के लिये उदय हुए थे, उन तारों के हिलाने में नियत हुए हैं। इसी के शासन और प्रेरणा से और इसी के कर्मों की जाँच-पड़ताल से वे सुख दुःख के भोग का अभिनय करते हैं, और यह इस क्षुद्र मानवीय संकल्प से दुःखों को दूर करना चाहता है, पर वे दूर नहीं होते, इसलिये विवश देखता दीन बनता है। यही इसकी माया है। परंतु जब यह अपने आत्मा को, जो अंतर्यामी है, खोजता और पहचानता है, तो देह के अभिमान को छोड़ता अंतर्यामी के अभिमान को पा लेता है, और भोग समाप्त होने तक यद्यपि नियत समय तक शरीर के बंधन के कारण अनात्म दुःख सुख भी अपने

तो शरीर पूर्ववत् उन्हीं तारों के बंधन में बद्ध रहता है, किंतु यह तो सूत्रधारी पूर्ण मुक्त होता उनका द्रष्टा हो जाता है। वही जीवन्मुक्ति है, जो ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार से मिलती है।

(९) मुक्ति का अर्थ बंधन से निकलना है। वे जो स्वय बंधन को नहीं जानते मुक्ति की आशाएँ व्यर्थ करते हैं। प्राय विद्वानों को हम यह निश्चय करते देखते हैं कि हमको हमारे पेशवाओं (गुरुओं वा नेताओं) की शफाअत (सिफारिश) से मुक्ति मिलेगी। किंतु जब हम प्रश्न करते हैं कि तुम्हें बधन क्या है जिससे मुक्ति माँगते हो ? तो यही कहते हैं कि हम बदा आजिज (अधम पतित दास) हैं, हम बंधनों को भी नहीं जानते। तो हम आश्चर्य करते हैं कि वे स्वय बंधन को भी नहीं जानते, मोक्ष कैसे माँगते हैं ?

(१०) बधन तो यहाँ यही है कि जो शरीर मूर्तिमात्र इन तारों में, जो करने की आत्मा है, बँधा हुआ है, और आत्मा का जब तक विवेक नहीं तब तक अहता की स्वाभाविक प्रतीति शरीर में उसे हो रही है। जब इन उपाधियों वा बंधनों में शरीर नाचता है, तो इसे भी भ्रम होता है कि "मै नाचता हूँ", उसके दु ख-सुख, भूख-प्यास को, अपने दु ख-सुख, भूख-प्यास निश्चित करता है। यही अविवेक इसके बधन का कारण है। किंतु जब यह इस प्रकार सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी आत्मा का विवेक पाता है, तो जीवन्मुक्ति पाता है।

बार पूछा—तू कौन है जो इस स्त्री में होकर बोलता है।

(१५) उसने उत्तर दिया कि मैं कबंध आथर्वण गंधर्व हूँ। वेद के सूक्ष्म तत्त्व की शिक्षा के लिये इस स्त्री में उतरता हूँ। मुझसे कुछ आध्यात्मिक विषयों में लाभ उठाया करो। फिर उसने अपने आप पतंचल काप्य से कहा कि तू सूत्रात्मा को जानता है जिस सूत्र में यह लोक परलोक सब भूत बँधे हुए हैं? पतंचल काप्य ने कहा कि मैं तो केवल यह यज्ञ-शास्त्र को जानता हूँ, सूत्र-आत्मा को नहीं जानता।

(१६) फिर उसने पतंचल काप्य और हम सबसे कहा कि क्या तुम अंतर्यामी को जानते हो जो इस लोक-परलोक और सब भूतों को उनके भीतर छिपकर प्रेरणा करता है। तब पतंचल काप्य ने कहा हम उसको भी नहीं जानते। फिर उसने कहा, ऐ भाइयो! जो कोई इस सूत्रात्मा और इस अंतर्यामी को जानता है, वही ब्रह्म को जाननेवाला होता है, वही लोक-परलोक के जाननेवाला होता है, वही देवताओं के जाननेवाला होता है, वही वेद जाननेवाला, वही भूतों के जाननेवाला और वही आत्मा के जाननेवाला होता है, वरन् वही सब कुछ जानता है।

(१७) वह जो इस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को नहीं जानता, यद्यपि सहस्रों विद्या रखता है, तो भी कुछ नहीं जानता। जब कोई ज्ञान का तो दावा करे, परंतु इस करने की आत्मा से देखने की आत्मा को पृथक्

अंगों में देखता है, किंतु अपने में नहीं देखता, इसलिये जीवन्मुक्ति पाता है। परंतु जब भोगों के कर्म समाप्त होते हैं, तो देह के दूर होते सबमें सब कुछ होता पूरा-पूरा अंतर्यामी को अपना आप देखता है, और माया का स्वामी होता सत्य-संकल्प होता है। यही इस पहचान से प्रसाद मिलता है।

(१३) जब तक यह इस सूत्र-आत्मा और अंतर्यामी का विवेक नहीं करता, तब तक मुक्ति नहीं पाता, चाहे लाखों पूजा, उपासनाएँ और पुण्यकर्म करे। क्योंकि कर्म तो मजदूरी है, जितनी ही मजदूरी करता है, उतनी ही सुखों के भोगों की उजरत (वृत्ति) पाता है, जो अंत में समाप्त हो जाती है, और फिर इसी तरह संसार-चक्र में चकराता है।

(१४) यह न मान लेना चाहिए कि यह हमारी कपोल-कल्पना है, वरन् इस अंतर्यामी और सूत्रात्मा का विवेक अंतर्यामी ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य मुनि ने कर दिखाया है। क्योंकि * हम मुनि कांड में सुनते हैं कि राजा जनक की सभा में उद्दालक आरुणि ऋषि ने याज्ञवल्क्य मुनि से कहा कि ऐ याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेश पतंचल काप्य ऋषि के घर में यज्ञ-शास्त्र की शिक्षा पाते थे, उसकी एक ब्राह्मणी गंधर्व के वश में आई हुई थी। और यह हमने उससे एक

* देखो बृहदारण्यकोपनिषद्, तीसरा अध्याय, सातवाँ ब्राह्मण।

सब भूत उसी तरह बँधे हुए हैं, जिस तरह पुतलियाँ भी तार से बँधी हुई होती हैं। जब साँस (प्राण) चले जाते हैं, तो यह तार खुल जाती है। इसी कारण मृतक का अंग-अंग फूल जाता है और खंड-खंड हो जाता है। जब तक यह तार बँधी रहती है, तब तक खंड-खंड नहीं होता।

(२१) देखो, अग्नि स्वभावत ऊपर को जाना चाहती है, वायु स्वभावत इधर-उधर चलना चाहती है, और पानी तथा मिट्टी नीचे को गिरना चाहते हैं, इनका एकत्रित होना कठिन है, तो भी इस सूत्रात्मा में सब बँधे हुए मनुष्य के शरीर में विवशत इकट्ठे रहते हैं। जब यह सूत्र खुलता है, तो स्वभावत अपनी-अपनी असलियत में जाते और शव को छिन्न-भिन्न करते हैं।

(२२) इसलिये यह सब इसी सूत्र में, जो साँस है, बँधे हुए एकत्रित रहते हैं। तब उद्दालक ने कहा कि यह ही सत्य है। इसी तरह गंधर्व ने हमको सिखलाया था। अब अंतर्यामी को बतलाओ।

(२३) याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह जो धरती के भीतर, धरती से शरीरवाला हुआ, धरती को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है और धरती उसको नहीं जानती, यही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२४) वह जो जलों के भीतर, जलों से ... हुआ, जलों को उनके बरताव के लिये प्रेरित

जाने, जो सूत्रात्मा और अंतर्यामी है, तो ज्ञान के क्षेत्र में झूठा ताल ठोकनेवाला वादी है। ज्ञानी का यही चिह्न है कि शिष्य को इस करने की आत्मा से देखने की आत्मा को अन्वयव्यतिरेक करके दिखला देवे। जब तक वह ऐसा न कर सके, तो गप मारता है, यही जानो।

(१८) फिर उसने हमको सूत्रात्मा जो करने की आत्मा है और अंतर्यामी जो देखने की आत्मा है भिन्न करके समझा दिया था। ऐ याज्ञवल्क्य ! यदि तू उस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को जानता है। तो निःसंदेह यज्ञ की सब गायें ले जाना तुझे उचित है। यदि नहीं जानता, तो देख, तू यों ही ज्ञान, का दावा करता है, और गायें ले जाता है, तेरा सिर गिर जायगा, जो आकाशीय सिर है।

(१९) याज्ञवल्क्य ने कहा—ऐ गौतम ! मैं निश्चय रूप से उस सूत्रात्मा और अंतर्यामी को जानता हूँ। इसलिये यज्ञ की गायें ले जाता हूँ। मेरा सिर कदापि नहीं गिर सकता। तब उद्दालक बोला—यों ही जिह्वा से कहना कि "मैं सूत्रात्मा और अंतर्यामी को जानता हूँ" ठीक नहीं हो सकता, जब तक कि तू हमको अपनी सुन्दर वाणी से न समझा दे। यदि तू जानता है, तो इस सभा में हमको प्रत्यक्ष बतला।

(२०) तब याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि वायु का तार तो करने की आत्मा है, वही सूत्रात्मा है, जो पुतलियों की तार के समान है। और इसी तार में यह लोक-परलोक

(३१) वह जो चंद्र के भीतर, चंद्र से शरीरी हुआ, चंद्र को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और चंद्र उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(३२) वह जो तारागण के भीतर, तारों से शरीरी हुआ, तारों को उनके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और तारे उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(३३) वह जो अंतरिक्ष के भीतर, अंतरिक्ष से शरीरी हुआ, अंतरिक्ष को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और अंतरिक्ष उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(३४) वह जो अँधेरों के भीतर, अँधेरों से शरीरी हुआ, अँधेरों को उनके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और अँधेरे उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(३५) वह जो तेज के भीतर, तेज से शरीरी हुआ, तेज को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और तेज उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(३६) वह जो सबके भीतर, सबसे शरीरी हुआ सबको अपने बरताव के लिये प्रेरित करता है, और सब उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है। यह अधिभूत (बाह्य पदार्थों में अंतर्यामिता) है। अब अध्यात्म (निज शरीर में अंतर्यामिता) कहते हैं।

(३७) वह जो करने की आत्मा के भीतर ——ने की

जल उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२५) वह जो अग्नि के भीतर, अग्नि से शरीरी हुआ, अग्नि को उसके वरताव के लिये प्रेरित करता है, और अग्नि उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२६) वह जो आकाश के भीतर, आकाश से शरीरी हुआ, आकाश को उसके वरताव के लिये प्रेरित करता है, और आकाश उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२७) वह जो वायु के भीतर, वायु से शरीरी हुआ, वायु को उसके वरताव के लिये प्रेरित करता है, और वायु उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(२८) वह जो देवलोक के भीतर, देवलोक से शरीरी हुआ, देवलोक को उसके वरताव के लिये प्रेरित करता है, और देवलोक उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अतर्यामी अमृत है।

(२९) वह जो सूर्य के भीतर, सूर्य से शरीरी हुआ, सूर्य को उसके वरताव के लिये प्रेरित करता है, और सूर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(३०) वह जो दिशाओं के भीतर, दिशाओं से शरीरी हुआ, दिशाओं को उनके वरताव के लिये प्रेरित करता है, और दिशाएँ उसके वरताव को नहीं जानतीं, वही तेरा आत्मा अतर्यामी अमृत है।

(४४) वह जो बुद्धि के भीतर, बुद्धि से शरीरी हुआ, बुद्धि को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और बुद्धि उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(४५) वह जो वीर्य के भीतर, वीर्य से शरीरी हुआ, वीर्य को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और वीर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है। वह आप दिखाई नहीं देता, वरन सबका देखनेवाला है। वह आप सुनाई नहीं देता, वरन् सबका सुननेवाला है। वह सोचा नहीं जाता, वरन् सबका सोचनेवाला है। वह आप पहचाना नहीं जाता, वरन् सबका पहचाननेवाला है। वह आप जाना नहीं जाता, वरन् सबका जाननेवाला है।

(४६) निदान, बिना उसके न कोई देखनेवाला है, न कोई सुननेवाला है, न कोई सोचनेवाला है, न कोई जाननेवाला है। यह तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है। बिना उसके सब मिथ्या है, और सब उसी के देखनेमात्र आभास हैं। तब उद्दालक मौन हुआ और संतोष को प्राप्त हुआ। जो कुछ गंधर्व ने सिखलाया था, वही याज्ञवल्क्य ने विवेक कर दिखलाया॥ ॐ शम्॥

ॐ।

आत्माओं से शरीरी हुआ, करने की आत्माओं को उनके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और करने की आत्माएँ उसे नहीं जानतीं, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(३८) वह जो प्राणों के भीतर, प्राणों से शरीरी हुआ, प्राणो को उनके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और प्राण उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(३६) वह जो वाणी के भीतर, वाणी से शरीरी हुआ, वाणी को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और वाणी उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अतर्यामी अमृत है।

(४०) वह जो आँख के भीतर, आँख से शरीरी हुआ, आँख को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और आँख उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(४१) वह जो कानों के भीतर, कानों से शरीरी हुआ, कानों को उनके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और कान उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अतर्यामी अमृत है।

(४२) वह जो मन के भीतर, मन से शरीरी हुआ, मन को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और मन उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(४३) वह जो त्वचा-मास के भीतर, त्वचा-मास से शरीरी हुआ, त्वचा-मास को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और त्वचा-मास उसे नहीं जानते, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(४४) वह जो बुद्धि के भीतर, बुद्धि से शरीरी हुआ, बुद्धि को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और बुद्धि उसे नहीं जानती, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है।

(४५) वह जो वीर्य के भीतर, वीर्य से शरीरी हुआ, वीर्य को उसके बरताव के लिये प्रेरित करता है, और वीर्य उसे नहीं जानता, वही तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है। वह आप दिखाई नहीं देता, वरन् सबका देखनेवाला है। वह आप सुनाई नहीं देता, वरन् सबका सुननेवाला है। वह सोचा नहीं जाता, वरन् सबका सोचनेवाला है। वह आप पहचाना नहीं जाता, वरन् सबका पहचाननेवाला है। वह आप जाना नहीं जाता, वरन् सबका जाननेवाला है।

(४६) निदान, बिना उसके न कोई देखनेवाला है, न कोई सुननेवाला है, न कोई सोचनेवाला है, न कोई जाननेवाला है। यह तेरा आत्मा अंतर्यामी अमृत है। बिना उसके सब मिथ्या हैं, और सब उसी के देखनेमात्र आभास हैं। तब उद्दालक मौन हुआ और संतोष को प्राप्त हुआ। जो कुछ गंधर्व ने सिखलाया था, वही याज्ञवल्क्य ने विवेक कर दिखलाया ॥ ॐ शम् ॥

ॐ । ॐ ॥ ॐ ॥।

शुभ समाचार

यों तो श्री रामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग, लखनऊ सम
समय पर अधिकारी सज्जनों व धार्मिक पुस्तकालयों
यथाशक्ति अपनी पुस्तकें बिना दाम अथवा आधे दाम
बाँटती है, किंतु धर्ममूर्ति सज्जनों को इस धर्मकार्य में हा
बढ़ाने का शुभ अवसर देने के लिये लीग ने यह
(निश्चय) किया है कि जो सज्जन इस शुभ उद्देश्य
स्थायी रूप से जितनी रकम लीग के पास जमा कर दें
लीग उसके व्याज से (जो अधिक से अधिक ॥) प्र
सैकड़ा तक होगा) प्रति वर्ष उनके नाम से पुस्तकें बि
दाम लिए अधिकारी सज्जनों व सार्वजनिक पुस्तकालयों
निरंतर वितरण करती रहेगी । आशा है, धर्ममू
महाशय प्रसन्नतापूर्वक इस शुभकार्य में हाथ बढ़ावेंगे औ
इस रीति से यश व पुण्य दोनों के भागी होंगे ।

भवदीय

सुजनलाल पांडेय

मंत्री

श्री रामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग,

लखनऊ